बाबू बालमुकुन्द गुप्त

(जीवन और साहित्य)

[आगरा विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत निबन्ध]
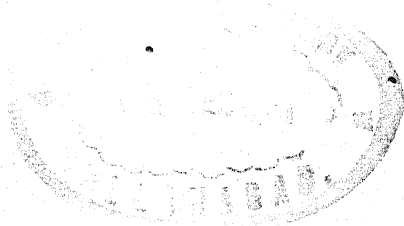
लेखक

डा० नत्थनसिंह, एम० ए०, पी-एच० डी०

हिन्दी-विभाग

जाट वैदिक कॉलेज, बड़ौत (मेरठ)

विनोद पुस्तक मन्दिर

हॉस्पिटल रोड, आगरा।

परम पूज्य पिता सरदारसिंह जी

और

माता जी को

सादर समर्पित

भूमिका

बालमुकुन्द गुप्त भारतेन्दु युग के अन्यतम लेखकों में से थे। उन पर विस्तृत शोध कार्य होना आवश्यक था। साहित्य के इतिहासों में उनकी शैली की सजीवता आदि का उल्लेख मिलता है किन्तु उनकी राजनीतिक चेतना, सामाजिक विषय वस्तु, उनके भाषा-सम्बन्धी विचारों और नीति का विवेचन उपेक्षित रहा है। हिन्दी साहित्य के इतिहास में गुप्त जी के स्थान का सही उल्लेख हो—इसके लिये नये सिरे से अनुसन्धान होना चाहिये था। इसके सिवा आधुनिक युग की गद्य शैली बोलचाल की भाषा से दूर हटती जा रही है; अनेक साहित्यकारों में यह प्रवृत्ति दिखाई देती है कि संस्कृत शब्दों के शुद्ध, कभी अशुद्ध, प्रयोग से वे पाठक को आतंकित कर देना चाहते हैं। इसलिये भी हिन्दी गद्य के निर्माताओं की नीति और उनकी रचनाओं की ओर ध्यान देना आवश्यक है। आज के साहित्य में व्यक्तिवाद और तटस्थता की भावनाएँ जोर मार रही हैं। निराशावाद अनेक लेखकों का जीवन दर्शन बन रहा है। उनका गद्य निर्जीव, परम्परा से विच्छिन्न, बहुधा अँग्रेजी वाक्यों का भोंड़ा अनुवाद होता है। बालमुकुन्द गुप्त की रचनाएँ पढ़कर—इस शोध ग्रन्थ की सबसे बड़ी सफलता यह होगी कि लोग गुप्त जी की रचनाएँ पढ़े—साहित्य और समाज के प्रति लेखक अपना दृष्टिकोण सुधार सकेंगे। शायद गुप्त जी के जीवन से प्रेरित होने पर कुछ संदेहवादियों के हृदय में मानवता के प्रति नयी आस्था भी उत्पन्न हो।

इस पुस्तक के लेखक ने गुप्त जी के जीवन और साहित्य के अध्ययन और मूल्याङ्कन में पर्याप्त परिश्रम किया है। उसने गुप्त जी के उन निबन्धों पर भी ध्यान दिया है जो बालमुकुन्द गुप्त ग्रंथावली या अन्य संग्रहों में प्रकाशित नहीं हुए। उसने उर्दू पत्रों में "ज़माना" की फाइलें भी देखी हैं। हिन्दी के पुराने पत्रों में "समालोचक" आदि की छीन बीन की है। गुप्त जी के जीवन और साहित्य के विभिन्न पक्षों का विवेचन उसकी अनुसन्धान प्रियता, सूझबूझ और युक्तिपूर्ण तर्क पद्धति का परिचायक है। सारा निबन्ध सुगठित है और उसे पढ़ने वाले को गुप्त जी तथा हिन्दी भाषा और साहित्य के बारे में न्यूनाधिक नयी जानकारी अवश्य होगी। शोध ग्रंथ होने के अतिरिक्त

साहित्य के लिये इसका तात्कालिक महत्व है। हिन्दी में स्वस्थ विचार-धारा और सजीव शैली का समर्थन करने वालों को इससे नया बल प्राप्त होगा।

इस पुस्तक में पहली बार बालमुकुन्द गुप्त की उर्दू रचनाओं का सहानुभूति पूर्ण अध्ययन किया गया है। अधिकतर उनके उर्दू लेखनकाल का ज़िक्र यों किया जाता है मानों कोई वे पाप करते रहे हों और जैसे ही उन्होंने हिन्दी लिखना शुद्ध किया, वैसे ही गंगा नहाये और सब पाप धुल गये। गुप्त जी के उर्दू गद्य से उद्धरण देकर उनके हिन्दी प्रति रूप से तुलना करके लेखक ने दोनों शैलियों में गुप्त जी के कौशल और उनके परस्पर अन्तर को स्पष्ट किया है। अध्ययन की यह प्रणाली उन सभी हिन्दी साहित्यकारों पर शोध करते हुए अपनानी चाहिये जो उर्दू में भी लिखते थे।

ब्रजभाषा और खड़ी बोली के सम्बन्ध में गुप्त जी की स्थापनाओं का विवेचन बहुत ही रोचक और तर्क संगत है। उर्दू के सम्बन्ध में गुप्त जी के विचार आज भी मनन करने योग्य हैं। उन्होंने लिखा था, "हिन्दी वालों को इस बात की चेष्टा करनी होगी कि उर्दू वाले फारसी, अरबी को छोड़ कर थोड़ा हिन्दी की ओर झुकें। और हिन्दी वाले कुछ उर्दू की ओर बढ़ें। ऐसा करने से दोनों भाषाएँ कुछ-कुछ मिलती जायगीं।" इसी नीति का समर्थन आगे चलकर प्रेमचन्द, पद्मसिंह शर्मा आदि लेखकों ने भी किया था। श्री नत्थनसिंह का यह निष्कर्ष मूलतः सही है: "वे उर्दू का भी उतना ही सम्मान करते थे, जितना हिन्दी का। अच्छी उर्दू के प्रतिनिधि पत्र को पतनावस्था से उठाने के लिए आपने एक अपील की थी। इससे स्पष्ट होता है कि गुप्त जी उर्दू के विरोधी न थे, प्रत्युत अच्छी हिन्दी लिखने के लिए उर्दू का ज्ञान आवश्यक समझते थे।" इस नीति के विपरीत आजकल कुछ साहित्यकारों का मत है कि उर्दू का अज्ञान तो आवश्यक है ही यदि हिन्दी भी ढंग से न सीखी जाय तो सोने में सुहागा समझिये।

श्री नत्थन सिंह के अनुसन्धान से गुप्त जी की साहित्यिक कार्यवाही के कुछ नये पक्ष उभर कर सामने आते हैं। भारतेन्दु और बालकृष्ण भट्ट की तरह वह नागरी लिपि और हिन्दी भाषा को उचित सम्मान दिलाने के लिये अनवरत संघर्ष करने वालों में थे। साथ ही भाषा को व्यवस्थित रूप देने और व्याकरणसम्मत मुहावरेदार शैली को लोकप्रिय बनाने में उनका महत्व द्विवेदी जी से कम नहीं है। नत्थन सिंह ने विस्तार से यह दिखलाया है कि गुप्त जी की आलोचना के फलस्वरूप द्विवेदी जी ने अपनी बहुत सी भूलें सुधारीं।

अनस्थिरता शब्द को लेकर जो विवाद हुआ, उसका भी बहुत ही संतुलित विचार यहाँ प्रस्तुत किया गया है।

गुप्त जी की कविताओं वाला अध्याय कुछ कमज़ोर है। गुप्त जी सफल व्यंग्य लेखक थे। कविता में जहाँ व्यंग्य आया है, वहाँ तो वह बन पड़ी है लेकिन रसनिष्पत्ति उनके बस की बात नहीं थी। दूसरे अध्याय में हिन्दी उर्दू को दो शैलियाँ कहा गया है, दो भाषाएँ भी। यह स्पष्ट करना आवश्यक था कि वे दो भाषाएँ नहीं, एक ही बोलचाल की भाषा के आधार पर निर्मित दो साहित्यिक शैलियाँ हैं। इसी अध्याय में कहा गया है, "गुप्त जी की यह धारणा तो पूर्णतः सत्य है कि मुसलमान लेखकों ने ज़ानबूझकर उर्दू को अरबी-फारसी का रूप-रंग देकर, हिन्दी से पृथक कर लिया था" यह बात सही नहीं है। बहुत से मुसलमानों ने हिन्दी (अवधी और ब्रज) की सेवा की। अन्य प्रदेशों में उन्होंने काश्मीरी, पंजाबी, बंगला आदि भाषाओं में साहित्य रचा। हिन्दी भाषी क्षेत्र में भी उर्दू को निखारने-संवारने में मुसलमानों के साथ हिन्दुओं का हाथ रहा है। तीसरे अध्याय का शीर्षक है "गुप्त जी का प्रारम्भिक गद्य" किन्तु इसमें "भारत मित्र" के लेखों का जिक्र है, गुप्त जी की भाषा सम्बन्धी नीति और उनकी पत्रकारिता पर भारतेन्दु के प्रभाव का उल्लेख है। यहाँ अध्याय के शीर्षक और उसकी सामग्री में अन्तर उत्पन्न हो गया है। भारतेन्दु और गुप्त जी की भाषा सम्बन्धी भूलों का विवेचन करते हुए यह स्पष्ट करना उचित है कि वे सदा ही ये भूलें करते थे या कभी-कभी (भूल से ही) ठीक भी लिख जाते थे। पृ० २०५–२०६ पर छापे की भूलों के कारण उद्धृत किये हुए शुद्ध-अशुद्ध शब्द सब बराबर हो गये हैं। उदाहरण के लिये गुप्त जी के अशुद्ध शब्दों की सूची में "सजीवता" छपा है और इसी रूप में शुद्ध शब्दों में भी। यह प्रूफरीडर का दोष है, अनुसन्धानकर्ता का नहीं। लेकिन कुछ सही शब्दों को भी लेखक ने गलत समझा है जैसे पृथिवी, विकास आदि। पृथ्वी और विकास के साथ उनके ये रूप भी शुद्ध हैं। पृ० १९३ पर लेखकों की एक लम्बी सूची देने के बाद कहा गया है कि "उपर्युक्त सभी लेखकों की रचनाओं में वे अशुद्धियाँ मिलती थीं जिनका उल्लेख भारतेन्दु-युग की भाषा के विषय में किया जा चुका है।" मेरी समझ में यह कथन अतिरंजित है।

ये दोष गौण हैं। मुख्य बात यह है कि इस शोध ग्रंथ में हिन्दी के महान् स्वाधीनता प्रेमी गद्य लेखक बालमुकुन्द गुप्त का सम्यक् मूल्याङ्कन किया गया है। इसे पढ़कर एक बीते युग के लेखकों के त्याग, साहस, अनवरत साधना

और जीवन में गहरी आस्था का चित्र आँखों के सामने खिंच जाता है। उनकी इस साधना के अभाव में आज हिन्दी कहाँ होती ? यह युग उन्हीं की देन है। वे हिन्दी को सवांरने वाले ही न थे, ब्रिटिश साम्राज्य की जन संहारकारी नीति के खरे आलोचक थे। उनके राष्ट्र प्रेम ने ही उनके व्यंग्य को इतना पैना किया था। वे भारतीय समाज के अन्तर्विरोधों का उद्घाटन भी करते थे। वे हमारे जातीय चरित्र के निर्माता थे। हिन्दी गद्य को दिये हुए उनके गुण—सजीवता, व्यंग्य, निर्भीकता—हिन्दी भाषी जनता के भी गुण हैं।

बालमुकुन्द गुप्त पत्रकार थे और पत्रकारों में श्रेष्ठ कलाकार थे। भारतेन्दु की तरह वह नये लेखकों को प्रेरणा देने वाले थे। वह कुशल सम्पादक थे और हिन्दी के सर्व श्रेष्ठ विवाद-लेखक। वाद-विवादों में बहुत लोगों ने भाग लिया है किन्तु गुप्त जी की सी सूझबूझ, उनका सा व्यंग्य किसी को सुलभ नहीं हुआ। सामने चाहे जितनी बड़ी सेना हो, उनका ब्रह्मास्त्र सारी अक्षौहिणी को ध्वस्त कर देता था। "अनस्थिर" के जोड़ पर "अनरीयल" और "अन-नोवेबल" को बिठाना कवि-सुलभ प्रतिभा का ही काम था। तर्कों से उनका तर्कस कभी खाली नहीं होता। भाषा पर उनका अद्भुत आधिपत्य यहीं देखा जाता है। वाद-विवाद में ऐसी सक्षमता से भाषा का प्रयोग, मेरी समझ में, किसी दूसरे ने नहीं किया। साधारण शब्द असाधारण व्यंजना लेकर प्रकट होते हैं। आवेश और आक्रोश का प्रायः अभाव है; हास्य और विनोद का साथ कभी कहीं छूटता नहीं। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने उन्हें उचित ही अपने युग का सर्वश्रेष्ठ गद्य लेखक कहा था।

श्री बनारसीदास चतुर्वेदी तथा झाबर मल्ल शर्मा जी ने बालमुकुन्द गुप्त ग्रंथावली और बालमुकुन्द गुप्त स्मारक ग्रंथ प्रकाशित करके गुप्त जी के जीवन और साहित्य का अध्ययन करने के लिये काफी सामग्री एकत्र की थी। अब इस शोध ग्रंथ के प्रकाशन से वह अध्ययन का कार्य पूरा हुआ है। अब हिन्दी साहित्य के इतिहास में गुप्त जी के स्थान का सही निर्देश होगा, ऐसी आशा की जा सकती है।

अशोक नगर, आगरा
२०–१२–५८

—रामविलास शर्मा

वक्तव्य

बालमुकुन्द गुप्त हिन्दी के प्रमुख निबन्ध-लेखक, पत्रकार, आलोचक तथा कवि थे। वह भारतेन्दु और द्विवेदी-युग के संक्रान्ति कालीन साहित्यकार थे। ऐसे महत्वशाली लेखक के जीवन और साहित्य के क्रमबद्ध और वैज्ञानिक विवेचन युक्त अध्ययन की आवश्यकता बहुत दिनों से बनी हुई थी। बड़ी प्रसन्नता की बात है कि डा० नत्थनसिंह ने इस अभाव की पूर्ति की है। इन्होंने मेरे निरीक्षण में गुप्त जी विषयक अनुसन्धान-कार्य करके आगरा विश्व विद्यालय में पी एच० डी० की उपाधि प्राप्त की है।

डा० नत्थनसिंह का यह प्रबन्ध 'गद्यकार बालमुकुन्द गुप्त—जीवन और साहित्य' अब प्रकाशित हो रहा है। अपने इस सफल प्रयास के लिए यह हार्दिक बधाई के पात्र हैं। आशा है डा० सिंह इसी मनोयोग से इस क्षेत्र की अन्य आवश्यक समस्याओं पर भी अपने अध्ययन प्रस्तुत करके हिन्दी के भण्डार की पूर्ति करते हुए समुचित गौरव और ख्याति प्राप्त करेंगे।

बलबंत राजपूत कॉलेज,
आगरा

टीकमसिंह तोमर
एम० ए०, डी० फिल०

सा
औ

सह
जि
हि
गु
ले
स्प
श,

प्राक्कथन

हिन्दी-आलोचना जगत में बालमुकुन्द गुप्त सम्बन्धी विवेचना का सामान्यत: अभाव रहा है। इसके अतिरिक्त साहित्य के इतिहास ग्रन्थों में जो भी कार्य हुआ है, उसमें भी गुप्त जी के साहित्य के विविध अंगों का सम्यक् विवेचन नहीं हो सका है। इस तथ्य को सम्मुख रखते हुए मैंने आगरा विश्व-विद्यालय की पी-एच० डी० की उपाधि के लिए 'बालमुकुन्द गुप्त—उनके जीवन और साहित्य का अध्ययन' नामक विषय लिया था। प्रस्तुत पुस्तक उसी शोध-प्रबन्ध का परिवर्तित रूप है।

गुप्त जी केवल गद्य लेखक ही नहीं, कवि भी थे। उनके कवि रूप का विवेचन प्रस्तुत प्रबन्ध के सातवें अध्याय में किया गया है। पर उनकी विशेषता का मापक उनका गद्य ही है। इसीलिए इस पुस्तक नाम 'गद्यकार बाबू बाल मुकुन्द गुप्त (जीवन और साहित्य)' रखा गया है।

इस निबन्ध में भूमिका और उपसंहार के अतिरिक्त आठ अध्याय तथा दो परिशिष्ट सम्मलित हैं। भूमिका में हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रन्थों तथा पत्र-पत्रिकाओं में गुप्त जी और उनके साहित्य विषयक विवेचना के अभाव का उल्लेख और उसके अध्ययन की आवश्यकता का विवरण दिया गया है। प्रथम अध्याय में उनके जन्म, शिक्षा, उर्दू पत्रकार का जीवन, 'हिन्दोस्थान', 'हिन्दी बंगवासी' और 'भारतमित्र' में सम्पादन कार्य, उनकी यात्राएँ, व्यक्तित्व का अध्ययन तथा स्वर्गवास का उल्लेख है। दूसरे अध्याय में 'कोहेनूर', 'अवधपंच' तथा 'नया ज़माना' में उनके कार्य का विवेचन, उर्दू भाषा और लिपि पर उनके विचार, उर्दू-साहित्यकारों पर उनकी सम्मत्ति, उर्दू-पत्रों के इतिहास पर उनके विचार तथा उर्दू-गद्य में उनके स्थान का मूल्यांकन किया गया है। तीसरे अध्याय में उनके प्रारम्भिक गद्य तथा 'हिन्दोस्थान', 'हिन्दी बंगवासी' और 'साहित्य सुधानिधि' में प्रकाशित उनकी रचनाओं का विवरण, 'भारतमित्र' में उनका कार्य, उसकी सम्पादकीय नीति का प्रभाव तथा उसकी भाषा विषयक नीति पर विचार किया गया है। चौथे अध्याय में पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी के साथ हुए अनस्थिरता विषयक विवाद का विवेचन है और उसके साहित्यिक मूल्य का अङ्कन किया गया है।

पं० लज्जाराम मेहता के साथ हुए 'शेष' शब्द के विवाद का विवरण भी इसी अध्याय में दिया गया है तथा व्याकरण और गद्य की भाषा विषयक उनकी मान्यताओं का उल्लेख किया गया है। पाँचवाँ अध्याय आलोचक गुप्त जी का मूल्यांकन करता है; सामयिक तथा प्राचीन लेखकों पर लिखीं उनकी आलोचनाओं का उल्लेख इस अध्याय में है और आलोचना विषयक उनके सिद्धान्तों का उल्लेख किया गया है। उनके द्वारा नए लेखकों को दिए गए प्रोत्साहन का विवरण भी इस अध्याय में मिलता है। छठे अध्याय में उनकी व्यंग्यपूर्ण गद्यात्मक रचनाओं का उल्लेख है तथा शिवशम्भु के चिट्ठों का ऐतिहासिक महत्व, बंगाल के गवर्नर के नाम उनके पत्रों का विवरण, मिण्टो तथा मार्ली सम्बन्धी रचनाओं का मूल्याँकन, गद्य में सामाजिक दशा का चित्रण और उनकी गद्य-शैली के क्रमिक विकास का उल्लेख किया गया है। सातवाँ अध्याय उनकी कविता से सम्बन्ध रखता है, जिसमें उनकी उर्दू कविता, देशभक्तिपूर्ण रचना, धार्मिक रचना तथा विविध रचनाओं का विवरण मिलता है। आठवें अध्याय में हिन्दी उर्दू सम्बन्धी विवाद, नागरी प्रचार का आन्दोलन, गुप्त जी द्वारा उसके समर्थन और उर्दू साहित्यकारों द्वारा किए गए विरोध का विशद अध्ययन है। नागरी के समर्थन में लिखे उनके लेख और कविता का विवेचन एवं हिन्दी उर्दू के विकास और उसके भविष्य पर दिए गए उनके मत का विवरण भी इस अध्याय में सम्मिलित है। उपसंहार में गद्य-निर्माता गुप्त जी, द्विवेदी जी के साथ उनकी तुलना तथा प्रेमचन्द और पं० पद्मसिंह शर्मा पर उनका प्रभाव विवेचित है। इसके अतिरिक्त गद्य शैली के परिवर्तन की आवश्यकता अङ्कित करके शैलीकार गुप्त जी का महत्व अङ्कित किया गया है। प्रथम परिशिष्ट में अनुवादक गुप्त जी का मूल्यांकन किया गया है और दूसरे में उनके महत्वपूर्ण अप्रकाशित लेखों का विवरण प्रकाशन तिथि के साथ दिया गया है। अन्त में सहायक पुस्तकों की सूची और अध्ययन-काल में देखी गई पत्र-पत्रिकाओं की सूची, उनके प्राप्त होने के स्थान के साथ दी गई है।

इस प्रबन्ध को तैयार करने में मुझे विशेष कठिनाई का सामना इसीलिए करना पड़ा है कि गुप्त जी द्वारा सम्पादित पत्रों की फाइलें प्रायः अप्राप्य हैं। 'हिन्दोस्थान' (कालाकांकर) और बंगवासी (कलकत्ता) की फाइलें तो अप्राप्य हैं ही, 'भारतमित्र' (कलकत्ता) की भी केवल वे कटिंग मिलती हैं, जिनमें कहीं-कहीं पृष्ठ संख्या और तिथि भी लुप्त हो गई है। अतः विवशतावश कई उद्धरणों पर मैं पृष्ठ संख्या और प्रकाशन-तिथि उद्धृत करने में असफल रहा हूँ।

मैंने इस प्रबन्ध को तैयार करने में बहुत से विद्वानों के ग्रन्थों एवं पत्रिकाओं में प्रकाशित लेखों से सामग्री का उपयोग किया है। उन सबका मैं आभारी हूँ।

गुरुवर डा० टीकमसिंह जी तोमर, हिन्दी-संस्कृत-विभाग, बलवन्त राजपूत कॉलिज (आगरा), जिनकी देख-रेख तथा निरीक्षण में इस प्रबन्ध का कार्य सम्पन्न किया है, के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रदर्शित करता हूँ। डा० रामविलास शर्मा का मैं विशेष रूप से कृतज्ञ हूँ जिन्होंने यथा समय अपने बहुमूल्य परामर्शों से मेरा मार्ग-प्रदर्शन किया है।

डा० नगेन्द्र, अध्यक्ष हिन्दी-विभाग तथा डा० विजयेन्द्र स्नातक रीडर हिन्दी-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय एवं पं० अयोध्यानाथ शर्मा, जिन्होंने अनेक परामर्शों द्वारा मुझे सहायता प्रदान की है, का मैं विशेष रूप से आभारी हूँ। साथ ही मैं डा० नरेन्द्रदेवसिंह शास्त्री, स्व० डा० चन्द्रवली पाण्डेय, पं० बनारसीदास चतुर्वेदी, पं० झावरमल्ल शर्मा, डा० गुलाबराय और भाई राजनाथ शर्मा के प्रति भी आभार प्रदर्शित करता हूँ। गुप्त जी के चिरंजीव पुत्र श्री नवलकिशोर गुप्ता तथा उनके कुटुम्ब के अन्य सभी सदस्यों के प्रति भी कृतज्ञता प्रकाश करता हूँ। यदि आपने अपने व्यक्तिगत पुस्तकालय के उपयोग की सुविधाएँ न प्रदान की होतीं तो मेरा कार्य कभी पूर्ण न होता।

इस प्रबन्ध को तैयार करने में हनुमान पुस्तकालय मलकिया (कलकत्ता), बड़ा बाज़ार लायब्रेरी (कलकत्ता), भारतीयभवन पुस्तकालय एवं साहित्य सम्मेलन पुस्तकालय (प्रयाग), नागरी प्रचारिणी सभा तथा हिन्दू विश्व विद्यालय के पुस्तकालय (काशी) आदि से मुझे सामग्री प्राप्त हुई है, अतः इसके लिए मैं उनके अधिकारी वर्ग तथा व्यवस्थापकों का विशेष रूप से कृतज्ञ हूँ।

—नत्थन सिंह

विषय-सूची

विषय | पृष्ठ संख्या

भूमिका

(अ) उर्दू और हिन्दी में गुप्त जी का साहित्य--

स्वर्गीय बाबू बालमुकुन्द गुप्त सरस्वती के उन वरद पुत्रों में से थे जिन्होंने अपने जीवन के प्रारम्भ-काल में उर्दू-साहित्य के रिक्त भंडार को भरा और फिर आजीवन हिन्दी-साहित्य की साधना में संलग्न रहे।

उर्दू-भाषा में गुप्त जी का साहित्य एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। वे पत्र-सम्पादक थे, अतः अधिकांश में उनके लेख पत्रों के सम्पादकीय स्तम्भों में बन्द पड़े हैं। सन् १८८६ ई० में गुप्त जी 'अखबारे चुनार' का सम्पादन करते थे और तत्पश्चात् सन् १८८८ ई० में वे 'कोहेनूर' पत्र के सम्पादकीय विभाग में चले आये। यहाँ आपने एक वर्ष तक बड़ी सफलता के साथ कार्य किया था। अतः चुनार के पत्र 'अखबारे चुनार' और लाहौर के पत्र 'कोहेनूर' की प्राचीन फाइलों में गुप्त जी की रचनाओं का बन्द पड़ा रहना स्वाभाविक है।

उपर्युक्त पत्रों के सम्पादन काल में लिखे गये निबन्धों के अतिरिक्त गुप्त जी लखनऊ के 'अवध-पंच', 'अवध अखबार' और कानपुर के 'ज़माना' मासिक पत्र के नियमित लेखक थे। उक्त पत्रों में गुप्त जी की रचनायें बहुलता के साथ प्रकाशित होतीं थीं। सन् १९०२ ई० से १९०७ ई० तक की 'ज़माना' मासिक की फाइलें गुप्त जी के बहुमूल्य साहित्य से परिपूर्ण हैं, उनके महत्व-पूर्ण लेख इन्हीं दिनों इस पत्र में प्रकाशित हुए थे। 'अवध-पंच' में गुप्त जी ने सन् १८८४ ई० से १८८७ ई० तक नियमित रूप से लिखा था। 'उर्दू-एमोअल्ला' नामक पत्र में गुप्त जी ने 'मुल्लामसीह' लिखना प्रारम्भ किया था।

सन् १८८४ ई० से १८८९ ई० तक गुप्त जी ने जो उर्दू-कविता लिखी थी, वह लखनऊ से प्रकाशित होने वाले 'गुलदस्ता' नामक पत्र में अधिकांश में प्रकाशित हुई थी। स्वयं गुप्त जी के कथनानुसार उनकी उर्दू-कविता हिन्दी-कविता से अधिक है।[1]

१--बालमुकुन्द गुप्त, 'स्फुट-कविता', 'निवेदन'।

पं० दीनदयाल शास्त्री के 'मथुरा अखबार' को भी गुप्त जी अपने घर 'गुड़ियानी' से लेख लिखकर भेजते रहते थे, यह सन् १८८५ ई० की बात है। इस पत्र में भी गुप्त जी के साहित्य का एक मूल्यवान अंग सन्निविष्ट है।

गुप्त जी ने उर्दू में 'हरिदास' नामक एक पुस्तक लिखी थी जो रहवर प्रेस द्वारा पं० प्रतापकिशन आगा के सौजन्य से सन् १८८९ ई० में प्रकाशित हुई थी।

गुप्त जी ने अपने जीवन के लगभग छः वर्ष उर्दू-साहित्य साधना में व्यतीत किये थे, तदनन्तर सन् १८८९ ई० से लेकर सितम्बर १९०७ ई० तक आप हिन्दी-साहित्य-सेवा में तत्पर रहे। हिन्दी-क्षेत्र में गुप्त जी ने 'हिन्दोस्थान' (कालाकांकर) के सह-सम्पादक के रूप में प्रवेश किया था। अतः सम्पादकीय लेखों के अतिरिक्त स्वतन्त्र रूप से प्रचुर मात्रा में लिखी गईं उनकी गद्य और पद्य रचनायें उक्त पत्र में प्रकाशित हुई थीं। उक्त पत्र के सम्पादकीय विभाग से सम्बन्ध विच्छिन्न होने के उपरांत गुप्त जी ने बंगला उपन्यास 'मडेल-भगिनी' का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया था।[1] अनुवाद की उत्तमता को लक्ष्य करके ही श्रीगोपालराम गहमरी ने 'नाटक और उपन्यास' नामक अपने लेख में 'मडेल-भगिनी' को हिन्दी के प्रसिद्ध चालीस-पचास उपन्यासों में स्थान दिया था और इन रचनाओं के अस्तित्व से ही वे हिन्दी को गौरवान्वित मानते थे; शेष रचनायें उनकी दृष्टि में पंसारी की दुकान के लिए टके सेर रद्दी के तुल्य थीं।[2]

'हिन्दोस्थान' से पृथक् होने के उपरान्त सन् १८९३ ई० तक गुप्त जी ने 'हिन्दी बंगवासी' के सम्पादकीय विभाग में सह-सम्पादक के रूप में कार्य किया था। इस काल में आपने संस्कृत के प्रसिद्ध कवि हर्षदेव द्वारा विरचित 'रत्नावली'[3] का अनुवाद हिन्दी में किया और चार वर्ष उपरान्त उसका

१—यह पुस्तक नं० १ चीना बाजार लेन, कलकत्ता में श्री शरच्चंद द्वारा प्रकाशित तथा श्री केवलराम महोपाध्याय द्वारा ३४।१ कोलूटोला बंगवासी स्टीम मशीन प्रेस द्वारा मुद्रित हुई थी।

२—प्रथम हिन्दी साहित्य सम्मेलन, काशी। कार्य-विवरण, दूसरा भाग, पृ० ९४।

३—यह पुस्तक ३४।१ कोलूटोला स्ट्रीट बंगवासी मशीन प्रेस, कलकत्ता से श्री अरुणोदय द्वारा सं० १९५५ (सन् १८९८ ई०) में मुद्रित और प्रकाशित हुई थी।

संशोधित संस्करण प्रकाशित किया।[१] इसी काल में आपने 'हरिदास' नामक पुस्तक का भी हिन्दी में प्रणयन किया था।[२]

सन् १८९९ ई० से लेकर सितम्बर १९०७ तक गुप्त जी ने 'भारतमित्र' द्वारा हिन्दी-भाषा एवं साहित्य की बहुमूल्य सेवायें कीं। यही काल उनके श्रेष्ठ साहित्य सृजन का काल था। 'हिन्दोस्थान', 'हिन्दी बंगवासी' तथा 'भारतमित्र' में प्रकाशित कविताओं का एक संग्रह 'स्फुट-कविता' के नाम से इसी काल में पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ।[३] इसके अतिरिक्त भारतमित्र में प्रकाशित उनकी व्यंग्यात्मक रचनाओं का एक संग्रह 'चिट्ठे और खत'[४] तथा तथा दूसरा 'शिव शम्भु के चिट्ठे'[५] के नाम से प्रकाशित हुआ था।

उसी समय विविध पत्रों में प्रकाशित उनके अन्य प्रमुख लेखों का एक संग्रह 'गुप्त-निबंधावली' के नाम से प्रकाशित हुआ था। इनके अतिरिक्त गुप्त जी के सामयिक लेखक 'खिलौना', 'सर्पाघात चिकित्सा' तथा 'खेल तमाशा' नामक पुस्तकों को भी उनकी रचनायें मानते हैं।[६]

'खिलौना' नामक पुस्तक पर गुप्त जी का नाम लेखक के स्थान पर नहीं मिलता। इस स्थान पर 'रसिकलाल दत्त' लिखा गया है। वह पुस्तक इंडियन प्रेस प्रयाग से सन् १८९९ ई० में प्रकाशित हुई थी और इसका मूल्य चार आना था। यह पुस्तक बालकोपयोगी थी; इसमें बालकों के लिए 'आँख मिचौनी खेलने', 'कबूतर उड़ाने', 'झूला झूलने' का चित्र तथा उनका वर्णन लिखा गया था। 'बिल्लियों के स्कूल' और 'गिलहरियों के विवाह' के चित्र

१—संशोधित संस्करण ९७ चोर बागान भारतमित्र प्रेस से पं० कृष्णानन्द द्वारा मुद्रित और प्रकाशित हुआ था।

२—यह पुस्तक २३ जुलाई सन् १८९६ ई० को बंगवासी स्टीम मशीन प्रेस कलकत्ता से छप कर निकली थी।

३—यह पुस्तक ९७ मुक्ताराम बाबू स्ट्रीट, भारतमित्र प्रेस कलकत्ता से सन् १९०५ ई० में प्रकाशित हुई थी।

४—'बालमुकुन्द गुप्त', 'चिट्ठे और खत' नामक संग्रह कलकत्ता—३, ऐक्स लेन, भारतमित्र प्रेस कलकत्ता से प्रकाशित हुआ था।

५—यह पुस्तक ९७ मुक्ताराम बाबू स्ट्रीट भारतमित्र प्रेस कलकत्ता से प्रकाशित हुई थी।

६—झाबरमल्ल शर्मा और बनारसीदास चतुर्वेदी, गुप्त स्मारक ग्रंथ, जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी का संस्मरण, पृ० २८२।

एवं गीत हास्य से परिपूर्ण थे। इस पुस्तक का स्थायी साहित्य की दृष्टि से कोई विशेष महत्व नहीं है, किन्तु उस समय बच्चों के लिए अपने ढंग की यह प्रथम एवं अनूठी पुस्तक थी।

'सर्पाघात चिकित्सा[१]', गुप्त जी की मौलिक कृति नहीं है। 'अमृत बाजार पत्रिका' के प्रवर्तक--सम्पादक श्री बाबू शिशिर कुमार घोष ने अपने कार्यालय से 'सर्पाघात प्रतिकार' नामक पुस्तक प्रकाशित करके हिन्दी अनुवाद के लिए पं० दुर्गाप्रसाद शर्मा को दी थी। शर्मा जी ने इस कार्य में हाथ लगाया ही था कि रोग के कारण कार्य पूर्ण न कर सके। पीछे यह कार्य गुप्त जी द्वारा सम्पन्न हुआ। दुर्गाप्रसाद शर्मा ने इस विषय में लिखा था--"लाचार मैंने इस कार्य का भार भारतमित्र के सुयोग्य वर्त्तमान सम्पादक चिरंजीव लाला बालमुकुन्द गुप्त के हस्तन्यस्त किया। उक्त आयुष्मान् गुप्त महाशय ने बड़ी योग्यता से यथा विहित सम्पादन कर दिया है —।"[२]

प्रस्तुत पुस्तक में परिचय और परिशिष्ट को मिला कर कुल पन्द्रह अध्याय हैं, जिनमें सर्पों की जाति, किस्म और परिचय से लेकर चिकित्सा की विधियों का विस्तार पूर्वक उल्लेख किया गया है। सर्प-चिकित्सा की दृष्टि से पुस्तक उपादेय है, किन्तु साहित्यिक मूल्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण रचना नहीं कही जा सकती। इतना अवश्य है, अनुवाद होने पर भी भाषा इतनी प्रांजल और सुबोध है कि अनुवाद सा प्रतीत न होकर मौलिक रचना प्रतीत होती है।

'खेल तमाशा[३]', गुप्त जी की मौलिक रचना है। पुस्तक का मूल्य २ आने है। इस पुस्तक पर भी लेखक की जगह गुप्त जी का नाम नहीं है। केवल 'खिलौने के लेखक रसिकलाल दत्त-रचित' लिखा हुआ है। पुस्तक के आवरण पृष्ठ पर एक स्वस्थ बालक का चित्र है और दूसरे पृष्ठ पर एक माता का, जो बालक को दूध पिलाने के प्रयास में तल्लीन है, पर बालक सामने पड़ी गेंद, ढोलक, डंडा तथा अन्य खड़े बालकों की ओर आकर्षित है। तीसरे पृष्ठ पर इस भाव की कविता है जो चित्र के भाव की सफल अभिव्यंजना

१--यह पुस्तक ६७ चोर बागान, भारतमित्र प्रेस से सन् १८६६ ई० (सं० १९५६) में प्रकाशित हुई थी।

२--बालमुकुन्द गुप्त, सर्पाघात चिकित्सा, भूमिका लेखक, दुर्गाप्रसाद शर्मा।

३--इंडियन प्रेस, इलाहाबाद से सन् १९१७ ई० में प्रकाशित।

करती है। इस प्रकार इस पुस्तक में कुल २४ पृष्ठ हैं, जिनमें एक ओर चित्र और दूसरी ओर उसी भाव की कविता है। पुस्तक बालोपयोगी है। कवितायें मात्राओं के क्रमानुसार रखी गई हैं जो बालकों को मात्राओं का ज्ञान कराने में भी सहायक होतीं हैं। उदाहरण के लिये पहले 'आकार का योग' लेकर कविता दी गई है, फिर 'इ' और 'ई' के योग की कविता है। तदनन्तर 'उ', 'ऊ' और 'ऋ' के योग की कविताएँ रखीं गईं हैं। इन कविताओं के अतिरिक्त अन्य कविताएँ भी विशेषतः बालकों के लिए लिखी गई हैं। इन कविताओं में से पृष्ठ पाँच, अठारह और इक्कीस पर क्रमशः छपी 'गुलाब और चमेली', 'शौक का घोड़ा' तथा 'गुड़ियों की पाठशाला' नामक तीन कविताओं की तो पांडुलिपियाँ आज तक सुरक्षित हैं।[1]

(आ) हिन्दी आलोचना में गुप्त जी सम्बन्धी विवेचना––

हिन्दी-आलोचना-साहित्य में बाबू बालमुकुन्द गुप्त विषयक विवेचन कुछ अंश तक अपूर्ण एवं असंतोषप्रद ही रहा है और अभी तक गुप्त जी के साहित्य का यथार्थ एवं उचित मूल्यांकन करने वाली रचना का अभाव हिन्दी में विद्यमान है। इस दिशा में जो कुछ हो सका है, वह गत दशक में ही सम्पन्न हुआ है। इसका अस्तित्व साहित्य के विविध युगों अथवा वाङ्मय के विविध अंगों पर होने वाले खोज-कार्य सम्बन्धी आलोचनात्मक प्रबन्धों में पाया जाता है। स्वतन्त्र रूप से लिखीं गईं आलोचनात्मक पुस्तकों में गुप्त जी सम्बन्धी विवेचन नगण्य है। इसके पूर्व सन् १९२८ ई० में जब श्री बनारसी दास चतुर्वेदी ने 'विशाल भारत' का सम्पादन भार ग्रहण किया था, तब उन्होंने विशाल-भारत में गुप्त जी के जीवन और साहित्य सम्बन्धी विवेचना का सूत्रपात किया था। प्राचीन लेखकों के साहित्य को पुनर्जीवित करने की दृष्टि से यह महान् कार्य था, किन्तु शीघ्र समाप्त हो गया। तदनन्तर लगभग सन् १९४० ई० तक गुप्त जी तथा उनका साहित्य दोनों अन्धकार में पड़े रहे।

सन् १९४० ई० तथा उसके उपरांत होने वाले खोज-कार्य सम्बन्धी आलोचनात्मक ग्रन्थों तथा स्वतन्त्र-विवेचनात्मक पुस्तकों में गुप्त जी सम्बन्धी आलोचना उनके साहित्य के किसी अंग विशेष को लेकर सम्पन्न है। इस विवेचना में उनके सम्पूर्ण साहित्य पर प्रकाश नहीं पड़ता। खोज-कार्य सम्बन्धी इन ग्रन्थों में गुप्त जी विषयक आलोचना यद्यपि अपूर्ण है, पर लाभ-

---

१––नवलकिशोर गुप्त, १४७ हरिसन रोड, कलकत्ता के व्यक्तिगत पुस्तकालय में।

कारी है। इस आलोचना से उनकी कुछ विशेषताएँ प्रकाश में आई हैं। इस दिशा में सर्व प्रथम डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय का कार्य उल्लेखनीय है।[1] आपने सन् १८५०-१९०० ई० तक के गद्य तथा पद्य साहित्य का अध्ययन करते हुए गुप्त जी के साहित्य पर आलोचनात्मक टिप्पणियाँ की हैं और उनको उच्चकोटि के निर्भीक लेखकों में स्थान दिया है। इससे गुप्त जी का कुछ अंश में मूल्यांकन अवश्य हुआ है। भारतेन्दु तथा द्विवेदी-युग की काव्य-धारा का अध्ययन करने वाले दूसरे व्यक्ति हैं, डा० केसरी नारायण शुक्ल।[2] आपने तत्कालीन कविता की प्रवृत्तियों का विवेचन करते हुए गुप्त जी की रचनाओं से कुछ उद्धरण प्रस्तुत किए हैं, जिनके आधार पर भारतेंदु-युग के कवियों में गुप्त जी का स्थान निर्धारित हो जाता है और गुप्त जी का पद्य-साहित्य जो अब तक उनके गद्य के सम्मुख गौण बना हुआ था, प्रकाश में आ जाता है। किन्तु प्रसंगवश हुआ गुप्त जी की कविता का उल्लेख इतना अपूर्ण एवं संक्षिप्त है कि उससे गुप्त जी की पूर्ण काव्य-प्रतिभा, उनकी कविता की कलात्मक विशेषता, कविता की विविध प्रवृत्तियाँ, उनकी विचार-धारा तथा मनोभूमि का यथार्थ मूल्यांकन नहीं हो पाता। इस विषय में तीसरे उल्लेखनीय व्यक्ति हैं, डा० उदयभानुसिंह।[3] आपने द्विवेदी जी के साहित्य का विवेचनात्मक अध्ययन करते हुए उनके 'भाषा और व्याकरण' विषयक विवाद पर विचार किया है और इस सम्बन्ध में गुप्त जी का उल्लेख किया है। किन्तु इस प्रकार संक्षिप्त विवेचन से आलोच्य विवाद के साहित्यिक तथा भाषा-परिशोधन विषयक महत्व पर पूर्ण प्रकाश नहीं पड़ता, फलतः द्विवेदी जी के साथ भाषा-सुधार के कार्य में गुप्त जी का क्या मूल्य है, उन्होंने किस सीमा तक भाषा-सुधार तथा शैली-निर्माण का कार्य किया है, यह प्रश्न अस्पष्ट और विवेचन-हीन ही रह जाता है जिसके अभाव स्वरूप भाषा-सुधारक के रूप में गुप्त जी का उचित मूल्यांकन नहीं हो पाता।

गत पृष्ठ पर यह उल्लेख किया जा चुका है कि स्वतन्त्र रूप से लिखीं गईं हिन्दी-आलोचनात्मक पुस्तकों में भी गुप्त जी तथा उनके साहित्य के

१—आधुनिक हिन्दी साहित्य, हिन्दी परिषद् इलाहाबाद युनिवर्सिटी सन् १९४८ ई०।

२—आधुनिक काव्यधारा, सरस्वती मन्दिर, जतनबर, बनारस।

३—महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग, लखनऊ विश्वविद्यालय सं० २००८ वि०।

साथ उचित मात्रा में न्याय नहीं हो सका, वह प्रायः उपेक्षित ही रहा है। 'द्विवेदी-मीमांसा' में श्री प्रेमनारायण टंडन जी ने द्विवेदी जी के 'भाषा और व्याकरण' विषयक विवाद पर विचार किया है, किन्तु टंडन जी के प्रयास में विवाद की सूक्ष्मता तक पहुँचने की प्रवृत्ति का अभाव है; उन्होंने इस विवाद को अनुसंधान-कर्त्ता की दृष्टि से देखा भी नहीं है, अतः वे उक्त विवाद का संक्षिप्त वृतांत देकर ही संतुष्ट हो गए हैं।[१] उनका दृष्टिकोण एक तटस्थ दर्शक का सा है, गम्भीरता पूर्वक निष्पक्ष आलोचक का दृष्टिकोण यदि उन्होंने अपनाया होता तो गुप्त जी द्वारा सम्पन्न भाषा-सुधार के कार्य का उचित मूल्यांकन होना सम्भाव्य था। 'हमारे-गद्य-निर्माता' नामक पुस्तक में आपने गुप्त जी की गद्य-शैली और भाषा की विशेषताओं का उल्लेख अवश्य किया है,[२] फलस्वरूप आज गद्य-निर्माताओं में गुप्त जी की गणना होने लगी है। पं० कमलापति त्रिपाठी शास्त्री एवं पुरुषोत्तमदास टंडन पत्रकार ने गुप्त जी को प्रसिद्ध एवं प्राचीन पत्रकार स्वीकार किया है,[३] किन्तु उनके सम्पादन की विशेषता और पत्रकार-कला में उनके द्वारा की गई प्रगति के विषय में लेखक द्वय मौन रहे हैं। गुप्त जी की पत्रकारिता का गौरव और हिन्दी-निर्माण की शक्ति का उल्लेख डा० रामरतन भटनागर ने अवश्य किया है। आप 'बंगवासी' कालीन गुप्त जी के भाषा-निर्माण को स्वीकार करते हैं।[४] इसके अतिरिक्त भटनागर साहब गुप्त जी को उच्च-कोटि का हिन्दी लेखक,[५] तत्कालीन युग के चार प्रतिष्ठित सम्पादकों में से एक,[६] और हिन्दी पत्रकारिता का विकास करने वालों में स्थान देते हैं। भटनागर साहब के इस कार्य से गुप्त जी की गणना अच्छे पत्रकारों में अवश्य हो जाती है किन्तु गुप्त जी की पत्रकारिता-विषयक विशेषताओं का ज्ञान पाठकों को नहीं हो पाता।

गुप्त जी के साहित्य के मूल्यांकन की दिशा में उल्लेखनीय कार्य करने

१—प्रेमनारायण टंडन, द्विवेदी-मीमांसा, पृ० ६८–७०।

२— वही , हमारे-गद्य-निर्माता , पृ० ६५।

३—श्री कमलापति त्रिपाठी, आदि, पत्र और पत्रकार, भारतीय पत्रकारी, का विकास पृ० ११९।

४—डा० रामरतन भटनागर, दि राइज एण्ड ग्रौथ आव हिन्दी जनरलिज्म १८२६–१९४५ ई०, पृ० १६२–१६३।

५— वही , वही , पृ० २२०।

६— वही , वही , पृ० ३०६।

वाले हैं डा० रामबिलास शर्मा और पं० अम्बिका प्रसाद वाजपेयी। डा० रामबिलास शर्मा ने 'भारतेंदु-युग[१]' नामक पुस्तक में 'निबन्ध रचना' तथा 'पत्र और पत्रकार' नामक अध्यायों के अन्तर्गत गुप्त जी की निबन्ध रचना शैली, भाषा-सृजन-क्षमता, भाव-उन्नयन-कौशल, भारतमित्र की सम्पादकीय नीति, अन्य सम्वाद पत्रों के विषय में गुप्त जी की सम्पति आदि पर विस्तार तथा गम्भीरता पूर्वक लिखा है। इसके अतिरिक्त 'लोक जीवन और साहित्य' नामक पुस्तक में तो गुप्त जी के स्थान का सम्यक् मूल्यांकन किया है[२]। पं० अम्बिका प्रसाद वाजपेयी ने गुप्त जी द्वारा निर्धारित मूल्यों एवं समाचार पत्रों सम्बन्धी उनकी मान्यताओं को अधिक महत्व दिया है, उन्हें समाचार पत्रों का चिकित्सक मानते हुए आपने सम्मुख आदर्श रूप में रखा है[3]। इतना होने पर भी गुप्त जी सम्बन्धी अनेक विशेषताएँ प्रच्छन्न रह गई हैं।

हिन्दी-साहित्य के इतिहासकार और गुप्त जी के गद्य-साहित्य पर उनके मत —

बाबू श्यामसुन्दर दास ने 'हिन्दी कोविद रत्नमाला', प्रथम भाग में गुप्त जी के 'अखबारे-चुनार', 'हिन्दोस्थान', 'हिन्दी-बंगवासी' और 'भारतमित्र' कालीन सम्पादकीय जीवन के विषय में उल्लेख किया है और उनकी भाषा तथा शैली पर अपना अभिमत दिया है। अखबारे चुनार के विषय में उल्लेख करते हुए बाबू साहब लिखते हैं—"इन्होंने अखबारे-चुनार को ऐसी योग्यता से चलाया कि उसे संयुक्त प्रान्त के सब अखबारों में सिरे कर दिया[४]।" इसके अतिरिक्त आप मानते हैं कि गुप्त जी ने अपनी योग्यता से लाहौर के उर्दू पत्र 'कोहेनूर' को दैनिक कर दिया था जो सप्ताह में तीन बार निकलता था।[५] 'हिन्दोस्थान' के विषय में आपका मत है कि गुप्त जी उक्त पत्र-सम्पादकों की कमेटी के सभापति या मुखिया थे।[६] गुप्त जी की 'बंगवासी' तथा 'भारतमित्र' कालीन सेवाओं को भी आप स्वीकार करते हैं; किन्तु

१—डा० रामविलास शर्मा, भारतेंदु युग, विनोद पुस्तक मन्दिर आगरा।

२— वही ,, लोक जीवन और साहित्य बालमुकुन्द गुप्त, पृ० १५८

३—अम्बिका प्रसाद वाजपेयी, समाचार पत्रों का इतिहास—ज्ञानमण्डल, लिमिटेड, बनारस, सं० २०१०, प्रथम संस्करण।

४—डा० श्यामसुन्दरदास, हिन्दी कोविद रत्नमाला प्रथम भाग, पृ० ९९।

५—डा० श्यामसुन्दरदास, हिन्दी कोविद रत्नमाला, प्रथम भाग पृ० ९९।

६— वही ,, वही ,, पृ० १००।

उपर्युक्त पत्रों के विषय में गुप्त जी के कार्यों का इतिवृत्त मात्र ही दिया गया है, न तो उसमें गुप्त जी की पत्रकार-कला पर विचार किया गया है और न हिन्दी-पत्रकारिता के क्षेत्र में गुप्त जी द्वारा की गई सेवाओं का उल्लेख किया है। इतना अवश्य है कि बाबू साहब गुप्त जी को भाषा और शैली का कुशल शिल्पी मानते हैं। इस विषय में आपका मत है—"इनके सब लेख प्रभाव-जनक होते थे। इनकी भाषा बड़ी ही सरल और मनोहर होती थी।"[१] किन्तु बाबू जी ने गुप्त जी की भाषा और शैली की प्रमुख विशेषताओं पर विस्तार से प्रकाश नहीं डाला।

गुप्त जी की साहित्य-सेवा के विषय में मिश्रबन्धुओं की सम्मति है—"इनको हिन्दी लेखन से सदैव बड़ी रुचि थी, और इन्होंने पत्रों के सम्पादन से ही अपनी जीवका भी चलाई। आपने सात वर्ष बंगवासी का सम्पादन किया, और फिर भारतमित्र के आप जीवन पर्यन्त सम्पादक रहे।"[२] इसके अतिरिक्त मिश्रबन्धुओं ने गुप्त जी की गद्य तथा पद्य रचनाओं का उल्लेख करके रचनाओं की सजीवता, लोक-प्रियता और जिंदादिली की प्रशंसा की है और गुप्त जी को जिंदादिल लेखक तथा अच्छी समालोचना लिखने वाला लेखक माना है।"[३] किन्तु न तो मिश्र-बन्धुओं ने गुप्त जी द्वारा लिखीं समालोचनाओं का उल्लेख किया और न हिन्दी-गद्य के प्रसार के उद्देश्य से किए गए उनके कार्यों का वर्णन। अतः हिन्दी-साहित्य के इतिहास में उनका उचित मूल्यांकन अभी तक नहीं हो सका है।

हिन्दी-साहित्य के इतिहासकारों में पं० रामचन्द्र शुक्ल का श्रेष्ठ स्थान है, आप गुप्त जी के विषय में लिखते हैं—"गुप्त जी ने सामयिक और राजनीतिक परिस्थिति को लेकर कई मनोरंजक प्रबन्ध लिखे हैं जिनमें 'शिव शम्भु का चिट्ठा' बहुत प्रसिद्ध है। गुप्त जी की भाषा बहुत चलती, सजीव और विनोदपूर्ण होती थी। किसी प्रकार का विषय हो गुप्त जी की लेखनी उस पर विनोद का रंग चढ़ा देती थी। वे पहले उर्दू के एक अच्छे लेखक थे, इससे उनकी हिन्दी बहुत चलती हुई और फड़कती हुई होती थी। वे अपने विचारों को विनोद पूर्ण वर्णनों के भीतर ऐसा लपेट कर रखते थे कि उनका आभास बीच-बीच में ही मिलता था। उनके विनोद पूर्ण वर्णनात्मक

१—डा० श्यामसुन्दरदास, हिन्दी कोविद रत्नमाला, प्रथम भाग, पृ० १०१

२—मिश्र बन्धु विनोद, चतुर्थ भाग, सं० १९९१, पृ० १८१।

३— वही, वही, वही।

विधान के भीतर विचार और भाव लुके छिपे रहते थे। यह उनकी लिखावट की बड़ी विशेषता थी।"[1] इन पंक्तियों में शुक्ल जी ने गुप्त जी की भाषा-शैली के विषय में अपने विचार प्रकट किए हैं। वे उन्हें अपने समय के सबसे अनुभवी और कुशल सम्पादक स्वीकार करते हुए बहुत ही चलते पुरजे और विनोदशील लेखक मानते हैं, साथ ही उन्हें छेड़छाड़ कर बैठने वाले लेखकों में स्थान देते हैं।[2] गुप्त जी की विनोद-प्रियता और छेड़छाड़ के सम्बन्ध में द्विवेदी जी के साथ हुए 'अनस्थिरता' वाले विवाद का उल्लेख शुक्ल जी ने किया है, किन्तु शुक्ल जी की रचना से यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि गुप्त जी की छेड़छाड़ ने हिन्दी-गद्य के परिमार्जन एवं परिशोधन में किस सीमा तक योग दिया है? शुक्ल जी अपने इतिहास के संक्षिप्त कलेवर में अनस्थिरता विषयक विवाद के साहित्यिक महत्व का प्रतिपादन भी नहीं कर पाए हैं। गुप्त जी को अनुभवी और कुशल सम्पादक स्वीकार करते हुए भी शुक्ल जी ने उनकी सम्पादन कला की विशेषता तथा हिन्दी-पत्रकारिता के क्षेत्र में उनके द्वारा किए गए उत्कर्ष का उल्लेख नहीं किया। यथार्थ में शुक्ल जी का ध्यान गुप्त जी की निबन्ध-रचना की ओर अधिक रहा है; इसलिए वे उनकी निबन्ध-शैली की विशेषता, उनकी लेखनी के चमत्कार और उनकी कला की उत्कृष्टता का अंकन भली प्रकार कर सके हैं। शुक्ल जी ने गुप्त जी के साहित्य की कुछ ऐसी विशेषताओं का उल्लेख नहीं किया, जिनका उल्लेख होना आवश्यक था और जिसके अभाव में गुप्त जी का उचित मूल्यांकन होना असंभाव्य है।

पहली बात तो यह है कि गुप्त जी के पद्य-साहित्य की विशेषताओं, उनकी विचार धारा, पद्य-साहित्य में अभिव्यंजित देश-प्रेम और राष्ट्रभक्ति के भाव तथा उनके लोक-गीतों की उत्कृष्टता का विवेचन हिन्दी-साहित्य के इतिहास में नहीं हो पाया है। भारतेन्दु-युग में हिन्दी-कविता के अन्तर्गत जिस निर्भीकता तथा राष्ट्र-प्रेम की अभिव्यंजना का प्रस्फुटन हुआ था, उसको गुप्त जी ने उग्रता तथा शासन की कठोर आलोचना की दिशा में मोड़ दिया था। गुप्त जी ही उस काल के प्रथम कवि थे, जिन्होंने हिन्दी-कविता में उग्र क्रांति-कारिता और वर्ग-संघर्ष की पूर्व भावना को स्थान दिया था; यही नहीं, भारतेंदु की भाँति गुप्त जी ने भक्ति-कालीन काव्य-शैली में पद-रचना भी की

१—पं० रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ५१६।
२— वही „ वही „ पृ०५१५।

है यद्यपि इनकी संख्या अल्प है, पर गुण में उत्तम हैं। दूसरे हिन्दी-गद्य के विकास-पथ में विरोधी वर्ग द्वारा प्रस्तुत किए गए अवरोधों का उन्मूलन करके गुप्त जी ने खड़ी-बोली-पद्य की जातीय शैली का विकास किया है। शुक्ल जी के इतिहास से गुप्त जी की ये विशेषताएँ स्पष्ट नहीं होतीं, अधिकांश में वे प्रच्छन्न ही रह गईं हैं।

'हिन्दी साहित्य का इतिहास' के उपरान्त साहित्य के इतिहासों में बाबू श्यामसुन्दरदास का 'हिन्दी भाषा और साहित्य' नामक ग्रंथ आता है। बाबू-जी ने प्रस्तुत ग्रंथ में आधुनिक काल के अध्याय १२ में गद्य के क्रमिक विकास पर विचार किया है, किन्तु गुप्त जी का कहीं उल्लेख भी नहीं हुआ; इसी अध्याय में समालोचना, निबन्ध तथा गद्य-शैली के विकास पर विचार करते हुए भी बाबू जी ने गुप्त जी की सेवाओं का उल्लेख नहीं किया।[१] फलत: गुप्त जी और उनका साहित्य अभी तक उपेक्षित रहे हैं। श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय ने 'दि ऑरिजन एण्ड ग्रोथ ऑव हिन्दी लेंग्वेज एण्ड इट्स लिटरेचर' में गुप्त जी की भाषा शैली तथा सरस कविताओं के विषय में उल्लेख किया है। आपके मतानुसार गुप्त जी उर्दू में पूर्ण अभ्यस्त थे। अत: उनकी भाषा मजी हुई, फड़कती हुई और चलती होती थी[२]। उपाध्याय जी की मान्यता उचित ही है किन्तु प्रसंगवश हुए इस उल्लेख मात्र से गुप्त जी की सरस कविताओं और शैली का सम्यक् मूल्यांकन नहीं हो पाता।

पं० कृष्ण शंकर शुक्ल गुप्त जी को उर्दू भाषा का सुलेखक और उर्दू-साहित्य से सुपरिचित लेखक मानते हैं। उनका मत है कि उर्दू से हिन्दी में आने वाले लेखकों की भाषा में एक सलक्ष्य विशेषता दृष्टिगोचर होती है और यह विशेषता गुप्त जी की भाषा में पूर्ण रूपेण विद्यमान है। उनके व्यंग्य और विनोद को शिष्ट एवं सज्जनोचित स्वीकार करते हुए, उन्हें सामयिक महत्व के विषयों पर लिखने वाला उच्चकोटि का लेखक मानते हैं।[३] यदुनन्दन मिश्र अंगीकार करते हैं कि आचार्य द्विवेदी जी के साथ गुप्त जी का नाम भी

१—डा० श्यामसुन्दरदास, 'हन्दी भाषा और साहित्य', बारहवाँ अध्याय पृ० ३७४–३९२।

२—पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय, 'दि ऑरिजन एण्ड ग्रोथ ऑव दि हिन्दी लेंग्वेज एण्ड इट्स लिटरेचर', पृ० ६७२।

३—पं० कृष्ण शंकर शुक्ल, 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास' (पाँचवाँ संस्करण) पृ० १६२-१६३।

चिरस्मरणीय रहेगा। आप लिखते हैं—"एक ओर प्रयाग में द्विवेदी जी गरजते थे तो दूसरी ओर कलकत्ता में गुप्त जी अपनी मधुर मुसकान से सिंह को शक्तिहीन करते थे।"[१] इसके अतिरिक्त गुप्त जी की शैली और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की शैलियों में आकाश-पाताल का अन्तर बताते हुए मिश्र जी, गुप्त जी की शैली को अपेक्षाकृत सरल, व्यंग्यात्मक, चुटीली, भावपूर्ण, बोधगम्य तथा विदेशी भाषा के प्रभाव से मुक्त स्वीकार करते हैं। शुक्ल जी तथा मिश्र जी की विवेचना से गुप्त जी की शैलीगत विशेषता पर कुछ प्रकाश अवश्य पड़ता है किन्तु भाषा और शैली-विकास के इतिहास की विस्मृत और उपेक्षित कड़ियों को जोड़ने के उद्देश्य से गुप्त जी द्वारा भाषा और शैली के क्षेत्र में किये गए कार्यों का विस्तृत अध्ययन अपेक्षित है।

बाबू गुलाबराय एम० ए० 'हिन्दी बंगवासी' और 'भारतमित्र' द्वारा की गई गुप्त जी की साहित्य-सेवा को स्वीकार करते हुए उनके हास्य को ग्रामीणता तथा मारकाट की खोखली खिलखिलाहट से सर्वथा मुक्त बताते हैं और उन्हें प्रवाहमयी भाषा लिखने वाला उत्तम व्यंग्यकार घोषित करते हैं।[२] गुप्त जी के विषय में एक दूसरे स्थान पर मिश्रबन्धुओं ने लिखा है—"पत्र कला ने हमारे हिन्दी-गद्य लेखकों को कालक्षेप का मार्ग, स्वतंत्र जीवन तथा देश पर भारी प्रभावोत्पादन के बल दिये। उपर्युक्त महाशयों में से महता लज्जाराम, बालमुकुन्द गुप्त तथा गंगाप्रसाद गुप्त की प्रधानता समझ पड़ती है। बालमुकुन्द जी गुप्त इस नामावली में बहुत निकले हुए पत्रकार हैं। सामाजिक और धार्मिक विषयों पर विचार तो आपके प्राचीन थे, जिससे हम लोगों का इनसे कई बार वाद-विवाद भी हुआ, किन्तु जिंदादिली इनके लेखों तथा भारतमित्र पत्र को बहुत सुपाठ्य बनाती थी। आप कहते थे कि मित्रबन्धु हमसे लड़ तो लेते हैं, किन्तु रुष्ट कभी नहीं होते। बात यह थी कि मतभेद वाले लेखों का खंडन करते हुए भी इनके व्यक्तित्व के कारण हमें भारतमित्र में ही समय-समय पर अपने लेख निकालना अच्छा लगता था। इनके लेखों में सजीवता तथा चरित्र में सौहार्द था।"[३] मिश्र-बन्धुओं ने गुप्त जी के व्यक्तित्व की गरिमा, उनके लेखों की सजीवता तथा सुपाठ्य सामग्री, उनके विचारों की प्राचीनता और उनके विषय में व्यक्तिगत संस्मरण का उल्लेख करके उनके

१—पं० यदुनन्दन मिश्र, हिन्दी साहित्य का सरल इतिहास।

२—गुलाबराय, हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास, पृ० १३९।

३—मिश्र बन्धु, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ३१४।

साथ कुछ अंश तक न्याय किया है, किन्तु इस सबके अतिरिक्त भी इतना अधिक शेष रह जाता है कि उसके प्रकाश में न आने की अवस्था में साहित्य के इतिहास की अनेक बातों के प्रच्छन्न रह जाने का भय है।

'हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास' नामक पुस्तक में गद्य-साहित्य के निबन्ध संग्रहों का उल्लेख करते हुए आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने गुप्त जी के निबन्ध-संग्रह 'शिवशम्भु का चिट्ठा' को व्यंग्यात्मक शैली का शिष्ट निदर्शन बताया है और अंगीकार किया है कि यह संग्रह शिष्ट हास्य तथा उत्तर-दायित्वपूर्ण एवं निर्भीक विचारधारा का श्रेष्ठतम उदाहरण है। इसके अतिरिक्त आपने विवेच्य पुस्तक के नवे अध्याय 'पत्र और पत्रकार' में लिखा है—"इनकी चुटकियाँ बड़ी करारी होतीं थीं। सरस्वती के पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने जब अपने 'भाषा और व्याकरण' शीर्षक-लेख में 'अनस्थिरता' शब्द का प्रयोग किया तब आपने आत्माराम के नाम से एक आलोचनात्मक, चुहलबाजी से भरपूर लेखमाला निकाली थी।"[1] आचार्य जी की दृष्टि अनस्थिरता विषयक लेखमाला के हास्य और व्यंग्य की ओर ही गई है, उसमें निहित भाषा-सुधार की अदम्य भावना की ओर आचार्य जी का ध्यान आकृष्ट नहीं हो पाया है। आपने गुप्त जी द्वारा सामयिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों पर लिखे विनोद तथा व्यंग्य पूर्ण लेखों की शैली और विचार-धारा की प्रशंसा भी की है, जिसे आचार्य शुक्ल का पिष्टपेषण कहना अधिक समीचीन होगा। शास्त्री जी की गुप्त जी विषयक टिप्पणियों में मौलिक विवेचन का अभाव है। आपके मत से—"गुप्त वास्तव में हिन्दी भाषा के एक प्रौढ़ प्रतिनिधि थे। वे एक अच्छे आलोचक थे। खेद है उनका निधन ४२ वर्ष की थोड़ी वय में हो गया।"[2] आचार्य जी स्वीकार करते हैं कि गुप्त जी एक अच्छे आलोचक थे, किन्तु आलोचकों की नामावली का उल्लेख करते समय आप उनको भूल गए हैं और न आपने गुप्त जी द्वारा लिखीं आलोचनाओं का कहीं उल्लेख किया है। यहाँ तक कि आलोचना विषयक गुप्त जी की मान्यताएँ क्या थीं, वे किस विचारधारा को लेकर आलोचना लिखा करते थे, यह सब प्रच्छन्न है और आचार्य जी ने उस पर कहीं भी प्रकाश डालने का प्रयास

१—आचार्य चतुरसेन शास्त्री, हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास, पृ० ६००।

२—आचार्य चतुरसेन शास्त्री, हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास, पृ० ६०१।

नहीं किया। खड़ी बोली के प्रतिनिधि कवियों का उल्लेख करते हुए भी आपने गुप्त जी का स्मरण नहीं किया, इसका कारण यह प्रतीत होता है कि स्वयं शुक्ल जी 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में इस ओर ध्यान नहीं दे पाये हैं। शुक्ल जी ने गुप्त जी के केवल गद्य-साहित्य का ही मूल्यांकन किया है, उनके साहित्य की विविध विशेषताओं की ओर उनका ध्यान नहीं गया है। फलतः परवर्ती इतिहासकार, जिन पर शुक्ल की मान्यताओं का अधिकांश में प्रभाव है गुप्त जी का यथोचित विवेचन करने में सफल नहीं हो सके हैं।

पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी गुप्त जी को स्वच्छ और सरल शैली के विनोदी लेखक स्वीकार करते हैं।[1] किंतु द्विवेदी जी ने 'आधुनिक काल' नामक अध्याय के 'हिन्दी का जन आन्दोलन', 'हिन्दी प्रचार का आन्दोलन' तथा 'उर्दू के साथ संघर्ष' आदि शीर्षकों में गुप्त जी द्वारा समर्पित एतद्विषयक सेवाओं का उल्लेख नहीं किया है, जबकि हिन्दी प्रचार और प्रसार के लिए गुप्त जी निरन्तर सचेष्ट रहे थे और उन्होंने हिन्दी-उर्दू-संघर्ष में एक महत्वपूर्ण भूमिका का निर्माण किया था।

शिवदानसिंह चौहान तथा विजय चौहान गुप्त जी की भाषा में एक विशेष परिष्कार, उसे व्यंग्यशालीन और सांकेतिक मानते हैं। उनका मत है—"हिन्दी की गद्य-शैली के निर्माण में गुप्त जी का ऊँचा स्थान है।"[2] आपने हिन्दी गद्य शैली के निर्माण में गुप्त जी का स्थान स्वीकार करके एक नए सत्य का उद्घाटन अवश्य किया है, किंतु उनके अपार साहित्य के विषय में आप भी अन्य इतिहासकारों का ही अनुगमन कर रहे हैं। श्री रामचन्द्र तिवारी ने गुप्त जी द्वारा किए गए हिन्दी-गद्य की हीनावस्था के चित्रण का उल्लेख किया है, आपका कथन है—"श्री बालमुकुन्द गुप्त और वीरेश्वर चक्रवर्ती जैसे अन्य हिन्दी प्रेमियों ने हिन्दी-गद्य की इस हीनस्थिति की ओर संकेत किया है।"[3] इसके अतिरिक्त हिन्दी-गद्य के जन्म, विकास, उर्दू आदि के साथ उनके संघर्ष तथा उसके चरमोत्कर्ष का उल्लेख करते हुए भी तिवारी जी ने गुप्त जी द्वारा की गई हिन्दी सेवाओं का अंकन नहीं किया। द्विवेदी-युग के पूर्व की हिन्दी-गद्य की विश्रृङ्खलता तथा द्विवेदी युगीन गद्य का विवेचन करते हुए भी तिवारी जी गुप्त जी के

१—पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य, निबन्ध और आलोचना, पृ० ४३९।

२—शिवदानसिंह चौहान आदि, हिन्दी गद्य साहित्य, पृ० ११६।

३—रामचन्द्र तिवारी, हिन्दी गद्य का साहित्य, पृ० २६।

भाषा-सुधार और हिन्दी-गद्य की जातीय शैली के विकास की ओर से उदासीन रहे हैं। हिन्दी निबंध साहित्य का प्रारम्भ सं० १८३९-४० ई० और भारतेंदु-युग से मानते हुए भी आप गुप्त जी की गणना अच्छे निबंधकारों में नहीं करते। द्विवेदी कालीन निबन्धकारों की वैयक्तिक विशेषताओं का विवेचन करते समय भी आपने गुप्त जी के विषय में मौन धारण कर लिया है।

हिन्दी साहित्य और उसके इतिहासकारों द्वारा गुप्त जी तथा उनके साहित्य के संबंध में अभिव्यक्त सम्मतियाँ इस बात की प्रमाण हैं कि प्रायः अधिकाँश लेखकों द्वारा उनकी भाषा और गद्य-शैली की विशेषताओं पर ही विचार किया गया है और उनका शेष साहित्य अविवेचित तथा अंधकार में रह जाता है। अतः भाषा, साहित्य और शैली के विकास क्रम को ठीक-ठीक समझने के लिए गुप्त जी के साहित्य का विवेचन होना अपेक्षित है।

बाबू बालमुकुन्द गुप्त स्मारक ग्रन्थ के हिन्दी और उर्दू के आलोचक—

दो फरवरी सन् १९२६ ई० को "कलकत्ता-समाचार" के नव-पर्य्याय 'हिन्दू-समाचार' के कार्यालय में कतिपय विशिष्ट साहित्यिक अनायास ही एकत्रित हो गए थे। उसी समय पं० पद्मसिंह शर्मा ने अन्य सहयोगियों को प्राचीन साहित्यिकों की स्मृति रक्षार्थ कार्य करने को अनुप्रेरित किया था। फलस्वरूप पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ने बाबू बालमुकुन्द गुप्त की स्मृति को पुनर्जीवित करने के लिए एक सुनिश्चित योजना तैयार की और योजना को कार्यान्वित करने की दृष्टि से उन्होंने विशाल-भारत में गुप्त जी विषयक कितने ही संस्मरण प्रकाशित कराए थे तथा सन् १९३२ ई० में साहित्यिकों की एक विशेष बैठक का नियोजन किया था। इस अवसर पर पं० झाबरमल्ल शर्मा तथा चतुर्वेदी जी ने गुप्त जी की स्मृति रक्षार्थ दृढ़ता पूर्वक कार्य करने का व्रत लिया और उसी समय से वे इस ओर प्रयत्नशील हुए। सन् १९४८ ई० में उक्त दोनों महानुभावों ने पुनः इस ओर नवीन शक्ति के साथ कार्य किया। फलस्वरूप ३० सितम्बर और प्रथम अक्टूबर सन् १९५० ई० को काँग्रेस अध्यक्ष बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन की अध्यक्षता में बाबू बालमुकुन्द गुप्त स्मृति-महोत्सव बड़े समारोह के साथ कलकत्ता में सम्पन्न हुआ। उसी अवसर पर गुप्त जी की स्मृति को जीवित रखने के उद्देश्य से कलकत्ता में 'गुप्त-स्मारक-ग्रन्थ-प्रकाशन-समिति' की स्थापना १४७ हरिसन रोड, कलकत्ता में की गई थी। उक्त समिति ने स्मृति महोत्सव के अवसर पर 'बालमुकुन्द गुप्त निबन्धावली' प्रथम भाग और 'बालमुकुन्द गुप्त स्मारक ग्रंथ' का प्रकाशन कराया था।

बालमुकुन्द गुप्त स्मारक ग्रन्थ के दो भाग हैं—पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध। पूर्वार्द्ध के लेखक तथा आलोचक हैं, पं० झाबरमल्ल शर्मा, एवं पं० बनारसीदास चतुर्वेदी और उत्तरार्द्ध के संस्मरण लेखक हिन्दी एवं उर्दू-साहित्य के कई प्रतिष्ठित लेखक हैं। इस ग्रन्थ के पूर्वार्द्ध में पं० झाबरमल्ल शर्मा ने गुप्त जी के जन्म, बाल्यावस्था, विद्योपार्जन, उर्दू-लेखक के रूप में उनकी प्रतिष्ठा, उर्दू से हिन्दी की ओर प्रत्यावर्त्तन, उनका साहित्यिक मित्र-मंडल और 'हिन्दोस्थान', 'हिन्दी बंगवासी' तथा 'भारतमित्र' पत्रों में उनके सम्पादन कार्य आदि का उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त 'आठ वर्ष की साहित्य साधना' नामक शीर्षक देकर शर्मा जी ने गुप्त जी द्वारा विशेष रूप से 'भारत मित्र' कालीन आठ वर्षों में की गई साहित्य-साधना की संक्षिप्त किन्तु मौलिक आलोचना प्रस्तुत की है। तत्पश्चात् गुप्त जी के रोग और स्वर्गवास के विषय में उल्लेख करते हुए उनकी छः वर्ष की डायरी से कुछ अंश उद्धृत किए हैं, जिनसे तत्कालीन साहित्यिकों के साथ गुप्त जी के घनिष्ठ परिचय, उनकी साहित्यिक यात्राओं तथा उनके आदर्श और स्वभाव का सुन्दर परिचय मिल जाता है। तदनंतर 'बिखरी हुई बातें' शीर्षक देकर गुप्त जी द्वारा अमृतलाल चक्रवर्ती जैसे बंगाली हिन्दी-लेखकों की प्रतिष्ठा बनाए रखने के लिए किए गए कार्यों का ऐतिहासिक विवरण, हिन्दी के नए लेखकों को उनके द्वारा प्रदत्त प्रोत्साहन तथा 'ज़माना' पत्र के सम्पादक श्री दयानारायण निगम को लिखे गए पत्रों का उद्धरण, जिनसे गुप्त जी के साहित्यिक-आदर्श, उर्दू-साहित्य की साधना तथा उनकी उर्दू-साहित्य-सृजन की भावी योजनाओं का ज्ञान होता है—दिए गए हैं। इसके उपरान्त गुप्त जी की सार्वजनिक सेवा, उनके बंगीय-मित्र तथा सुदर्शन सम्पादक पं० माधवप्रसाद मिश्र और पं० दीनदयालु शास्त्री के साथ उनके विशिष्ट व्यवहार और सम्बन्ध का उल्लेख किया गया है। उपसंहार में शर्मा जी ने गुप्त जी के स्वभाव, उनकी शैली पर आलोचकों के मत तथा अति संक्षेप में हिन्दी-साहित्य में गुप्त जी के स्थान का मूल्यांकन किया है।

गुप्त स्मारक ग्रन्थ के पूर्वार्द्ध का अंतिम अंश 'पत्रकार-गुप्त जी' पं० बनारसीदास चतुर्वेदी द्वारा लिखा गया है। चतुर्वेदी जी ने गुप्त जी के जीवन और साहित्य-रचना काल को चार भागों में विभाजित करते हुए सन् १८८६ ई० से १८८९ ई० तक उर्दू-पत्रों का सम्पादन काल और सन् १८८९ ई० से १९०७ ई० तक हिन्दी-पत्रों का सम्पादन काल माना है। चतुर्वेदी जी ने गुप्त जी के सम्पादकीय वैशिष्ठ्य की समता पं० पद्मसिंह शर्मा से और गुप्त जी के 'हिन्दोस्थान' पत्र से पदच्युत होने की तुलना पं० बालकृष्ण भट्ट के नौकरी से

पृथक् होने से की है। 'पंजाब में लायल्टी' कविता का उदाहरण देते हुए चतुर्वेदी जी ने गुप्त जी के काव्य में प्रगतिशील तत्त्वों की खोज की है, किंतु बहुत सा आवश्यक अंग छूट गया है। उल्लिखित कविता के अतिरिक्त भी कितनी ही ऐसी अन्य कविताएँ हैं जिनसे गुप्त जी की प्रगतिशीलता अधिक स्पष्ट है और उनमें वर्ग संघर्ष का पूर्वाभास विद्यमान है। चतुर्वेदी जी के लेख में उनका उल्लेख नहीं मिलता। चतुर्वेदी जी ने गुप्त जी के हिन्दी और उर्दू भाषा विषयक विचारों का उल्लेख किया है और उन्हें उचित एवं परिपक्व बताया है। इसके अतिरिक्त चतुर्वेदी जी ने गुप्त जी के विषय में दो खटकने वाली बातें भी बताई हैं। प्रथम उनकी धार्मिक प्रतिक्रियावादिता और दूसरी कठोरतापूर्ण व्यंग्यमयी शैली। चतुर्वेदी जी गुप्त जी को सामाजिक एवं धार्मिक क्षेत्र में प्रतिक्रियावादी तथा राजनीति में प्रगतिशील मानते हैं और लोकमान्य तिलक की भाँति गुप्त जी को सामाजिक क्षेत्र में अनुदार कहकर संतुष्ट हो गए हैं। यथार्थ में गुप्त जी राजनीतिक क्षेत्र में उग्रतावादी और धर्म के क्षेत्र में अनुदार तथा प्राचीन विचारधारा के सनातनधर्मी लेखक थे। चतुर्वेदी जी इस ओर संकेत मात्र करके ही रह गए हैं। उन्होंने गुप्त जी की शिष्टाचार संरक्षण की प्रवृत्ति, व्यावहारिक कौशल, पूज्य जनों के प्रति कृतज्ञता भाव, अपरिग्रह-शीलता तथा मितव्ययिता आदि गुणों की प्रशंसा की है। आपने अपने इस लेख में स्वर्गीय लेखकों की स्मृति रक्षार्थ किए गए गुप्त जी के कार्यों को श्रद्धा की दृष्टि से देखते हुए पत्रों के इतिहास को महत्वपूर्ण रचना माना है। आपका कहना है कि हमारे अनुरोध पर स्व० रुद्रदत्त जी ने जब पत्रों का इतिहास लिखना प्रारम्भ किया था, तब गुप्त जी की रचना को आदर्श माना था। आपने गुप्त जी द्वारा उर्दू और हिन्दी दोनों भाषाओं के पत्रों के इतिहास को साथ-साथ लिखने की शैली का समर्थन किया है और आप चाहते हैं कि इस पद्धति की परम्परा का निर्वाह किया जाए। पर चतुर्वेदी जी ने इस विवेचन में यह नहीं बताया कि हिन्दी-उर्दू पत्रों की नीति, उनके कलात्मक विकास, तथा पत्रकारिता के उत्कर्ष के विषय में गुप्त जी की क्या मान्यता थी; उन्होंने दोनों भाषाओं के पत्रों की पत्रकारिता एवं सम्पादन कला के उन्नयन में किस सीमा तक भाग लिया, उन्होंने कहाँ तक पत्रों के स्तर को उन्नत किया और किस सीमा तक इस विद्या में नवीनता का समावेश किया। इस दृष्टि से पत्रकार-गुप्त जी पर लिखा गया यह लेख पूर्ण नहीं कहा जा सकता।

गुप्त स्मारक ग्रन्थ के पूर्वार्द्ध का पं० झाबरमल्ल शर्मा द्वारा लिखित

'ग्राठ वर्ष की साहित्य साधना' वाला ग्रध्याय विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ग्रालोच्य ग्रध्याय में शर्मा जी ने गुप्त जी के 'भारतमित्र' में ग्रागमन की तिथि से लेकर उनके ग्रंतिम काल तक की रचनाग्रों तक का विवरण प्रस्तुत किया है तथा यथा सम्भव उनकी ग्रालोचनात्मक समीक्षा प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। पर शर्मा जी को इस कार्य में सफलता कम मिली है। ग्रालोच्य ग्रध्याय का प्रथम शीर्षक है 'बंगवासी से दो दो बातें'। इस ग्रंश में शर्मा जी ने बंगवासी से छिड़े हुए गुप्त जी के विवाद का उल्लेख किया है ग्रौर तत्सम्बन्धी केवल एक लेख का उल्लेख किया है। यहाँ शर्मा जी का दृष्टिकोण विवाद का ऐतिहासिक वृत्त उपस्थित करने का ग्रधिक रहा है, ग्रालोचनात्मक कम। गुप्त जी ने धर्म-मनन सम्बन्धी विवाद के विषय में नौ प्रमुख लेख लिखे थे, जिनका उल्लेख शर्मा जी के निबन्ध में नहीं मिलता। प्रस्तुत ग्रध्याय के द्वितीय शीर्षक 'उर्दू बनाम नागरी' में शर्मा जी ने गुप्त जी द्वारा हिन्दी-भाषा ग्रौर नागरी लिपि के समर्थन में लिखे गए लेखों का वर्णन किया है। इस ग्रंश से ग्रदालतों तथा सरकारी कार्यालयों तक हिन्दी को पहुँचाने, उसके ग्रभावों को दूर करने तथा हिन्दी-विरोधी तत्वों को निरुत्तर करने वाले गुप्त जी के कार्यों का सम्यक् ज्ञान हो जाता है। गुप्त जी की रचनाग्रों से उद्धरण देकर उनकी भाषा-विषयक नीति को स्पष्ट करने का प्रयास इस ग्रंश में स्पष्ट दीख पड़ता है। 'सजग प्रहरी' नामक तृतीय शीर्षक में शर्मा जी ने गुप्त जी की जागरूकता, ग्रालोचना विषयक उनके मानों, उनके ग्रादर्शों तथा सजगता का ग्रंकन किया है। विविध पुस्तकों पर लिखी गुप्त जी की ग्रालोचना का उल्लेख ग्रालोच्य ग्रंश में हुग्रा है पर शर्मा जी ग्रालोचक गुप्त जी के साथ न्याय नहीं कर पाए हैं। गुप्त जी के लिए ग्रालोचना साधन थी, ग्रौर साध्य था, सामाजिक एवं राष्ट्रीय उन्नयन। उन्होंने साहित्य के सब से शक्तिशाली ग्रंग ग्रालोचना को साहित्य एवं समाज-उन्नति का साधन स्वीकार किया था ग्रौर इसी ग्रर्थ में उसका उपयोग। उनकी ग्रालोचना का रूप लोक-प्रिय ग्रौर विषय वस्तु समाज-हितैषी होती थी। गुप्त जी ने तुलनात्मक ग्रालोचना प्रवृत्ति का बीजारोपण किया था; उनकी ग्रालोचना शैली पं० रामचन्द्र शुक्ल द्वारा बाद में पल्लवित एवं विकसित 'लोकमंगल की साधना' वाली पद्धति का प्रारम्भिक एवं पूर्व रूप थी। शर्मा जी के लेख से गुप्त जी की ग्रालोचना-पद्धति के इस रूप का स्पष्टीकरण नहीं होता।

चतुर्थ शीर्षक 'शेष शब्द पर शास्त्रार्थ' में गुप्त जी के लज्जाराम मेहता के साथ हुए विवाद का उल्लेख है। शर्मा जी इस विवाद का पूर्ण ऐतिहासिक

वृत्त देने में सफल हुए हैं। 'परख की कसौटी' नामक पाँचवे शीर्षक में पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी तथा पं० माधवप्रसाद मिश्र के साथ गुप्त जी के सम्बन्धों, लाला सीताराम के साथ द्विवेदी जी के विवाद और उसमें गुप्त जी द्वारा किए गए कार्य की रूप-रेखा अंकित की गई है; साथ ही गुप्त जी तथा द्विवेदी जी के कुछ पत्रों को उद्धृत किया गया है, जिनसे दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध का ज्ञान हो जाता है। 'अनस्थिरता विषयक' नामक छठवें शीर्षक में इस विवाद की ऐतिहासिक गति विधि पर विचार किया गया है। इस आन्दोलन का प्रभाव भाषा-सुधार के कार्य पर किस मात्रा तक पड़ा? भाषा परिशोधन और शैली-परिमार्जन की दृष्टि से उक्त विवाद का क्या महत्व है? भारतेंदु-युग में भाषा की त्रुटियाँ किस प्रकार की होती थीं? द्विवेदी जी ने उन्हें कहाँ तक ठीक किया तथा भाषा-सुधार में गुप्त जी तथा द्विवेदी जी का क्या महत्व है? इन प्रश्नों का उत्तर शर्मा जी के लेख से नहीं मिलता। शर्मा जी इस विवाद का केवल ऐतिहासिक विवरण प्रस्तुत करके संतुष्ट हो गए हैं।

इसके पश्चात् 'देश भक्ति का निदर्शन' शीर्षक द्वारा शर्मा जी ने गुप्त जी की रचनाओं से उद्धरण प्रस्तुत करके उनकी देशभक्ति और राष्ट्र-प्रेम का उल्लेख किया है। इस कार्य में शर्मा जी अधिक सफल हुए हैं। शर्मा जी गुप्त जी के 'शिवशम्भु के चिट्ठे' नामक लेख-माला को राष्ट्रभक्ति और देश-प्रेम का सुन्दर निदर्शन मानते हैं, किन्तु उसका उल्लेख करके ही रह गए हैं। इस लेख माला में अन्तर्निहित विदेशी शासन तथा साम्राज्य शाही के विरूद्ध गुप्त जी की भावना की अभिव्यंजना शर्मा जी के लेख से नहीं होती, यद्यपि उनके अन्य लेखों से उद्धरण देकर इस अभाव की पूर्ति का प्रयास परिलक्षित होता है। शर्मा जी ने आलोच्य लेख-माला का कलात्मक मूल्यांकन भी नहीं किया है। इसके उपरांत 'समालोचक की दृष्टि में' नामक शीर्षक देकर शर्मा जी ने गुप्त जी विषयक चन्द्रधर शर्मा गुलेरी के विचारों की अभिव्यक्ति की है। गुलेरी जी गुप्त जी को भारतवर्ष का कवि मानते थे, शर्मा जी भी उनके मत से सहमत हैं। शर्मा जी ने गुप्त जी की कविता से कुछ उदाहरण देकर देश-प्रेम का स्पष्टीकरण किया है; पर इसमें विवेचनात्मक प्रवृत्ति का अभाव है। शर्मा जी यह भूल गए हैं कि गुप्त जी ने भारतेंदु की देश-भक्ति पूर्ण काव्य-परम्परा का सफलता पूर्वक निर्वाह ही नहीं किया था, अपितु हिन्दी-कविता-धारा को निर्भीकता, क्रान्तिकारिता एवं शासन की कटु आलो-चना-पद्धति की ओर मोड़ दिया था।

'प्राचीन कवियों के प्रतिनिधि' नामक शीर्षक में शर्मा जी ने गुप्त जी द्वारा नंददास की रासपंचाध्यायी तथा भंवर गीत नामक दो रचनाओं को प्रकाशित करके भारतमित्र के भेंट स्वरूप दिए जाने के कार्य की प्रशंसा की गई है। इस प्रकार गुप्त जी को शर्मा जी प्राचीन कवियों की कीर्ति का संरक्षक स्वीकार करते हैं। 'होली की उमंग' नामक शीर्षक में गुप्त जी की फाग-प्रियता, व्यंग्य विनोदात्मक प्रवृत्ति तथा होली विशेषांक प्रकाशित करने की पद्धति की प्रशंसा है। शर्मा जी स्वीकार करते हैं कि त्यौहारों के अवसर पर पत्र का विशेषांक प्रकाशित करके गुप्त जी ने इस प्रणाली को पुष्टता प्रदान की थी। आलोच्य अध्याय का अंतिम ग्रंथ है 'सामाजिक और धार्मिक विचार'। इस अंश में शर्मा जी ने गुप्त जी को सनातनधर्म का कट्टर अनुयायी अंकित किया है। उनका मत है कि समाज सुधार के नाम पर विदेशी भावापन्न राजनीतिक नेताओं द्वारा हिन्दू जाति के आचार-विचारों की दोषपूर्ण आलोचना होती थी। गुप्त जी ऐसे लोगों के विरोधी थे। शर्मा जी गुप्त जी को आर्य-समाजी सुधार का विरोधी मानते हैं और उनकी यह मान्यता सत्य है। गुप्त जी ने स्वामी विवेकानन्द की सुधारवादी विचार-धारा पर व्यंग्यात्मक लोकगीत 'जोगीड़ा' लिखे हैं जिनमें उनके विचारों पर तीव्र व्यंग्य किया गया है। शर्मा जी की रचना में इस बात का उल्लेख नहीं हो पाया है।

उक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि गुप्त स्मारक ग्रंथ के दोनों आलोचकों ने गुप्त जी के जीवन और साहित्य के अध्ययन के लिए एक सुनिश्चित मार्ग का उद्‌घाटन किया है और गुप्त जी को समझने के लिए दृष्टि-पथ उन्मुक्त किए हैं। इतना होने पर भी कहीं-कहीं गुप्त जी के महत्त्व को कम करके आंका गया है, यद्यपि दोनों आलोचकों का कार्य प्रशंसनीय है। गुप्त स्मारक ग्रंथ का उत्तरार्द्ध विविध संस्मरणों तथा श्रद्धांजलियों का संकलित अंश है जिसमें तीन श्रद्धा-समर्पण और सेंतीस संस्मरण तथा श्रद्धांजलियाँ हैं। सर्व प्रथम 'माधुरी' सम्पादक पं० रूपनारायण पाण्डेय का श्रद्धा-समर्पण है। पाण्डेय जी ने गुप्त जी का स्थान उन विवेकशील, राष्ट्रभक्त तथा देश के सपूतों में प्रधान माना है जिन्होंने हिन्दी को राष्ट्र-भाषा बनाने के सुयोग्य बनाया है। पाण्डेय जी की मान्यता है कि गुप्त जी अपनी टेक से नेंक नहीं टले। नई सूझ-बूझ तथा उद्‌भावना शक्ति में वे अद्वितीय थे। न्याय के पक्ष-पाती, असहाय के साथी, सुजान के सहायक, परम विनोदी, ज्ञाननिधि, साहित्य के पथ-प्रदर्शक, सुकवि, लेखनी सिद्ध और अपने नवीन उद्योगों से कुंद बुद्धि को विमल करने वाले थे। पाण्डेय जी के श्रद्धा-समर्पण में गुप्त जी का सही

चित्र अंकित हुआ है तथा उनकी काव्यगत विशेषताओं पर सम्यक् प्रकाश पड़ा है। इसके पश्चात् कवि सम्राट अयोध्यासिंह उपाध्याय की संस्मरणात्मक तीन पंक्तियाँ हैं जिनमें उपाध्याय जी ने गुप्त जी की भारतमित्र कालीन हिन्दी सेवा को सगर्व स्वीकार किया है, किन्तु गुप्त जी की हिन्दी की सेवा की यह स्वीकृति शब्द-दारिद्रय की सूचक है। उपाध्याय जी उनके समकालीन लेखक थे, यदि चाहते तो आँखों देखा स्वयंभुक्त अनुभव प्रस्तुत कर सकते थे जिसके द्वारा गुप्त जी के भाषा परिष्कार के कार्य पर सम्यक् प्रकाश पड़ सकता था। किन्तु उपाध्याय जी ने ऐसा नहीं किया। तत्पश्चात् श्री गिरिधर शर्मा का एक संस्कृत श्लोक है, जो गुप्त जी की विशेषताओं का उल्लेख करता है। श्लोक के चार चरणों में सब कुछ कह देने का प्रयास स्पष्ट प्रतीत होता है।

गुप्त जी विषयक सर्वोत्तम संस्मरण 'ज़माना' सम्पादक श्री दयानारायण निगम का है जिसका हिन्दी-अनुवाद 'बहुत सी खूबियाँ थीं मरने वाले में' शीर्षक से पं० हरिशंकर शर्मा ने 'विशाल-भारत' सितम्बर सन् १६२८ ई० में प्रकाशित कराया था।[1] यही इस ग्रंथ में सम्मिलित है; प्रस्तुत संस्मरण अति भावात्मक तथा आत्मीयता से ओत-प्रोत है। और गुप्त जी के साहित्यिक-जीवन के विविध अंगों पर यथार्थ प्रकाश डालता है। 'ज़माना' सम्पादक के गुप्त जी के साथ कितने ही व्यक्तिगत संस्मरण इस लेख में सम्मिलित हैं, जो गुप्त जी के उर्दू तथा हिन्दी में प्रणीत एवं भविष्य में सृजित होने वाले साहित्य का ज्ञान कराते हैं। आलोच्य संस्मरण से गुप्त जी के स्वभाव, सिद्धान्त-प्रियता, मैत्री-भाव, आदर्श परिपालन की प्रवृत्ति, हिन्दी-प्रेम, उर्दू भाषा विषयक नीति, सौजन्य, उनके भाषा-ज्ञान-तथा पत्रकारिता में किए गए उत्कर्ष का परिचय मिलता है। यत्र-तत्र उनकी शैली की विशेषता का उल्लेख भी हो गया है; 'निगम' साहब ने गुप्त जी की शैली की शक्तिमत्ता तथा प्रभावशीलता को 'सौ सुनार की और एक लुहार की' वाली उक्ति का उल्लेख करके किया है। सारांश यह है कि आलोच्य संस्मरण गुप्त जी के साहित्य के अध्ययन करने में अधिकांशत: पथ-प्रदर्शक का काम करता है, किन्तु 'निगम' साहबने गुप्त जी की उस उग्रतावादी राजनीतिक विचार धारा का विवरण प्रस्तुत नहीं किया, जिसका प्रतीक उनका साहित्य है। निस्सन्देह इसके अभाव में गुप्त जी के साहित्य की प्रमुख विशेषता छूट जाती है।

१—ज़माना, लाला बालमुकुन्द गुप्त, अक्टूबर-नवम्बर, सन् १६०७, पृ० २६०।

शेष संस्मरणों में से अमृतलाल चक्रवर्ती का 'तेजस्वी गुप्त जी', बाबू गोपालराम गहमरी का 'गुप्त जी का शुभानुकरण', महावीर प्रसाद गहमरी का 'सहकारी का अनुभव', अम्बिकाप्रसाद बाजपेयी का 'गुप्त जी की स्मृति में', महामहोपाध्याय पं० गिरधर शर्मा चतुर्वेदी का 'लेखनी का प्रभाव', सेठ कन्हैयालाल पोद्दार का 'गौरवान्वित गुप्त जी', बाबू रामचन्द्र वर्मा का 'मेरे आदर्श', पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी का 'गुप्त जी का व्यंग्य और हास्य', श्री रामधारी सिंह दिनकर का 'गुप्त जी कवि के रूप में', पं० किशोरीदास बाजपेयी का 'समालोचक प्रतिभा और कर्त्तव्यनिष्ठा', पं० श्रीराम शर्मा का 'पत्रकार पुङ्गव गुप्त जी' आदि संस्मरण इस दृष्टि से अधिक उत्कृष्ट हैं कि इनके द्वारा गुप्त जी की पत्रकारिता की विशेषता, भाषा-शुद्धता, हिन्दी गद्य का निर्माण, उत्तम व्यंग्य एवं हास्य शैली की परम्परा का स्थापन, कविता की विशेषता तथा भारतेन्दु की परम्परा परिपालन का ज्ञान होता है और होता है हिन्दी साहित्य के इतिहास में गुप्त जी के स्थान का निर्धारण। अमृतलाल चक्रवर्ती, पं० किशोरीदास बाजपेयी, पं० रायकृष्णदास, बाबू रामचन्द्र वर्मा आदि गुप्त जी को गद्य में एकरूपता लाने वाले और टकसाली भाषा के सृजक स्वीकार करते हैं। पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी उन्हें उच्चकोटि का व्यंग्यकार, दिनकर जी गद्य लेखक के साथ प्रतिभा सम्पन्न कवि और पं० श्रीराम शर्मा आदर्शप्रिय, कर्त्तव्यनिष्ठ तथा निर्भीक पत्रकार स्वीकार करते हैं।

उक्त संस्मरण लेखकों में से प्रथम छः तो गुप्त जी के सामयिक लेखक हैं। इनके लेखों में गुप्त जी विषयक कुछ अच्छे संस्मरण आगए हैं, किन्तु इन्हें सर्वाङ्गीण दृष्टि से उत्कृष्ट नहीं कहा जा सकता। क्योंकि इनमें आँखों देखे और अपने व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्धित गुप्त जी सम्बन्धी अधिक संस्मरणों का अभाव है। इस अभाव की अनुपस्थिति में गुप्त जी विषयक विस्मृत सामग्री अधिकाँशतः प्रकाश में आ सकती थी जिसके आधार पर हिन्दी-साहित्य के इतिहास में नवीन मान्यताओं को स्थान मिलना अवश्यम्भावी था।

इनके अतिरिक्त पं० ज्वालादत्त जी शर्मा का 'मर्देमैदा गुप्त जी', श्री बालकृष्ण शर्मा नवीन का 'वे जिन्होंने अलख जगाया था', सा० वा० श्री वियोगी हरि का 'वह शैली वह भाषा फिर कहाँ' तथा डा० मैथिलीशरण गुप्त का 'श्रद्धांजलि' नामक संस्मरण ऐसे हैं जिनके द्वारा गुप्त जी की अनेक विशेषताओं का उल्लेख हो जाता है। पं० ज्वालादत शर्मा ने 'गालिब' की मृत्यु पर 'हाली' द्वारा लिखे 'मरसिया' को गुप्त जी के लिए भी उचित ठहराया है और 'गालिब' के सभी गुणों का समावेश गुप्त जी में माना है। निस्सन्देह

शर्मा जी ने यहाँ अतिशयोक्ति से काम लिया है, फिर भी गुप्त जी की कविता-धारा का निवेचन नहीं हो पाया। इनके अतिरिक्त सेठ रामदेव चोखानी, पं० ब्रजनाथ जी गोस्वामी, बाबू रामकुमार गोयनका, बाबू भगवती प्रसाद दारूका तथा पं० रमावल्लभ चतुर्वेदी के संस्मरण इस दृष्टि से अच्छे हैं कि इनके द्वारा गुप्त जी के व्यक्तित्व षर प्रकाश पड़ता है और उनके जीवन से संबंधित कितनी ही घटनाओं का ज्ञान हो जाता है।

हिन्दी-पत्रिकाओं में गुप्त जी के जीवन और साहित्य पर निबन्ध—

हिन्दी के आलोचनात्मक ग्रन्थों की भाँति ही हिन्दी-पत्रिकाओं में भी गुप्त जी के साहित्य पर अल्पमात्रा में ही लिखा गया है। किन्तु जो कुछ भी अल्पाधिक प्रयास इस ओर हुआ है, वह श्लाघनीय है। वह इतिहास की कड़ियाँ जोड़ने में सर्वदा समर्थ है। गुप्त जी भारतेन्दु और द्विवेदी जी के संक्रान्ति-युग के साहित्यकार थे। उस समय हिन्दी-भाषा और उसका साहित्य निर्माण के पथ पर चल रहा था। निर्णय यह करना है कि इस सृजन में गुप्त जी ने कौन-सी भूमिका अदा की? किस दृढ़ता के साथ वे राजनीतिक झंझावात में चट्टान के समान अडिग रहे? किस सीमा तक उनकी रचनाएँ युग-चेतना की प्रतीक और देश की शोषित जनता की प्रतिनिधि रचनाएँ प्रमाणित हुईं? इस सब की एक संक्षिप्त, किन्तु सजीव रूप-रेखा विविध पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित गुप्त जी विषयक आलोचना से अवश्य मिल जाती है।

इस विषय में डा० रामबिलास शर्मा का 'बालमुकुन्द गुप्त' शीर्षक लेख विशेष रूप से उल्लेखनीय कहा जा सकता हैं।[1] प्रस्तुत निबन्ध में शर्मा जी ने गुप्त जी के साहित्य की बहुमुखी विशेषता पर बड़ी गम्भीरता और विद्वता के साथ प्रकाश डाला है। दस कालम के इस निबन्ध को आद्योपान्त पढ़ने के उपरान्त गुप्त जी की साहित्यक-गति-विधि के विषय में बहुत सी ज्ञातव्य बातों का पता लग जाता है। गुप्त जी की विचार धारा, उनकी भाषा-शैली, उनका आदर्श तथा साहित्य में उनका स्थान आदि प्रमुख बातों का उक्त निबन्ध से अच्छा ज्ञान होता है। गुप्त जी को शर्मा जी हिन्दी-भाषा और साहित्य की जातीय परम्परा को दृढ़ता प्रदान करने वाले लेखकों में मानते हैं। आपका मत है—"बालमुकुन्द गुप्त ने हिन्दी भाषा और साहित्य की जातीय परम्परा को मजबूत किया। २१ अक्टूबर, १९०६ ई० के दिन गुप्त जी ने अपनी डायरी में लिखा था—'दयानारायण जी निगम नवाबराय सहित मिले। स्टेशन के

१—अवन्तिका, दिसम्बर सन् १९५२ ई०।

एक गोरे ने उनसे बड़ा खराब बरताव किया। खराब क्या, बड़ी बेईमानी और बदनीयती की।' यह नवाबराय-भावी प्रेमचन्द-बालमुकुन्द गुप्त की परम्परा को आगे बढ़ाने वाले लेखक थे।"[१] इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि जिस परम्परा का सूत्रपात हिन्दी साहित्य में भारतेन्दु जी ने किया था, उसे गुप्त जी ने शान पर चढ़ाकर और अपनी कुशल तूलिका से सुन्दर समयोचित रंग भर कर सुदृढ़ बनाया और भावी लेखकों को धरोहर के रूप में सौंप दिया था। प्रेमचन्द उस परम्परा की एक महत्वपूर्ण कड़ी थे।

शर्मा जी गुप्त जी की गणना देश की स्वाधीनता के लिये युद्ध करने वाले सैनिकों में करते हैं। आपकी मान्यता है कि बालमुकुन्द गुप्त ने देश को स्वाधीनता दिलाने वाली शक्ति यहाँ के राजा और नवाबों में नहीं देखी, न उन्होंने इस सामन्ती वर्ग का आश्रय लिया बल्कि अपने देश की स्वाधीनता और संस्कृति के लिए लड़ते हुए उन्हें आम जनता का ही भरोसा और सहारा था। शर्मा जी के मत से गुप्त जी स्वाभिमानी और भारत के सच्चे भक्त थे, अंग्रेजों की चाटुकारिता करने वाले भारतीय राजाओं को वे बुरी तरह फटकारते थे। ग्वालियर के राजा को उन्होंने इसी बात पर फटकार बताई थी।[२] इस प्रकार शर्मा जी ने गुप्त जी की देश भक्ति, स्वाधीनता-प्रियता और स्वभाव की निर्भीकता पर यथोचित प्रकाश डाला है।

गुप्त जी की पत्रकारिता पर भी शर्मा जी के विचार मान्य हैं। वे लिखते हैं—"बालमुकुन्द गुप्त ने पत्रकारिता को एक कला बना दिया। उन्होंने हिन्दी गद्य की छिपी हुई शक्ति को प्रकट किया, गद्य इतना सुन्दर और कलापूर्ण हो सकता है, इस पर उनकी रचना पढ़कर ही विश्वास होता है। उनकी कला, व्यंग्य, हास्य लतीफा, सरल मुहावरेदार जबान युक्ति और तर्क से निखरी हुई है। वह हास्य और करुणा को मिला देने में अपना सानी नहीं रखते। एक तरफ वह अंग्रेज गवर्नरों और वायसरायों पर व्यंग्यबाण बरसाकर पाठक को हँसाते हैं तो दूसरी ओर जनता की गरीबी और दीनता की तस्वीर खींचकर उसे द्रवित भी कर देते हैं। उनकी कला का रहस्य उनका चरित्र था। वह जो भीतर थे वही बाहर।"[३] शर्मा जी की इस विचारधारा से हिन्दी-गद्य-शैली के विकास में गुप्त जी का स्थान निर्धारित होता है, हिन्दी गद्यकारों में उनके स्थान का मूल्यांकन होता है, उनकी पत्रकारिता की विशेषता तथा उनके

१—अवन्तिका, वर्ष १ अंक २, पृ० ६०। २—वही पृ० ६१।
३—वही, पृ० ६१।

व्यक्तित्व की महानता की अभिव्यंजना होती है। यही नहीं, शर्मा जी गुप्त जी को हिन्दी के महान् प्रगतिशील लेखकों की श्रेणी में स्थान देते हैं। उनकी मान्यता है कि गुप्त जी ने बेघर और बेरोजगार जनता की मुसीबतों से अंग्रेज शासकों के वैभव की तुलना करके अंग्रेजी राज्य के जनवादी ढोंग का भंडाफोड़ किया था और भारतीय जनता का स्वाधीनता-संग्राम में समर्पण कर देने के लिए आह्वान किया था।

शर्मा जी गुप्त जी को हिन्दू-मुस्लिम एकता को दृढ़ता प्रदान करने वाले कलाकारों में उच्च स्थान देते हैं। उनकी दृष्टि से हिन्दुओं और मुसलमानों को समीप लाने, उनमें राष्ट्रीयता और जनतंत्र के भाव वितरित करने और जनता में फूट और वैमनस्य के बीजवपन करने वाली अंग्रेज सरकार की कूटनीति को जनता के बीच में स्पष्ट कर देने का जितना कार्य बालमुकुन्द गुप्त ने किया था, उतना प्रेमचन्द जी के अतिरिक्त कोई नहीं कर सका। गुप्त जी के विषय में शर्मा जी हिन्दी के उन आलोचकों के मत का खंडन करते हैं जो गुप्त जी की महत्ता इस बात में स्वीकार करते हैं कि गुप्त जी ने सनातन धर्म की प्राचीन रूढ़ियों और प्रतिगामी सिद्धान्तों का प्रबलता पूर्वक समर्थन किया था।[१] तात्पर्य यह है कि शर्मा जी ने गुप्त जी के साहित्य की प्रच्छन्न विशेषता का उद्‌घाटन करके उनके जनवादी कलाकार के रूप की स्थापना की है। आपने गुप्त जी की उस भावना और जोश को भली प्रकार से हृदयंगम किया है जिससे अनुप्रेरित होकर उन्होंने 'शिवशम्भु के चिट्ठे', 'सर सैयद अहमद के खत' और 'शाहस्ता खाँ के खत' लिखे थे। गुप्त जी द्वारा सनातन धर्म-समर्थन में लिखे गए साहित्य का मूल्य शर्मा जी नहीं मानते।

गुप्त जी के हास्य और व्यंग्य की प्रशंसा तो हिन्दी के लगभग सभी आलोचक करते आए हैं किन्तु उनके साहित्य की मुख्य विशेषता जो आज तक अज्ञात रही थी, वह थी, उनकी भाषा-सुधार की अपूर्व क्षमता। शर्मा जी ने गुप्त जी के भाषा-सुधार और शैली-निर्माण का उचित रूपेण मूल्यांकन किया है। आपने लिखा है—"गुप्त जी ने भाषा को सुधारा ही नहीं, व्याकरण की गलतियाँ ही दुरुस्त नहीं कीं, उसमें वह रवानगी भी पैदा की जो द्विवेदी जी के यहाँ कम मिलती हैं।"[२] द्विवेदी जी के गद्य से गुप्त जी के गद्य की की तुलना करके शर्मा जी ने उनकी लेखनी की शक्ति का रहस्य स्पष्ट कर दिया है। शर्मा जी मानते हैं कि गुप्त जी को शब्दों की ध्वनि, उनके वज़न,

---

१—अवन्तिका, वर्ष १ अंक २, पृ० ६२। २—वही, पृ० ६३।

उनकी व्यंजना शक्ति आदि गुणों का पूर्ण ज्ञान था। उन्हें भावाभिजन के लिए शब्दों की प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती थी। इस गुण में प्रेमचन्द के साथ उनकी तुलना करके उनकी यथार्थ महत्ता का अंकन शर्मा जी ने किया है। शर्मा जी सुन्दर और कलापूर्ण भाषा लिखने के लिए हिन्दी-लेखकों को गुप्त जी के निबंधों को बार-बार पढ़ने और मनन करने का परामर्श देते हैं। गुप्त जी को उर्दू भाषा से प्रेम करने वाला, असाधारण पत्रकार, पत्रों और पत्रिकाओं की अवसरवादी स्वार्थपूर्ण नीति पर फटकार बताने वाला अप्रतिम लेखक, इतिहास का ज्ञाता, भारतीय जनता का वकील, भाषा का कुशल लेखक, स्वाधीनता के लिए निर्भीकता के साथ संघर्ष करने वाला महान् लेखक और भारतेंदु-युग के कलाकारों में सिपाही की तरह सम्मिलित होने पर शीघ्र सेना-नायक का पद प्राप्त करने वाला, लेखनी का धनी साहित्यकार मानते हैं। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि शर्मा जी ने गुप्त जी के व्यक्तित्व और साहित्य का अधिकाँशतः श्रेष्ठ मूल्यांकन किया है।

गुप्त जी के साहित्य की संक्षिप्त आलोचना और उनके जीवन की साधारण रूप-रेखा प्रस्तुत करते हुए श्री ब्रह्मदत्त शर्मा ने 'हिन्दी के वरद् पुत्र बाबू बालमुकुन्द गुप्त' शीर्षक से एक लेख लिखा था, जिसमें 'पत्रकार', 'संस्कृत से प्रेम', 'साहित्य आराधना', आदि शीर्षक देकर उनकी विशेषताओं पर विचार किया गया है। गुप्त जी द्वारा हिन्दी भाषा और नागरी लिपि के समर्थन में की गई सेवा पर विचार करते हुए आपने लिखा है—"१८ अप्रैल सन् १९०० ईसवी को राजाज्ञा द्वारा जब पश्चिमोत्तर प्रदेश तथा अवध की सरकार ने हिन्दी को मान्यता प्रदान की तो उर्दू वालों के 'तूफानेबेतमीजी' का सफल सामना गुप्त जी ही कर पाये थे।"[१] इन पंक्तियों से गुप्त जी के उस कार्य का ज्ञान होता है जो उन्होंने विविध रीतियों से उर्दू वालों के आक्षेपों का उत्तर देकर तथा अधिकांशतः विरोधी वर्ग को निरुत्तर करके किया था। लेख के अन्त में ब्रह्मदत्त जी हिन्दी साहित्य में गुप्त जी के महत्व को स्वीकार करते हुए लिखते हैं—"उन्होंने हिन्दी की जो आराधना की वह स्वर्णाक्षरों में लिखी जाने योग्य है। हिन्दी वाले सदा इस बात का गर्व करते रहेंगे कि हिन्दी ने गुप्त जी जैसा निर्भीक और विशिष्ट योग्य लेखक उत्पन्न किया। अपने समय में हिन्दी और उर्दू दोनों भाषाओं में समान योग्यता से लिखने वाले एक मात्र वही लेखक और कवि थे। ऐसे प्रतिभाशाली और समर्थ साहित्य

१—साप्ताहिक हिन्दुस्तान, १८ अक्टूबर १९५३ ई०, पृ० १९।

सेवी का स्मरण निश्चय ही हिन्दी हितैषियों को प्रेरणा प्रदान करेगा।"[१] श्री ब्रह्मदत्त जी के लेख से कुछ सीमा तक गुप्त जी के साहित्य का मूल्यांकन अवश्य होता है।

बाबू गुलाबराय एम० ए० की एक वार्ता ६ अप्रेल, १९५४ ई० को हिन्दी के हास्य-लेखक 'बालमुकुन्द गुप्त' के नाम से अखिल भारतीय रेडियो, नई दिल्ली से प्रसारित हुई थी। यही वार्ता बाद में प्रकाशित भी हुई। इस लेख में गुप्त जी के गद्य और पद्य दोनों के हास्य और व्यंग्य की सुन्दर विवेचना है। उनके हास्य और व्यंग्य का वैज्ञानिक विभाजन करते हुए बाबू जी उसे दो प्रकार का ठहराते हैं। एक शुद्ध हास्य और दूसरा व्यंग्यात्मक जो किसी व्यक्ति या संस्था के प्रति लक्षित होता है। आप उनके व्यंग्य को सार्वजनिक आवश्यकताओं से प्रेरित मानते हैं।[२]

आचार्य लक्ष्मीकांत त्रिपाठी ने 'स्वर्गीय बालमुकुन्द गुप्त की साहित्य साधना',[३] श्री त्रिलोकीनारायण दीक्षित ने 'निबंध तथा आलोचना साहित्य में हास्य',[४] तथा श्री झाबरमल्ल शर्मा ने 'स्वर्गीय बालमुकुन्द गुप्त'[५] जी' आदि शीर्षक लेखों में गुप्त जी की शैलीगत विशेषताओं का उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त पं० सकलनारायण[६] (सभापति, हि० सा० स०, कलकत्ता), डा० रामकुमार वर्मा[७] तथा पं० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा[८] ने भी गुप्त जी की साहित्यिक विशिष्टताओं का विवेचन किया है।

इसके अतिरिक्त 'युगान्तर' (कलकत्ता) गुप्त जी को निर्भीक, स्पष्टवादी पुरुष और व्यथित तथा पतनोन्मुख मनुष्यत्व के उन्नयनार्थ प्रयत्नशील रहने

१—साप्ताहिक हिन्दुस्तान, १८ अक्टूबर १९५३ ई०, पृ० २२।

२—सरस्वती-संवाद, जुलाई १९५४, पृ० ५५९।

३—सुमित्रा, अप्रेल सन् १९५१ ई०।

४—सम्मेलन-पत्रिका, चैत्र सं० २००२ तथा बैसाख सं० २००३, पृ० २५-२६।

५—विश्व बन्धु, कलकत्ता, सितम्बर सन् १९५०।

६—अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन, कलकत्ता। कार्य्य विवरण, पृ० ५।

७—वही, भाग २५, संख्या ३-४, पृ० १७-१८।

८—नागरी प्रचारिणी पत्रिका—नवीन-संस्करण, भाग ११, सं० १९८७, पृ० २४२।

वाला कलाकार मानता है। उसका मत है कि गुप्त जी ने लिखने के लिए नहीं लिखा, प्रत्युत उनका निजस्व जीवन दर्शन ही उनकी लेखनी द्वारा मूर्त हुआ है। वह उन्हें 'बंगवासी' के प्रसिद्ध पुरुष योगेन्द्र चन्द्र वसु तथा 'अमृत बाजार पत्रिका' के शिशिर कुमार घोष एवं बाबू मोतीलाल घोष के अन्तरङ्ग स्वीकार करता है। गुप्त जी की पत्रकारिता पर प्रकाश डालते हुए उसने स्वीकार किया है कि उनकी लेखनी विषाक्त साम्प्रदायिकता तथा प्रान्तीयता से सर्वथा मुक्त थी, वे अपने को एक मात्र भारतीजन मानते थे।[1] श्री सत्यकेतु एम० ए० गुप्त जी को भारतीय संस्कृति के परमपुजारी और नवीन सरल गद्य-शैली के जन्मदाता मानते हुए स्वीकार करते हैं कि श्री प्रेमचन्द की भाँति गुप्त जी भी पहले उर्दू के लेखक थे। गुप्त जी की शैली के विषय में उनका मत है कि तीखे व्यंग्य, सरल विनोद, सुन्दर मुहावरे, उर्दू के चोज, व्याकरण सम्मत साफ सुथरी और कसी हुई अत्यन्त सरल भाषा लिखने में गुप्त जी अद्वितीय और सूझ-बूझ के बादशाह थे।[2] 'साप्ताहिक युगान्तर' (जयपुर) का मत है कि हिन्दी साहित्य तथा साहित्यकार दोनों में ही शिष्ट हास्य, विनोद और जिंदादिली प्राय: विरली है किन्तु गुप्त जी में यह विशेषता विशेष मात्रा में उपलब्ध होती है।[3] 'नवजीवन' (लखनऊ) का मत है कि गुप्त जी आधुनिक हिन्दी के उन्नायकों में अग्रणी हैं, अब से ५० वर्ष पूर्व हिन्दी-नव निर्माण के उषाकाल में जिन साधकों ने राष्ट्र-भाषा का अलख जगाया था उनमें गुप्त जी मुख्य थे। गुप्त जी को उद्‌भट पत्रकार मानते हुए 'नवजीवन' का मत है कि वे एक अभिनव शैलीकार तथा विद्वान् समालोचक थे और उन्होंने भारत मित्र का सम्पादन करते हुए हिन्दी पत्रकारिता को जिस बिन्दु तक पहुँचा दिया था, वह आज भी हिन्दी-पत्रकारों के लिए लक्ष्य का काम दे सकता है। भाषा-शुद्धता की दृष्टि से गुप्त जी द्वारा सम्पादित 'भारतमित्र' की प्रशंसा करते हुए उक्त पत्र का मत है कि उनकी भाषा आज भी हिन्दी-लेखकों तथा हिन्दी-पत्रों के लिए आदर्श बन सकती है।[4] नेशनल हेरेल्ड (लखनऊ) ने गुप्त जी को हिन्दी-गद्य के जन्मदाताओं में से एक, प्राचीन पत्रकार, सफल व्यंग्यकार एवं स्वतन्त्र मस्तिष्क का सम्पादक घोषित किया है; उक्त पत्र का

१—युगान्तर, ९ नवम्बर सन् १९५० ई०।
२—कर्मवीर (खण्डवा) १५ नवम्बर सन् १९५० ई०।
३—साप्ताहिक युगान्तर, रविवार ३१ दिसम्बर, सन् १९५१ ई०।
४—नवजीवन, १८ जनवरी, सन् १९५१ ई०।

मत है कि राष्ट्रभाषा विषयक गुप्त जी के विचार उन लोगों के पथ प्रदर्शक हैं, जो राष्ट्रभाषा के संस्कृत गर्भित रूप के प्रबल समर्थक हैं। गुप्त जी की भाषा पर विचार करते हुए यह पत्र गुप्त जी की भाषा को सर्व साधारण के लिए बोधगम्य मानता है।[1]

इसी प्रकार 'स्वतन्त्र-भारत' (लखनऊ) का मत है कि आज से ५० वर्ष, पूर्व 'भाषा की अनस्थिरता', 'संवादपत्रों के इतिहास' तथा व्याकरण के विषय में गुप्त जी ने जो कुछ कहा था, आज भी उसकी उतनी ही आवश्यकता है जितनी उस समय थी और यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि गुप्त जी के अतिरिक्त अन्य किसी साहित्यकार के लेखों से हिन्दी की उक्त आवश्यकता की पूर्ति आज भी होती दिखाई नहीं देती। 'शिवशम्भु के चिट्ठे' और प्राचीन साहित्यिकों पर लिखे गुप्त जी के लेखों की महत्ता स्वीकार करते हुए उक्त पत्र ने गुप्त जी को उच्च कोटि का साहित्यकार माना है।[2] इसके अतिरिक्त अखिलेश मिश्र,[3] उमाशंकर शुक्ल,[4] श्री अशोक[5] (सूचना विभाग अधिकारी, भारत सरकार) तथा भूपनारायण मिश्र गौतम[6] ने गुप्त जी की पत्रकारिता आदि की विशेषताओं पर प्रकाश डाला है। अशोक जी की मान्यता है कि गुप्त जी ने अपने दिसम्बर १, सन् १८९८ ई० के पत्र द्वारा द्विवेदी जी को सरल हिंदी लिखने का परामर्श दिया था।[7]

उक्त पत्र-पत्रिकाओं में गुप्त जी विषयक विवेचना के अतिरिक्त 'वर्तमान'[8] (कानपुर), 'ज्ञानोदय'[9] (भारतीय ज्ञान पीठ काशी), 'शनिवारेर चिट्ठी'[10] (कलकत्ता), 'सरस्वती'[11] (प्रयाग), 'नवभारत टाइम्स'[12] (दैनिक कलकत्ता),

---

१—नेशनल हेरेल्ड, रविवार अप्रैल २२, सन् १९५१ ई०।
२—स्वतन्त्र भारत, सोमवार, २६ फरवरी सन् १९५१ ई०।
३—वही, १४ मई सन् १९५१ ई०।
४—दैनिक लोकमत (नागपुर) १ अप्रैल सन् १९५१ ई०, पृ० ४।
५—दैनिक सन्मार्ग-कलकत्ता, २८ अगस्त सन् १९५४ ई०।
६—दैनिक लोकमान्य (कलकत्ता), ८ सितम्बर सन् १९५४ ई०।
७—दैनिक सन्मार्ग (कलकत्ता), २८ अगस्त सन् १९५४ ई०।
८—१७ नवम्बर सन् १९५० ई०। ९—नवम्बर सन् १९५१ ई०।
१०—अक्टूबर नवम्बर सन् १९५० ई०। ११—सरस्वती, मार्च सन् १९५० ई०।
१२—१६ अक्टूबर सन् १९५० ई०।

'श्री वेङ्कटेश्वर समाचार,[१] (बम्बई), 'प्रहरी'[२] (जबलपुर), 'आजकल'[३] (दिल्ली), 'सन्मार्ग',[४] (कलकत्ता), 'नया समाज'[५] (कलकत्ता), 'योगी'[६] (पटना), 'आर्यावर्त,[७] (पटना), 'सुधानिधि'[८] (प्रयाग) तथा 'राष्ट्रवाणी'[९] (पटना) आदि ने 'गुप्त स्मारक ग्रंथ' तथा 'गुप्त निबंधावली' प्रथम भाग के प्रकाशन पर अपनी सम्मत्तियाँ अभिव्यक्त करते हुए गुप्त जी की विविध विशेषताओं का उल्लेख किया है जिनसे गुप्त जी के साहित्य के विषय में कुछ ज्ञान होता है; किन्तु यह विवेचना एकांगी, प्रशंसात्मक और प्रथम प्रयास मात्र है। इसमें गुप्त जी के साहित्य के सभी अंगों का गम्भीर एवं सूक्ष्म विवेचन नहीं हो सका है।

हिन्दी-पत्रिकाओं में गुप्त जी विषयक जितने भी लेख प्रकाशित हुए हैं, उनमें अधिकांशतः लेखक सामान्य बातों को लेकर ही चले हैं, अतः बहुतों में पिष्टपेषण मात्र ही मिलता है, उनकी बहुमुखी प्रतिभा का विवेचन नहीं। डा० रामविलास शर्मा ने उनके गद्य-साहित्य के विविध पक्षों पर सूक्ष्मता से विचार किया है और उनकी सभी विशेषताओं की ओर संकेत किया है, फिर भी हिन्दी भाषा और नागरी लिपि के समर्थन में गुप्त जी द्वारा किए गए कार्यों का उल्लेख आलोच्य लेख में नहीं मिलता। इसी प्रकार शर्मा जी ने गुप्त जी के पद्य-साहित्य पर भी विचार नहीं किया। अन्य पत्र पत्रिकाओं में अधिकांशतः पिष्टपेषण मात्र और उनके साहित्य की एकदेशीय विशेषताओं का उल्लेख है, जो गुप्त जी के जीवन और साहित्य का सही-सही एवं वास्तविक रूप उपस्थित करने में सर्वथा असमर्थ हैं।

(इ) गुप्त जी के जीवन और साहित्य के विशद अध्ययन की आवश्यकता और सम्भावनायें—

बाबू बालमुकुन्द गुप्त भारतेन्दु-युग और द्विवेदी-युग के संक्रान्ति-काल के लेखक थे। हिन्दी साहित्य के इतिहासकार उनकी गणना द्विवेदी-युग में करते हैं। द्विवेदी-युग का आरम्भ सन् १९०० ई० से माना जाता है, किन्तु गुप्त जी सन् १८८६ ई० में लिखने लगे थे। परन्तु उस समय उर्दू-भाषा को उनकी

१—८ दिसम्बर सन् १९५० ई०। २—१७ दिसम्बर सन् १९५० ई०।
३—जनवरी सन् १९५१ ई०। ४—३ दिसम्बर सन् १९५० ई०।
५—दिसम्बर सन् १९५० ई०। ६—१७ दिसम्बर सन् १९५० ई०।
७—२९ अक्टूबर सन् १९५० ई०। ८—१६ अक्टूबर सन् १९५० ई०।
९—३ दिसम्बर सन् १९५० ई०।

लेखनी का चमत्कार देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। सन् १८८९ ई० में उन्होंने हिन्दी लिखना प्रारम्भ कर दिया था। उस समय वे 'हिन्दोस्थान' (कालाकांकर) के सम्पादकीय विभाग में सह-सम्पादक के रूप में कार्यरत थे। द्विवेदी-युग में गुप्त जी ने केवल सात वर्ष तक लिखा, इस काल में भी उन पर भारतेन्दु और उनके सहयोगी प्रतापनारायण मिश्र की लेखनी का अधिक प्रभाव था। उनकी रचनाएँ भाव, विषय और सजीव भाषा की दृष्टि से भारतेन्दु-युग के अधिक निकट हैं। इतनी बात अवश्य है कि व्याकरण-शुद्धता तथा भाषा-सप्राणता की दृष्टि से इनकी भाषा अन्य लेखकों की अपेक्षा अधिक प्रौढ़ तथा प्रांजल है। इस प्रकार द्विवेदी-युग के लेखक होते हुए भी गुप्त जी भारतेन्दु-युग के सबल प्रतीक हैं। 'हिन्दोस्थान', 'बंगवासी' और तत्पश्चात् 'भारतमित्र' के कार्यकाल की उनकी रचनाएँ अपना विशिष्ट महत्व रखतीं हैं। इन रचनाओं के अध्ययन और विवेचन से हिन्दी साहित्य की कितनी ही विस्मृत एवं अंधकारग्रस्त बातों का पता लगता है। अतः गुप्त जी द्वारा प्रणीत साहित्य के अध्ययन की अनिवार्यता स्वतः सिद्ध है।

अब तक लिखे हिन्दी साहित्य के इतिहास और आलोचनात्मक ग्रन्थों में गुप्त जी सम्बन्धी अध्ययन और आलोचन का जो अभाव वर्तमान है, उसकी ओर प्रस्तुत अध्ययन के गत पृष्ठों में संकेत किया जा चुका है। गुप्त जी पं० प्रतापनारायण मिश्र, पं० श्रीधर पाठक, पं० माधवप्रसाद मिश्र, अमृतलाल चक्रवर्ती तथा पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी आदि गण्यमान्य साहित्यिकों के घनिष्ठ सम्पर्क में रहे थे। इनके सहयोग से हिन्दी भाषा और साहित्य का जो उपकार गुप्त जी द्वारा हुआ है, उसकी स्पष्ट रूप-रेखा उनके साहित्य के विशद एवं सूक्ष्म अध्ययन से ही मिल सकेगी। 'हिन्दोस्थान' के सम्पादन काल में गुप्त जी ने पं० श्रीधर पाठक के आलोचकों को उत्तर देकर पाठक जी के निरुत्साह एवं नैराश्य का परिहार किया था, और इस प्रकार उन्होंने 'ब्रज भाषा से खड़ी बोली' वाले आन्दोलन के प्रबल समर्थक पाठक जी को उत्साहित करके हिन्दी भाषा और साहित्य का परम हित किया था। साथ ही, उसी काल में स्वयं व्यावहारिक खड़ी बोली में कविता लिखकर भाषा का सामान्य रूप कवियों के सम्मुख उपस्थित किया था। तदनन्तर 'भारतमित्र' के सम्पादन काल में खड़ी बोली गद्य के रूप-निर्माण, अदालतों एवं सरकारी कार्यालयों में उसके प्रवेश, देवनागरी लिपि के प्रचार तथा समर्थन आदि के लिए अथक प्रयास गुप्त जी ने किए थे; जिनकी स्पष्ट रूप-रेखा हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रन्थों, आलोचनात्मक रचनाओं और आधुनिक पत्र-पत्रिकाओं से नहीं मिलती।

गुप्त जी ने पं० गौरीदत्त, श्रद्धाराम फुल्लौरी तथा नागरी प्रचारिणी सभा काशी के शिष्टमंडल की भाँति नागरी आन्दोलन एवं खड़ी बोली के समर्थन में अपनी लेखनी द्वारा सहयोग दिया था, उन्होंने प्रयाग में बंगला पत्र 'प्रवासी' और कलकत्ता की 'लिपि विस्तार परिषद' के समर्थन में कई लेख लिखे थे, जिनके अध्ययन से नागरी प्रचार और खड़ी बोली गद्य के प्रसार के इतिहास पर नया प्रकाश पड़ता है और भाषा-संघर्ष के नवीन तथ्यों का उद्घाटन होता है। इस दृष्टि से गुप्त जी के उच्च लेखों का अध्ययन परमावश्यक है।

गुप्त जी साहित्यिकों एवं लेखकों के केवल प्रोत्साहक मात्र न थे। वह स्वयं उत्तम भाषा लिखने वाले कलाकार थे। आचार्य द्विवेदी द्वारा प्रवर्तित भाषा-सुधार में गुप्त जी ने अभूतपूर्व योग दिया था। उस समय गुप्त-द्विवेदी सम्बन्धी भाषा व्याकरण विषयक विवाद दलबन्दी की दृष्टि से देखा गया था अतः उस विवाद का समुचित मूल्यांकन न हो सका था। खेद है कि परवर्ती आलोचकों तथा खोज कर्त्ताओं द्वारा भी भाषा-व्याकरण विषयक उस विवाद पर निष्पक्षता एवं तटस्थता के साथ विचार नहीं किया गया, फलतः भाषा-सुधार तथा शैली निर्माण में द्विवेदी जी के साथ गुप्त जी का क्या मूल्य है, यह आज तक अनिर्णीत रहा है। अनस्थिरता विषयक आत्माराम की लेख-माला तथा 'टिप्पणों' के अध्ययन से इस अभाव की पूर्ति अवश्य सम्भाव्य है।

गुप्त जी के कार्यकाल में हिन्दी पत्रकारिता शैशवावस्था में थी; प्रशासकीय प्रकोप, व्यक्तिगत स्वार्थ, अनुभव तथा समुचित ज्ञान का अभाव, उद्देश्य की अस्पष्टता तथा अनिश्चयता उसके प्रबल शत्रु थे। गुप्त जी ने हिन्दी-पत्रकारिता को उन्नत किया, उसमें प्राण प्रतिष्ठा की और उसे उत्कर्ष की ओर उन्मुख किया। भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम का समर्थन, जातीय संस्कृति का संरक्षण, विदेशी साम्राज्य का विरोध तथा हिन्दी साहित्य का समुत्कर्ष पत्रकारिता का उद्देश्य बनाकर गुप्त जी ने हिन्दी-पत्रकारिता को नवीन मोड़ दिया था। निर्भीकता, निःस्वार्थ सेवा और सैद्धान्तिक दृढ़ता सम्पादक के विशिष्ट गुण निर्धारित करके आपने भारतेन्दु कालीन पत्रकारिता में समाविष्ट शासन की प्रशंसा और अभ्यर्थना वाली पद्धति को समाप्त कर दिया था। इस गुण में वे पं० बालकृष्ण भट्ट के अनुयायी थे। इस प्रकार गुप्त जी ने हिन्दी-पत्र-साहित्य को नवचेतना एवं सांस्कृतिक पुनर्जागरण की भावना को पूर्णरूपेण अभिव्यक्त करने के योग्य बनाने में प्रशंसनीय कार्य किया था। उनकी इस विशेषता से हिन्दी साहित्य का पाठक आज तक अनभिज्ञ है। अस्तु, उनके साहित्य के अध्ययन की अधिक आवश्यकता है।

आज के सभी आलोचक यह बात मुक्त-कंठ से स्वीकार करते हैं कि गुप्त जी भाषा लिखने में परम कुशल थे। सरल, मुहावरेदार, सजीव, व्यंग्यपूर्ण एवं टकसाली भाषा लिखने में वे अद्वितीय थे। उनकी भाषा का क्या रूप है ? उसकी क्या विशेषताएँ हैं तथा राष्ट्र भाषा को अधिक पुष्ट एवं सार्वजनिक बनाने में हमें गुप्त जी की भाषा से कितनी सहायता मिल सकती है ? यह प्रश्न विचारणीय है। इस दृष्टि से गुप्त जी के साहित्य का अध्ययन आवश्यक हो जाता है।

गुप्त जी का स्वर्गवास हुए आज लगभग सैंतालीस वर्ष व्यतीत हो गये। किन्तु अभी तक उनके साहित्य का विधिवत् अध्ययन नहीं किया जा सका है। अतः साहित्य के उत्थान और भाषा के प्रश्न को लेकर उनके अध्ययन की विशेष आवश्यकता है। किन्तु प्रश्न यह है क्या इतनी पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है, जिसका उपयोग करके उनके जीवन और साहित्य का पूर्ण अध्ययन किया जा सके। जब इस प्रश्न पर विचार किया जाता है तो खेद होता है। गुप्त जी ने सबसे प्रथम उर्दू के 'अखबारे चुनार' पत्र का सम्पादन किया था; आज उस पत्र की प्रतियाँ अप्राप्य हैं। चुनार से आकर गुप्त जी लाहौर के 'कोहेनूर' पत्र के सम्पादकीय विभाग में रहे थे। देश के विभाजन ने उन चिन्हों को भी मेट दिया, जो 'कोहेनूर-काल' के साक्षी थे। पं० दीनदयालु शास्त्री के 'भारत-प्रताप' पत्र में गुप्त जी ने प्रचुरता के साथ लिखा था। लखनऊ के 'गुलदस्ते' कविताओं से परिपूर्ण रहते थे; 'अवधपंच' पत्र की फाइलें उनकी व्यंग्य प्रधान रचनाओं से रंगी रहतीं थीं; आज सब कुछ समाप्त हो चुका है। उन रचनाओं के चिन्ह भी शेष नहीं हैं। आज यदि वह सब कुछ विद्यमान होता तो गुप्त जी के उर्दू-लेखक तथा कवि-रूप के अध्ययन करने में पूर्ण सफलता मिलती और उस अवस्था में हिन्दी साहित्य का अत्यधिक हित होता। इस सम्पूर्ण सामग्री के अभाव में भी कुछ ऐसी सामग्री प्राप्त है, जो उनके उर्दू-लेखक और उर्दू-कवि के रूप को प्रमाणित करने के लिये पर्याप्त है। गुप्त जी कानपुर के 'ज़माना' मासिक के स्थायी लेखक थे। सौभाग्य से 'ज़माना' पत्र की लगभग सभी फाइलें प्राप्य हैं जिनमें गुप्त जी की रचनायें प्रकाशित हुई थीं।[1]

१—काशी नागरी प्रचारिणी सभा, द्विवेदी संग्रह, जमाना १९०४–१० तक।

जमाना के कुछ अंक श्रीराम विभाग, काशी विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में प्राप्य हैं।

हिन्दी-क्षेत्र में गुप्त जी 'हिन्दोस्थान' पत्र द्वारा आये थे। आपने उस पत्र में जो कुछ लिखा था, उसमें से केवल कुछ ही कवितायें शेष हैं जो उनकी उस काल की प्रवृत्तियों और अवस्था की प्रतीक हैं। तत्पश्चात् उनके द्वारा किये गये 'मडेल-भगिनी' उपन्यास का अनुवाद आज भी प्राप्य है, 'हिन्दी बंगवासी' के रचनाकाल के प्रतीक रूप में रत्नावली नाटिका का अनुवाद और कुछ कविताएँ अवशिष्ट हैं, शेष कालकवलित हो चुका है। 'हिन्दी बंगवासी' की प्राचीन फाइलें, जो उनके भाषा निर्माण की सजीव साक्षी होतीं, आज अप्राप्य हैं। किन्तु, फिर भी कुछ कविताएँ एवं उस काल के संस्मरण उपलब्ध हैं जिनसे उनके कार्य के गौरव का आभास मिल सकता है। इसके अतिरिक्त तत्कालीन साहित्यिकों को लिखे गये गुप्त जी के कुछ पत्र तथा गुप्त जी को लिखे गये पं० प्रतापनारायण मिश्र, पं० श्रीधर पाठक, बाबू देवकी नन्दन खत्री, मदन मोहन मालवीय, श्री राधाकृष्ण दास तथा पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी प्रभृति साहित्यकारों के पत्र संगृहीत हैं। गुप्त जी विषयक हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं की सम्मत्तियाँ तथा उर्दू-कविताओं की ऐसी कतरनें प्राप्त हैं जिनके आधार पर गुप्त जी के जीवन और साहित्य का अध्ययन सुविधाजनक रूप से हो सकता है।

आज 'भारतमित्र' की फाइलें भी अप्राप्य हैं। उनमें प्रकाशित गुप्त जी के लेखों को विनष्ट होने से बचाने के लिए उनके पुत्र श्री नवलकिशोर गुप्त, १४७ हरिसन रोड, कलकत्ता ने लेखों की कटिंग कागजों पर चिपका कर रखली हैं। कटिंग लेने में कहीं-कहीं इतनी असावधानी का प्रयोग किया गया है कि लेखों के प्रकाशन की तिथियों और पृष्ठ संख्या का पता नहीं लगता। यह कटिंग श्री नवलकिशोर जी के पास सुरक्षित हैं। गुप्त जी विषयक कुछ सामग्री हनुमान पुस्तकालय सलकिया, हावड़ा, बड़ा बाजार लाइब्रेरी, कलकत्ता, श्रीराम मन्दिर पुस्तकालय कलकत्ता, साहित्य सम्मेलन प्रयाग, कला भवन पुस्तकालय प्रयाग और श्री नवलकिशोर गुप्त के व्यक्तिगत पुस्तकालय में देखने को मिलती है। सारांश यह है कि अधिक सामग्री के विनष्ट हो जाने के उपरांत भी भारत-मित्र काल की रचनाओं के शेष रह जाने से गुप्त जी के जीवन और साहित्य का अध्ययन सम्भव है और उससे हिन्दी साहित्य का अधिक हित होने की सम्भावना है।

अध्याय १

बाबू बालमुकुन्द गुप्त के जीवन का अध्ययन

जन्म--हमारे चरित्र-नायक बाबू बालमुकुन्द गुप्त का जन्म हरियाना प्रान्त के अन्तर्गत रोहतक जिले में 'गुड़ियानी' नामक ग्राम में कार्तिक शुक्ला ४ संवत् १६२२ वि० (सन् १८६५ ई०) को हुआ था।

ग्राम 'गुड़ियानी' रेवाड़ी से हिसार जाने वाली बी० बी० एण्ड सी० आई० रेलवे के 'जाटूसना' स्टेशन से एक कोस के अन्तर पर स्थित है। "गुड़ियानी ग्राम घोड़ों की सौदागरी के लिये मशहूर रहा है। वहाँ के बेर बड़े मीठे होते हैं[1]।" गुप्त जी के पुत्र, नवलकिशोर गुप्त का कथन है कि 'गुड़ियानी ग्राम ६०० वर्ष पूर्व बसाया गया था। पहले यहाँ एक तोमर राजपूत रहते थे जिनका नाम गुड़िया था। कुछ समय पश्चात् यहाँ मसहखाँ, मुरशेद खाँ और वयात खाँ नामक तीन भाई गजनी से आकर बस गये थे। इन लोगों ने आकर गुड़िया को निहाल कर दिया। कालान्तर में इन्होंने तीन गाँव बसाये गुड़ियानी, जखाला और भूरियावास। ये तीनों ग्राम पास-पास हैं, संभवतः इनमें एक मील का अन्तर होगा। मसह खाँ ने गुड़ियानी, मुरशेद खाँ ने जखाला और वयात खाँ ने भूरियावास को अपना निवास स्थान बनाया और इन ग्रामों की अत्यधिक उन्नति की। इन लोगों की संतान द्वारा पाँच ग्राम और आबाद किए गए। इस प्रकार कुल मिलाकर आठ ग्राम आबाद हुये, जिनमें गुड़ियानी प्रमुख और सम्पन्न ग्राम था। गुप्त जी के जन्म काल के समय 'गुड़ियानी' में पठानों की विस्वादारी थी, पर सभी अन्य जातियाँ सहोदर-भ्रातृत्व के साथ रहती थीं। इस समय 'गुड़ियानी' की जनसंख्या लगभग ५००० है।

गुड़ियानी हरियाना प्रान्त का एक सुसम्पन्न क्षेत्र है। हरियाना प्रान्त दूध और दही की प्रचुरता तथा शस्य-श्यामता के लिये भारत में सदैव ही प्रसिद्ध रहा है। इस प्रान्त की गाय और भैंस दूध की अधिक मात्रा के लिये भारत के शेष प्रान्तों में आदर्श मानी जाती हैं। प्रान्त की इसी विशेषता के कारण

१--गुप्त स्मारक ग्रन्थ, पृ० २।

श्री कृष्ण इधर आकृष्ट हुए थे। एक किंवदन्ती है कि "ब्रज से द्वारका को जाने के लिये हरि (कृष्ण) के यान का यह निर्दिष्ट मार्ग था, अतएव यह भाग हरियाना कहलाया।"[१]

'सुदर्शन' सम्पादक स्वर्गीय माधप्रसाद मिश्र जी का अभिमत है कि "हरियाना वेद-विदित कुरुक्षेत्र भूमि का सहोदर है और इस प्रान्त की भाषा से उस प्राकृत का घनिष्ट सम्बन्ध है, जिससे वर्तमान हिन्दी का जन्म हुआ।"[२] अग्रवाल वैश्यों के आदिम राजा अग्रसेन की राजधानी अग्रनगर थी, जिसे अब अगरोहा कहते हैं।[३] "राजा अग्रसेन ने पंजाब के सिरे से आगरे तक अपना राज स्थापन किया और इन्हीं देशों में अपना वंश फैलाया।"[४] अतः अग्रोहा जो अब हरियाना प्रान्त का एक स्थान है, अग्रवालों की उत्पत्ति का मुख्य स्थान माना जाता है। "विक्रम की १४ वीं शताब्दी के अन्तिम भाग के एक शिला लेख में हरियाना देश को पृथ्वी पर 'स्वर्ग-सन्निभ' कहा गया है और वहाँ की 'ढिल्लिका' (दिल्ली) नामक पुरी तोमर वंश द्वारा निर्मित बतायी गई है।"[५] इससे स्पष्ट है कि गुप्त जी इसी इतिहास प्रसिद्ध, ख्यातनामा, दूध और दही के भंडार हरियाना प्रान्त तथा राजा अग्रसेन के गोत्र अग्रवाल में उत्पन्न हुये थे।

गुप्त जी का कुटुम्ब गुड़ियानी में बखशीराम वालों के नाम से विख्यात है। गुप्त जी के पूर्वज व्यवसायी थे, अतः व्यावसायिक सुविधाओं के अनुसार वे एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाकर रहने लगते थे। प्रारम्भ में वे रोहतक जिले के 'डीघल' नामक ग्राम में निवास करते थे, अतः ग्राम के आधार पर 'डीघलिये' कहलाते थे। कालान्तर में उन्होंने 'डीघल' ग्राम का निवास छोड़ दिया और 'झज्जर' नामक ग्राम में आकर रहने लग गये थे। किन्तु बाद में कुछ व्यावसायिक असुविधाओं के कारण झज्जर ग्राम का निवास त्याग कर 'कौसली' नामक ग्राम में रहना आरम्भ कर दिया। इसी परिवार के लाला बखशीराम ने 'गुड़ियानी' में रहना आरभ कर दिया था। इन्हीं के नाम पर 'गुड़ियानी' में गुप्त जी का कुटुम्ब विख्यात हुआ है।

गुप्त जी के पिता का नाम लाला पूरनमल और पितामह का नाम लाला

१—गुप्त स्मारक ग्रन्थ, पृ० १। **२—गुप्त स्मारक ग्रन्थ, पृ० १।**

३—ब्रजरत्नदास, भारतेंदु ग्रन्थावली भाग तीन, अगरवालों की उत्पत्ति, पृ० १०।

४—वही, पृ० ६। **५—गुप्त स्मारक ग्रन्थ, पृ० २।**

गोरधनदास था । गुप्त जी के एक चाचा लाला लेखराम थे जिनका स्वर्गवास यौवनावस्था में ही विवाह के उपरान्त हो गया था । लाला पूरनमल जी के गृह में तीन पुत्र और दो कन्याओं ने जन्म लिया था । भाई बहिनों में ज्येष्ठ पुत्र हमारे चरित्र-नायक बाबू बालमुकुन्द थे । गुप्त जी के जन्म से लाला पूरनमल प्रौढ़ भाई की मृत्यु का महान् कष्ट भूल गये और वैधव्य तुषारापात चाची ने उस बालक को अपने जीवन का संयम स्वीकार किया था । कौन जानता था कि नवजात शिशु युवक होकर अग्रवाल कुल भूषण ही नहीं, अपितु हिन्दी क्षेत्र में ज्योतिमान सितारे की भाँति चमकेगा ।

गुप्त जी के कनिष्ठ भ्राताओं के नाम लाला मुखराम और लाला रामेश्वर दास थे । लाला मुखराम अपने लघु भ्राता रामेश्वरदास के साथ गुड़ियानी में निवास करते हुए अपने पैतृक व्यवसाय, साहूकारी लेन-देन की व्यवस्था करते थे ।

गुप्त जी का पाणिग्रहण संस्कार रेवाड़ी के ख्यातनामा 'छाजूराम वालों' के कुटुम्ब के लाला गंगाप्रसाद जी की पुत्री सौभाग्यवती श्रीमती अनारदेवी के साथ सन् १८८० ई० में हुआ था । विवाह के अवसर पर गुप्त जी की आयु पन्द्रह वर्ष की थी । बाल्यावस्था में ही विवाह हो जाने पर भी इसी धर्मनिष्ठ, उदारशीला, सुहृदमना, तथा पतिपरायण देवी के चिर सम्पर्क में रहकर स्वर्गीय गुप्त जी ने अपने चरित्र का निर्माण किया था । उनकी सफलता में इस देवी का विशेष भाग था ।

बाबू बालमुकुन्द गुप्त के गृह में तीन पुत्र और दो पुत्रियों ने जन्म लिया था । उनके ज्येष्ठ पुत्र लाला नवलकिशोर गुप्त, मंझले लाला मुरारीलाल और कनिष्ठ लाला परमेश्वरीलाल जी हैं । उनके मंझले पुत्र लाला मुरारी-लाल जी का स्वर्गवास प्रौढ़ावस्था में ही हो गया था, अतः शेष दो चिरायु पुत्र श्री नवलकिशोर गुप्त तथा लाला परमेश्वरीदास लाला मुखराम जी के द्वितीय पुत्र लाला वंशीधर के साथ कलकत्ता में व्यवसाय करते हुए सुख एवं सम्पन्नता के साथ निवास करते हैं । उस महानगरी में १४७ हरिसन रोड कलकत्ता में स्थित उनका फर्म 'लाला नवलकिशोर एण्ड वंशीधर' के नाम से विख्यात है ।

लाला मुखराम जी के ज्येष्ठ पुत्र लाला रघुनन्दन दास जी का स्वर्गवास निस्संतानावस्था में ही होगया था, अतः आज उनके दत्तक पुत्र के रूप में स्व० गुप्त जी के प्रपौत्र और श्री नवलकिशोर जी के ज्येष्ठ पुत्र सौभाग्यशाली श्री जगदीशप्रसाद जी कार्य कर रहे हैं । दुर्भाग्यवशात स्व० गुप्त जी के

कनिष्ठ पुत्र लाला परमेश्वरी लाल भी निःसंतान हैं, अतः उन्होंने लाला वंशीधर के द्वितीय पुत्र रमणप्रकाश को दत्तक रूप में अंगीकृत किया है। इस प्रकार स्वर्गीय गुप्त जी का वंशवृक्ष सम्यक् रूपेण पल्लवित और पुष्पित हो रहा है। विशेष बात यह है कि आज भी गुप्त जी का सम्पूर्ण कुटुम्ब एक साथ रहकर भारतीय कुटुम्बवाद के आदर्श का परिपालन यथावत् कर रहा है।

शिक्षा—अन्तःसाक्ष्य के आधार पर यह निश्चित है कि बालक बालमुकुन्द गुप्त ने दस वर्ष की आयु में पाठशाला में प्रवेश पाया था। आपने लिखा है—"सन् १८७५ ई० के आखिर में राकिम स्कूल में दाखिल हुआ था।"[१] गुप्त जी को आधुनिक वैज्ञानिक साधनों से सुसज्जित, पाश्चात्य सभ्यता तथा संस्कृति से अनुप्राणित कॉलिजों एवं विश्वविद्यालयों में शिक्षा-दीक्षा न मिल सकी थी। उन दिनों तो देहाती स्कूल भी नगण्य थे, पाठ्य पुस्तकों का भी प्रायः अभाव सा ही था। अपनी प्रारंभिक शिक्षा और पाठशाला के विषय में स्वयं गुप्त जी ने एक लेख में लिखा है—"उस वक्त पंजाब के इब्तदाई मदरसे नीम मकतबों की शकल में थे। उर्दू का कायदा मौजूद न था। कागजों पर 'अलिफ-बे' लिखकर पढ़ाई जाती थी। 'तहसील उल तालीम' नाम की एक किताब उर्दू की पहली किताब और उर्दू के कायदे का काम देती थी। उर्दू की पहली और दूसरी और तीसरी किताबें बनी जरूर थीं मगर वह सब स्कूलों तक नहीं पहुँच सकीं थीं।"[२] इस उद्धरण से उस समय की अवस्था का भली प्रकार परिचय मिल जाता है और यह भी निश्चित हो जाता है कि गुप्त जी की प्रारम्भिक शिक्षा उर्दू में हुई थी। उस समय गुड़ियानी मदरसे के प्रधानाध्यापक मुन्शी बजीर मुहम्मद खाँ साहब थे। उन्हीं की अध्यक्षता एवं देख-रेख में बालक बालमुकुन्द ने प्रारंभिक शिक्षा प्राप्त की थी। मुंशी बजीर मुहम्मद खाँ के शब्दों में बालक गुप्त जी का चित्र इस प्रकार है—"वह तबीयत का जकी था और उसी वक्त से गौरो फिक्र, सफाई और सुथराई से काम करता था और तबीअत पर रहम और इन्साफ़ बदर्जे कमाल था। तहसील उलूम में बहुत बढ़कर था, कभी फेल न हुआ। पाँच साल में पांच जमाअत प्रायमरी स्कूल फ़ारसी वददरीज हासिल की और इस्तेदाद इल्मी ज्यादा पैदा करली। कौमे महाजनान

१—जमाना, जिल्द ८, नं० ६ (जून सन् १९०७), पृ० ३३४।

२—वही, वही।

में पहले पहल यही शख्स हुआ, जिसने उलूम उर्दू व फारसी हासिल करके अपनी कौम में इल्म फैलाया और यहां तक कि फिल्वाक़े दीगर फ़रीक पर भी इस फ़न में सबक़त ले गया। सरसरी तौर से यह लड़का और लड़कों के साथ पढ़ने बैठा। अपनी ज़हानत चुस्ती और चालाकी से चन्दरोज़ में इल्मी तरक्की हासिल करने लगा। इस वजह से मेरा दिल भी बनिस्वत और लड़कों के उसको तालीम देने पर बहुत मुतवज्जः होता था। यह तरक्की देखकर दीगर फ़रीक़ के शोख लड़के उससे बहुत हसद करते थे और ईज़ारसानी के साथ मौके ढूँढ़ा करते थे। उसके साथ अक्सर लड़के महाजनान दूसरे फ़रीक़ की यह शौखी बरदाश्त न करके घर बैठ रहा करते थे, लेकिन वह हिम्मत वाला कभी नहीं बैठा। बहुत एहतियात से तहसील उलूम में मसरूफ रहा। जिस वक्त आखिर जमाअत पंजुम जो बमुकाम कौसली में हुआ था, लाला बलदेव सहाय एसिस्टेंट इन्सपैक्टर मुम्तहिन थे, उस खूबी के साथ इम्तिहान में कामयाबी हासिल की, कि मुझको भी शाबाशी दिलाई और गुखनूदिए मिज़ाज का परवाना साहिब डिपुटी कमिश्नर बहादुर जिला रोहतक से दिलाया और उसके वालिद को बुलाकर लाला बलदेव सहाय ने समझाया कि उसको तहसील उसूल के लिये आगे भेजो।"[1]

अध्यापक के इन शब्दों से ज्ञात होता है कि बालमुकुन्द गुप्त जीवन के प्रातः काल से ही प्रतिभा सम्पन्न, अध्यवसायी, तथा परिश्रमी छात्र थे और ग्रामीण पाठशाला के अन्य बालक उनकी अद्भूत प्रतिभा तथा बौद्धिक कौशल से ईर्ष्या करते थे। उनमें सहिष्णुता भी थी, उन्होंने सब कुछ सहा। अतः शीघ्र ही गुप्त जी खिलाड़ी, अकर्मण्य एवं अध्ययन की उपेक्षा करने वाले बालकों से आगे निकल गए थे और अपने जन्म जात स्वाभाविक गुणों के कारण ही वे अपने गुरुदेव के कृपा भाजन और शिक्षा विभागीय पदाधिकारी लाला बलदेव सहाय की श्लाघा के पात्र बन गए थे। गुप्त जी ने अपनी असाधारण प्रतिभा का परिचय कक्षा पाँच की परीक्षा में दिया था। उन दिनों गुड़ियानी का प्राइमरी स्कूल वार्षिक परीक्षा का केन्द्र न था; अतः सभी बालकों को परीक्षा देने के लिये निकटवर्ती स्थान कोसली, जिला रोहतक की पाठशाला में जाना पड़ा। परीक्षा-निरीक्षक स्वयं लाला बलदेव सहाय उप-शिक्षा-निरीक्षक थे। उनकी आज्ञा से कक्षा पाँच के परीक्षार्थियों को सवाल बोल दिया गया, किन्तु प्रश्न बड़ा जटिल था। अतः कोई भी छात्र ठीक-ठीक

१—गुप्त स्मारक ग्रंथ, पृष्ठ १०–११।

उत्तर न निकाल सका पर बालमुकुन्द गुप्त का उत्तर पूर्णतः ठीक था। यह देख कर लाला बलदेव सहाय विस्मित हुए और उन्हें बालक की योग्यता एवं सत्यता पर संदेह हुआ। अतः उन्होंने वही प्रश्न कुछ अध्यापकों को दिया पर उत्तर ठीक न निकला। इस पर उन्होंने बालक को बुलाकर नाम-धाम के साथ प्रश्न निकालने का तरीका पूछा। उत्तर सही मिल जाने से उनका संदेह दूर हो गया। उसी समय लाला पूरनमल को बुलाकर, जो प्रेम के आधिक्य से बच्चे के साथ गए थे—कहा "सूबा पंजाब में दस हजार लड़कों का इम्तिहान अब तक ले चुका हूँ, कोई लड़का इस ज़हानत और लियाक़त का नहीं देखा। अगर आगे तालीम न दिलाओगे तो एक हक़तलफ़ी करोगे।"[१]

राजकीय शिक्षा-अधिकारी द्वारा अपने पुत्र की इस प्रशंसा को सुनकर लाला पूरनमल जी हर्षातिरेक से प्रफुल्लित हो उठे और बड़ी उमंग के साथ कोसली से घर आए। घर आकर उन्होंने गुप्त जी को आगे शिक्षा दिलाने की दृढ़ प्रतिज्ञा की और तत्सम्बन्धी आयोजना में सहर्ष व्यस्त हो गये। किन्तु खेद है कि इसी बीच में एक साधारण रोग द्वारा उनकी आकस्मिक मृत्यु हो गई और चौदह वर्ष की किशोरावस्था में ही बालक बालमुकुन्द को पिता के संरक्षण से वंचित होना पड़ा। उस समय उनके पितामह लाला गोरधनदास-जी जीवित थे। प्रौढ़ पुत्र की मृत्यु के दारुण दुःख को वे सहन न कर सके थे। यही कारण था कि पुत्र की मृत्यु के छठवें दिन ही उन्होंने यह जीवन-लीला समाप्त कर दी।

इस प्रकार चौदह वर्ष की अवस्था में ही गुप्त जी पिता और पितामह की संरक्षता से वंचित हो गये। अतः उन्हें विवशतावश अध्ययन को आगे जबरन रूप से चालू रखने के भाव का परित्याग करके घर का दायित्व सम्भालना पड़ा था। ऊँची शिक्षा पाने की आशालता पर तुषारपात हो गया; पाठ्यपुस्तकों एवं साहित्यिक-ग्रन्थों के अध्ययन के स्थान पर पैतृक-व्यवसाय के हिसाब को समझने, बकाया वसूल करने और साहूकारी लेन-देन के कार्य को सम्पन्न करने का कार्य करना पड़ा। गुप्त जी पिता के ज्येष्ठ पुत्र थे, अतः सारा भार उन्हीं के ऊपर आ पड़ा था पर वे निराश और हतोत्साह न हुए। अदम्य उत्साह एवं अथक परिश्रम के साथ उन्होंने पैतृक-व्यवसाय को संभाला और घर की आर्थिक-व्यवस्था को विच्छिन्न न होने दिया।

१—गुप्त स्मारक ग्रन्थ, पृष्ठ ६।

घर और गार्हस्थ धर्म के उत्तरदायित्व का भार ग्रहण करने के उपरांत गुप्त जी गुड़ियाना रहने के लिए वाध्य हुए। बाहर जाकर अध्ययन करने की अभिलाषा को पूर्ण होता हुआ न देख कर विवशतावश उन्हें विषम परिस्थितियों से भी अधिकतम लाभ उठाने की योजना तैयार करनी पड़ी। और उनकी वह योजना थी, उर्दू तथा फ़ारसी का गम्भीर अध्ययन। गुप्त जी की इस योजना में गुड़ियानी के अनुकूल वातावरण तथा उपलब्ध साधनों आदि सभी ने उनका हित किया। फ़ारसी के विद्वान मुन्शी वज़ीर मुहम्मद खाँ के सहयोग और मार्ग-प्रदर्शन के परिणामस्वरूप लाला बालमुकुन्द अब मुन्शी बालमुकुन्द गुप्त बनते जा रहे थे।

घर पर रहते हुए ही गुप्त जी अल्पकाल में उर्दू-फारसी में पारंगत और उनके लघु भ्राता पैतृक व्यवसाय में सिद्धहस्त होते गए। फिर शीघ्र लघु भ्राता पर घर का दायित्व छोड़कर, आगे अध्ययन की कामना से, गुप्त जी दिल्ली आये और दिल्ली-हाई-स्कूल-बोर्डिंग हाउस में रहकर अध्ययन प्रारम्भ कर दिया। गुप्त जी अध्यवसायी और परिश्रमी तो प्रारम्भ से थे ही, थोड़े ही समय में उन्होंने 'मिडिल' की परीक्षा पास कर ली। इस परीक्षा में उत्तीर्ण होने के प्रमाण-स्वरूप उन्हें ता० २० जुलाई, सन् १८८६ ई० को एसिस्टेंट रजिस्ट्रार पंजाब यूनिवर्सिटी के कार्यालय से एक सूचना प्राप्त हुई थी। उक्त परीक्षा में उनका अनुक्रमांक २८६० था।[१]

उक्त प्रमाण के आधार पर यह निश्चित हो जाता है कि लगभग २१ वर्ष की आयु में उन्होंने मिडिल पास किया था। उन दिनों यह परीक्षा बहुत ऊँची समझी जाती थी। इसी अध्ययन काल में गुप्त जी ने उर्दू में लिखने तथा पढ़ने का अच्छा अभ्यास कर लिया था, जिसके फलस्वरूप उनकी गणना उर्दू-लेखक के रूप में होने लगी थी।

गुप्त जी का उर्दू-पत्रकार का जीवन—

'गुप्त जी की शिक्षा' नामक शीर्षक में उल्लेख किया जा चुका है कि घर पर ठहरने के दिनों में गुप्त जी ने उर्दू-भाषा में अच्छा अभ्यास कर लिया था।[२]

१—श्री नवलकिशोर गुप्त १४७ हरिसन रोड, कलकत्ता के निजी पुस्तकालय में पंजाब यूनिवर्सिटी के ता० २० जुलाई सन् १८८६ ई० के पत्र के आधार पर।

२—इसी अध्याय का पृ० ७।

मुन्शी बज़ीर मुहम्मद खाँ के सत्संग द्वारा उस काल में वे कुशल उर्दू लेखक बन चुके थे। जिला रोहतक के झज्जर निवासी पं० दीनदयालु शर्मा से भी गुप्त जी का अच्छा परिचय हो गया था। पं० दीनदयालु शर्मा उर्दू के प्रसिद्ध विद्वान और लेखक थे। उन्होंने सन् १८८५ ई० में मथुरा से एक 'मथुरा अख़बार' नामक उर्दू मासिक-पत्र निकाला था। उसके सम्पादक, प्रकाशक—सब कुछ पंडित जी ही थे।[1] गुप्त जी इस पत्र के लिये नियमित रूप से लेख लिख-लिख कर भेजते थे। इस प्रकार गुप्त जी अपने ग्राम गुड़ियानी से ही अपने मित्र पंडित जी की सहायता करते रहे और उर्दू लेखन-शैली में अपनी लेखनी को दिनों-दिनों कुशल एवं सिद्धहस्त बनाते गए।

सन् १८८६ ई० में गुप्त जी के जीवन में एक महान् परिवर्तन आया, उनके परम सुहृद पं० दीनदयालु शर्मा ने उन्हें परामर्श दिया कि उन्हें उर्दू-पत्र 'अख़बारे-चुनार' का सम्पादन भार स्वीकार कर लेना चाहिये। उनके परामर्श से उसी वर्ष गुप्त जी 'अख़बारे-चुनार' के सम्पादक बनकर चुनार गए। चुनार जाकर गुप्त जी को अपनी प्रतिभा, भाषा-ज्ञान और सम्पादन-कला की विशेषता प्रदर्शित करने का स्वर्ण अवसर उपलब्ध हुआ। अनुकूल वातावरण और अवसर पाकर गुप्त जी चमक उठें। उन्होंने 'अख़बारे-चुनार' का सम्पादन इस कौशल के साथ किया कि वह पत्र सब अख़बारों में श्रेष्ठ गिना जाने लगा। उनके सम्पादन की प्रशंसा डा० श्यामसुन्दर दास ने की है।[2]

'चुनार' में रहकर गुप्त जी उर्दू-सम्पादक के रूप में यथोचित ख्याति लाभ कर चुके थे। उस समय उर्दू-पत्रों के महत्वाकांक्षी मालिक गुप्त जी को अपने पत्र में सम्पादक रूप में देखने की इच्छा करने लग गए थे। ऐसा ही एक अवसर सम्वत् १९४४, ज्येष्ठ शुक्ला १० को आया। इस तिथि को पं० दीनदयालु शर्मा ने हरिद्वार में भारत धर्म महामण्डल के अधिवेशन का आयोजन किया था जिसमें देश के प्रख्यात पत्र-सम्पादक और मालिक एकत्रित हुये थे। 'अख़बारे-चुनार' के सम्पादक बाबू बालमुकुन्द गुप्त अपने पत्र के मालिक लाला हनुमान प्रसाद के छोटे भाई लाला राधाकृष्ण सहित आये थे। 'धर्म-दिवाकर' के सम्पादक पंडित देवी सहाय (कलकत्ता), साहित्याचार्य पं० अम्बिकादत्त व्यास (बिहार), कर्नल अलकाठ—जिन्होंने बाद में थियोसोफीकल

१—गुप्त स्मारक ग्रन्थ, पृष्ठ १६।

२—डा० श्यामसुन्दरदास, हिन्दी कोविद रत्नमाला, प्रथम भाग, पृ० ९९।

सोसायटी की स्थापना की--दीवान रामयशराय (कपूरथला), राजा हरवंश सिंह और मुन्शी हरिसुखराय (लाहौर)[१] आदि वहाँ एकत्रित हुए थे। इस अवसर पर गुप्त जी की दक्षता और व्यक्तित्व से लाहौर के पत्र 'कोहेनूर' के मालिक मुन्शी हरिसुखराय बड़े प्रभावित हुए। उनकी अभिलाषा थी कि किसी प्रकार गुप्त जी को 'कोहेनूर' के सम्पादकीय विभाग में ले जाया जाय। 'कोहेनूर' उन दिनों उर्दू के श्रेष्ठ पत्रों में गिना जाता था। उक्त पत्र का जन्म "सन् १८५० ई० में लाहौर में हुआ था।"[२] अपनी अभिलाषा को पूर्ण करने के हेतु गुप्त जी पर दबाव डालने के लिये मुन्शी जी ने पंडित दीनदयालु जी को विवश किया। पंडित जी के शब्द गुप्त जी के लिए ब्रह्म-वाक्य होते थे; फलतः थोड़े दिनों बाद ही चुनार से घर जाकर वे लाहौर चले आये और कोहेनूर का सम्पादन-भार अपने हाथ में ले लिया।

उर्दू-समाचार-पत्रों का इतिहास प्रस्तुत करते समय 'कोहेनूर' के विषय में अभिव्यक्त गुप्त जी के शब्दों से ज्ञात होता है कि आलोच्य पत्र में आपने सन् १८८८ ई० से लेकर १८८६ ई० तक ही कार्य किया था।[3] इस पत्र के सम्पादकीय मण्डल में गुप्त जी को सम्माननीय स्थान प्राप्त था।

उर्दू लिखने का अभ्यास तो गुप्त जी को प्रारम्भिक काल से था ही। 'मथुरा-अखबार' के लिए लेख लिखते-लिखते उनकी लेखनी इस दिशा में पारंगत हो चुकी थी। किन्तु उच्च कोटि के उर्दू-लेखकों की कोटि में गुप्त जी की गणना अखबारे-चुनार और कोहेनूर का सम्पादन करने के उपरांत होने लग गई थी। इस समय उर्दू के प्रतिष्ठित पत्र गुप्त जी से लेख पाने की आशा और अनुरोध करते थे और कुछ पत्रों पर गुप्त जी की विशेष कृपा भी थी। उर्दू गद्य और पद्य दोनों ही लिखने में गुप्त जी कुशल थे। उनके पद्य 'गुलदस्ता' नामक पत्रों में प्रकाशित हुए थे। इस विषय में स्वयं उन्होंने लिखा है--"यह एक बड़ी दिल्लगी की बात है कि इन गुलदस्तों को बहुधा वही लोग निकालते थे, जो इतर बेचते थे। लखनऊ के निसार हुसेन और कन्नौज के रहीम दोनों ही इतर की दुकान करते थे। यह काग़जी गुलदस्ते उन्हीं के प्रबन्ध रूपी इतर से सुगन्धित होते थे। इस लेख का लेखक भी उनकी बूबास

१--गुप्त स्मारक ग्रन्थ, पृ० १८।

२--डा० रामबाबू सक्सेना--उर्दू साहित्य का इतिहास, भाग २, पृ० ८२।

३--झावर मल्ल शर्मा और बनारसीदास चतुर्वेदी, गुप्त निबन्धावली प्रथम भाग, उर्दू-अखबार, पृ० २५८।

से एक बार ही वंचित नहीं रहा। उसके तोड़े हुए दो चार जंगली फूल भी कभी-कभी इन गुच्छों में शामिल हो जाते थे।[१]

उक्त तीनों पत्रों के अतिरिक्त गुप्त जी का सम्बन्ध 'भारत-प्रताप' नामक उर्दू मासिक पत्र के साथ भी घनिष्ठ था। यह एक धार्मिक पत्र था, जिसमें सनातन हिन्दू-धर्म सम्बन्धी लेख प्रकाशित होते थे। इस पत्र को पंडित दीनदयालु शर्मा के छोटे भाई पण्डित विश्वम्भरदयालु जी निकालते थे।"[२] यह पत्र रोहतक जिले के झज्जर नामक स्थान से निकलता था। अन्तःसाक्ष्य के आधार पर "आरम्भ में यह पत्र इस लेख के लेखक (बालमुकुन्द गुप्त) ही के कलम से निकलता था। सम्वत् १९४९ ई० में यह मुरादाबाद से जारी किया गया था।"[३] इस कथन से सिद्ध है कि 'भारत-प्रताप' का प्रारम्भ गुप्त जी ने ही किया था। इस पत्र की प्रतियाँ गुप्त जी ने अपने साहित्यिक बन्धुओं के पास भेजी थीं जिनमें से पं० प्रतापनारायण मिश्र ने एक तिथि-बिहीन पत्र और पं० माधवप्रसाद मिश्र ने २२ अगस्त सन् १८२२ ई० के पत्र द्वारा उस पत्र की प्राप्ति स्वीकार की थी। पं० माधवप्रसाद मिश्र का पत्र तो कविता में लिखा हुआ है।[४]

गुप्त जी का उच्चकोटि का सम्पादन तथा साहित्यिक बन्धुओं के साथ उनके प्रेम और घनिष्ठता के कारण 'भारत प्रताप' को पर्याप्त ख्याति प्राप्त हुई थी। यहाँ तक कि बाबू राधाकृष्ण दास ने भी गुप्त जी को लिखे अपने पत्रों में इच्छा प्रकट की थी कि गुप्त जी भारतेन्दु जी की जीवनी लिखें और उनके 'सती-प्रताप' नाटक के विरुद्ध 'हिन्दी बंगवासी' में छपी आलोचना का उत्तर भी 'भारत-प्रताप' द्वारा दें। इस सम्बन्ध में लिखे गए १७ जौलाई सन् १८९२ ई०, २३ अगस्त सन् १८९२ ई०, २ अक्टूबर सन् १८९२ ई० और २० दिसम्बर सन् १८९३ ई० के चार पत्र श्री नवलकिशोर जी के संग्रहालय में सुरक्षित हैं। बनारस से लिखे २३ अगस्त सन् १८९२ ई० के पत्र में राधाकृष्ण दास जी ने लिखा था—'सती-प्रताप' भेजता हूँ, 'भारत-प्रताप' में इसकी आलोचना लिखिए। 'हिन्दी-बंगवासी' ने जो इसकी समालोचना की है यदि उचित जानिए तो खण्डन कीजिए।"[५] हिन्दी-बंगवासी ने 'सती प्रताप'

१—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, उर्दू-अखबार, पृ० २९२।

२—वही, पृ० ३०७। ३—वही, पृ० ३०८।

४—ये दोनों पत्र आजतक श्री नवलकिशोर गुप्त १४७ हरिसन रोड, कलकत्ता के व्यक्तिगत संग्रहालय में सुरक्षित हैं।

५—बाबू राधाकृष्णदास का बनारस से लिखा ता० २३-८-९२ का पत्र।

नाटक पर तीन दोष लगाये थे। उन तीनों का उत्तर बाबू राधाकृष्ण दास जी गुप्त जी द्वारा दिलाना चाहते थे। गुप्त जी को समयाभाव के कारण कुछ देर हुई, तो अपने दूसरे पत्र में राधाकृष्णदास जी ने लिखा था--"बहुत दिनों से कृपा पत्र नहीं मिला, मैं सकुशल हूं समालोचना अभी नहीं हुई, हिन्दी बंगवासी का उत्तर भी आपने अबतक नहीं भेजा।"[१] स्पष्ट है कि गुप्त जी ने 'भारत-प्रताप' को बड़ी योग्यता और दक्षता के साथ चलाया था। थोड़े ही समय में इस पत्र ने साहित्यिक क्षेत्र में महान् ख्याति प्राप्त करली थी। उर्दू और हिन्दी दोनों ही भाषाओं के विद्वानों की दृष्टि इस पत्र की ओर थी पर खेद का विषय है कि उक्त पत्र केवल दो वर्ष चलकर ही बन्द हो गया। इसका कारण गुप्त जी का हिन्दी-क्षेत्र में आगमन और हिन्दी बंगवासी के सम्पादन-भार का स्वीकार करना ही हुआ। योग्य सम्पादक और लेखक के अभाव में पत्र का बन्द हो जाना स्वाभाविक ही था। यद्यपि पत्र के अन्तिम दिनों में गुप्त जी उसके सम्पादक न थे, पर प्राण अवश्य थे।

इस प्रकार गुप्त जी ने सन् १८८६ ई० से लेकर १८८६ ई० तक उर्दू पत्रों का सम्पादन किया। उनकी प्रबन्धपटुता और लेखन शैली की विशेषता के कारण उन्हें एक के पश्चात् दूसरे पत्र के सम्पादकीय विभाग में स्थान मिलता रहा। उनको अपनी उपजीविका के लिये स्थान खोजने की आवश्यकता नहीं पड़ी। उनकी योग्यता और दक्षता से लाभान्वित होने के लिए लगभग सभी पत्र लालायित थे, पर सौभाग्य केवल 'अखबारे-चुनार', 'कोहनूर' और 'भारत-प्रताप' को ही प्राप्त हुआ। यही गुप्त जी का उर्दू-पत्रकार का जीवन था।

गुप्त जी कालाकांकर में हिन्दी-पत्रकार के रूप में --

कालाकांकर के पत्र 'हिन्दोस्थान' से गुप्त जी का सम्बन्ध संवाददाता के रूप में सन् १८७७ ई० में ही स्थापित हो चुका था। उस समय उर्दू पत्र 'अखबारे-चुनारे' का सम्पादकत्व छोड़कर वे अपने घर गुड़ियानी पहुँच गए थे, तब उन्होंने तीन अगस्त सन् १८८७ ई० को हिन्दोस्थान-कार्यालय कालाकांकर, के नाम इस आशय का एक पत्र लिखा था कि 'आपका दैनिक आने पर हम

२--बाबू राधाकृष्णदास का बनारस से लिखा दूसरा पत्र ता० २-१०-१८६२। उक्त दोनों पत्र श्री नवलकिशोर गुप्त, १४७ हरिसन रोड, कलकत्ता के संग्रहालय में सुरक्षित हैं।

स्थानीय समाचार भेजेंगे।'[१] गुप्त जी के पत्र के उत्तर में 'हनुमत प्रेस' के आनरेरी मैनेजर, श्री रामलाल मिश्र का पत्र आया और गुप्त जी का अनुरोध स्वीकार कर लिया गया। श्री रामलाल मिश्र ने लिखा था—"आपका कार्ड तिथि ३-६-८७ का तिथि १३ को पहुँचा। सामाचार ज्ञात हुआ, आपने लिखा कि दैनिक के जाने पर हम विविध स्थानीय समाचार देंगे सो हम अति आदर से स्वीकार करते हैं।"[२]

'हिन्दोस्थान' के साथ इस सम्बन्ध के स्थापित होने पर भी उनका सम्पादक के रूप में वहाँ प्रस्थान करना सन् १८८६ ई० के अन्तिम दिनों में ही हो सका और इसका श्रेय विशेष रूपेण वृन्दावन में होने वाले 'भारतवर्ष-महामण्डल' के द्वितीय अधिवेशन को प्राप्त है। यह अधिवेशन सन् १८८६ ई० के प्रारम्भ में हुआ था; अधिवेशन में भाग लेने 'हिन्दोस्थान' सम्पादक के रूप में पूज्य मदन मोहन मालवीय और 'कोहेनूर' सम्पादक के रूप में गुप्त जी भी पधारे थे। मालवीय जी सनातनधर्मानुयायी, काव्य-शास्त्र-मर्मज्ञ, और व्यक्ति की परख करने में परम प्रवीण थे। उधर गुप्त जी भी एक उत्तम उर्दू-लेखक और सनातन धर्म के दृढ़ समर्थकों में से थे। दोनों ही एक दूसरे के नामों से पूर्ण परिचित थे, पर भेंट अभीतक न हो सकी थी। इस अभाव की पूर्ति भी वृन्दावन के 'धर्ममण्डल' वाले अधिवेशन में हो गई थी। 'ज़माना' सम्पादक मुन्शी दयानारायण निगम के शब्दों में 'मालवीय जी एक नजर में उनकी (गुप्त जी की) काबिलियत ताड़ गए और अपने साथ कालाकांकर ले गए।'[3] इस प्रकार गुप्त जी कालाकांकर पहुँचे।

उक्त घटना के विषय में गुप्त जी ने लिखा है—"मालवीय जी से साक्षात्कार होने पर उन्होंने आज्ञा की कि आपको 'हिन्दोस्थान' पत्र में हमारे साथ काम करना चाहिये। कानपुर से पण्डित प्रताप नारायण जी मिश्र को भी हम बुलाते हैं। उनसे विनय की गई कि यहाँ हिन्दी ही नहीं आती, आपके साथ काम कैसे करेंगे ? उन्होंने कहा कुछ परवा नहीं शामिल तो हूजिये।

१—गुप्त जी का यह पत्र अप्राप्य है, किन्तु इसके उत्तर में श्री रामलाल मिश्र, आनरेरी मैनेजर हनुमत प्रेस, का ता० १७-६-१८८७ ई० का पत्र श्री नवलकिशोर गुप्त १४७ हरिसन रोड, कलकत्ता के पास सुरक्षित है।

२—उक्त स्थान पर सुरक्षित श्री रामलाल मिश्र का उक्त पत्र।

३—जमाना, अक्टूबर-नवम्बर सन् १६०७ ई०, पृ० २६७।

अन्त को उनका अनुरोध पालन करना पड़ा। उसी वर्ष के अन्तिम भाग में उक्त पत्र के स्टाफ में शामिल हुए।"[१]

मालवीय जी के अनुरोध पर गुप्त जी कालाकांकर चले गए, पर दुर्भाग्य से वहाँ अधिक दोनों तक हिन्दी की सेवा करने का अवसर उन्हें उपलब्ध न हो सका। कारण, शीघ्र पत्र से पृथक् हो जाना था। 'हिन्दोस्थान' के सम्पादकीय विभाग में इन दिनों देश के गण्यमान लेखकों को कार्य करने का अवसर मिला था। इस दृष्टि से 'हिन्दोस्थान' का कार्यालय अत्यन्त सौभाग्य-शाली था। पर शीघ्र दो वर्ष के भीतर ही सभी लोग यत्र-तत्र चले गए और केवल शीतलप्रसाद जी ही रह गए। हिन्दी अखबारों पर लेख लिखते समय गुप्त जी ने लिखा था—"मालवीय जी के जी में पत्र की उन्नति के विषय में बड़े-बड़े ऊँचे विचार थे। पर कुछ दिन पीछे वह वकालत की परीक्षा की तय्यारी करने लगे। जल्द ही वह 'हिन्दोस्थान' से सम्बन्ध छोड़ने पर विवश हुए। उनके अलग होने पर बाबू शशिभूषण जी पत्र के सम्पादन में अधिक परिश्रम करने लगे। कोई एक साल तक उनका साथ रहा। पीछे वह भी अलग हो गये। कुछ पीछे पंडित प्रतापनारायण मिश्र भी अलग हो गये। तब पंडित शीतल प्रसाद जी बुलाये गये थे। दो साल के भीतर ही यह सब उपला-पलटी हो गई। अन्त में पंडित शीतल प्रसाद जी को छोड़कर हमको भी अलग होना पड़ा।"[२]

जब तक मालवीय जी पत्र के प्रधान सम्पादक रहे तब तक तो पत्र में स्वतंत्रता पूर्वक राजनैतिक विषयों पर लिखा जाता रहा। पं० प्रतापनारायण मिश्र का 'ब्रैड़ला स्वागत', जिसमें देश की अवस्था का सुन्दरतम चित्र उपस्थित किया गया है, आलोच्य पत्र में ही प्रकाशित हुआ था, किन्तु जैसे ही राजा रामपालसिंह जी का नाम मालवीय जी की अनुपस्थिति में सम्पादक के स्थान पर लिखा जाना प्रारम्भ हुआ, पत्र की नीति सहसा बदल गई। उस समय सरकार के विरुद्ध लिखने वाले स्वतंत्र विचार-शील व्यक्ति के लिये वहाँ कोई स्थान न रह गया था। मिश्र जी पत्र से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर ही चुके थे। बाबू बालमुकुन्द गुप्त कुछ दिनों का अवकाश लेकर घर गए हुये थे। उन्हें जनवरी, सन् १८९१ की अन्तिम तिथि तक कार्य पर आ जाना था पर किसी कारणवश न जा सके। बस, राजा साहब को अवसर हाथ लग गया। ता० १

१—गुप्त निबन्धावली प्रथम भाग, हिन्दी अखबार, पृ० ३४७।

२—वही पृ० ३४७।

फरवरी सन् १८९१ ई० को उन्होंने 'हिंदोस्थान' के कार्यालय में निम्न लिखित आज्ञा प्रसारित करादी--"मुन्शी जी को आज आना चाहिए था सो अपने नियत समय पर नहीं आये, इसलिये हमारे चले जाने पर उनका लेख जाने योग्य न होगा, कारण गवर्नमेंट के विरुद्ध बहुत कड़ा लिखते हैं अतएव इस स्थान के योग्य नहीं हैं।"[१] इस प्रकार गुप्त जी को 'हिन्दोस्थान' के सम्पादकीय विभाग से सम्बन्ध विच्छेद करना पड़ा। इसकी सूचना उन्हें घर पर ही श्री रामलाल मिश्र द्वारा मिल गयी थी। अतः उन्हें कालाकांकर जाना भी न पड़ा था। इसी आशय का एक पत्र पं० शीतलप्रसाद उपाध्याय का गुप्त जी के संग्रहालय में उपलब्ध है।[२]

यह प्रथम अवसर था कि हिन्दी-सम्पादक की नौकरी इसलिये गई कि वह देशभक्त था और सरकार के विरुद्ध बड़ी तीव्रता के साथ लिखता था। कालाकांकर के 'हिन्दोस्थान' से पृथक् होने का यही कारण था।

हिन्दी बंगवासी और गुप्त जी—

'हिन्दोस्थान' पत्र से पृथक् होने के उपरान्त गुप्त जी का ध्यान अंग्रेजी के अध्ययन की ओर आकृष्ट हुआ था, क्योंकि इस समय तक उन्होंने यह बात भली प्रकार समझ ली थी कि उच्चकोटि का सम्पादक बनने के लिए अंग्रेजी का सम्यक् ज्ञान अनिवार्य है। इस अभाव के निवारणार्थ उन्होंने पत्रों द्वारा अंग्रेजी पढ़ने की योजना बनाई थी। उनके निवास स्थान गुड़ियानी में तो इसकी कोई व्यवस्था थी ही नहीं, अतः विवशतावश उन्हें अपने बाहर के मित्रों पर निर्भर होना पड़ा। इस सम्बन्ध में उन्हें सब से अधिक सहायता मिली पं० श्रीधर पाठक से। गुप्त जी अपना पत्र पंडित जी को डाक द्वारा भेज दिया करते और पाठक जी उस पर शब्दों की अंग्रेजी और उनका उच्चारण लिखकर वापिस कर दिया करते थे। इस दीर्घकालीन पत्र व्यवहार में समय के घातक प्रभाव से अवशिष्ट पाठक जी के तीन पत्र तिथि २० नवम्बर सन् १८९१ ई०, ११ फरवरी सन् १८९२ ई० और २९ नम्बर सन् १८९२ ई० के अभी सुरक्षित हैं,[३] जिनके आधार पर यही निश्चित होता है कि श्रीधर

१--गुप्त स्मारक ग्रंथ, पृ० ३३।

२--नवलकिशोर गुप्त, १४७ हरिसन रोड, कलकत्ता, के पुस्तकालय में सुरक्षित।

३--उक्त स्थान पर सुरक्षित पाठक जी के तीन पत्र।

पाठक जी ने बड़े उत्साह और प्रेम के साथ गुप्त जी को अंग्रेजी का अध्ययन कराया था।

अंग्रेजी के अध्ययन में सहायता और परामर्श के लिये गुप्त जी ने मालवीय जी को भी लिखा था। पर मालवीय जी उस समय वकालत की परीक्षा में व्यस्त थे, अतः उन्होंने कुछ समय तक सहायता प्रदान करने में असमर्थता प्रकट की थी।[1] अंग्रेजी के अध्ययन में सहायता देने वालों में पं० शीतलाप्रसाद उपाध्याय और अमृत बाजार पत्रिका के सम्पादक बाबू मोतीलाल घोष थे।

इस अवकाश के समय में गुड़ियानी में रह कर गुप्त जी ने अंग्रेजी का अध्ययन किया और उर्दू पत्रों के लिये कविता एवं लेख बहुलता के साथ लिखे। यह वही समय था, जब गुप्त जी ने 'भारत-प्रताप' पत्र का सम्पादन अपने घर से किया था। इस समय गुप्त जी का कार्य पत्रिकाओं का अध्ययन और नियमित रूप से उनके लिये कुछ लिखना था। 'बंगवासी', 'हिन्दी बंगवासी', लखनऊ से प्रकाशित उर्दू-पत्र 'हिन्दुस्तानी', 'जन्मभूमि' और कलकत्ता से सोम द्वारा प्रकाशित 'हिन्दी महाभारत' आदि पत्र गुप्त जी के ग्राम गुड़यानी पहुँचते रहते थे। गुप्त जी आद्योपांत उनका अध्ययन करते थे, यह उनका नियम था।

सन् १८९२ ई० में कलकत्ते के हिन्दी-बंगवासी में 'मडेल भगिनी' नामक बंगला उपन्यास का हिन्दी अनुवाद 'शिक्षिता-बाला' शीर्षक से प्रकाशित होना प्रारम्भ हुआ था। अनुवादक थे, स्वयं श्री अमृतलाल चक्रवर्ती, सम्पादक 'हिन्दी बंगवासी'। अनुवाद की भाषा दोषपूर्ण और मूल भावों पर आघात करने वाली थी, इसके अतिरिक्त उन दिनों हिन्दी बंगवासी की प्रतिसंख्या में एक चित्र छपा करता था। बार-बार चित्र बनाने के श्रम और पारिश्रमिक से बचने के दृष्टिकोण से 'बंगवासी' आफिस के पहले के निर्मित हुए चित्र ही परिचय सूचक पंक्तियों के साथ यथावसर प्रकाशित हो रहे थे। यह सब देख कर गुप्त जी ने 'हिन्दी बंगवासी' सम्पादक को एक पत्र लिखा, पत्र की दो पंक्तियाँ इस प्रकार थीं—"साहित्य की मर्यादा बिगाड़ने वाला यह कौन मनुष्य है, जो 'मडेल भगिनी' उपन्यास की मिट्टी खराब कर रहा है।"[2] गुप्त जी की

१—नवलकिशोर गुप्त, १४७ हरिसन रोड, कलकत्ता, के यहाँ मालवीय जी का ६ सित० सन् १८९१ ई० का पत्र सुरक्षित है।

२—गुप्त स्मारक ग्रन्थ, अमृतलाल चक्रवर्ती का संस्मरण, पृष्ठ २७५।

इस ओजस्वनी भाषा का प्रभाव पत्र के सम्पादक और मालिक पर प्रतिकूल न पड़कर अनुकूल पड़ा; वे उसकी निर्भीकता और ओजस्विता से अत्यधिक प्रभावित हुए। इसी विषय में दूसरा पत्र गुप्त जी ने अपने मित्र पं० भुवनेश्वर मिश्र को लिखा, जो 'हिन्दी बंगवासी' में कार्य करते थे। मिश्र जी उन दिनों कानून के अध्ययन में अधिक व्यस्त थे और विवेच्य पत्र से अवकाश ग्रहण कर के घर जाकर अध्ययन करना चाहते थे। पं भुवनेश्वर मिश्र की अभिलाषा थी कि गुप्त जी यहाँ आकर कार्यभार सम्भाल लें, तो उन्हें अवकाश मिल जाय। इसी भावना को कार्यान्वित करने के लिये उन्होंने एक पत्र अगहन बदी १४ संवत् १९४९ वि० को लिखा था।[1] उक्त पत्र में मिश्र जी ने लिखा था—"मडेल भगिनी का हिन्दी अनुवाद होने की बातचीत बहुत दिनों से है। यदि मेरी परीक्षा न होने वाली होती तो उसमें हाथ भी लग गया होता। सो अगर आप उसका अनुवाद करना चाहें तो उसके प्रथम खण्ड का अनुवाद इस छापेखाने के लिये कर सकते हैं; किन्तु पहले आप अपने पारितोषिक की बात ठीक करलें। लेन-देन की बात निश्चय हो जायगी तब आप हाथ लगावेंगे।"[2]

मिश्र जी का उक्त पत्र ही 'हिन्दी बंगवासी' के साथ गुप्त जी का सम्बन्ध स्थापित करने वाला प्रमाणित हुआ। 'मडेल भगिनी' के अनुवाद के सम्बन्ध में पं० अमृतलाल चक्रवर्ती का एक पत्र फाल्गुन सुदी १४, संवत् १९४९ को भी गुप्त जी के पास गया था। उक्त पत्र में गुप्त जी द्वारा प्रेषित अनुवाद की प्राप्ति स्वीकृत की गई है, दूसरे भाग का अनुवाद अधिक से अधिक १५ दिन में भेजने का अनुरोध किया गया है और गुप्त जी के 'हिन्दी बंगवासी' कार्यालय में आने के विषय में पूछा गया है।[3] पं० भुवनेश्वर मिश्र ने गुप्त जी से इस सम्बन्ध में पत्र-व्यवहार किया था। उसके उत्तर में गुप्त जी ने अंग्रेजी अध्ययन के अभाव को मिटा लेने की बात कही थी। यथार्थ में गुप्त जी अंग्रेजी का अच्छा अभ्यास करने के उपरान्त 'हिन्दी बंगवासी' में जाने के पक्ष में थे। पर 'हिन्दी बंगवासी' वाले शीघ्रातिशीघ्र गुप्त जी को बुलाने पर तुले हुए थे। अतः अपने उक्त पत्र में ही श्री अमृतलाल चक्रवर्ती ने गुप्त जी से अंग्रेजी की उन्नति के विषय में भी पूछा था।

१—यह पत्र श्री नवलकिशोर गुप्त के पुस्तकालय में सुरक्षित है।

२—यह पत्र भी उक्त स्थात पर सुरक्षित है।

३—श्री अमृतलाल चक्रवर्ती का फाल्गुन सूदी १४ सं० १९४९ का पत्र उक्त स्थान पर सुरक्षित पत्र।

अन्ततः इस विषय में पं० भुवनेश्वर मिश्र के तीन पत्र और गुप्त जी के पास आए। उनका प्रथम पत्र चैत्र वदी ५ संवत् १९४९, दरभंगा (मिश्र जी का निवास स्थान) से, दूसरा पत्र पुनः ३४।१ कोलूटोला स्ट्रीट कलकत्ता, चैत्र सुदी ७ सं० १९४९ का प्रप्त हुआ। मिश्र जी के दूसरे पत्र के प्रत्युत्तर में गुप्त जी ने 'हिन्दी बंगवासी' में जाना अस्वीकार कर दिया था पर अनिच्छा का कोई कारण अभिव्यक्त नहीं किया था। अतः पुनः कलकत्ता से वैशाख बदी ३, सं० १९५० को कलकत्ते से प्रेषित तीसरा पत्र गुप्त जी को मिला था।[1] तृतीय पत्र में मिश्र जी ने गुप्त जी से श्री अमृतलाल जी की बीमारी का उल्लेख किया है और वहाँ आ जाने का साग्रह अनुरोध किया है। आपने लिखा है—"पण्डित अमृतलाल जी के शीघ्र आराम होने की मुझे उम्मीद नहीं है। इसलिये यहाँ आ जाते तो मेरे घर जाने का बड़ा अवसर हो जाता। यदि आप न आवेंगे तो अवश्य ही किसी दूसरे आदमी की खोज करनी होगी। किन्तु इससे मेरे घर जाने में विलम्ब हो जायगा।[2]"

पं० भुवनेश्वर मिश्र के अतिरिक्त श्री अमृतलाल चक्रवर्ती भी गुप्त जी को शीघ्र 'हिन्दी बंगवासी' में बुला लेने की प्रतीक्षा में थे। अतः उन्होंने दूसरे पत्र में 'मडेल भगिनी' के अनुवाद को प्राथमिकता न देकर 'हिन्दी बंगवासी' में जाने की बात को प्रश्रय देते हुए लिखा था—"अनुवाद की बात उसके पारिश्रमिक की बात इत्यादि-इत्यादि अन्य पत्र में लिखी जायंगी। आज आपके यहाँ आने की बात पूछनी है। आप अगर आवें तो कब तक पधार सकते हैं और कितनी तनख्वाह फिलहाल आपको मन्जूर होगी। इस समय आपको समझना होगा कि काव्यशास्त्र की चर्चा ही यहाँ आपका प्रधान अवलम्बन रहेगा।"[3]

इन पत्रों के अध्ययन के उपरान्त यह स्पष्ट हो जाता है कि 'हिन्दी-बंगवासी' कार्यालय से कई माह तक गुप्त जी को बुलाने के लिये अनवरत पत्र-व्यवहार होता रहा था। इस पत्र व्यवहार के मध्यस्थ श्री भुवनेश्वर मिश्र थे। अन्त में गुप्त जी के लिये संवत् १९५० पौष शुक्ला में कलकत्ते

१—मिश्र जी के उक्त तीनों पत्र श्री नवलकिशोर गुप्त, १४३ हरिसन रोड कलकत्ता के व्यक्तिगत संग्रहालय में सुरक्षित हैं।

२—उक्त संग्रहालय में सुरक्षित भुवनेश्वर मिश्र का तीसरा पत्र।

३—उक्त पुस्तकालय में सुरक्षित, अमृतलाल चक्रवर्ती का चैत वदी ८ सं० १९४९ का पत्र।

पहुँचने का योग आया उन्होंने पौष शुक्ला १३ बृहस्पतिवार (सन् १८९३ ई०) को हिन्दी बंगवासी कार्यालय में एक सहायक-सम्पादक के पद पर नियुक्त होकर कार्यारम्भ कर दिया था।

'हिन्दी बंगवासी' में सहायक सम्पादक के स्थान पर गुप्त जी नवम्बर सन् १८९८ ई० तक बड़ी कुशलता के साथ कार्य करते रहे। इस काल में उनकी ख्याति एक कुशल हिन्दी-सम्पादक के रूप में सम्यक् रूपेण प्रसारित हो चुकी थी। उन्हीं दिनों पं० दीनदयालु शर्मा के कलकत्ते में सनातन धर्म पर बड़ी विद्वतापूर्ण भाषण हो रहे थे। पं० जी सनातन धर्म के प्रसिद्ध समर्थकों में से थे। पण्डित जी का कलकत्ता आना ही 'हिन्दी बंगवासी' से गुप्त जी के सम्बन्ध विच्छेद का कारण हुआ। गुप्त जी ने स्वयं इस विषय में लिखा है—"वक्तृताएँ आपकी होती रहीं। पाँच पाँच हजार आदमी एकत्र होते थे। बड़ा प्रभाव पड़ा। सात बजे (शाम) से १० बजे तक बड़ा बाजार से काम काजी लोग काम छोड़कर व्याख्यान सुनने जाते थे। धर्मोत्साह जाग उठा। एक दिन सर्वसाधारण के चन्दे से १५ हजार रुपये एकत्र हो गये। अब तक यह चन्दा मारवाड़ियों के यहाँ ही जमा था। उन दिनों स्थानीय 'बंगवासी' धर्म-भवन के लिये दान माँग रहा था। उस चन्दे से वह ऐसा चिढ़ा कि वर्षों से प्रशंसा करते-करते यकायक पण्डित दीनदयालु जी को गालियां देने लगा।"[1]

पण्डित दीनदयालु शर्मा के अभिन्न मित्र, गुप्त जी 'बंगवासी' के इस दृष्टि-कोण से सहमत न थे। अतः उन्होंने पत्र में पण्डित जी की आलोचना होने के पूर्व ही हिन्दी बंगवासी से सम्बन्ध विच्छेद कर लेना उचित समझा। यह बात गुप्त जी के एक दूसरे उद्धरण से अधिक स्पष्ट हो जाती है—"इतने पेशे करने पर भी बंगवासी के अध्यक्ष को संतोष न हुआ। एक नया ढोंग आपने निकाला, वह यह कि बंगवासी का आफिस भी बने और साथ ही एक शिवालय—यदि घर के रुपये से यह सब बनता तो किसी को एतराज ही क्या था? पर नहीं, रुपया पराई जेब से आवे। जब सुना कि पण्डित दीनदयालु जी के व्याख्यानों से कलकत्ते के बड़े बाजार में १५ हजार चन्दा हो गया तो बंगवासी के अध्यक्ष की निगाह उस पर पड़ी। उसके छीनने के लिये तीन-चार सप्ताह तक पण्डित दीनदयालु की निन्दा की। बालमुकुन्द गुप्त ने इस भय से

१—भारत मित्र–४ जून, सन् १९०० ई०।

कि अब पत्र में पण्डित दीनदयालु जी की निन्दा छपेगी, हिन्दी बंगवासी से अपना सम्बन्ध छोड़ दिया।"[1]

उक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि 'बंगवासी' का अध्यक्ष चन्दे के १५ हजार प्राप्त करके अपना आफिस और धर्म-भवन बनवाना चाहता था। पर उसकी मनोकामना पूरी न हो सकी; अतः प्रतिशोध की ज्वाला में दग्ध होकर उसने दीनदयालु शर्मा के प्रति छिद्रान्वेषण की नीति अपनाई। आगे चलकर 'हिन्दी बंगवासी' की भी यही नीति होती क्योंकि दोनों ही पत्र एक ही मालिक के थे। पर ऐसा अवसर आने से पूर्व ही गुप्त जी ने उक्त पत्र से त्याग पत्र दे दिया और वे पण्डित दीनदयालु शर्मा के साथ ता० २४ नवम्बर १८९८ ई० को कलकत्ते से अपने ग्राम गुड़ियानी चले आये। उक्त दिन की यह घटना गुप्त जी की डायरी में उल्लिखित है।[2] इस प्रकार गुप्त जी का 'हिन्दी बंगवासी' से संबंध विच्छेद हुआ।

गुप्त जी का भारत-मित्र में सम्पादन कार्य—

'हिन्दी बंगवासी' के सम्पादन काल (सन् १८९३–१८९८ ई०) में ही गुप्त जी की ख्याति का सम्यक प्रसार हो चुका था। उन दिनों वे कलकत्ते के ख्यातिलब्ध हिन्दी पत्रकारों में गिने जाते थे। कलकत्ते के वृद्ध एवं कुशल साहित्यकारों के साथ भी गुप्त जी का घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित हो चुका था; अतः जैसे ही 'हिन्दी बंगवासी' से त्याग पत्र देने की बात फैली, वैसे ही 'भारत-मित्र' के तत्कालीन मालिक बाबू जगन्नाथ दास जी ने गुप्त जी को 'भारत-मित्र' में आने के लिये आमंत्रित किया। बाबू जगन्नाथदास जी गुप्त जी की लेखनी से बड़े प्रभावित थे। वे जानते थे कि बालमुकुन्द गुप्त द्वारा उनके पत्र का सम्पादन-भार सँभालना उनके लिये ख्याति और पत्र के लिये आशातीत सफलता, उन्नति और उत्कर्ष का कारण होगा। इस साध्य को दृष्टिगत करके बाबू जगन्नाथदास जी निश्चित कर चुके थे कि जिस प्रकार भी सम्भव हो गुप्त जी को 'भारत-मित्र' में लाना श्रेयस्कर होगा। इस भावना से अनुप्रेरित होकर उन्होंने गुप्त जी के सम्मुख पत्र-संचालन के भार का प्रस्ताव अनुरोध रूप में उपस्थित किया था। किन्तु वे कलकत्ते से एक बार गुड़िवानी जाना निश्चित कर चुके थे।

१—वही, १६ फरवरी सन् १८९९ ई०।

२—गुप्त जी की डायरी, कार्तिक शुक्ला ११ बृहस्पतिवार, ता० २४ नवम्बर सन् १८९८ ई०।

अतः बाबू जगन्नाथ दास जी को उन्होंने यही कहा था—"वहाँ (गुड़ियानी) से आपकी बुलाहट होगी तो आ जायेंगे।"[१] यह कह कर गुप्त जी पं० दीनदयालु के साथ ही कलकत्ते से घर चले आए थे।

घर आकर गुप्त जी पूरी तरह एक मास भी विश्राम न कर पाये थे कि 'भारत-मित्र' के तत्कालीन मालिक बाबू जगन्नाथ दास दुर्रानी का एक तार २४ दिसम्बर सन् १८९८ के दिन गुप्त जी को मिला। तार में लिखा था—"कृपया ३० वीं के पहले यहाँ निश्चित रूप से पहुँचिये, उत्तर दीजिये।"[२]

गुप्त जी ने इस तार की अवहेलना नहीं की। वे वचनवद्ध थे। उन्होंने कलकत्ता जाने का निर्णय कर लिया था और ता० १० जनवरी सन् १८९९ को वहाँ के लिए प्रस्थान कर दिया। गुप्त जी वहाँ पहुँच गए और उचित व्यवस्था के उपरान्त १६ जनवरी सन् १८९९ की 'भारत मित्र' की संख्या उनके द्वारा सम्पादित होकर ही प्रकाशित हुई।

गुप्त जी ने लगभग आठ वर्ष भारत-मित्र का सम्पादन किया था। इन दिनों वह पत्र की व्यवस्था एवं सम्पादन का पूर्ण उत्तरदायित्व लिए हुए थे, जिनका निर्वाह उन्होंने पूर्ण क्षमता के साथ किया। २ सितम्बर सन् १९०७ ई० के दिन वे अवश्य स्वास्थ्य लाभ की दृष्टि से वैद्यनाथ चले आए थे। यही दिन भारत-मित्र से उनके पृथक् होने का कहा जायगा, क्योंकि रोग ने इन्हें स्वस्थ होकर कलकत्ता वापिस न जाने दिया था।

गुप्त जी के मित्र और उनकी साहित्यिक यात्रायें—

गुप्त जी के मित्र—साहित्य-साधना और देश-हित-चिन्तन में अनवरत कितने ही वर्ष लगे रहने के कारण गुप्त जी का मित्र मंडल विस्तृत हो गया था। गुप्त जी तथा उनके मित्रों में पारस्परिक सम्बन्धों का विषद एवं सूक्ष्म अध्ययन इसलिए उपयोगी है कि इससे उनके व्यक्तित्व का सुन्दर विवेचन होता है और साहित्य की इतिहास विषयक नवीन सामग्री पर प्रकाश पड़ता है। गुप्त जी के साहित्य-साधना काल को दृष्टि में रखकर उसके दो भाग किए जा सकते हैं—उर्दू-पत्रकारिता का काल और दूसरा हिन्दी-साहित्य-साधना का काल। अतः इन्हीं दोनों कालों से सम्बन्धित उनके मित्रों का विवरण यहाँ उपस्थित किया जा रहा है।

१—गुप्त स्मारक ग्रन्थ, गोपालराम गहमरी का संस्मरण, गुप्त जी का शुभानुकरण, पृ० २९१।

२—वही, पृ० ८२।

गुप्त जी के उर्दू-साहित्य साधना के मित्र—

पं० दीनदयालु शर्मा—गुप्त जी के उर्दू-पत्रकार के जीवन में उनके सबसे प्रथम एवं परम सुहृद मित्र थे, व्याख्यान वाचस्पति पं० दीनदयालु शर्मा। दोनों का जन्म जिला रोहतक की झज्जर नामक तहसीलान्तर्गत हुआ था। झज्जर के साथ गुप्त जी के पूर्वजों के प्राचीन संस्मरण संलग्न थे, अतः दोनों में मित्रता हो गई। दोनों ही बाल्यकाल से उर्दू-फारसी के अध्येता और उर्दू-लेखक थे। इस कारण मित्रता में घनिष्ठता आती गई। संयोग से दोनों की कविता में रुचि थी और दोनों ही छात्र जीवन में उर्दू-कविता के प्रेमी थे। पंडित जी का उपनाम 'खुरसन्द' था और गुप्त जी का 'शाद'। पंडित जी अपने ग्राम में उर्दू के मुशायरे आयोजित करते थे और उनमें गुप्त जी की उर्दू-कविताओं का पाठ होता था। इस प्रकार दोनों के सम्बन्ध प्रतिदिन अच्छे होते गए। कालान्तर में पण्डित जी 'कोहेनूर' के सम्पादक नियुक्त हुए और उन्हीं के अनुरोध पर गुप्त जी 'अखबारे चुनार' के। दादा भाई नौरोजी की अध्यक्षता में सम्पन्न कांग्रेस के द्वितीय अधिवेशन के प्रचार और प्रसार से अनुप्रेरित पं० दीनदयालु शर्मा और मालवीय जी के मस्तिष्कों में कांग्रेस की भाँति सनातन धर्म की उन्नति का विचार उद्‌बुद्ध हुआ और उसे क्रियान्वित करने के लिए भारतधर्म महा-मण्डल का प्रथम अधिवेशन हरिद्वार और दूसरा लाहौर में आयोजित किया गया। लाहौर का मोर्चा कठिन और कष्टसाध्य था। दोनों मित्रों ने मिलकर तैयारियाँ की और फर्श तक बिछाया था। लाहौर के इस मोर्चे को विजित करने के उपरान्त पंडित जी की धाक सारे पंजाब में बैठ गई थी। "उसके बाद दोनों मित्रों ने सलाह की कि पण्डित जी बोलें और गुप्त जी लिखें। इस व्रत को दोनों ने अन्तिम जीवन तक निभाया।"[1] इससे स्पष्ट है कि एक मित्र ने वाणी और दूसरे ने लेखनी के आश्रय से सनातन धर्म के उत्कर्ष का प्रण धारण किया था।

पंडित जी के अनुरोध पर ही गुप्त जी ने 'कोहेनूर' का सम्पादन-भार स्वीकार किया था और उन्हीं के परामर्श और आग्रह पर मालवीय जी की आज्ञा पालनार्थ 'हिन्दोस्थान' के सम्पादकीय विभाग में प्रवेश किया था। 'हिन्दोस्थान' से पृथक् होने के पश्चात् उन्हीं के आग्रह से ही गुप्त जी ने 'भारत प्रताप' पत्र का भार अपने ऊपर ले लिया था। गुप्त जी आजीवन

१—गुप्त स्मारक ग्रन्थ, पं हरिस्वरूप शर्मा का संस्मरण, पृ० ७।

उनके लिए महान सम्मान और श्रद्धाभाव बनाए रहे। उनके प्रति प्रेमभाव और मित्रता बनाए रखने के उद्देश्य से ही आपने 'हिन्दी बंगवासी' से सम्बन्ध विच्छेद कर लिया था।[१] गुप्त जी अपना असम्मान सहन कर सकते थे, किन्तु अपने मित्र पर आरोप उनके लिए असह्य था। 'बंगवासी' द्वारा किए गए अपने मित्र के असम्मान का प्रतिकार गुप्त जी ने 'भारत मित्र' में आकर ले लिया था।

पंडित जी भी गुप्त जी का बड़ा सम्मान करते थे। उनका गुप्त जी पर बड़ा स्नेह था। जब गुप्त जी रोगग्रत होकर लाला लक्ष्मीनारायण जी की धर्मशाला में ठहरे थे, तब उनको सूचित किया गया था। "वे एक लम्बा दौरा लगा रहे थे। सब काम छोड़ कर दिल्ली आये—दोनों जन्म भर के मित्रों की आँखें चार हुई और एक दूसरे को रुलाकर दोनों पृथक् हुए।"[२] इन पंक्तियों से दोनों मित्रों के गहनतम प्रेम भाव का द्योतन होता है। उसी समय उसी धर्मशाला में गुप्त जी का देहावसान हो गया। प्रतिष्ठा होने से पूर्व धर्मशाला में मृत्यु होना अमंगल, अपशकुन और दुर्भाग्य का सूचक समझ कर उसके मालिक ने पं० दीनदयालु जी से इनकी शिकायत की और अपनी नाराजी का कारण बताया। उस समय पंडित जी द्वारा गुप्त जी के विषय में कहे गये शब्द कम महत्वपूर्ण नहीं। आपने कहा था—"आपको इस बात की चिन्ता नहीं होनी चाहिये। आपकी धर्मशाला की असली 'प्रतिष्ठा' तो अब हुई है, जिसमें भारत की एक विभूति ने अंतिम समाधि ली है। गुप्त जी के नाम के साथ आपकी धर्मशाला का नाम भी हिन्दी के इतिहास में आज से अमर हो गया।[३]

पंडित जी के इन शब्दों से गुप्त जी के प्रति उनके हृदयगत महान् सम्मान, असीम श्रद्धा और अतुल प्रेम का परिचय मिलता है। यथार्थ में वे सच्चे सुहृद थे। गुप्त जी के भाग्य को धन्य है कि उन्होंने अपने मित्र के अंक में जीवन लीला समाप्त की।

मुहम्मद हुसैन आजाद—उर्दू भाषा की प्रसिद्ध पुस्तकें 'आवेहयात', नैरंगे-खयाल', 'दीवाने ज़ौक', 'दरबारे अकबरी', 'सखुन्दाने फ़ारिस', 'क़न्द-फ़ारसी', 'नसीहत का करन फूल' और 'मकाशकात आज़ाद' के प्रणेता, उर्दू के उत्तम लेखक प्रोफेसर मुहम्मद हुसैन आजाद भी गुप्त जी के इष्ट मित्रों में से थे।

१—प्रस्तुत अध्याय, हिन्दी बंगवासी और गुप्त जी, पृ० ५६-५७।
२—गुप्त स्मारक ग्रन्थ, पं० हरस्वरूप शर्मा का संस्मरण, पृ० ३७५।
३— वही वही ।

आजाद उन दिनों लाहौर के सरकारी कालिज में अरबी-फ़ारसी के प्रोफेसर थे; उन्हीं दिनों गुप्त जी लाहौर के 'कोहेनूर' (उर्दू-पत्र) के सम्पादक थे। गुप्त जी आजाद को बहुत मानते थे। अतः वे प्रायः आज़ाद के यहाँ जाया करते थे और यदा-कदा वे भी 'कोहिनूर' कार्यालय में आते थे। दोनों घण्टों बैठते और बातें होतीं रहती थीं। इस सम्बन्ध में गुप्त जी ने लिखा है—"उस वक्त 'आज़ाद' ने एक लाइब्रेरी बनाई थी, जो शहर की चहारदिवारी से बाहर बाग़ में थी। राक़िम वहाँ मौलाना आज़ाद की ख़िदमत में हाज़िर हुआ करता था। आप भी कभी-कभी 'कोहेनूर' प्रेस में कदम रंजा फरमाया करते थे। उन दिनों दीवान ज़ौक की तालीफ़ जारी थी इसके मुतल्लिक जो कुछ तलाश व तजस्सस आपने किया, इसका भी जिक्र करते थे।"[1]

उक्त पंक्तियाँ दोनों के सम्बन्धों की परिचायक हैं। आज़ाद दिल्ली निवासी थे पर जब ग़दर के पश्चात् उनके पिता को कप्तान हडसन ने गोली मार दी तब आज़ाद दिल्ली छोड़ गये थे। बाद को लाहौर में रहने लगे थे। यहीं गुप्त जी के साथ उनका सम्पर्क स्थापित हुआ था। आपकी शिक्षा दिल्ली के ओरियंटल विभाग में हुई थी; वे एक प्रतिष्ठित मुगल कुटुम्ब के व्यक्ति थे। गुप्त जी पर 'आज़ाद' की साहित्यिक मान्यताओं का घनिष्ट प्रभाव है।

मुंशी बज़ीर मुहम्मद खाँ—मुंशी बजीर मुहम्मद खाँ, गुप्त जी के प्रारम्भिक गुरु थे और आगे चल कर उनके मित्र रूप में परिणत हो गए थे। उन्हीं के सम्पर्क में रहकर गुप्त जी ने उर्दू-लेखन-कला में कौशल प्राप्त किया था। आधुनिक सभ्यता और साधन रहित गुड़ियानी जैसे छोटे से स्थान में मुंशी जी ही गुप्त जी के लिये सर्वस्व थे। अतः विवशतावश उन्हें गुरु को ही मित्र की कोटि में स्वीकार करना पड़ा था। जिस प्रकार अध्यापक रूप में उन्हें पाकर गुप्त जी स्वयं को सौभाग्यशाली माना करते थे, उसी प्रकार मित्र रूप में भी उन्हें पाकर प्रसन्न थे।

गुप्त जी के हिन्दी-साहित्य-सेवा काल के मित्र—मदनमोहन मालवीय—इस काल के उनके प्रथम मित्रों में से महामना मदनमोहन मालवीय थे। मालवीय जी को वे सदैव श्रद्धा और सम्मान का पात्र मानते रहे थे; पर मालवीय जी ने सर्वदा उनके साथ मित्रता का व्यवहार किया। दोनों का परिचय वृन्दावन में 'भारत-धर्म महामंडल' के द्वितीय अधिवेशन के अवसर पर

१—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, मौलवी मुहम्मद हुसैन आज़ाद, पृ० ६०।

हुआ था। बस, वही क्षण दोनों का गहन मित्रता का कारण बन गया। उसी दिन से मालवीय जी गुप्त जी के साहित्यिक उत्कर्ष के साधन और प्रेरक बन गये थे। गुप्त जी के ज्येष्ठ पुत्र श्री नवलकिशोर जी का कथन है कि 'जब कभी मालवीय जी कलकत्ते पधारते तब गुप्त जी से भेंट करने घर पर अवश्य आते। दोनों घण्टों मिलकर बातें करते। मालवीय जी हम भाइयों को लंगोट पहनाकर दण्ड लगाना सिखलाते। मालवीय जी स्वयं नित्य प्रति दण्ड लगाते थे। किसी दिन वे अधिक व्यस्त होते तो भी दस या ग्यारह दण्ड लगाकर नियम पूर्ति अवश्य करते थे। हमारे ऊपर उनकी विशेष कृपा थी।'

मालवीय जी के साथ गुप्त जी का दीर्घ काल तक पत्र-व्यवहार रहा था। जिसके साक्षीस्वरूप कुछ पत्र श्री नवल किशोर गुप्त (बालमुकुन्द के पुत्र) की सतर्कता से संरक्षित हैं। ये पत्र दोनों के गम्भीर प्रेम का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। प्रेमाधिक्य में मालवीय जी उनसे कभी-कभी घरेलू बातें भी पूछ लिया करते थे। एक पत्र द्वारा मालवीय जी ने पूछा था—"अब कृपाकर लिखिये आपके तथा आपकी पत्नी के नेत्रों की क्या दशा है—यदि आप अपनी पत्नी के क्लेश का ठीक-ठीक निदान लिखिये तो मैं हाल साहब की चिकित्सा का वृतान्त लिखूँ—पूछ कर लिखना होगा।"[१] इन पंक्तियों से दोनों के पारस्परिक सम्पर्क और सान्निध्य का अनुमान होता है कि मालवीय जी घर के आदमी की भाँति गुप्त जी के साथ व्यवहार रखते थे। एक दूसरे पत्र में मालवीय जी ने कानून की परीक्षा में उत्तीर्ण होने की अपनी प्रसन्नता को अपने मित्र तक पहुँचाते हुए अपनी भावी योजना का भी उल्लेख किया था, और एल-एल० बी० के उपरान्त हाई कोर्ट में वकालत करने की प्रसन्नता का उल्लेख किया था।[२]

दोनों में हुए पत्र व्यवहार से उनकी घनिष्ठता और समीपता का परिचय मिलता है। अपने अन्य पत्रों में मालवीय जी ने गुप्त जी से 'कन्सेंट बिल' पर प्रकाशनार्थ लेख माँगे हैं, उनके बकाया पैसों के लिए कालाकांकर जाकर लाने का आश्वासन दिया है, उनको अमृत बाजार पत्रिका में देशाटन करने वाले संवाददाता का पद दिलाने की बातें कीं हैं और रोहतक के विशेष समाचार प्रेषित करने के लिए आज्ञा भी दी है। मालवीय जी को गुप्त जी के 'हिन्दोस्थान' पत्र से पृथक होने का दुःख हुआ था। वे पत्र की उन्नति के लिए गुप्त

१—गुप्त स्मारक ग्रन्थ, मालवीय जी का पत्र, प्रयाग २४ मई सन् १८९१ ई०, पृ० ४६।

२— वही वही ७ मार्च सन् १८९१ ई०, पृ० ३३।

जी की अनिवार्यता समझते थे। आपने ७ मार्च सन् १८९१ के पत्र में उनके पृथक्करण को राजा साहब की भूल माना है। उनकी धारणा थी, उक्त पत्र के लिए इतने कम वेतन पर गुप्त जी जितना कार्य करने थे, उतना किसी दूसरे से सम्भव न था।[१]

इन पत्रों और उपलब्ध सामग्री के आधार पर यह निश्चित है कि गुप्त जी और मालवील जी में पर्याप्त अभिन्नता थी। देशरत्न मालवीय जी उन्हें बहुत मानते थे, हृदय से उनका सम्मान करते और सच्चाई के साथ उनसे मित्र भाव रखते थे।

पं० प्रतापनारायण मिश्र—मिश्र जी के साथ गुप्त जी का परिचय कालाकांकर के 'हिन्दोस्थान' के सम्पादन काल में हुआ था। उर्दू लेखक और कवि के रूप में गुप्त जी उनके नाम से पूर्व परिचित थे। कालाकांकर के डेढ़ वर्ष के काल में दोनों का परिचय मित्रता में परिणत हुआ। गुप्त जी उन्हें मित्र के अतिरिक्त आदर्श और गुरु भी मानते थे। दोनों हास्य प्रिय और विनोदी स्वभाव के थे; अतः उनका अधिकांश समय साथ-साथ व्यतीत होता था। अन्तः साक्ष्य के आधार पर दोनों की घनिष्ठता का कुछ ज्ञान होता है। गुप्त जी ने लिखा है—"इस लेख के लेखक का और उनका कोई डेढ़ साल तक साथ रहा है। रहना, सहना, उठना, बैठना, लिखना, पढ़ना, सब एक साथ होता था। इससे उनके स्वभाव और व्यवहार की एक-एक बात मूर्तिमान सम्मुख दिखाई देती है।"[२]

यदि कहा जाय कि कालाकांकर के जीवन में गुप्त जी मिश्रमय और मिश्र जी गुप्तमय हो रहे थे तो अत्युक्ति न होगी। इस काल में दोनों का अभिन्न साथ था। मिश्र जी गुप्त जी से पूर्व ही कालाकांकर छोड़ गए थे, किन्तु दोनों की घनिष्ठता में अन्तर नहीं पड़ा था। दोनों जीवन में अभिन्न हो चुके थे। दोनों में प्रायः पत्र-व्यवहार होता था। मिश्र जी के एक पत्र से उनका फक्कड़पन और पारस्परिक सम्बन्धों की घनिष्ठता का ज्ञान होता है। मिश्र जी ने लिखा था—"बहुत अच्छा हुजूर बांट दूँगा और लेख भी इंशा अल्लाहताला दिया करूंगा आप ब्राह्मण को सहारा दीजिये तो—जिहे क़िस्मित जिहेताला जिहेबख्त-आपके कई पत्र आये पर उत्तर नहीं दे सका क्षमा

१—गुप्त स्मारक ग्रन्थ, मालवीय जी का पत्र, प्रयाग, ५ फरवरी सन् १८९७ ई०, पृ० ३८।

२—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग—प्रतापनारायण मिश्र, पृ० २।

माँगते भी लाज लगती है, पर "जो पै जिय गनि हौ औगुन जनके तौ क्यों कटै सुकृत नखते मोपै बिपुल वृक्ष अब बनके—यार कई महिने से तबियत सख्त परेशान है इसी से कुछ नहीं होता हुवाता।"[१] मिश्र जी के उक्त शब्दों से स्पष्ट है कि वे मित्रों के साथ कितने निःसंकोच और खुले दिल से व्यवहार करते थे। गुप्त जी उनके इन्हीं अन्तरंगों में से थे। उन पर उन्हें बड़ा विश्वास और महान् आस्था थी। जब गुप्त जी 'हिन्दी बंगवासी' में सम्पादक होकर जा रहे थे, तब मिश्र जी ने कहा था—"हमारा प्रभुदयाल भी वहाँ है, उसका ध्यान रखना।"[२] थोड़े दिनों पश्चात् मिश्र जी ने गुप्त जी से मिलने की कामना प्रदर्शित करते हुए एक पत्र में लिखा था—जिससे दोनों के प्रेमभाव का ज्ञान होता है।[३] इस प्रकार मस्ती से पूरिपूर्ण पत्र मिश्र जी केवल अपने मित्रों को ही लिखते थे। दोनों की अभिन्नता और मित्रता के द्योतक पाँच पत्र आज भी गुप्त जी के व्यक्तिगत संग्रहालय में वर्तमान हैं।

अन्य मित्र—

शीतला प्रसाद उपाध्याय—कालाकांकर के 'हिन्दोस्थान' के सम्पादन काल में गुप्त जी की मित्रता पं० शीतला प्रसाद उपाध्याय, गोपालराम गहमरी, पं० गुरुदत्त शुक्ल तथा श्री रामलाल मिश्र के साथ भी थी। पं० शीतलाप्रसाद उपाध्याय का जन्म सं० १९१७ में हुआ था।[४] इनके पिता का नाम पं० दिक्पाल उपाध्याय था। आपकी रचित पुस्तकें 'दूरदर्शी योगी', 'शीतल समीर', 'शीतल सुमिरनी', 'राजारामपाल सिंह की बानी', 'राजारामपाल सिंह की योरप यात्रा', 'शीतल संहार' और 'धर्म प्रकाश' आदि हैं। आपने 'सम्राट्' पत्र का सम्पादन भी कई वर्ष तक किया था। मित्र बन्धुओं ने आपका उल्लेख 'शीतलप्रसाद' नाम से किया है। किन्तु आपके पत्रों में 'शीतलाप्रसाद' नाम मिलता है। गुप्त जी के आप अन्तरंगों में से थे। उनके 'हिन्दोस्थान' से पृथक् होने पर खेद प्रकाश करते हुए आपने लिखा था—"एक तो कुछ काल के

१—श्री नवलकिशोर गुप्त, १४७ हरिसन रोड, कलकत्ता के पास सुरक्षित मिश्र जी का तिथि विहीन पत्र।

२—गुप्त स्मारक ग्रन्थ, पृ० ६८।

३—श्री नवलकिशोर गुप्त, १४७ हरिसन रोड, कलकत्ता के संग्रहालय में सुरिक्षत मिश्र जी का तिथि विहीन पत्र।

४—मिश्र बन्धु विनोद, तृतीय भाग, पृ० १३०५।

लिये आपके जाने ही से उदास था, अब सदैव के लिये जुदा होने से और अधिक रंज है।"[1] अंग्रेजी के अध्ययन में भी पंडित जी ने गुप्त जी को बड़ी सहायता दी थी और अमृत बाज़ार पत्रिका से गुप्त जी का सम्बन्ध स्थापित कराने के लिए भी प्रयास किया था। उनके इन कार्यों से उनके मित्र भाव का ज्ञान होता है।

बाबू मोतीलाल घोष—'अमृत बाज़ार पत्रिका' के यशस्वी सम्पादक बाबू मोतीलाल घोष के साथ भी गुप्त जी की मित्रता थी। घोष जी उस समय ख्यातिलब्ध राष्ट्र-विधाताओं में गिने जाते थे। गुप्त जी उनके विश्वास पात्र और श्रद्धाभाजन व्यक्ति थे। घोष महाशय का एक पत्र गुप्त जी के प्रति उनके हृदय के भाव का प्रकाशन करता है।[2]

पं० श्रीधर पाठक—पाठक जी के साथ भी गुप्त जी के पारस्परिक सम्बन्ध बड़े अच्छे थे। पाठक जी ने उन्हें पत्रों द्वारा अंग्रेजी पढ़ाई थी और गुप्त जी ने उनको उर्दू का अभ्यास कराया था। 'हिन्दोस्थान' से गुप्त जी का पृथक् होना सुनकर पाठक जी को अत्यधिक खेद हुआ था। यहाँ तक कि उसी समय उन्होंने 'हिन्दोस्थान' न पढ़ने का वचन तक ले लिया था।[3] गुप्त जी भी सदैव पाठक जी को उत्साहित करते रहे थे। सुसील कवि के झगड़े में गुप्त जी पाठक जी के बड़े समर्थक थे। पाठक जी के दर्जनों पत्रों में से उन दोनों के सम्बन्ध का द्योतन करने वाले केवल चार पत्र—तिथि मार्च १ सन् १८९१ ई०, दूसरा पत्र २० नवम्बर सन् १८९१ ई०, तीसरा पत्र ११ फरवरी सन् १८९२ ई० तथा चौथा पत्र २९ नवम्बर सन् १८९२ ई० अवशिष्ट हैं।[4] यह पत्र-व्यवहार दोनों की इष्टता का साक्षी है।

बाबू राधाकृष्णदास—भारतेंदु हरिश्चन्द्र के फुफेरे भाई बाबू राधाकृष्णदास के साथ भी गुप्त जी के अच्छे सम्बन्ध थे। इसी आधार पर बाबू साहब ने 'हिदी-बंगवासी' में अपने नाटक 'सती प्रताप' पर छपी आलोचना का उत्तर देने के लिए गुप्त जी से सानुरोध आग्रह किया था। दोनों के मध्य हुए लम्बे पत्र व्यवहार के प्रतीक स्वरूप बाबू राधाकृष्ण दास के चार पत्र—१७ जुलाई

१-२—श्री नवलकिशोर गुप्त, १४७ हरिसन रोड, कलकत्ता, के संग्रहालय में सुरक्षित उक्त दोनों महाशयों के पत्र।

३—श्री नवलकिशोर गुप्त, १४७ हरिसन रोड, कलकत्ता के संग्रहालय में सुरक्षित पाठक जी का १ मार्च सन् १८९१ का पत्र।

४—उक्त चारों पत्र उक्त स्थात पर सुरक्षित हैं।

सन् १८९२ ई०, २३ अगस्त सन् १८९२ ई०, २ अक्टूबर सन् १८९२ ई० और २० दिसम्बर सन् १८९३ ई० के अवशिष्ट हैं।[1]

माधव प्रसाद मिश्र—काशी निवासी श्री माधव प्रसाद मिश्र जी से भी गुप्त जी का सदा मित्र भाव रहा था। किन्तु अन्तिम दिनों में आकर कुछ मनोमालिन्य हो गया था। फिर भी एक दूसरे को अधिक चाहते थे। गुप्त जी से 'भारत-प्रताप' पाकर मिश्र जी ने एक पत्र कविता में लिखा था जिसमें 'भारत-प्रताप' की प्रशंसा की गई है और मित्र के रूप में गुप्त जी को एक परामर्श भी दिया गया है—"निहचे मोरे मन विषे, होत अहै अनुमान। तोरे या 'परताप' सों हरियाना हरियान।" यह है 'भारत-प्रताप' की प्रशंसा। और परामर्श इस प्रकार है:—लह्यो हृदय उपदेश वह, प्रथम ही सुधा समान, लिखहु जपहु दिन रात इक, हिन्दी, हिन्दुस्तान।"[2] गुप्त जी की भाँति माधव प्रसाद जी भी पं० प्रतापनारायण मिश्र को अपना गुरु मानते थे। वे उनकी कविता और शैली के आदर्श थे। अतः दोनों गुरु-बन्धुओं में विशेष मैत्री भाव था।

बाबू कार्तिक प्रसाद खत्री तथा जगन्नाथ दास रत्नाकर—पं० माधव प्रसाद मिश्र जी के ही उद्योग से बाबू कार्तिक प्रसाद खत्री और श्री जगन्नाथ दास रत्नाकर गुप्त जी की मित्र-मंडली में सम्मिलित हो सके थे। श्री जगन्नाथ दास 'रत्नाकर', बाबू राधाकृष्ण दास, बाबू कार्तिक प्रसाद खत्री और प्रसिद्ध उपन्यासकार बाबू देवकीनन्दन खत्री ने मिल कर मुज़फ़्फ़रपुर के नारायण प्रेस से 'साहित्य-सुधानिधि' नामक मासिक पत्र निकाला था। उक्त पत्र में इन सज्जनों ने गुप्त जी से यथा योग्य सहायता की याचना की थी। बस, तभी से गुप्त जी ने 'साहित्य-सुधानिधि' में लिखना प्रारम्भ कर दिया था। उसी समय से उक्त सज्जनों से गुप्त जी का मित्र भाव बढ़ता गया। मित्र के नाते गुप्त जी उक्त पत्र के अभावों को सूचित कर दिया करते थे। यही कारण है कि कार्तिक प्रसाद जी ने अपने १३ मार्च सन् १८९३ ई० के पत्र द्वारा गुप्त जी से लेख लिखने तथा ग्राहक संख्या बढ़ाने के लिये अनुरोध किया है। इन साहित्यिकों के साथ गुप्त जी सदैव मैत्री बनाये रहे।

पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र—'हिन्दी-बंगवासी' कलकत्ता के सम्पादकीय विभाग में सम्मिलित होने के उपरान्त गुप्त जी का सम्पर्क हिन्दी-पत्रों के जन्मदाता पं० दुर्गा प्रसाद मिश्र के साथ हुआ। उन दिनों मिश्र जी का घर समाज एवं

१—ये पत्र उक्त स्थान पर सुरक्षित हैं।

२—उक्त स्थान पर सुरक्षित मिश्र जी का २२ अगस्त सन् १८९२ ई० का पत्र।

राजनीति विषयक बातचीत का प्रमुख स्थान था। अपनी राजनीतिक प्रगतिशीलता के कारण गुप्त जी ने भी वहाँ अपना स्थान बना लिया था। यह सम्बन्ध इस रूप में परिणत हुआ कि पंडित जी के अनुरोध पर गुप्त जी उनके घर पर ही रहने लगे थे। उसके उपरान्त दोनों की मित्रता में कभी अन्तर न पड़ा।

पं० केशव प्रसाद मिश्र—पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र के घर के निवास काल में ही गुप्त जी की मित्रता उनके भतीजे पं० केशवप्रसाद के साथ होगई थी। दोनों स्वजनों की भाँति रहते और कार्य करते थे। गुप्त जी के अनुरूप मिश्र जी में भी सामाजिक कल्याण के कार्य करने की उग्र भावना थी। दोनों ने 'बड़ा बाज़ार' (कलकत्ता) के निवासियों को प्लेग से मुक्त करने के लिए भगीरथ प्रयत्न किए थे। यहाँ तक कि मिश्र जी ने तो उनके लिए आत्म बलिदान भी कर दिया था। दोनों ने सन् १६०० ई० में 'बड़ा बाजार लाइब्रेरी' की स्थापना की थी। सारांश यह है कि दोनों के विचार और कर्म में अधिक ऐक्य था जिस पर मित्रता आधारित थी। प्लेग से मिश्र जी का देहांत २२ फरवरी सन् १६०२ ई० को हुआ था। उनकी मृत्यु पर 'हा केशव' नामक से प्रकाशित भारत-मित्र का लेख गुप्त जी के प्रेम का परिचायक है। १६ फरवरी सन् १६०२ ई० से लेकर २२ फरवरी तक गुप्त जी की डायरी के पृष्ठों के अवलोकन से उस शोक का अनुमान होता है जो केशव की मृत्यु से उन्हें हुआ था। केशव की बीमारी के समय नित्य-प्रति दिन में कई बार गुप्त जी उन्हें देखने जाते थे। वैद्य को लेकर जाना भी उनका नियम था। केशव मिश्र उनके घनिष्ठ मित्रों में से थे।

अमृतलाल चक्रवर्ती—अमृतलाल चक्रवर्ती गुप्त जी के सहकर्मा अन्तरंग मित्रों में से थे। 'हिन्दी बंगवासी' के सम्पादन काल के छः वर्ष गुप्त जी ने उनके साथ व्यतीत किए। उस समय चक्रवर्ती तथा पं० प्रभुदयाल पांडे, जिनका उल्लेख प्रस्तुत अध्याय के पृष्ठ ६० पर हुआ है—के साथ गुप्त जी सांध्य भ्रमण के लिए ईडा गार्डन अथवा किले के मैदान में जाया करते थे। शहर में कोई घटना होती तो उसका निरीक्षण करने भी प्रायः साथ जाते थे। कुछ दिनों गुप्त जी तथा चक्रवर्ती जी एक ही मकान में साथ-साथ भी रहे थे। जब गुप्त जी अपना खाना बनाते तो चक्रवर्ती जी उनके पास बैठते और उस समय गुप्त जी अंग्रेजी का अभ्यास करते।[1] इस सानिध्य एवं निकटता का

१—गुप्त स्मारक ग्रन्थ, चक्रवर्ती जी का संस्मरण, पृ० २७८।

परिणाम मैत्री-भाव हुआ। चक्रवर्ती जी गुप्त जी का अधिक सम्मान करते थे और गुप्त जी ने सदैव उन्हें अपना आत्मीय समझा था। चक्रवर्ती जी जब आर्थिक-संकटापन्न हुए, तब गुप्त जी ने उन्हें 'भारत-मित्र' कार्यालय में स्थान देकर, अपने मित्र भाव का परिचय दिया था। एक बार चक्रवर्ती जी के एक सिविल केस में कारावास-निवास के समय भी गुप्त जी ने उनकी सहायता की थी और उन्हें देखने कारागृह पहुँचे थे।[1] इस प्रकार दोनों में घनिष्ट सम्बन्ध था।

पं० क्षेत्रपाल शर्मा—मथुरा की सुख संचारक कम्पनी के स्वामी पं० क्षेत्रपाल शर्मा से भी गुप्त जी का सम्पर्क था। कम्पनी की स्थापना से पूर्व वे 'भारत-मित्र' और 'आर्यावर्त' नामक पत्रों के सम्पादक थे। उस काल में उनका और गुप्त जी का पत्र-व्यवहार होता था। पं० क्षेत्रपाल शर्मा का एक पत्र, आर्यावर्त आफिस १०६ काटन स्ट्रीट कलकत्ता से ३ मार्च सन् १८९१ ई० का किसी प्रकार सुरक्षित रह सका है; यही पत्र उनके सम्बन्ध का सूचक है। उनकी २४ अक्टूबर सन् १९०६ ई० की डायरी में लिखा है "—क्षेत्रपाल जी के घर गये। वहाँ से गाड़ी पर बैठकर स्टेशन पहुँचे।"[2] यह उनकी ब्रज यात्रा का उल्लेख है। यात्रा करते समय जब वे मथुरा पहुँचे तो अपने मित्र क्षेत्रपाल शर्मा से भेंट की थी।

कलकत्ते के अन्य मित्र—गुप्त जी के बंगाल के मित्रों में देशभक्त ए० चौधरी, जे० चौधरी, सर गुरुदास वन्धोपाध्याय और जस्टिस सारदाचरण मित्र भी थे। जिनके साथ मिलकर वे सम्पूर्ण भारत के लिये एक लिपि देवनागरी के प्रचार का कार्य प्रारम्भ कर रहे थे। इनके अतिरिक्त कविराज ज्योतिर्सेन, डाक्टर प्यारी मोहन मुकर्जी और पं० सखाराम गणेश दउस्कर आदि थे। दउस्कर महाराष्ट्री थे, पर बंगला के प्रतिभाशाली लेखक थे। उस समय वे बंगला पत्र 'हितवादी' के सम्पादक थे। इन लोगों के साथ रहकर गुप्त जी राजनीतिक विचारों का आदान-प्रदान करते रहते थे।

कुछ प्रसिद्ध साहित्यकारों के अतिरिक्त कलकत्ते के अन्य हिन्दी क्षेत्रस्थ घनिष्ठ सम्पर्क वाले मित्र पं० छोटूलाल जी, बाबू रूड़मल जी गोयनका, पं० जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी, पं० अक्षयवट जी मिश्र काव्यतीर्थ, पं० कालीचरण जी शर्मा, बा० यशोदानन्द अखौरी और बाबू राधाकृष्ण टीबड़े वाले आदि थे।

१—गुप्त स्मारक ग्रन्थ, चक्रवर्ती जी का संस्मरण, पृ० २७९।

२—गुप्त जी की डायरी, २४ अक्टूबर सन् १९०६।

मुंशी दयानारायण निगम—

कानपुर से प्रकाशित उर्दू मासिक पत्र 'ज़माना' के सम्पादक श्री मुन्शी दयानारायण निगम गुप्त जी के चिरपरिचित मित्रों में से थे। 'ज़माना' पत्र पर भी गुप्त जी का अगाध स्नेह था। 'भारत-मित्र' के पश्चात् किसी दूसरे पत्र से गुप्त जी को प्रेम था तो 'ज़माना' से; उनके 'शिवशम्भु के चिट्ठे' पहले उर्दू में 'ज़माना' में छपे, फिर 'भारत-मित्र' में। बीमार होकर जब वे बैद्यनाथ से दिल्ली आ रहे थे, तो कानपुर स्टेशन पर 'निगम' साहब को मिलने के लिये बुलाना उनके प्रेम का परिचायक है। निगम साहब का 'संस्मरण'[1] दोनों मित्रों के सम्बन्ध की घनिष्ठता का द्योतन करता है। निगम साहब ने प्रेमचन्द जी को भी कानपुर स्टेशन पर गुप्त जी के दर्शन कराए थे। उस समय प्रेमचन्द नवाबराय के नाम से उर्दू में लिखते थे।

गुप्त जी की साहित्यिक यात्रायें—गुप्त जी पंजाब के हरियाना प्रान्त के निवासी थे, उन्हें जीविकोपार्जन के लिये कालाकांकर, कलकत्ता और एक बार बम्बई की यात्रा भी करनी पड़ी थी। उन्होंने गुड़ियानी से कलकत्ते के लिए जब प्रस्थान किया था तो अपनी इस यात्रा का वर्णन बड़ी ही मनोरंजक शैली में 'भारत-मित्र' के निज सम्पादित प्रथम अङ्क १६ जनवरी सन् १८९९ ई० को 'दिल्ली से कलकत्ता' नामक शीर्षक देकर प्रकाशित किया था। इस लेख की वर्णन शैली बड़ी मनोहर और आकर्षक है। चित्रोपमता की छटा भी निराली है और सबसे ऊपर इस लेख में भारतीयों की तत्कालीन दुर्वस्था का अंकन है। इस लेख से गुप्त जी की प्राचीन रीति-रिवाजों के प्रति आस्था, असीम भारतीयता तथा शासन के प्रति विरोध-भावना की अभिव्यंजना होती है; आपने लिखा था—"ट्रेन प्लेट फार्म पर आकर लगी, तो देखा कि इन्टर-मिडियट की गाड़ी एक ही है। उसमें भी एक कमरा युरोपियन साहबों के लिए और एक युरोपियन लेडियों के लिये। शेष तीन कमरों में हिन्दुस्तानी स्त्री-पुरुष सब।"[2] यहाँ पर भी गुप्त जी भारतीयों की निम्नावस्था और अंग्रेजों की शोषक प्रवृत्ति का अंकन करने में न चूके। चौसा स्टेशन पर भारतीय स्त्री पुरुषों का जो अपमान और अंग्रेजों का जो सम्मान हुआ, गुप्त जी ने उसका उल्लेख भी बड़ी प्रभावोत्पादक शैली में किया था। आपने लिखा

१—ज़माना—अक्टूबर—नवम्बर १९०७ ई०, पृ० २९०।

२—भारतमित्र—दिल्ली से कलकत्ता, १६ जनवरी सन् १८९९ ई०।

५

था— "शाम होते-होते गाड़ी चौसा स्टेशन पर पहुंची, वह प्लेग के बीमारों की देखभाल का अड्डा है। यहाँ आकर ट्रेन ठहर गई। खिड़कियाँ पहले ही से बन्द थीं। पुलिस के दूत दौड़े आये और दरवाजे रोक कर खड़े हो गये। ठीक इस प्रकार जैसे कैदियों को। मानो यात्री लोग भी गाड़ी से उतर कर भाग जायंगे। इसके बाद खिड़की खुली और हमारे कमरे वालों को नीचे उतरने की आज्ञा हुई। हम लोग नीचे प्लेट फार्म पर उतरे। आज्ञा हुई कि कतार बाँधो। हमने कतार लगाई। इसके बाद गाड़ी की खिड़की में रस्से दोनों ओर डाले गये और उसमें हम लोग रोके गये। पशु रस्से से रोके जाते हैं परन्तु चौसे पर हम मनुष्य कहलाने वाले रस्से के घेर में थे।—हमारी वाली गाड़ी के एक कमरे में दो गोरी-मेम थीं। उनको गाड़ी से उतरने का कष्ट न हुआ। गोरी डाक्टरनी ने उनकी गाड़ी के पास जाकर कुछ पूछा और अलग हुई। परन्तु दो बंगालिन स्त्रियाँ भी उस गाड़ी में थीं। उनको डाक्टरनी जी ने उतारा और देर तक उनकी नाड़ी पर हाथ धरे रहीं। उस गाड़ी में दो साहब थे, वह भी नीचे उतरने के कष्ट से बचे। ट्रेन भर में किसी दरजे के किसी साहब को नीचे न उतरना पड़ा और हिन्दुस्तानी कोई भी रेल के भीतर न रहने पाया।"[१]

इस यात्रा का वर्णन तो भारतीयों की दास मनोवृत्ति और परमुखापेक्षिता का ज्वलन्त उदाहरण है। अंग्रेजों द्वारा हमारा शिक्षित समाज किस प्रकार अपमानित होता था, इस यात्रा से पता लगता है। आपने लिखा था—"स्टेशन पर बड़ी भीड़ भाड़ थी। कुछ कालिज के विद्यार्थी परीक्षा देकर प्रयाग से लौट रहे थे। इनका भी एक रेला मेल ट्रेन पर अच्छा पड़ा। दो चार को जगह मिली। एक गोरे साहब ने उनको धक्के लगाकर बाहर निकाल दिया और उनका उजर कुछ भी न सुना। बेचारे पढ़े-लिखे लड़कों की यह खराबी देखकर अनपढ़ों को भी दुख हुआ।"[२] गुप्त जी की प्रथम यात्रा का यह लेख उनकी उस महान् कार्य की भूमिका मात्र प्रस्तुत करने वाला है, जो उन्होंने भारत-मित्र कालीन आठ वर्षों में सम्पन्न किया था। उनका यह कार्य बृटिश साम्राज्य के विरुद्ध जनमत तैयार करके स्वाधीनता आन्दोलन को सबल बनाना था।

गुप्त जी एक बार ब्रज-यात्रा करने के लिए मथुरा भी आए थे। यह यात्रा

१—भारत-मित्र, १६ जनवरी सन् १८९९ ई०।

२—वही „ „ „ ।

आपने अक्टूबर सन् १९०६ ई० में की थी। गुप्त जी की डायरी में लिखा है "सवेरा मुकामा घाट में हुआ था——७। बजे कानपुर पहुंचे।"[१] कानपुर अपने मित्र दयानारायण निगम के साथ गुप्त जी पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी से मिलने गये थे। यह २२ अक्टूबर का दिन था। २३ अक्टूबर को कानपुर से चले और २४ अक्टूबर को मथुरा पहुंचे। वहां आपने पं० क्षेत्रपाल शर्मा, मालिक सुख संचारक कम्पनी से भेंट की। यहाँ वे अपने पूर्व परिचित मित्र बाबू बदरीदास मोदी के यहाँ ठहरे थे। मथुरा आकर आपने साहित्यिकता के नाते सेठ कन्हैयालाल पोद्दार जी से भी भेंट की और सेठ जी के अनुग्रह से उनका आतिथ्य भी स्वीकार किया था। पर वे मथुरा अधिक दिन नहीं ठहरे थे। मथुरा के देव मन्दिरों का दर्शन करने के उपरान्त वे नन्दगाँव और बरसाने गये थे। कृष्ण की लीला भूमि के दर्शन करना ही इस यात्रा का अभिप्राय था। नन्ददास और रसखान की इस पावन पवित्र भूमि की रज लेकर गुप्त जी भी कवि कर्म में दीक्षित हुए। कृष्ण की इस लीला-भूमि की महत्ता ब्रज भाषा साहित्य में अपूर्व है। उनका उद्देश्य भी 'ब्रज के वन, बाग, तड़ाग' निहारना था। उनकी २४ अक्टूबर की डायरी में नन्दगाँव और प्रेम सरोवर देखने का उल्लेख है। नन्दगाँव तथा बरसाना देखकर मथुरा वापिस आने पर आपने अपने ज्येष्ठ पुत्र श्री नवलकिशोर को एक पत्र लिखा था, जिसमें दिल्ली पहुँचने तथा घर (गुड़ियानी) पहुँचने का समय बृहस्पतिबार लिखा था।[२] इससे पूर्व आपने अपने सहयोगी श्री महावीर प्रसाद जी को भी एक पत्र अपनी यात्रा की योजना के विषय में लिखा था। उक्त पत्र में आपने रेल-कर्मचारियों के अत्याचारों का उल्लेख किया है।[३]

गुप्त जी के जीवन में एक बार बम्बई की यात्रा करने का भी अवसर आया था। इसका उद्देश्य भी साहित्यिक था। श्री बेंकटेश्वर समाचार के स्वामी सेठ खेमराज जी कभी-कभी पत्र में प्रकाशनार्थ आई हुई रचनाओं को अपने मैनेजर से सुनकर, उन पर 'आज्ञा श्रीमान्-छापी' लिखवा कर पत्र-विभाग में भेज दिया करते थे। उन दिनों उक्त पत्र के सम्पादकों में पं० अमृतलाल जी

१——गुप्त जी की डायरी, २१ अक्टूबर सन् १९०६ ई०।

२——श्री नवलकिशोर गुप्त, १४७ हरिसन रोड, कलकत्ता के पास सुरक्षित ता० २९ अक्टूबर सन् १९०६ के पत्र के आधार पर।

३——उक्त स्थान पर सुरक्षित यह पत्र २४ अक्टूबर सन् १९०६ को लिखा गया था।

चक्रवर्ती और साहित्य वाचस्पति पं० जगन्नाथप्रसाद जी शुक्ल वैद्य थे। सेठ जी का यह कार्य सम्पादक की स्वतन्त्र-लेखनी पर प्रतिबन्ध था और उसकी स्वतंत्र विचारधारा के प्रकाशन में व्यवधान समुपस्थित करता था। अतः यह बात श्री जगन्नाथप्रसाद जी को अशोभनीय प्रतीत हुई; उन्होंने उक्त आज्ञा पं० अमृतलाल जी को दिखाई तो वे भी उत्तेजित हुए, और दोनों के परामर्श से उक्त रचना पर—'आज्ञा होने के कारण सम्पादकीय स्वातन्त्र्य पर आघात होता है, अतएव यह नहीं छापा जायगा'—इस आशय की टिप्पणी दिलाकर प्रेस-विभाग को भिजवा दी।

सेठ जी के कुछ चाटुकारों तथा उक्त सज्जनों के विरोधी तत्वों ने सेठ जी को भड़काया। इस बात को लेकर वहाँ बड़ा बखेड़ा पैदा हुआ था। अन्त में दोनों सज्जनों ने यह निश्चित किया कि जब तक आज्ञा होती रहेगी, वे कार्य न करेंगे। उत्तेजित वातावरण को शान्त करने की दृष्टि से सेठ जी और दोनों सम्पादकों के मध्य कुछ संधि हो गई थी। किन्तु फिर भी सेठ जी को यह बात व्याघात कर चुकी थी। उन्होंने बाबू बालमुकुन्द गुप्त को भारतमित्र से दूने वेतन का आश्वासन देकर 'श्री बेंकटेश्वर समाचार' के सम्पादकत्व को आमन्त्रित किया। गुप्त जी ने आमन्त्रण पाकर बम्बई की यात्रा की और सेठ जी से कई दिनों तक बातें करते रहे। इस वार्तालाप के समय ही उन्होंने सेठ जी के स्वभाव का पूरा ज्ञान प्राप्त कर लिया था। अतः सुन्दर वेतन और अधिक सुविधा का आश्वासन दिये जाने पर भी अपनी स्वीकृति सेठ जी को नहीं दी। यह कार्य उनकी महानता तथा सम्पादकीय गौरव की रक्षा का प्रतीक है।

सेठ जी के गुण एवं अवगुण और स्वभाव तथा प्रकृति से भिज्ञ होकर गुप्त जी ने अपने सहकर्मा पं० जगन्नाथ प्रसाद जी को परामर्श दिया था—"गरियार बैल घुमा कर जोता जाता है।"[1] तात्पर्य यह था कि सेठ जी अथवा उनके सेवकों में सम्पादक के मौलिक अधिकारों की रक्षा के प्रति सम्मान करने की भावना का न पाया जाना असाधारण बात न थी, क्योंकि वे न उसका मूल्य समझते थे और न समझना चाहते थे। अन्त में गुप्त जी बम्बई से वापिस चले आये। यह उनकी तीसरी यात्रा थी। इस प्रकार कुल मिलाकर गुप्त जी ने तीन यात्रायें की थीं, जिनका अपना साहित्यिक मूल्य भी है। पहली यात्रा का उल्लेख शैली और भाषा की दृष्टि से महत्वपूर्ण है;

१—गुप्त स्मारक ग्रन्थ, पं० जगन्नाथप्रसाद जी का संस्मरण, पृ० ३३३।

दूसरी यात्रा ने उन्हें ब्रज की गरिमा से अभिभूत करके भक्त कवियों की शैली पर रचना करने के लिये अनुप्रेरित किया और उनकी तीसरी यात्रा का मूल्य अपने सम्पादक बन्धु की सम्मान रक्षा और सहकार्य में अधिक चातुर्य की शिक्षा देने की दृष्टि से है। गुप्त जी की इस भेंट का प्रभाव सेठ खेमराज जी पर इतना पड़ा था कि आपने गुप्त जी के रोग ग्रस्त होने पर पत्र संख्या ४६३१ द्वारा उन्हें जलवायु परिवर्तन का परामर्श दिया था और दवाइयाँ भेजने का आश्वासन भी दिया था।[१] इस प्रकार गुप्त जी की तीनों यात्रायें साभिप्राय और सोद्देश्य थीं।

गुप्त जी के व्यक्तित्व का अध्ययन—

गुप्त जी की वेश-भूषा बड़ी साधारण पर प्रभावोत्पादक होती थी। यौवनावस्था में भी वे शरीर पर एक ढीला पंजाबी कुर्त्ता, गले में एक साफी और सिर पर एक पगड़ी बाँधते थे। पगड़ी प्रायः मारवाड़ी सेठों जैसी होती थी। मस्तक पर चन्दन की श्री लगाते थे। 'कोहेनूर' के सम्पादन काल सन् १८८९ ई० में गुप्त जी की यही वेष-भूषा थी। 'भारत-मित्र' के समय वस्त्रादि में परिवर्तन हो गया था। इन दिनों वे सिर पर 'फैल्ट कैप' लगाते थे। बन्द गले का कोट पहनते थे। सर्दी की ऋतु में कोट प्रायः रंगीन और ऊनी होता था, पर शेष ऋतुओं में प्रायः रेशमी कपड़े का कोट पहनते थे। गले में प्रायः श्वेत चादर या साफ़ी डालते थे, जो दोनों भुजमूलों पर होकर सम्मुख कमर तक लटकती थी। अधोवस्त्र प्रायः धोती होती थी और पैरों में कुरम के देशी जूते। इन दिनों तिलक कम लगाते थे। उनकी मूछें काली, बड़ी, किन्तु समुचित रूप से बनी हुई थीं; बाल इधर-उधर फैले न होते थे। उन्होंने डाढ़ी कभी न रखाई। यही उनकी साधारण वेष-भूषा थी वे शरीर के पुष्ट एवं स्वस्थ थे। चेहरा भरा हुआ था।

गुप्त जी की दिनचर्या भी सरल एवं वैष्णवोचित थी। वे प्रातः जगकर शौचादि से निवृत्त हो, गंगा स्नान के लिये नियमित रूप से जाते थे। उनका यह नियम बहुत दिनों तक चलता रहा। स्नानादि के उपरान्त संध्यावन्दन, गीता और विष्णु सहस्त्र नाम का पाठ करते थे और फिर सम्पादकीय अथवा कोई विशेष रूपेण अन्य प्रमुख लेख लिखने बैठ जाते थे। तत्पश्चात् कुछ खा

१—श्री नवलकिशोर गुप्त, १४७ हरिसन रोड, कलकता के पास सुरक्षित पत्र, सेठ जी का २० अगस्त सन् १९०५ का पत्र।

पीकर अंग्रेजी, उर्दू, हिन्दी और बंगला के पत्रों का विधिवत् अध्ययन करते रहते थे। फिर प्रेस आदि का काम देख करके भोजन करते थे। उन्हें दिन में सोने की आदत न थी। इसी समय वे आगन्तुक सज्जनों से भेंट किया करते थे। शाम को सम्पादकीय तथा व्यक्तिगत डाक देखने के उपरान्त फिर प्रेस का काम देखते और सभी को आवश्यक बातें समझा देते थे। उन्हें सम्पादन के अतिरिक्त पत्र का प्रबन्ध भी करना पड़ता था। सन्ध्या समय वे कभी-कभी ईडन-गार्डन या किले के मैदान में भ्रमण हेतु जाया करते थे। रात में शीघ्र ही भोजन करके १० बजे के समय सो जाया करते थे।

गुप्त जी के व्यवहार में भी वेष-भूषा की भाँति सादगी और आडम्बर शून्यता थी। अन्तःकरण की शुद्धता, निष्कपटता और पक्षपातहीनता उनके प्रमुख गुणों में से थे। उनकी आकृति गम्भीर पर स्वभाव हास्य और विनोद-प्रिय था। प्रथम भेंट के समय प्रायः लोग उन्हें नीरस समझने की भूल कर बैठते थे। किन्तु, जैसे-जैसे घनिष्टता में प्रगति होती जाती थी, वैसे ही उनका विनोदी-स्वभाव प्रकटित होता जाता था।

हास्य और व्यंग्य के तो गुप्त जी अवतार थे। बातों-बातों में दूसरे पक्ष को निर्बल बना देना उनकी सहज विशेषता थी। एक बार सरकस देखने वे मित्रों के साथ गये। भीड़ के कारण कुछ तो ऊपर गैलरी में बैठ गए और गुप्त जी को नीचे बैठना पड़ा। वे थोड़ी देर में ऊपर देख कर बोले—"प्रभु तरुतर कपि डार पर।"[1] यह सुनना था कि सारी मण्डली हँसते-हँसते लोट-पोट हो गई। एक बार उनसे राजा रामपालसिंह के नये प्राइवेट सेक्रेटरी ठा० रामप्रसाद सिंह का परिचय कराया गया। परिचय में बताया गया कि वे 'क्षत्री' हैं। गुप्त जी उस समय सिराधू स्टेशन से कालाकांकर धूप में चल कर आये थे, "तब तो आज रास्ते में साथ होते, तो मेरी बड़ी रक्षा करते।"[2] यह सुनते ही सारा गम्भीर वातावरण हँसी और विनोद में परिणत हो गया। कभी-कभी वे रामचरित मानस की चौपाइयों तथा अमरकोष के श्लोकों का बड़ा विनोदात्मक पाठ अथवा अर्थ किया करते थे। 'चले राम धर सीस रजाई' का अर्थ आप करते थे—कि बन में रहने में ओढ़ने-बिछाने का कष्ट

१—गुप्त स्मारक ग्रन्थ–पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी का संस्मरण, मित्रवर गुप्त जी, पृ० २८२।

२—वही, गोपालराम गहमरी का संस्मरण, गुप्त जी का शुभानुस्मरण, पृ० २८८।

होगा, यह सोच कर राम अपने सिर पर 'रजाई' रख कर बन को चल पड़े।[१] इसी प्रकार अमरकोष के श्लोक का पाठ 'यस्य ज्ञान दया सिन्धोः, "लगा धक्का गिरा पड़ा" किया करते थे।[२]

फ़ारसी लिपि में उर्दू लिखावट की आप बड़ी हंसी उड़ाते थे। जब 'अभ्युदय' पत्र निकला था तब आपने अपने मित्रों से कहा था कि उर्दू में वह लिखा जाय, तो 'ओबेहूदे' पढ़ा जायगा।[३] इसी प्रकार वे 'भारत मित्र' को भी 'भारत-महतर' कहा करते थे।[४] एक बार कलकत्ते के चोर बाजार में बाबू ज्ञानीराम हलुवासिया के यहाँ संगीत की सभा लगी थी; कमरे में भीड़ अधिक थी, कहीं भी तिल मात्र को स्थान न था। इतने ही में पं० छोटेलाल मिश्र अपने मित्र के साथ बाहर से भीतर झाँकने लगे। उन्हें देखकर गुप्त जी बोले—"चले आइये महाराज! हम हिन्दुस्तानी तो रबड़ के होते हैं, सिकुड़ जाते हैं।"[५] इतना सुनना था कि सारा वातावरण हास्यमय हो गया। भारत मित्र में यथा समय व्यंग्य चित्र प्रकाशन की प्रथा भी उनके विनोदी स्वभाव की साक्षी है।

बचपन से ही गुप्त जी विनोद प्रिय थे। एक बार उन्होंने अपने स्कूल की छत पर ऊँट चढ़ा दिया था। ऊँट का मालिक सारे दिन परेशान रहा; देखने वाले हँसते रहे पर उतारने की विधि समझ में न आती थी, तब गुप्त जी ने बताया कि बाजरे की पूलियाँ ढलवाँ रखकर छत तक पहुँचा दो; ऐसा करने के उपरान्त ही ऊँट उतर सका। सारे दिन मजाक होता रहा और शाम को ऊँट के मालिक ने मिठाई बाँटी।[६] गुप्त जी मजाक भी बहुत गहरा करते थे। स्कूल के कुछ उद्दण्ड छात्र मौलवी साहब को दुखी करने के लिये उनके विस्तर

१—गुप्त स्मारक ग्रन्थ—पं० हरिहर स्वरूप शर्मा का संस्मरण—'श्रद्धा के दो चार विकीर्ण पुष्प, पृ० ३७३।

२— वही वही

३—वही, बाबू गोपालराम गहमरी का संस्मरण, गुप्त जी का शुभानुस्मरण, पृ० २६१।

४—जमाना, अक्टूबर नवम्बर सन् १६०७, पृ० ३०२।

५—गुप्त स्मारक ग्रन्थ, रामकुमार गोयनका का संस्मरण, गुप्त जी की बातें, पृ० ४२५।

६—वही, पं० सकलनारायण जी का संस्मरण, परिहास प्रिय गुप्त जी पृ० ३१६।

में आलपिन चुभा दिया करते थे। गुप्त जी ने उनको रोका और कहा कि मैं आज तुम्हें शरबत पिलाऊँगा। मौलवी साहब ने बड़े बँधने में दिवाली पर आये बतासे कपड़े से मुँह बाँध खाम लगा कर रख छोड़े थे। गुप्त जी ने बँधने की टोंटी से उसमें पानी डाल करके शरबत बनाया और छात्रों को पिला दिया। बँधने का मुँह ज्यों का त्यों बँधा रहा। मालूम होने पर मौलवी साहब भी इस बौद्धिक चमत्कार पर खूब हँसे।[1]

इस प्रकार देखते हैं कि विनोद-प्रियता उनके जीवन का अभिन्न गुण था। वे उच्च से उच्च साहित्यिक एवं राजनीतिक विनोद करते थे और मित्र-मंडली को सदैव हँसाते रहते थे।

खुशामद से गुप्त जी को घृणा थी। आपने अपने सहयोगी को खुशामद न करके कार्य करने का आदेश दिया था। जो मातृ-मृत्यु के दुःख से अभिभूत गुप्त जी के प्रति कृत्रिम सहानुभूति व्यक्त करने आया था। इसी प्रकार ग्वालियर राज्य में शेर की शिकार के समय माधवराव सिंधिया द्वारा ड्यूक ऑव कनाट की चाटुकारितापूर्ण प्रशंसा करने पर गुप्त जी ने उन्हें फटकारा था।[2] आचार्य द्विवेदी, पं० माधवप्रसाद मिश्र तथा अमृतलाल चक्रवर्ती से विचार साम्य न होने पर भी व्यवहार मैत्रीपर्ण, निष्कपट तथा सहृदय होता था। यह उनकी अपनी विशेषता थी।

सत्यनिष्ठ एवं स्पष्टवादिता उनके अन्य दो गुण थे। जब आप पत्रकारों को अपने पत्र-ग्राहकों की संख्या अतिशयोक्ति के साथ बताते हुये सुनते, तो उनको बड़ा कष्ट होता था। द्विवेदी जी ने भेंट के समय गुप्त जी से 'भारत-मित्र' की ग्राहक संख्या पूछी तो उन्होंने स्पष्ट सत्य संख्या बतादी। एक बार नबाव हैदराबाद के दीवान गुप्त जी के गुणों पर बड़े आकृष्ट हुए। उन्होंने पं० दीनदयालु से पत्र लिखवा कर गुप्त जी को यहाँ बुलाना चाहा। तब गुप्त जी ने उत्तर में लिखा था "मेरे भारत-मित्र को दो रुपया वार्षिक देकर जो ग्राहक पढ़ता है, वही मेरे लिये महाराजा कृष्ण प्रसाद है। यदि महाराजा को मुझे जानना है कि मैं क्या हूं तो उनसे कहिये कि २ रुपया वार्षिक भेजकर 'भारत-मित्र' के ग्राहक बनें और पढ़ा करें।"[3] ये दोनों घटना उनके गुणों की परि-

---

१—गुप्त स्मारक ग्रन्थ, पं० सकलनारायण जी का संस्मरण, परिहास प्रिय गुप्त जी, पृ० ३१६।

२—भारत मित्र, सन् १९०३ ई०।

१—गुप्त स्मारक ग्रन्थ, पं० हरिहरस्वरूप शास्त्री शर्मा का संस्मरण, पृ० ३७४।

चायक हैं। इसके अतिरिक्त गुप्त जी ओजस्वी स्वभाव के लेखक थे। वे झुकना किसी से न जानते थे। कई साहित्यिक विवाद उनके स्वभाव की ओजस्विता के प्रमाण हैं।

गुप्त जी का हृदय समाज-सुधार और देश-भक्ति की भावना से ओत-प्रोत था। उनके चरित्र में एक कुशल नेता के स्वाभाविक गुणों का समावेश हुआ था। वे एक सच्चे पथ-प्रदर्शक और सुधारवादी होने के नाते एक योग्य डाक्टर की भाँति आचरण करते थे। जिस प्रकार डाक्टर शरीर के दूषित अंगों की चिकित्सा करता है और रोग के असाध्य होने पर दूषित अंग को काटकर फेंक देता है और शेषांग की समीचीन चिकित्सा करता है; ठीक उसी प्रकार आप अपने लेखों और शब्दावली के मरहम तथा लेखनी के नस्तर द्वारा कलकत्ते के मारवाड़ी समाज की विधिवत् चिकित्सा करते थे। उन दिनों मारवाड़ी समाज दुर्व्यसनों का शिकार बना हुआ था। गुप्त जी ने मारवाड़ी ऐसोसियेशन की पुनः प्राण प्रतिष्ठा की, उसके संचालकों को सक्रिय कार्य करने के लिये प्रोत्साहित किया तथा पं० दीनदयालु जी को मध्यस्थ बना कर सितम्बर सन् १९०१ ई० में श्री विशुद्धानन्द सरस्वती विद्यालय की नींव रखवाई। इस प्रकार उक्त समाज से अशिक्षा, अनाचार और रूढ़िवादिता के उन्मूलन का प्रयास किया।

उक्त विद्यालय के स्थायी कोष के लिए जब सन् १९०२ ई० में चन्दा हो रहा था, तब गुप्त जी ने शरीर और लेखनी के सक्रिय सहयोग द्वारा धन-संग्रह के कार्य को पूरा कराया। इसके अतिरिक्त सामाजिक कुरीतियों के निवारण के लिए भी आपने अनेक प्रयास किए थे। 'पिजरापोल' के सुधार, 'पानी का जुआ' उठाने का कार्य तथा काँग्रेस विरोधी तत्वों का विरोध आदि के लिए वे सदैव प्रयत्नशील रहते थे।

शिष्टाचार और सौजन्य गुप्त जी के प्रधान गुण थे। सहानुभूति और सहिष्णुता का परित्याग तो वे विषम परिस्थितियों में भी न करते थे। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि बड़ी उग्रता के साथ शिवशम्भु के चिट्ठे लिखते रहने पर भी लेडी कर्जन को रोगग्रस्त सुनकर चिट्ठा लिखना बन्द कर दिया था और उनके स्वस्थ होने पर पुनः प्रारम्भ कर दिया था। वे अपने सहकारी कार्यकर्त्ताओं एवं भृत्यों के साथ भी उदारता तथा भाईचारे का व्यवहार करते थे। उनसे नम्र और विनयशील भाषा में बोलते तथा लिखा-पढ़ी करते थे। एक बार अपने अधीनस्थ एक कर्मचारी को आपने लिखा था—"आप शीघ्र आवें, अन्यथा आपकी अनुपस्थिति में मुझे बहुत हानि सहनी पड़ेगी। आशा है

आप समय पर मेरी सहायता करेंगे।"[१] नौकरों के द्वारा भूल होने पर भी आप उनसे बिगड़ते न थे। शब्दों के बाणों से उनका हृदय छलनी नहीं कर देते थे, प्रत्युत उनका उपचार नम्रता और नीति-कुशलता के साथ करते थे। उनका एक नौकर दूध की मलाई उतार कर खा जाता था और उनको बिना मलाई का दूध देता था। एक दिन गुप्त जी ने सारी मलाई और दूध नौकर को ही पिला दिया और कोई दण्ड न दिया। आप अवकाश के समय का उपयोग अपने नौकर को पढ़ाने में करते थे। एक बार उनका नौकर अपने घर जाने लगा, तो उसे स्टेशन जाकर इस भय से छोड़ आए कि कहीं मार्ग न भूल जाय। इस प्रकार के अनेक मानवीय गुणों का समावेश गुप्त जी में हुआ था।

वैश्य जाति में जन्म लेकर भी गुप्त जी को धन का लोभ न था। तितिक्षा, गरीबी, त्याग और मान उनका सहज स्वभाव था। कलकत्ते में उनके सजातीय व्यापार द्वारा लक्ष्मी का संग्रह कर रहे थे, पर वे आजीवन यश और गौरव के पुष्पों का ही चयन करते रहे। पुष्कल स्वर्ण की चमक ने उन्हें कभी आकर्षित नहीं किया। वे उच्चकोटि के अपरिग्रहशील थे। कलकत्ते के मारवाड़ी कहा करते थे कि 'हमने सबको बस में कर लिया पर बालमुकुन्द पर हमारा जादू नहीं चला।' यथार्थ में धन का प्रलोभन उन्हें न था। एक बार एक व्यक्ति कुछ रुपये देकर 'भारत-मित्र' में अपने मुकदमे के पक्ष में गुप्त जी से लिखाने के लिये आया था। गुप्त जी ने उसे खड़े-खड़े कार्यालय से बाहर निकाल दिया था।[२] यथार्थ में उन्हें धन का प्रलोभन न था और अनुचित धन को तो घृणा की दृष्टि से देखते थे।

आप विशुद्ध वैष्णव थे। वर्ण व्यवस्था में उनको असीम आस्था थी। छूआछूत मानते थे। विधवा-विवाह के समर्थक न थे, किंतु बाल विधवा की दूसरी शादी करने में उन्हें आपत्ति न थी। वे आर्य समाजी सुधार के विरोधी थे। स्वामी विवेकानन्द जी के दर्शन का भी उन्होंने विरोध किया था। कट्टर हिन्दू होने पर भी अन्य धर्मों का आपने कभी विरोध नहीं किया। वे उन्हें सम्मान की दृष्टि से देखते थे। हिन्दू-मुस्लिम विरोध का बीज वपन करने वाले अखबारों का उन्होंने सदैव प्रतिवाद किया था और उन्हें धार्मिक एकता उत्पन्न करने के लिए प्रोत्साहित भी किया था।

१—गुप्त स्मारक ग्रन्थ, स्व० रामेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी का संस्मरण, पृ० ३०७।

२—गुप्त स्मारक ग्रन्थ, पत्रकार गुप्त जी, पृ० २३७।

कलकत्ते के एक समाजी पत्र 'आर्यावर्त' ने एक बार उनसे उनका धर्म पूछा था। उसके प्रत्युत्तर में गुप्त जी ने लिखा था—'भारत मित्र हिन्दुओं का तरफदार है और वह तरफदारी किसी महजब वाले से लड़ाई करके नहीं, दूसरे मजहब को अपने मजहब में मिलाने के लिये नहीं, केवल हिन्दुओं की मुल्की, माली और राजनीतिक तरफदारी है।"[१] आपका संदेश यथार्थ में सहयोग और भ्रातृत्व का था। पंजाब के उर्दू पत्र 'मखज़न' में हिन्दू और मुसलमान दोनों जातियों के लेखकों की रचनायें समाहृत होती थीं और दोनों धर्मों को समान दृष्टि से देखा जाता था। अतः गुप्त जी ने आलोच्य पत्र की भूरि-भूरि प्रसंशा की थी।[२] इसके विपरीत धार्मिक एकता का विरोध करने वाले साम्प्रदायिकतावादी पत्रों को समझाते हुए आपने लिखा था—"जो अखबार मुसलमानों के हाथ में हैं, वह मुसलमानों की व्यर्थ हिमायत करके हिन्दुओं को गालियाँ दिया करते हैं। उनसे मुसलमानों का कुछ लाभ नहीं होता। हाँ, हानि खूब होती है। क्योंकि उससे मुसलमानों का हिन्दुओं की ओर से और हिन्दुओं का मुसलमानों की ओर से जी खट्टा होता है। इसी प्रकार हिन्दुओं के कुछ पत्र मुसलमानों के कुछ न कुछ विरुद्ध लिखा करते हैं। अपनी समझ में वह ऐसा करके हिन्दूओं के साथ कुछ मित्रता करते होंगे, पर असल में वह हिन्दुओं ही के दुश्मन हैं।"[३] ये शब्द गुप्त जी की धार्मिक विचारधारा के द्योतक हैं।

गुप्त जी के व्यक्तित्व पर राष्ट्रीयता की अपूर्व छाप थी। यही कारण है कि उनके साहित्य का मूल सन्देश जाति, धर्म, वर्ग और साहित्य की अनेकता में एकता का स्थापन करना था। विश्व के सभी प्रथम कोटि के साहित्यिकों का मूल संदेश मानवता का समुचित विकास करना है और साहित्य है, इस साध्य का सुन्दरतम साधन। समाज को धार्मिकता की संकीर्ण सीमाओं में अधिक समय तक बाँध कर नहीं रखा जा सकता। जब कभी उनके अज्ञान का आवरण क्षण मात्र को अनावृत हो जायगा, उसी समय उनका मनुष्यत्व जाग्रत हो उठेगा और वह साम्प्रदायिकता की कृपाण फेंक कर शत्रु समझे जाने वाले मानव को गले लगा लेगा। गुप्त जी इसी विचार के पुरुष थे। संकीर्ण एवं क्षुद्र भावनायें कभी उनके हृदय में प्रविष्ट न हो पाई थीं।

१—भारत मित्र, हमारा धर्म, सन् १९०० ई०।

२—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, उर्दू-अखबार, पृ० २९५-२९६।

३— वही पृ० २७९।

गुप्त जी बड़े प्रत्युत्पन्न मति और कुशाग्र बुद्धि थे। स्मरणशक्ति और अध्ययन-शीलता में भी अपूर्व थे "जो किताबें दूसरों से वर्षों में खतम होतीं थीं यह महिनों में पढ़ डालते थे।"[1] वे बाल्यकाल से ही प्रतिभाशाली थे। यौवनावस्था में आकर अदम्य उत्साह, अपरिमेय साहस, अथक श्रमशीलता और अध्यवसाय आदि गुण आकर उनके चिर सहचर बन गये थे। उद्भावना शक्ति उनमें उच्च कोटि की थी। उसी के चमत्कार से तो 'भारत-मित्र एक दिन हिन्दी जगत का प्रमुख पत्र बन गया था। चमत्कारिक और प्रभावोत्पादक घटनाओं के सृजन में उनकी उद्भावना शक्ति ही उनकी सहायता करती थी।

गुप्त जी के चरित्र का सबसे प्रधान गुण है, उत्कट देशभक्ति एवं राष्ट्र प्रेम; जिसके कारण उन्हें अनेक कठिनाइयों का सामना भी करना पड़ा था। राजा रामपालसिंह के पत्र 'हिन्दोस्थान' से उन्हें देशभक्ति के कारण ही पृथक होना पड़ा था। वे अंग्रेजी राज्य और उसके समर्थक सामान्त वर्ग के विरुद्ध कड़ा लिखते थे। बड़े-बड़े राजा और पूँजीपतियों की उन्होंने सर्वदा आलोचना की थी। हैदराबाद के नबाब निजाम के सेक्रेटरी रामकृष्णपाल के निमन्त्रण पर हैदराबाद जाना आपने इसी दृष्टि से अस्वीकार कर दिया था कि अंग्रेजों के भक्त निज़ाम और अन्य जागीरदार सामन्ती वर्ग के व्यक्तियों का वहाँ जमवट था और उनके बीच में रह कर उनकी देशभक्ति पर प्रहार होना सम्भव था। 'भारत-मित्र' के मालिक 'चाँदीशाह' को वे देशभक्ति की कसौटी पर खरा न पाकर सर्वदा आलोचना करते रहे। 'ज़माना' सम्पादक को 'मीर विशेषांक' निकालने से रोक कर आपने अपनी अदम्य देशभक्ति का उदाहरण प्रस्तुत किया था। जेल जाने वाले राजनीतिज्ञों एवं सम्पादकों के साथ हार्दिक सहानुभूति का प्रदर्शन करना उनकी उत्कट देश-भक्ति का प्रमाण है। अमृतलाल चक्रवर्ती के जेल से आने पर अपनी अधिक पूँजी और आमदनी न होने पर भी आर्थिक सहायता देना इसी बात का द्योतक है। श्री बैंकटेश्वर समाचार के सम्पादकीय विभाग में न जाना इसी नीति को बताता है। उक्त पत्र का स्वामी सम्पादकीय स्वाधीनता पर आघात करता था; अतः वहाँ गुप्त जी देशभक्ति का परिचय न दे पाते। वहाँ भी महाजनी षड्यन्त्र और पूँजीवादी वातावरण विदेशी सरकार का पोषक था। यह उनकी देशभक्ति के उदाहरण हैं। उर्दू-पत्रों की ढुलमुल नीति की आलोचना भी देशभक्ति प्रदर्शित करती है। भारतीय-

---

१—ज़माना, अक्टूबर–नवम्बर, सन १९०७ ई०, पृ० २९७।

सामन्ती वर्ग द्वारा शासन की चाटुकारिता आदि पर उन्होंने तीव्रता के साथ लिखा है। इण्डियन नेशनल कांग्रेस के मद्रास अधिवेशन में दो दलों की नींव पड़ने पर 'दो दल' शीर्षक लेख लिखकर अपनी देशभक्ति का परिचय दिया है। 'पंजाब में लायल्टी' 'शिवशम्भु के चिट्ठे', 'टेसू' आदि रचनाएँ उनकी उत्कट देशभक्ति के निदर्शन हैं।

राष्ट्र-प्रेम और देशभक्ति के अतिरिक्त गुप्त जी के चरित्र की द्वितीय प्रमुख विशेषता है, हिन्दी-प्रेम। गुप्त जी के हिन्दी-प्रेम का सबसे बड़ा प्रमाण तो उर्दू से हिन्दी में आना ही है। इसके पश्चात् हिन्दी को सार्वजनिक प्रयोग की भाषा बनाना, राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन होने के उपयुक्त बनाना, अदालतों एवं सरकारी कार्यालयों में स्थान दिलाने के लिए प्रयत्नशील होना, तथा उर्दू वालों से टक्कर लेना है। इसके अतिरिक्त भाषा-सुधार और शैली में टकसाली-पन उत्पन्न करने के उद्देश्य से कई साहित्यिक वाद-विवादों में संलग्न हो जाना, उनके हिन्दी-प्रेम के स्पष्ट प्रमाण हैं।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि गुप्त जी के स्वभाव में अदम्य उत्साह, अपरिमेय साहस, अवर्णनीय उद्योग, महान् श्रमशीलता, अक्लान्त चेष्टा और अलौकिक तेजस्विता थी। स्वभाव में सारल्य और आडम्बर शून्यता का समुचित पुट था। सत्य-प्रियता और धर्मभीरुता भी उनमें असीम थी। जातीयता के पोषक और अर्वाचीन विचार-धारा के विरोधी थे। मत्सरी और अभिमानी से उनको घृणा थी और छिद्रान्वेषण की प्रवृत्ति को भली दृष्टि से नहीं देखते थे। प्रतिभाशाली और उदीयमान युवकों को प्रोत्साहित करना अपना कर्तव्य समझते थे। दुःखी और विपदग्रस्त व्यक्तियों के लिये उनकी करुणा सलिला निरन्तर प्रवाहित होती रहती थी। और सबसे ऊपर वे भारतवर्ष के कल्याण और हिन्दी के उत्थान के लिए जीवित रहते थे।

गुप्त जी की रुग्णावस्था और स्वर्गवास—

कलकत्ते के दूषित एवं अस्वास्थ्यकर जलवायु और अत्यधिक मानसिक श्रम ने गुप्त जी के स्वरूप और मांसल शरीर को दुर्बल और रोगी बना दिया था। प्रारम्भ में उनकी पाचन शक्ति मंद पड़ी और क़ब्ज निरन्तर रहने लगा। इसके परिणाम स्वरूप बादी अधिक बढ़ने से बवासीर का रोग हो गया। प्रारम्भ में वैद्यक चिकित्सा हुई, पर कोई लाभ न हुआ। स्थानीय और सभी चतुर वैद्यों ने प्रयोग किये, किन्तु सब निष्फल हुए। शनैः शनैः अवस्था गिरती गई। शरीर में रक्त का अभाव होता चला गया। तत्पश्चात् डाक्टरों की

चिकित्सा प्रारम्भ हुई, पर मृत्यु का उपचार किस के पास था। रोग किसी के अधीन न हो सका। अन्त में उन्हें जलवायु परिवर्तन का परामर्श दिया गया। उस समय उनकी अवस्था बड़ी चिंताजनक थी। अपनी अवस्था की सूचना गुप्त जी ने पं० दीनदयालु जी को दी थी। पंडित जी ने भी शीघ्र ३१ अगस्त सन् १९०७ के पत्र द्वारा उन्हें चिकित्सा कराने के लिये और इलाज कराके कलकत्ते से आने लायक हो जाने के लिये कहा।[1]

पंडित जी का पत्र पाकर गुप्त जी ने जलवायु परिवर्तन की दृष्टि से कलकत्ता छोड़कर स्वास्थ्य प्रद स्थान वैद्यनाथ जाने का निर्णय किया। उस समय उनकी स्थिति बहुत गिर गई थी। "खाट पर पड़े-पड़े दिन जाता था; भूख थी, न प्यास; न दस्त होता था और कुछ भी अच्छा न लगता था।"[2]

२ सितम्बर सोमवार के दिन वे बैद्यनाथ जाने को तैयार हो गये। मित्रों से मिलने के उपरान्त साढ़े आठ बजे स्टेशन पर पहुँच गये। उस दिन आपने अपनी डायरी लिखी थी। शरीर में कुछ स्फूर्ति सी प्रतीत होती थी। दूसरे दिन ता० ३ सितम्बर को बैद्यनाथ पहुँच गये। रास्ते के मनमोहक सुन्दर प्राकृतिक दृश्य ने उन्हें कुछ विशेष आनन्द दिया। स्टेशन से उतर कर धर्मशाला में पहुँचे, पर ऊपर का मकान मिला। इससे उन्हें और भी कष्ट हुआ। उस दिन की डायरी में आपने लिखा है—"दिन भर बेदम पड़े रहे। एक दो पत्र लिखे। सन्ध्या को थोड़ी दूर टहलने गये। लौटते समय बेदम हो गये।"[3]

वहाँ पहुँच कर भी गुप्त जी को कोई विशेष लाभ न हो सका। ता० ५ और ६ सितम्बर की डायरी से उनके हृदय की निराश भावना का पता लगता है। ता० ६ के बाद फिर डायरी न लिख सके। वैद्यनाथ के स्वास्थ्यकर जलवायु का भी कोई प्रभाव उनके स्वास्थ्य पर न हुआ। अतः उन्होंने घर जाने का विचार किया। उस समय घर की ओर आकर्षण होना भी स्वाभाविक था।

यह निर्णय करके गुप्त जी ने पत्र द्वारा अपने बड़े पुत्र नवलकिशोर जी को सूचित किया—"कल दो बजे रात को तुम यहाँ पहुँचोगे, मैं तैयार प्लेट फार्म पर मिलूंगा। जहाँ तक बनेगा, यही इन्तजाम रहेगा। कुछ गड़बड़ हुई तो

१—श्री नवलकिशोर गुप्त, १४७ हरिसन रोड, कलकत्ता के संग्रहालय में सुरक्षित पंडित दीनदयालु शर्मा का ३१ अगस्त सन् १९०७ ई० का पत्र।

२—गुप्त जी की ३० अगस्त सन् १९०७ की डायरी।

३—गुप्त जी की ३ सितम्बर सन् १९०५ की डायरी।

धन्नू मिलेगा, उतर पड़ना।" पत्र की भाषा से स्पष्ट निराशा और हतोत्साह प्रदर्शित होता है। पिता की सूचना पाकर उनके पुत्र अपने दो लघुभ्राताओं के साथ कलकत्ते से चल दिये थे और वैद्यनाथ से गुप्त जी को लेकर दूसरे दिन दिल्ली आगये। मार्ग में कानपुर स्टेशन पर 'ज़माना' के सम्पादक श्री दयानारायण निगम से भेंट हुई। दोनों मित्र उस दुःखपूर्ण अवस्था में मिलकर अति प्रसन्न हुए।

दिल्ली पहुँच कर गुप्त जी के सुसराल वालों ने उन्हें गुड़ियानी न जाने दिया और वहीं ठहराकर उत्तम चिकित्सा कराने का आयोजन किया। लाला लक्ष्मीनारायण की धर्मशाला उन दिनों नई बनी थी। उसी में गुप्त जी को रखा गया। गुप्त जी का अन्तिम समय निकट था। इसलिये सारी चिकित्सा निष्फल जाती थी। कोई औषधि कार्य न करती थी; अन्त में १८ सितम्बर सन् १९०७ को संध्या के पाँच बजे जब भगवान् भास्कर अपना मुँह छिपाने अस्ताचल जा रहे थे, तभी भारत का एक महान् लेखक सर्वदा के लिये विलीन हो गया। उनके महाप्रयाण के समय गुप्त जी के अभिन्न मित्र पं० दीनदयालु शर्मा भी वहाँ उपस्थित थे। उस समय देश के सभी पत्रों ने गुप्त जी के शोक में समाचार छापे थे।

उपसंहार—

रोहतक प्रान्त के गुड़ियानी नामक ग्राम में जन्म लेकर गुप्त जी ने उर्दू और फ़ारसी भाषा में प्रारम्भिक शिक्षा पाई थी। अस्तु, उर्दू-लेखन-कला में कुशलता प्राप्त करके आपने 'अखबारे-चुनार' और 'कोहेनूर' का सम्पादन इतनी उत्तमता के साथ किया था कि हिन्दी और उर्दू दोनों भाषाओं के आलोचकों की प्रशंसा के पात्र बने। यही नहीं, 'मथुरा-अखबार' और 'भारत-प्रताप' की अधिकाँश सामग्री आपकी लेखनी द्वारा लिखी जाती थी। आपने अपने घर गुड़ियानी से ही 'मथुरा-अखबार' का कार्य सँभाला था। इस प्रकार आपके द्वारा उर्दू साहित्य का महान् हित हुआ। मालवीय जी के परामर्श और आग्रह के परिणाम स्वरूप आपको उर्दू-क्षेत्र का परित्याग करके हिन्दी की ओर कालाकांकर के 'हिन्दूस्थान' के सह सम्पादक के रूप में आना पड़ा था। यहाँ आपने केवल दो वर्ष कार्य किया था और तदुपरांत 'हिन्दी बंगवासी' के सम्पादकीय विभाग में चले गये थे। 'हिन्दी बंगवासी' में लगभग छः वर्ष कार्य करने के उपरान्त आपने 'भारत-मित्र' का सम्पादन स्वीकार किया था। 'भारत-मित्र' के सम्पादन काल के आठ वर्षों में आपने उत्कृष्ट साहित्य का सृजन किया और हिन्दी की

अमूल्य सेवा की थी। यहीं रहकर आपने तीन यात्राएँ की थीं, जिनका साहित्यिक मूल्य है। गुप्त जी के व्यक्तित्व के मूल्यांकन में इन यात्राओं का अपना स्थान है। स्वभाव की सत्यनिष्ठा, कर्त्तव्यपरायणता और साधारण रहन-सहन के अतिरिक्त उनके व्यक्तित्व की दो बड़ी विशेषताएँ हैं—उत्कट हिन्दी-प्रेम और गहन देशभक्ति।

अध्याय २

बाबू बालमुकुन्द गुप्त उर्दू लेखक के रूप में

प्रथम अध्याय में उल्लेख किया जा चुका है कि बाबू बालमुकुन्द गुप्त का जन्म तथा विद्योपार्जन जिस वातावरण में हुआ था, वह पूर्णत: उर्दू-फ़ारसी एवं अरबीमय था। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा भी उर्दू की प्रथम, द्वितीय और तृतीय पुस्तकों तथा उर्दू के 'कायदे' से हुई थी। उर्दू के विद्वानों के निरन्तर सम्पर्क एवं संयोग के फलस्वरूप बालक गुप्त जी की प्रवृत्ति भी उर्दू की ओर आकृष्ट हुई थी। संयोग से उनका मित्र-मण्डल भी उर्दू-लेखकों और उर्दू-साहित्य के रसिकों का था। अतः ऐसे वातावरण में पालित-पोषित बालक का उर्दू लेखक के रूप में प्रकट होना स्वाभाविक ही था।

गुप्त जी छात्र-जीवन से ही उर्दू-लिखने का अभ्यास करने लग गए थे। मुंशी वज़ीर मुहम्मद का मार्ग-प्रदर्शन तथा गुड़ियानी के योग्य अध्यापक मुंशी बरकत अली का उर्दू-लेखन-कला में प्रशिक्षण, गुप्त जी के लिये इस दिशा में अभूतपूर्व सहयोग-स्त्रोत था जिसे पाकर गुप्त जी की प्रतिभा प्रस्फुटित हुई। और वे अच्छे उर्दू लेखक बन गए।

गुप्त जी को उर्दू-लेखक के रूप में सम्मानित कराने का श्रेय पं० दीनदयालु शर्मा को भी है। उक्त पण्डित जी ने मथुरा से 'मथुरा अख़बार' नामक जिस पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ किया था, उसमें गुप्त जी अपने घर से ही लेख भेजते रहते थे। यहाँ तक कि पत्र का अधिकाँश भाग गुप्त जी द्वारा ही लिखा हुआ होता था पर इसकी विज्ञप्ति कभी न हुई, केवल पण्डित जी ही इस बात को जानते थे। उनके अतिरिक्त उनका मित्र-मण्डल भी इस कार्य से अनभिज्ञ था। सन् १८८५ ई० तक गुप्त जी ने अपने मित्रों में उच्चकोटि के उर्दू-लेखक के रूप में ख्याति प्राप्त करली थी।

सन् १८८६ ई० उर्दू लेखक, गुप्त जी के जीवन में उत्कर्ष-विन्दु था। पं० दीनदयालु शर्मा के अनुग्रह से उन्हें 'अखबारे चुनार' का सम्पादन भार स्वीकार करने पर विवश होना पड़ा था। उसी समय से गुप्त जी उर्दू-जगत में उर्दू-लेखक के रूप में प्रसिद्धि पाने लगे थे। इस पत्र में जाकर गुप्त जी की

प्रतिभा और सम्पादक-कला का महान् विकास हुआ। उर्दू के प्रसिद्ध कवि 'शैदा'[1] और हिन्दी के आलोचक डा० श्यामसुन्दर दास[2] ने गुप्त जी की योग्यता की भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

'कोहेनूर' और 'अवध पंच' में उनका कार्य—उर्दू-पत्र 'अखबारे-चुनार' के सम्पादन-काल में ही गुप्त जी की गणना उर्दू के प्रसिद्ध लेखकों एवं कुशल सम्पादकों में हो चुकी थी और उस काल तक उर्दू के विद्वान् उनकी लेखनी का लोहा मान चुके थे। आयु के साथ-साथ उनकी लेखनी में तीव्रता एवं चमत्कार तथा शैली में निखार आता गया। सन् १८८८ और ८९ ई० उनके जीवन के स्वर्णिम वर्ष कहे जा सकते हैं; यही वह काल है, जब उन्होंने लाहौर के उर्दू पत्र 'कोहेनूर' का सम्पादन किया था और उर्दू के प्रसिद्ध लेखक मौलवी मुहम्मद हुसेन 'आज़ाद' के सम्पर्क से उर्दू-गद्य लिखने में कौशल प्राप्त किया था। इस काल में ही गुप्त जी की शैली अधिक प्रांजल एवं परिमार्जित हुई थी और उर्दू जगत् में वे प्रसिद्ध लेखक के रूप में विख्यात हुये थे। गुप्त जी इतने कुशल लेखक और योग्य सम्पादक थे कि उनकी लेखनी का वरदान पाकर 'कोहेनूर', जो उनके आगमन के समय सप्ताह में तीन बार प्रकाशित होता था, दैनिक रूप में प्रकाशित होने लग गया था। किन्तु खेद है कि इस काल में गुप्त जी की लेखनी से निःसृत उर्दू-गद्यात्मक तथा पद्यात्मक रचनाओं का आज कहीं पता नहीं है। वे सब काल कवलित हो गईं। स्वयं गुप्त जी किन्हीं अज्ञात कारणों से 'कोहेनूर' में प्रकाशित अपनी रचनाओं का संग्रह करने में असमर्थ रहे। आज कहीं 'कोहेनूर' की प्राचीन प्रतियाँ उपलब्ध होतीं, तो गुप्त जी की तत्कालीन लेखन-शैली की विशेषताओं का ज्ञापन सुलभ होता। किन्तु आज अवस्था ही भिन्न है।

गुप्त जी लखनऊ के प्रसिद्ध उर्दू-पत्र 'अवधपंच' में भी नियमित रूप से लिखते थे। उन दिनों 'अवध पंच' को श्रेष्ठ लेखक पाने का सौभाग्य मिला था। जो व्यक्ति 'अवधपंच' में लिखता था वह अन्य किसी पत्र में न लिखने के लिए विवश था, यह उस पत्र की मर्यादा थी। गुप्त जी का स्वयं मत है कि जिस लेखक के चार-पांच लेख 'अवधपंच' में प्रकाशित हो जाते थे, उसे उर्दू का प्रतिष्ठित लेखक माना जाता था। गुप्त जी को यह अवसर प्राप्त था। उनके लेख पाकर 'अवधपंच' भी अपने को धन्य समझने लगा था।

१—गुप्त स्मारक ग्रन्थ, पृ० १७।

२—श्याम सुन्दर दास, हिन्दी कोविद रत्न माला, पहला भाग, पृ० ९९।

'अवधपंच' की सबसे प्रथम विशेषता विनोदप्रियता तथा हास्य एवं व्यंग्य की अनुपम छटा थी। उसके सभी लेख हास्य और व्यंग्य से ओतप्रोत रहते थे। उधर गुप्त जी भी बड़े विनोदी और हास्य प्रिय थे। दोनों में मणि-काँचन का संयोग था। गुप्त जी के हास्य एवं व्यंग्य प्रधान लेख 'अवधपंच' में छपने लगे थे। अधिकाँश लेख आपने उक्त पत्र में 'मिस्टर-हिन्दी' के कल्पित नाम से लिखे थे। उनके मित्र तथा सम्पादक बन्धु मुंशी दयानारायण निगम ने गुप्त जी तथा 'अवधपंच' के पारस्परिक सम्बन्धों का उल्लेख किया है। पर खेद है कि 'अवधपंच' की पुरानी फाइलों के साथ गुप्त जी की रचनाएँ भी नष्ट हो गईं और उनकी उर्दू रचनाओं का अध्ययन अपूर्ण रहा।

गुप्त जी की उर्दू कविताएँ लखनऊ से प्रकाशित होने वाले गुलदस्तों में छपती थीं; इसका प्रमाण उनके 'उर्दू-अखबार' नामक लेख से दिया जा सकता है। आपका मत है---"इस लेख का लेखक भी उनकी बूबास, सै एक बार भी वंचित नहीं रहा। उसके तोड़े हुए दो चार जंगली फूल भी कभी-कभी इन गुच्छों में शामिल हो जाते थे।"[१] गुप्त जी के अच्छे उर्दू के लेखक होने के अन्त: तथा बर्हिसाक्ष्य दोनों ही उपलब्ध हैं। किन्तु उस काल की उनकी रचनाओं के अभाव में उर्दू-साहित्य में गुप्त जी का सम्यक् मूल्यांकन होना सम्भाव्य नहीं।

"उर्दूएमोअल्ला" में गुप्त जी ने 'मुल्लामसीह' लिखना आरम्भ किया था, पर उसे पूर्ण न कर सके थे। 'मुल्लामसीह' के पूर्ण होने के पूर्व ही आपका स्वर्गवास हो गया था। मालवीय जी के आधार पर कहा जा सकता है कि 'मखज़न' और 'हिन्दुस्तानी' पत्र में भी गुप्त जी के लेख छपते थे।[२] सियालकोट के 'विक्टोरिया-पेपर' में भी आप समयानुसार उत्तमोत्तम लेख लिखा करते थे।[3] किन्तु खेद है कि आज सब अप्राप्य हैं।

'नया जमाना' में गुप्त जी का कार्य—

'नया ज़माना' उर्दू का एक प्रसिद्ध मासिक पत्र था, जिसका प्रकाशन मुंशी दयानारायण निगम कानपुर से करते थे। उस समय के सभी प्रतिष्ठा प्राप्त उर्दू लेखक उक्त पत्र में लिखते थे। गुप्त जी को भी इच्छा हुई कि 'ज़माना'

१—गु० नि० प्रथम भाग, 'उर्दू-अखबार', पृ० २९२।

२—गुप्त स्मारक ग्रन्थ, पृ० १८०।

३—सरस्वती भाग ८, संख्या १२, पृ० ५०८।

में लिखा जाय। इस भावना से अनुप्रेरित होकर उन्होंने निम्न लिखित पंक्तियाँ 'ज़माना' सम्पादक के नाम लिखीं:—"मैं एक दकियानूसी ख़यालात का लिखने वाला हूँ मगर 'ज़माना' को पसन्द करता हूँ और अगर एडीटर की राय होगी तो ज़माना के लिए कुछ लिखता रहूँगा।"[1] स्पष्ट है कि सम्पादक महोदय ने गुप्त जी को 'ज़माना में लिखने के लिए आमन्त्रित किया और वे आजीवन ज़माना के सम्मानित लेखक बने रहे। एक बार ऐसा अवसर आया कि किसी कारणवश बहुत दिनों तक गुप्त जी कोई लेख 'ज़माना' के लिये न भेज सके; इस पर ज़माना-सम्पादक ने उन्हें इस उदासीनता का उपालम्भ देते हुए लिखा था कि आपका प्रेम अब ज़माना के साथ वैसा ही है जैसा कर्ज़न का भारत के साथ। उसके प्रत्युत्तर में लिखी गुप्त जी की अधोलिखित पंक्तियों से 'ज़माना' के साथ उनके घनिष्ट सम्बन्धों का पता लगता है। आपने लिखा था—"शिवशम्भु ज़माने की सदा बहतरी चाहता है। लार्ड कर्ज़न बनने की इज्जत उसे दरकार नहीं। लार्ड कर्ज़न एक औहदा भी हिन्दुस्तानियों को न देता और जी से इस मुल्क का बदख्वाह न होता तो कुछ गैब की बात न थी। 'ज़माना' ही के लिए शिवशम्भु गरीब ने बुढ़ापे में फिर उर्दू लिखना सीखा है।"[2]

इन पंक्तियों से ज्ञात होता है कि गुप्त जी 'ज़माना' की प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिये दत्तचित्त थे। उन्होंने अपनी बहुत सी रचनाओं को प्रथम उर्दू में 'ज़माना' के लिये लिखा और पुनः मौलिक रूप में लिखकर 'भारत-मित्र' में प्रकाशित किया। रोग-शय्या पर पड़े-पड़े भी उनकी 'मौलाना मुहम्मद हुसेन आजाद' पर लिखी लेख माला क्रमशः 'ज़माना' में प्रकाशित होती रही थी; यहाँ तक कि जून १९०७ ई० के उक्त पत्र में उनका अन्तिम लेख प्रकाशित हुआ था। उस समय आप बीमार थे। तत्पश्चात् वे कुछ न लिख सके और १८ सितम्बर सन् १९०७ को उनका स्वर्गवास हो गया। आप अन्तिम क्षण तक 'ज़माना' के प्रिय लेखक रहे। यह दोनों के लिये गौरव की बात थी। 'ज़माना' की प्रतिष्ठा तथा उत्कर्ष को दृष्टि में रख करके गुप्त जी ने उच्चकोटि के निबन्ध लिखे और यथा-समय पत्र की नीति का नेतृत्व भी किया। एक बार मुंशी दयानारायण निगम को उनके पत्र का उत्तर लिखते हुए आपने उन्हें 'ज़माना' की प्रतिष्ठा बनाए रखने का परामर्श दिया था और एतदर्थ सत्यानु-

---

१—जमाना, अक्टूबर-नवम्बर सन् १९०७, पृ० २९९।

२—वही, पृ० २६५।

सरण का मार्ग बतलाया था।[1] इसके अतिरिक्त एक बार गुप्त जी ने निगम साहब को 'होश में आने', 'कवाली और ढोलक' का जमाना बन्द करके, मर्द बनने और 'ज़माना' द्वारा देश की सेवा करने का भी परामर्श दिया था। दोनों सम्पादक अभिन्न थे। 'ज़माना' गुप्त जी को उतना ही प्रिय था, जितना 'भारत मित्र'।

गुप्त जी की उर्दू रचनाओं का एक बहुत बड़ा भाग 'ज़माना' में प्रकाशित हुआ था। आपका 'उर्दू पत्रों का इतिहास', 'उर्दू-अखबार' के नाम से 'ज़माना' १९०३ से निकलना आरम्भ हुआ और जनवरी १९०५ ई० तक धारावाहिक रूप से निकलता रहा था।[2]

'उर्दू-अखबार' लेख-माला की भाँति ही 'शिवशम्भु के चिट्ठे' भी प्रथम 'ज़माना' मासिक पत्र में छपे थे।[3] पर कभी-कभी ऐसा भी संयोग आ जाया करता कि 'ज़माना' में प्रकाशित होने के पूर्व वह चिट्ठा 'भारत मित्र' में प्रकाशित हो जाता था। इसका कारण केवल यह था कि 'ज़माना' मासिक और 'भारत मित्र' साप्ताहिक पत्र था। किन्तु यह बात निश्चित है कि 'शिवशम्भु के सम्पूर्ण चिट्ठे' प्रथम 'ज़माना' के लिए उर्दू में लिखे गये थे और तदनन्तर 'भारत मित्र' के लिए मौलिक रूप से हिन्दी में प्रणीत हुए थे।

'शिवशम्भु के चिट्ठे' उर्दू और हिन्दी दोनों में एक ही विषय को लेकर प्रणीत हुए थे। प्रधानतः ये चिट्ठे लार्ड कर्ज़न की भारत विरोधी नीति को

१—जमाना, मुंशी दयानारायण निगम का संस्मरण, अक्टूबर-नवम्बर सन् १९०७ ई० पृ० २६४।

२—उर्दू अखबार नामक लेख माला का दूसरा भाग, जमाना, अक्टूबर, सन् १९०४, पृ० २१३।
तीसरा भाग वही, नवम्बर सन् १९०४, पृ० ३०३।
चौथा लेख, वही, दिसम्बर सन् १९०४, पृ० ३८४।
पाँचवा लेख, वही, जनवरी सन् १९०५, पृ० ३३।

३—शिवशम्भु का प्रथम चिट्ठा—लार्ड कर्जन का स्तकवाल, जमाना, दिसम्बर सन् १९०४, पृ० ३५८।
दूसरा चिट्ठा, हुजूर वायसराय के नाम; वही जनवरी सन् १९०५ पृ० ४०८।
तीसरा चिट्ठा—शिवशम्भु का चिट्ठा वायसराय के नाम, वही, पृ० ३३।
चौथा चिट्ठा, किता उम्मीद, वही, मार्च सन् १९०५, पृ० १६२।
पाँचवा चिट्ठा, वही, दिसम्बर सन् १९०५ ई०, पृ० ११३।

अनावृत करने के लिये लिखे गये थे। ये चिट्ठे देश की सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक दशा का यथार्थ अंकन करते हैं और देश के स्वतन्त्रता आन्दोलन के इतिहास-काल की एक संक्षिप्त, किन्तु सजीव रूप-रेखा प्रस्तुत करते हैं। जब एक ही विषय पर एक ही लेखनी से दो भाषाओं में कोई रचना प्रस्तुत होती है, तो उसमें शैली-विभेद का आ जाना स्वाभाविक है। गुप्त जी की इन रचनाओं में शैली-विभेद स्पष्ट है। किसी-किसी स्थान पर तो शैली में अन्तर केवल इतना है कि हिन्दी में लिखते समय उर्दू अथवा फ़ारसी शब्दों के स्थान पर हिन्दी शब्द रख दिये गए हैं। शेष वाक्य-विन्यास तथा शब्द योजना ज्यों की त्यों है। इस प्रकार उर्दू तथा हिन्दी की दोनों शैलियों में साधारण अन्तर है। उदाहरणार्थ उर्दू-शैली का एक अंश इस प्रकार है—"आज विलायत से हिन्दोस्तान में कई बार तार दौड़ जा सकता है। कई एक घण्टों में कलकत्ते से शिमले तक स्पेशल ट्रेन पार हो सकती है। उस वक्त कलकत्ते से गाजीपुर जाने में बड़े लाट को कई महीने लगे थे। गाजीपुर में उनके लिए कलकत्ते से जल्द किसी तरह की मदद पहुँचने का कोई रास्ता न था।"[1] इसी बात को हिन्दी में इस प्रकार कहा गया है—"आज विलायत से भारत तक दिन में कई बार तार दौड़ जाता है। कई एक घण्टों में शिमले से कलकत्ते तक स्पेशल ट्रेन पार हो जाती है। उस समय कलकत्ते से गाजीपुर तक जाने में बड़े लाट को कितने ही दिन लगे थे। गाजीपुर में उनके लिये कलकत्ते से जल्द किसी प्रकार की सहायता पहुँचने का कुछ उपाय न था।"[2] उक्त दोनों अवतरणों में शैली की दृष्टि से इतना ही भेद है कि उर्दू-अंश में प्रयुक्त 'हिन्दोस्तान', 'वक्त' और 'रास्ता' के स्थान पर हिन्दी के अवतरण में 'भारत' 'समय' और 'उपाय' शब्दों का प्रयोग किया गया है।

दूसरे प्रकार के भेद में एक विशेषता है। इसमें उर्दू-शैली फ़ारसी तत्समता लिए हुए है जो मौलवियाना उर्दू कही जा सकती है। उसी का रूप हिन्दी में लिखते समय पूर्णतः परिवर्तित होकर उर्दू से भिन्न हो गया है। उर्दू का अंश इस प्रकार है—"माई लार्ड! लार्ड कार्नवालिस के दूसरी बार गवर्नर जनरल होकर हिन्दुस्तान आने और आपके दोबारा आने में बड़ा तफावत है। इकबाल आपके हमरकाव है। अंगरेजी इकबाल का सूरज निस्फुत निहार पर है।"[3] इसी

१—जमाना, हुजूर वायसराय के नाम, फरवरी १९०५ ई०, पृ० ८१।
२—गुप्त निबंधावली, प्रथम भाग, पीछे मत फेंकिये, पृ० १९३।
१—जमाना, हुजूर वायसराय के नाम, फरवरी सन् १९०५ ई० पृ० ८१।

बात को जब उन्होंने हिन्दी में लिखा तब उनकी शैली का रूप इस प्रकार का हो गया—"माई लार्ड ! लार्ड कार्नवालिस के दूसरी बार गवर्नर जनरल होकर भारत में आने और आपके दूसरी बार आने में बड़ा अन्तर है। प्रताप आपके साथ-साथ है। अंग्रेजी राज्य के भाग्य का सूर्य मध्याह्न में है।"[१] हिन्दी में लिखते समय फ़ारसी की तत्समता संस्कृत से प्रभावित हो गई है। एक और स्थल पर भी इसी प्रकार की शैली का निदर्शन है। देखिए—"जिस कौम से पुरानी कोई कौम इस रूये जमीन पर मौजूद नहीं है, जो हजार साल से ज्यादय की सख्त गुलामी बरदाश्त करके भी नेस्त नहीं हुई जिन्दा है। जिसकी कदीम तहज़ीब और इलमियत को खयाल करके इस ज़माने के उलमा और फजला के जी में भी उनकी इन्तहा अजमत नहीं हुई है। जिस कौम ने सदियों इस जमीन पर बेखटके हुकूमत की और दुनियाँ में तहजीब और इन्सानियत फैलाई वह कौम क्या पीछे हटाने और खाक में मिलाने लायक है।"[२] जब उक्त बात हिन्दी में लिखी गई तो यही प्रभाव तथा प्रवाह बनाए रखने के लिए गुप्त जी ने केवल कुछ शब्दों का रूपान्तर कर दिया है और मुहावरों को भी बदलकर हिन्दी के योग्य बना डाला है। हिन्दी अंश इस प्रकार है—"जिस जाति से पुरानी कोई जाति इस धराधाम पर मौजूद नहीं, जो हजार साल से अधिक की घोर पराधीनता सहकर भी लुप्त नहीं हुई, जीती है, जिसकी पुरानी सभ्यता और विद्या की आलोचना करके विद्वान् और बुद्धिमान लोग आज भी मुग्ध होते हैं। जिसने सदियों इस पृथ्वी पर अखण्ड शासन करके सभ्यता और मनुष्यत्व का प्रचार किया, वह जाति क्या पीछे हटाने और धूल में मिला देने के योग्य है।"[३] उक्त दोनों अवतरणों की विवेचना से स्पष्ट हो जाता है कि गुप्त जी की हिन्दी और उर्दू की शैली में केवल अन्तर शब्दों और मुहावरों के प्रयोग का होता है। वाक्य-विन्यास तथा प्रवाह दोनों भाषाओं में समान रूप से एक ही पाया जाता है।

दोनों शैलियों में तीसरा भेद दूसरे प्रकार के अन्तर जैसा ही है, केवल वैषम्य इस बात में है कि दूसरे प्रकार की शैली में फ़ारसी तत्समता की मात्रा कुछ कम होती है और वह शब्द-विन्यास तथा मुहावरों तक ही सीमित है। किन्तु तीसरी प्रकार की शैली में फ़ारसी तत्समता की प्रवृत्ति अधिक पाई जाती

१—गुप्त निबंधावली, प्रथम भाग, पीछे मत फेंकिए, पृ० १६३।

२—जमाना, फरवरी सन् १९०५, पृ० ८२-८३।

३—गुप्त निबंधावली, प्रथम भाग, पृ० १६५।

है। यहाँ तक कि क्रियाओं का रूप भी फारसी से प्रभावित शुद्ध उर्दूमय हो गया है और वह बोल चाल की भाषा से दूर हट गया है। उदाहरण के लिए—"आप में मजकूरा बाला तीन औसाफ के चौथा वसूफ हुकूमत का है। इससे आपके पाक कदमों को छूकर हिन्द की जमीन का मरतवा तीरथ से भी कुछ आला हो गया है। आप गुजिश्ता से शम्बा को फिर से हिन्दुस्तान के तख्त पर शाह के तायव बनकर रौनक अफरोज़ हुए।"[१] इसी का हिन्दी रूप इस प्रकार है—"आप में उक्त तीन गुणों के सिवा चौथा गुण राजशक्ति का है। अतः आपके श्री चरण-स्पर्श से भारत-भूमि तीर्थ से भी बढ़ कर बन गई। आप गत मंगलवार को फिर से भारत के राज सिंहासन पर सम्राट् के प्रतिनिधि बनकर विराजमान हुए।"[२]

उक्त दोनों अवतरणों की शैली का अन्तर पूर्णतः स्पष्ट है। उर्दू का अंश फ़ारसीमय और हिन्दी का अंश विशुद्ध हिन्दीमय है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि गुप्त जी ने जब एक ही विषय को लेकर दो पृथ ्-पृथक् भाषाओं में लिखा तो शैली में इस प्रकार का भेद आ गया था।

उर्दू भाषा और लिपि पर गुप्त जी के विचार—

गुप्त जी उर्दू भाषा का जन्म ब्रजभाषा और फारसी के समन्वय से मानते थे। उनका मत था कि जब यवन आक्रमणकारी भारत में जाकर बस गए थे, उस समय यहाँ बोल चाल की भाषा संस्कृत न थी। वह केवल धर्म और काव्य ग्रंथों की साहित्यिक भाषा थी; अतः विजेता यवनों की फारसी भाषा का प्रभाव संस्कृत पर न पड़ कर यहाँ की बोलचाल की देश भाषा पर पड़ा, जो ब्रजभाषा के अन्यत्र और कुछ न थी। ब्रजभाषा पर फारसी के इस प्रभाव के विषय में गुप्त जी लिखते हैं—"धीरे-धीरे इतना बढ़ा कि फारसी और ब्रजभाषा दोनों के संयोग से एक तीसरी भाषा उत्पन्न हो गई। उसका नाम हिन्दी या उर्दू जो चाहिये सो समझ लीजिये।"[३] फारसी और ब्रज के संयोग से तीसरी भाषा के जन्म और प्रसार की रूप-रेखा प्रस्तुत करने के उद्देश्य से गुप्त जी ने स्वप्रणीत 'हिन्दी भाषा' नामक पुस्तक में चन्दवरदाई तथा अमीर खुसरो की पहेलियों, मुकरियों, सखूनों तथा लोक-गीतों से कुछ उदाहरण दिए हैं। ये उदाहरण

१—जमाना, शिवशम्भु का चिट्ठा, जनवरी सन् १९०५ ई०, पृ० ३३।

२—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, वैसराय का कर्तव्य, पृ० १८७।

३—बालमुकुन्द गुप्त, हिन्दी भाषा, भूमिका, पृ० ख।

दोनों भाषाओं के सामंजस्य की क्रिया को कुछ मात्रा तक स्पष्ट करते हैं। खुसरो ने अपनी मुकरियों तथा लोक-गीतों में कहीं-कहीं एक पंक्ति फारसी की तो दूसरी बोलचाल की भाषा की; कहीं एक चरण फारसी का तो अन्य चरण साधारण बोलचाल की भाषा का, रखकर लिखना प्रारम्भ किया था। इस क्रिया से इतना तो स्पष्ट है कि उस काल में फारसी के साथ ब्रजभाषा को मिलाकर लिखने की प्रवृति चल रही थी, किन्तु गुप्त जी यह बताने में असमर्थता प्रकट करते हैं कि "किस आक्रमणकारी के समय में देश की भाषा में क्या परिवर्तन हुआ तथा किस सीमा तक मुसलमानी भाषा हिन्दुस्थानी भाषा में मिलती गई।"[1] इस असमर्थता का कारण आपने उस काल के प्रामाणिक इतिहास का अभाव बताया है, किन्तु गुप्त जी की यह धारणा कि उर्दू का जन्म ब्रजभाषा और फारसी के मिलने से हुआ दृढ़ है।

उर्दू भाषा के विकास और रूप-निर्माण के विषय में गुप्त जी का विचार है कि उर्दू के आविर्भाव काल में इस भाषा के कवियों ने रोला, दोहा आदि छन्दों को उर्दू में ग्रहण किया था और ये लोग यदा-कदा उर्दू-छन्दों के लिए ब्रजभाषा का प्रयोग भी करते थे। सौदा ने ब्रजभाषा में एक मरसिया भी लिखा है।[2] सौदा की भाषा के विषय में उनका मत है कि जब वे अरबी-फारसी का परित्याग करके साधारण बोलचाल की भाषा की ओर प्रवृत्त होते थे, उस समय उनकी भाषा उर्दू न होकर हिन्दी होती थी; जिसमें बोधगम्यता और सरलता का सम्यक् समावेश होता था। किन्तु जब वे अरबी-फारसी का पुट देकर भाषा लिखते थे, उस समय उनकी भाषा उर्दू-ए-मुअल्ला होती थी जो सर्व-साधारण की भाषा बनने के अयोग्य थी। सौदा की भाषा पर व्यक्त किए गए गुप्त जी के विचारों से भी यह स्पष्ट है कि वे भाषा के अरबी-फारसी समन्वित रूप को उर्दू मानते थे।

गुप्त जी स्वीकार करते हैं कि खुसरो की 'जेहाले मिसकी मकुन तगाफुल' गज़ल में ब्रजभाषा कुछ उर्दू की ओर ढुलक रही थी और उसकी पहेलियाँ इस दिशा में और भी आगे बढ़ीं। वे खुसरो को उर्दू का प्रवर्तक मानते हैं। उन के इस मत से उर्दू साहित्य के वर्तमान इतिहासकार डा० रामबाबू सक्सैना तथा गोपीनाथ अमन भी सहमत हैं। डा० रामबाबू सक्सैना अमीर खुसरो को स्पष्ट रूप से उर्दू का प्रथम कवि[3] और गोपीनाथ अमन उन्हें 'उर्दू की प्रथम रूपरेखा

१—बालमुकुन्द गुप्त, हिन्दी भाषा, पृ० ३।
२—भारत मित्र, ब्रजभाषा और उर्दू, २० जुलाई सन् १९०१ ई०।
३—डा० रामबाब सक्सैना, उर्दू साहित्य का इतिहास, भाग १, पृ० १९।

बनाने वाला मानते हैं ।'[१] फिर भी खुसरो की गणना उर्दू-कवियों में नहीं की जाती । गुप्त जी ने ऐसा भाव व्यक्त किया है । आप लिखते हैं "—तथापि उर्दू के कवियों में उसकी गिनती नहीं हुई । उर्दू के प्रथम कवि का नाम 'वली गुजराती' था ।"[२] गुप्त जी की यह सम्मति, मौलाना मुहम्मद हुसेन 'आजाद' की 'आबेहयात' के आधार पर निर्धारित हुई है जो आज नवीन खोजों के आधार पर असत्य प्रमाणित हो चुकी है । इन खोजों के आधार पर प्रमाणित हो चुका है कि 'वली' से पूर्व भी ऐसे कवि हो चुके हैं जिनकी कविताओं के संग्रह 'दीवान' के रूप में उपलब्ध हैं ।

गुप्त जी के अनुसार 'वली गुजराती' ने ब्रजभाषा से उर्दू का निर्माण किया । ब्रजभाषा से उर्दू किस काल में पृथक् हुई, इस विषय में गुप्त जी शाहआलम द्वितीय का काल निर्धारित करते हैं । इस विषय में आपने लिखा था—"इस समय ब्रजभाषा की क्रियाओं से उर्दू की क्रियाओं का ढंग तो अलग हो ही गया था, साथ ही हिन्दी संस्कृत के शब्द घटाकर मुसलमान लोग उसमें अरबी-फारसी बहुत भरने लगे थे ।"[३] शनैः शनैः यह प्रवृत्ति बढ़ती गई । मुसलमान नवीन भाषा को और हिन्दू प्राचीन ब्रजभाषा को ग्रहण करते गए । जिसका परिणाम यह हुआ कि दोनों भाषा में भेद की खाई चौड़ी होती गई । नवोदित उर्दू भाषा का सम्पर्क फारसी के साथ अधिक होता गया; उसकी क्रियाओं का रूप, शब्द-चयन, वाक्य-विन्यास और मुहावरों का आयोजन आदि फारसी के अनुकरण पर होने लगा । गुप्त जी के विचारानुसार बोलचाल की वही भाषा जिससे हिन्दी-संस्कृत के शब्द निकाल कर अलग कर दिए गए हों और फारसी-शब्दों का समावेश, अधिकता के साथ किया गया हो, उर्दू कहला सकती है । हिन्दी-उर्दू दोनों को एक भाषा मानते हुए आपने लिखा है—"उर्दू-हिन्दी का बड़ा मेल है । यहाँ तक कि दोनों एक ही वस्तु कहलाने के योग्य हैं । केवल फारसी जामा पहनने से एक उर्दू कहलाती है और देवनागरी वस्त्र धारण करने से दूसरी हिन्दी ।"[४] इस बोलचाल की भाषा को अरबी-फारसी शब्दों का आवरण पहनाने की क्रिया गुप्त जी के मतानुसार दिल्ली में अधिक न होकर लखनऊ में अधिक हुई । वहीं इस भाषा को अरबी-फारसी युक्त

१—गोपीनाथ अमन, उर्दू और उसका साहित्य, पृ० १० ।

२—भारत मित्र, ब्रजभाषा और उर्दू, २० जुलाई सन् १९०१ ई० ।

३—वही ।

४—गुप्त निबन्धावली भाग १, उर्दू अखबार, पृ० २५५।

बनाकर हिन्दी से पृथक् कर दिया गया।[1] गुप्त जी की यह धारणा पूर्णतः सत्य है। यथार्थ में, अठारहवीं शदी के मध्य में, उर्दू को हिन्दी से पृथक् करने के लिए मुसलमान लेखक और आलिमों ने अनेक प्रयत्न किए थे। इसी उद्देश्य से अंजुमनें बनीं थीं, जहाँ शब्दों का निर्माण होता था और भाषा विषयक महत्वपूर्ण निर्णय किये जाते थे। यहाँ निर्मित शब्द और निर्णय नवाबों और रईसों के यहाँ भेज दिए जाते, जिनके क्षेत्रों में उनका प्रयोग होता था। हिन्दी से उर्दू बनाने की ऐसी योजनाओं को लक्ष्य करके ही श्री सुनीति कुमार चट्टोपाध्याय ने लिखा है—"इस तरह दिल्ली की खड़ी बोली से यथासम्भव भारतीय शब्दों को निकाल कर उनकी जगह अरबी-फारसी शब्दों को रखकर उर्दू भाषा के निर्माण का सूत्रपात हुआ।"[2]

गुप्त जी की यह धारणा तो पूर्णतः सत्य है कि मुसलमान लेखकों ने जानबूझ कर उर्दू को अरबी-फारसी का रूप-रंग देकर, हिन्दी से पृथक कर लिया था। किन्तु उनकी यह विचारधारा कि उर्दू या हिन्दी का जन्म ब्रजभाषा और फारसी के संयोग से हुआ, न तो मौलिक है और न सत्य। उनकी यह धारणा प्रो० मुहम्मद हुसेन आजाद के मत पर आधारित है जो न सत्य है और न भाषा विज्ञान के सिद्धान्तों के अनुकूल है। इस सम्बन्ध में एक बात तो यह विचारणीय है कि उत्तर भारत में बसे हुए भवन विजेता केवल फारसी भाषा भाषी न थे। उनमें अरबी, फारसी, पश्तो आदि भाषाओं का व्यवहार करने वाले कितने ही वर्ग थे; अतः सभी भाषाओं के अल्पाधिक शब्दों का यहाँ की देश भाषा में मिलना सम्भाव्य और स्वाभाविक था। यवन-साम्राज्य स्थापना के उपरान्त फारसी ने राजभाषा का स्थान ग्रहण कर लिया था, अतः यहाँ की देश भाषा में फारसी-शब्दों का अधिक मिल जाना सम्भव है। दूसरी बात यह है कि विजेता यवनों की भाषाओं के शब्द ब्रजभाषा के साथ मिलकर दिल्ली और मेरठ के आसपास बोली जाने वाली भाषा में मिले थे। आजाद और गुप्त जी दोनों की यह मान्यता अवैज्ञानिक है कि यवन आक्रमणकारियों की भाषा का प्रभाव केवल ब्रजभाषा के ऊपर पड़ा। इतना अवश्य है कि दिल्ली की बोल-चाल की भाषा में विदेशी भाषाओं के शब्दों के संयोग से जिस भाषा का

१—जमाना-अप्रैल-मई सन् १९०७ ई० में प्रकाशित, हिन्दुस्तान में एक रस्मुलखत लेख, पृ० २७१।

२—सुनीति कुमार चट्टोपाध्याय, भारत की भाषाएँ और भाषा सम्बन्धी समस्याएँ, पृ० ६६।

निर्माण हो रहा था, ब्रजभाषा के प्रभाव से उस भाषा की कर्कशता और कठोरता अवश्य माधुर्य और सरसता में परिणित हो गई थी। इसी प्रभाव के फलस्वरूप खड़ी बोली के द्विवर्ण या संयुक्तकारों के स्वरपात में सरसता आगई है। यथा, खड़ी बोली के 'रोट्टी', 'गाड्डी', 'बाप्पू', 'चाच्चा' आदि शब्द 'रोटी', 'गाड़ी', 'बापू' तथा 'चाचा' बन गए है। इस आधार पर कह सकते हैं कि आज़ाद तथा गुप्त जी की धारणा अतिरंजित है।

उर्दू के वर्तमान रूप के आविर्भाव के विषय में गुप्त जी का विचार है कि पंजाब और पश्चिमोत्तर प्रदेश की अदालती भाषा उर्दू थी; स्वभावत: इसी ने सर्व प्रथम अंग्रेजों की दृष्टि को अपनी ओर आकर्षित किया और आश्रय भी पाया। इस बात को लगभग दो सौ वर्ष हो गए। उस समय उर्दू में गद्य पुस्तकें लिखने का ढंग वर्तमान था। अपनी मान्यता के प्रमाण-स्वरूप उन्होंने सन् १७९८ ई० में निर्मित उर्दू की प्रथम पुस्तक का उल्लेख किया है और मीर अमून की 'बागोबहार' (सन् १८०२ ई०) का नाम लिया है। इसके आगे उर्दू का प्रचार एवं प्रसार किस प्रकार हुआ, इस विषय में गुप्त जी का मत यही है कि उर्दू और हिन्दी ने दो पृथक्-पृथक् मार्ग ग्रहण किए। और मुसलमान फकीर, आलिमों तथा अंग्रेजों के आश्रय में उर्दू भाषा खूब विकसित तथा परिष्कृत हुई। गुप्त जी की यह धारणा उचित और ग्राह्य है।

अब फारसी लिपि की उपयोगिता और औचित्य पर गुप्त जी के विचारों का अध्ययन कर लेना भी आवश्यक है। फारसी लिपि को गुप्त जी निकम्मी और व्यर्थ मानते थे। उनका मत है कि एक अक्षर का उच्चारण एक हो और उसके लिये अक्षर चार-चार, पाँच-पाँच हों, यह कैसी विडम्बना है? फारसी लिपि में हिन्दी शब्दों के लिखने की क्षमता नहीं है। गुप्त जी का उक्त मत उर्दू के प्रसिद्ध लेखक सैयद विलग्रामी के अनुकूल ही है। सैयद साहब ने भी फारसी लिपि के इस अभाव का उल्लेख किया है। फारसी लिपि की अनुपयुक्तता और अनौचित्य पर प्रकाश डालते हुए गुप्त जी ने लिखा है—"जिस भाषा को वे उर्दू कह रहे हैं, वह हिन्दी से अलग नहीं है। उर्दू के आदि कवियों ने उस भाषा को 'हिन्दवी' कहकर पुकारा है। हिन्दी को आप लोग जबरदस्ती फारसी अक्षरों में लिखने लगे थे, जिसमें वह ठीक लिखी भी नहीं जा सकती है। इसी से शुद्ध हिन्दी शब्दों को आप लोगों ने अपने अक्षरों के अनुसार तोड़-फोड़ डाला है। प्रसाद को 'परसाद' बनाया, समुद्र का 'समन्दर' किया, हरिद्वार को 'हरिदवार' बनाया, वृन्दावन को 'बन्दरावन' बनाया। हिन्दी के हजारों प्रचलित शुद्ध शब्द आप लोगों के इन फारसी अक्षरों के

कारण नष्ट-भ्रष्ट हुए ।······आप लोगों के फारसी अक्षर आपके भी काम के नहीं हैं । आपके अली बिलग्रामी अपनी प्रसिद्ध उर्दू पुस्तक में इस बात को भली भाँति प्रकाश में ला चुके हैं ।"[१]

गुप्त जी फारसी लिपि को हिन्दी शब्दों की ध्वनि के अभि-व्यंजनार्थ अयोग्य एवं असमर्थ मानते थे । उनकी मान्यता है कि हिन्दी का ज्योति प्रसाद 'उर्दू में 'जूती परसाद' बोला जायगा, इटली की राजधानी 'रोम' और 'चीन' के स्थान पर 'रूम' तथा 'चेन' पढ़ा जाता है ।' यह बात तो तब है जब ठीक स्थान पर बिन्दी, जेर, जबर और पेश लगाया जाय, अगर इनका प्रयोग न हो तो कहना ही क्या है ?"[२]

गुप्त जी फारसी अक्षरों को उलटे-अक्षर कहते थे । उनकी अपनी आस्था थी कि जिस भाषा के लिये इन अक्षरों का निर्माण हुआ है, उसी को ठीक-ठीक नहीं लिख सकते । इन अक्षरों के आविर्भाव के विषय में उनका विचार है कि "ये अक्षर प्रथम 'इब्रानी भाषा से अरबी में आये परन्तु क्या आये, न उनमें 'य' है न 'ट' है ; न 'च' है, न 'ङ' ; न 'ड़' है, न 'ग' है । फारसी वालों ने उनकी बनावट को जरा सीधा करके उसमें 'चे' 'पे' और 'गाफ' घुसेड़ा है ।"[३] फारसी वालों द्वारा अरबी के अक्षरों में इतना विकास एवं परिवर्तन करने के उपरान्त भी उसमें अनेक अभाव एवं असीम अपूर्णता रह गई । गुप्त जी के विचार से उर्दू ने उस अपूर्णता का परिहार करने के लिये 'हे', 'डाल' और 'डे' का अनुसंधान किया । इतना करने पर भी उर्दू की फारसी लिपि अपूर्ण और नागरी लिपि के कुछ वर्णों की ध्वनि व्यक्त करने में अयोग्य हैं । नागरी के 'घ'' 'छ', 'भ', 'ठ', 'ढ', 'ध' आदि व्यंजनों की ध्वनि प्रकट करने के लिये फारसी लिपि में है, 'दोचश्मी हे', जिसको 'टे', 'दाल', 'डाल' आदि अक्षरों के साथ मिला कर लिखा जाता है । किन्तु इस सम्मिश्रण से भी शुद्ध ध्वनि का प्रकाशन नहीं हो पाता । इसके अतिरिक्त नागरी लिपि के 'ण' की ध्वनि को फारसी लिपि में व्यक्त ही नहीं किया जा सकता । 'ण' के स्थान पर फारसी लिपि में सर्वदा 'न' लिखा जाता है । इसके अतिरिक्त ह्रस्व और दीर्घ का अन्तर भी उर्दू में नहीं पाया जाता । साथ ही 'प्र' एवं 'पर' में भी किसी प्रकार का भेद नहीं माना जाता । यथार्थ में फारसी और

१—भारत मित्र, नागरी अक्षर, २१ मई सन् १९०० ई० ।

२— वही , कुल्हिया में गुड़, १७ सितम्बर सन् १९०० ई० ।

३— वही , उल्टे अक्षर, ११ जुलाई सन् १९०० ई० ।

उर्दू भाषा के ये बहुत बड़े अभाव हैं, जिनकी ओर गुप्त जी ने संकेत किया है ,

फारसी लिपि की त्रुटियों का उल्लेख गुप्त जी ने कई स्थानों पर किया है। उनकी मान्यता है कि पढ़ने वाला अपनी योग्यता से शुद्ध पढ़ सकता है, अक्षरों में इतनी क्षमता नहीं है कि पढ़ने वाला अक्षरों के भरोसे शुद्ध पढ़ सके। एक बिन्दी के फेर में इन अक्षरों से बाबू 'याबू' और खुदा 'जुदा' बन सकता है।

इसके अतिरिक्त गुप्त जी मानते हैं कि फारसी लिपि में कई अक्षर ऐसे हैं जिनका स्वर एक सा है। अतः लिखते समय लेखक को बड़ी असुविधा का सामना करना पड़ता है। वे फारसी लिपि को अवैज्ञानिक मानते थे और एक ही ध्वनि के कई अक्षरों का विरोध करते थे। आपने पाठकों की असुविधा का उल्लेख करते हुए लिखा है—" 'ज़ाल', ज-ज़्वाद—ज़ोय' सब का उच्चारण एक ही सा है। इसलिये बेचारा विद्यार्थी नहीं जान सकता कि किस शब्द को वह जाल से लिखे और किस शब्द को 'ज़्वाद' या 'ज़ोय' से। इसी प्रकार वह समझ नहीं सकता कि किस शब्द में 'स्वाद' लिखे और किस में 'सीन' और 'से'।"[१] प्रारम्भिक क्षात्र को यथार्थ में इस कठिनाई का सामना करना पड़ता है। वह इन शब्दों की सूक्ष्मता को समझ नहीं पाता। अतः इस भाषा को समझने में अपने को असमर्थ पाता है। गुप्त जी का मत है कि फारसी लिपि सीखने के लिये कम से कम चार-पाँच साल चाहिए; इतने पर भी कोई-कोई तो उसे सीख भी नहीं पाता।

फारसी लिपि की दुर्बोधता एवं दुरूहता के विषय में गुप्त जी के मत का समर्थन आज तक होता आया है। श्री चन्द्रवली पांडे का मत है—"आज अरबी लिपि के पुजारियों को जानना होगा कि क्यों डाक्टर हफ़ीज़ सैयद तथा उनके आलोचक स्वनाम धन्य मौलाना डा० अब्दुल हक़ एक पद का अर्थ ठीक-ठीक न समझ सके। देखिये कितना सीधा पद और कितना सादा अर्थ है, पर वही लिपि की दुरूहता के कारण कैसा पहाड़ हो गया है। 'बदरी' कहता है—'परगट बुरा माने गुपुत बलि गए सो कहो वह कौन थे।"[२] डाक्कर हफ़ीज 'गुपुत' को 'कपट' पढ़ते हैं और डा० हक़ 'बलि' को 'बल'। इस दुर्बोधता के

१—भारत मित्र, १८–६–१९०० ई०।

२—चन्द्रवली पाण्डेय, राष्ट्रभाषा पर विचार, राष्ट्रभाषा का स्वरूप, पृ० ४९–५०।

कारण गुप्त जी ने अरबी-फारसी लिपि को भारत के लिए अनुपयुक्त बताया है। उनकी मान्यता थी कि नागरी लिपि का भारत की सभी लिपियों से गहरा सम्बन्ध है और विश्व के सभी विद्वान् उसे वैज्ञानिक घोषित करते हैं। अतः नागरीलिपि भारत की एक मात्र लिपि होने के सर्वथा योग्य है। दूसरी ओर फारसी लिपि दुःसाध्य, अवैज्ञानिक, ध्वनि प्रकाशन के अनुपयुक्त तथा अस्वाभाविक है।

उर्दू साहित्यकारों पर गुप्त जी की सम्मति—

उर्दू-गद्य का गौरव एवं सम्मान बढ़ाने वालों में गुप्त जी रत्ननाथ सरशार और सर सैयद अहमद खाँ को मानते हैं। इनके अतिरिक्त उर्दू-गद्य लेखकों में वे शम्स-उल-उलेमा मौलवी मुहम्मद हुसैन आजाद, शम्स-उल-उलेमा मौलवी नजीर अहमद, शम्स-उल-उलेमा मौलवी जका-उल्लाह तथा लखनऊ से प्रकाशित होने वाले पत्र 'अवधपंच' के सम्पादक मुन्शी सज्जाद हुसेन साहब को मानते थे। इनका मत है कि—"इन बुजुर्गों ने नसरे उर्दू को नसरे-उर्दू बनाया। इनसे पहिले नसरे उर्दू एक परी थी, जो बहुत से अफ़सूं पढ़ने और टोने-टोटके करने से अपने रुखे रोशन की एक झलक दिखाती थी, मगर आन की आन में एक नज़र देखने से पहले ही, उड़नछू हो जाती थी। आँखों को इसके देखने की हरसत ही रह जाती थी। इन बुजुर्गों ने बड़ी मेहनत से इसे परचाया और परी से इन्सान बनाया; जिससे वह इस दुनियाँ के लोगों के भी काम आने के लायक बनी। ये लोग न होते, तो न जाने अभी और कितने दिन उर्दू में जिन और परियों की कहानियाँ और शहज़ादा शहज़ादियों के हुसनो-इश्क़ के अफ़साने चलते और इन्सानों को देव-जिन्नों से जंगों जदल में मसरूफ रहना पड़ता।"[1]

गुप्त जी के मतानुसार उक्त छः सज्जन उर्दू-गद्य को उन्नत, पुष्ट एवं परिपक्व करने तथा भावाभिव्यंजन के अनुकूल बनाने में अग्रणी हैं। उर्दू के इन प्रसिद्ध लेखकों की भाषा शैली और रचनागत विशेषताओं पर तो गुप्त जी ने सूक्ष्मता के साथ विचार किया ही है। साथ ही फारसी के कवि शेखसादी की साहित्यिक विशेषताओं पर भी आपने प्रकाश डाला है।[2]

१—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, पृ० ८०।

२—शेखसादी को आप फारस का ही नहीं, प्रत्युत अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति का व्यक्ति मानते हैं। आपके विचार से उनकी रचनाओं का सम्मान ईरान, तूरान, रूम, मिश्र, भारत और योरोप सभी जगह हुआ था। 'करीमा',

सर सैयद अहमद खाँ ने उर्दू-साहित्य को जीवनदान दिया था। उसमें जिस नवीन परिपाटी, जिन नवीन विषयों तथा पत्र-प्रकाशन की प्रवृत्ति का समावेश किया था, उसके विषय में गुप्त जी ने लिखा था—"सर सैयद अहमद खाँ अँगरेजी नहीं जानते थे, फिर भी आपके कलफ ने उर्दू को वह फायदा पहुँचाया कि कोई फाज़िल से फाज़िल उर्दू का हिमायती भी शायद इससे ज्यादा कुछ न कर सकता। अंग्रेजी के आला दर्जा के माहवार रसायल में जिस किस्म के इल्मी अदबी, तारीखी और तनक़ीदी वगैरह मज़ामीन निकलते हैं इनकी बुनियाद आपने उर्दू में डाल दी। इस किस्म के मज़ामीन अब उर्दू में बड़ी खूबी से लिखे जाने लगे हैं। उर्दू अखबार नवीसी को भी आपसे बहुत मदद मिली। साफ़, सादा, मगर मुख्तसर और पुरमानी इबारत लिखने के ढंग को तरक्की दी।"[1]

सैयद अहमद उच्चकोटि के गद्य-लेखक थे। आप अपने बेटे महमूद की उर्दू को उर्दू नहीं मानते थे। उनका प्रायः यह मत था कि अंग्रेजी पढ़कर महमूद ने उर्दू का नाश कर डाला है। गुप्त जी की उक्त पंक्तियाँ उनकी लेखनी की क्षमता एव शक्ति बताने में पूर्ण समर्थ हैं।

पं० रत्ननाथ सरशार ने उर्दू-साहित्य में प्राचीन ढंग के उपन्यासों का चलन समाप्त करके नवीन ढंग के उपन्यासों का प्रचार किया था और उर्दू-गद्य-साहित्य को प्रौढ़ता प्रदान की थी। वे अपने समय के एक उत्कृष्ट उर्दू-लेखक माने जाते थे। गुप्त जी ने उनकी नवीन उपन्यास परम्परा के प्रचलन की भरसक प्रशंसा की है तथा उनके साहित्यिक महत्व का मूल्यांकन किया

'गुलिस्तान' और 'बोस्तान' में आप 'गुलिस्तान' को अधिक समाहृत मानते हैं। सादी को आप उच्चकोटि का बुजुर्ग और भगवद्भक्त स्वीकार करते थे। आपकी धारणा थी कि शेख सादी की समता में नीति लिखने वाला अन्य कोई न था। सादी की शैली में आप सादापन, कथन में अभूतपूर्व चातुरी और प्रभावोत्पादकता खोजते हैं। उन्हें आप चटुकारिता से दूर, स्वाभिमानी, साधुस्वभाव, सूफी और राजाओं को उपदेश देने वाला कवि ठहराते हैं। आपने उनके स्वभाव की न्यायपरायणता, उदारता और धर्मभीरुता की प्रशंसा की है, किन्तु धार्मिक संकीर्णता के लिए उनकी आलोचना करने से भी नहीं चूके। अन्ततः आप सादी को कुशल कवि, श्रेष्ठ शैलीकार, नीति-लेखक और धार्मिक व्यक्ति मानते हैं।

१—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, पृ० ८०।

है। पं० रतननाथ के लेखों में राजनैतिक विषयों का अभाव, राष्ट्रीय गम्भीर समस्याओं पर लिखे निबन्धों की शून्यता तथा साहित्य में सामाजिक पक्ष की न्यूनता रहती थी। वे केवल हास्य और विनोद पूर्ण निबन्ध लिखते थे। उनके साहित्य की समीक्षा करते हुए गुप्त जी ने लिखा था—"उनके उस समय के कितने ही लम्बे-लम्बे लेखों का हमें स्मरण होता है। उनमें खाली बातें ही बातें होती थीं। साहित्य के लेख से ये लेख बुरे न होते थे, पर एक दैनिक समाचार के योग्य वह किसी तरह न थे। शायद वह अखबारों के लायक लेख न लिख सकते हों, क्योंकि कभी गम्भीर राजनीतिक या समाजनीतिक लेख उनकी कलम से निकले हुए हमने नहीं देखे। वह जब लिखते थे, दिल्लगी या कहानी या और उसी ढंग के लेख।"[1] पंडित जी के साहित्य में राजनीति या समाज-विषयक लेखों का अभाव क्यों था? क्या उनके हृदय में सामाजिक-उत्कर्ष एवं राष्ट्रीय-हित चिंतन का नितान्त अभाव था? इन प्रश्नों का उत्तर भी सरशार की रचनाओं से मिल जाता है। गुप्त जी का मत है कि उस युग में 'अवध-अखबार' में राजनीति-विषयक बातों का उल्लेख न होता था और लखनऊ भी उन दिनों राजनीति एवं देशभक्ति पूर्ण पत्रों से शून्य था। निश्चित आदर्श के अभाव में पं० रतननाथ का राजनीतिक निबन्ध न लिखना कुछ अस्वाभाविक सा प्रतीत नहीं होता। इससे स्पष्ट हो जाता है कि पंडित रतननाथ में स्वदेश-प्रेम और राष्ट्रीयता के अभाव का कारण वे उन परिस्थितियों एवं वातावरण को मानते हैं जिसकी उपज पंडित जी स्वयं थे। गुप्त जी ने स्वयं पंडित जी को इस अभाव के लिए उत्तरदायी नहीं ठहराया।

पंडित जी की शैली के विषय में गुप्त जी की मान्यता थी कि रतननाथ अंग्रेजी भाषा का ज्ञान रखते थे। अंग्रेजी-शैली और वेषभूषा से भी उनको स्वाभाविक रुचि थी। वे प्रायः अपनी शैली में अंग्रेजी ढंग उत्पन्न करने में सचेष्ट रहते थे पर उनकी प्रवृत्ति उन्हें एशिया ही की ओर आकृष्ट कर लिया करती थी। अपने दृष्टिकोण के स्पष्टीकरण के लिए गुप्त जी ने पंडित जी द्वारा प्रणीत 'फिसाना' की शैली पर विचार इस प्रकार किया है—"रंगीन मिजाज पंडित जी ने अपना फिसाना अंग्रेजी की चासनी देकर एशियाई ढंग पर लिखा। उन पर उर्दू वाले लहालोट हो गये। फिसाने की इज्जत हुई।

१—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, पृ० २६२।

यहाँ तक कि उसकी कीमत कोई सोलह रुपये होने पर भी इन कई एक साल में वह चार पाँच बार छप चुका है।"[१]

गुप्त की इन पंक्तियों से 'फिसाना' की लोक-प्रियता, उसका प्रभाव, पं० जी की प्रतिभा, उर्दू-गद्य में उनका स्थान तथा उनकी शैली की विशेषता का सम्यक् अंकन हो जाता है, यहाँ गुप्त जी का दृष्टिकोण प्रभाववादी आलोचक का सा रहा है।

पं० रतननाथ सरशार के विषय में अपनी सम्मति प्रकट करके गुप्त जी ने उर्दू के एक अन्य तत्कालीन लेखक मौ० नजीर अहमद के विषय में लिखा है—"शम्स-उल-उलेमा मौलवी नज़ीर अहमद साहब की फ़साना नवीसी दूसरी किस्म की है। तर्ज तहरीर की सादगी से उन्होंने हजारों रंगीनियों का रंग फीका कर दिया। इनकी किताबें पाकीज़ा, और शुस्ता उर्दू का नमूना है। देहली की ज़बान का लुत्फ़ हासिल करना हो तो इनकी एक किताब को उठा कर कहीं से पढ़ने लग जाओ। यह खूबी इनके कुरान के तर्जुमा में भी मौजूद है। अगरचे इनकी किताबें खास ढङ्ग की हैं, और इनका ज्यादातर ताल्लुक मुसलमान सोसाइटी से है, ताहम जबान की खूबी के हिसाब से वह फर्द हैं। अगर वह महमूदख़याली से काम न लेते तो न जाने उर्दू को कहाँ तक फायदा पहुँचाते, और किस दर्जा तक उनकी तहरीर की शोहरत और इज्जत होती।"[२]

उक्त पंक्तियों से स्पष्ट है कि गुप्त जी यथार्थ एवं सत्यवादी आलोचक की भाँति लेखक की परिष्कृत भाषा एवं नवीन फसानानवीसी की प्रशंसा करते हैं, पर उसके संकीर्ण दृष्टिकोण का समर्थन नहीं करते। आप लेखक को सम्पूर्ण मानव समाज का एक सचेत सेनानी स्वीकार करते हैं; अतः प्रत्येक की लेखनी से किसी वर्ग एवं जाति विशेष का नहीं, अपितु त्रस्त मानवता का कल्याण कराना चाहते हैं। मौलवी साहब के हृदय में शिवत्व की भावना केवल मुसलमान समाज तक सीमिति थी, अतः गुप्त जी ने उनकी मीठे शब्दों में भर्त्सना की है और उनके गद्य की विशेषता, भाषा-प्रभाव तथा वैयक्तिक वैशिष्ठ्य का अंकन भी कर दिया है। इस प्रकार गुप्त जी ने उनका सही-सही मूल्यांकन किया है।

उर्दू-गद्य के एक अमर लेखक मौलवी जका उल्ला के विषय में गुप्त जी

१—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, उर्दू-अखबार, पृ० २६२।

२—वही, मौलवी मुहम्मद हुसैन आजाद, पृ० ८१।

का मत है कि उन्होंने गणित इतिहास और भूगोल की पुस्तकें उर्दू में लिखकर उर्दू-गद्य साहित्य के एक अभाव को दूर किया। पंजाब प्रान्त के छात्रों में इनकी पुस्तकें सर्व प्रिय थीं। गुप्त जी स्वीकार करते हैं कि उनकी गद्य शैली अत्यधिक स्वाभाविक और सरल होती थी, स्पष्टता उनकी शैली की प्रथम विशेषता थी। उनकी भाषा दिल्ली के हास्य का पुट पाकर और भी प्रभावोत्पादक बन जाया करती थी। यहाँ तक कि विज्ञान की बातें समझाते हुए भी हास्य की लहर उत्पन्न कर दिया करते थे। इतिहास में उन्हें विशेष रुचि थी। उनके ऐतिहासिक ज्ञान और धार्मिक संकीर्णता का उल्लेख करते हुए गुप्त जी ने लिखा था—"आपकी तारीखी ज़खीरा मालूमात से पुर है। मगर गहमूदखयाली ने भी इसमें जगह ली है। मुवरिख़ अपने नाज़रीन को सौ साल आगे ले जाने की कोशिश किया करते हैं, मगर आप अपने नाज़रीन को सौ साल पीछे हटाने की ख्वाहिश रखते हैं। वाबजूद इन सब बातों के नसरे उर्दू के एक सीगे का काम उन्होंने बड़ी उम्दगी से किया है—इसमें शक नहीं।"[१] गुप्त जी की आलोचक की तीव्र एवं सूक्ष्म दृष्टि का पता प्रत्येक स्थान पर लग जाता है। वे लेखक की गद्य-शैली के परिमार्जित रूप की प्रशंसा करते हैं, उसके ऐतिहासिक घटनाओं के सूक्ष्मज्ञान तथा रचनागत बहुज्ञता पर हर्ष प्रकट करते हैं और संकीर्ण दृष्टिकोण की कटु आलोचना करते हैं। आपने वड़ी निर्भीकता के साथ कह दिया कि 'मुवरिख का कार्य पाठकों को आगे ले जाना है पीछे की ओर हटाना नहीं।' इस प्रकार ज्ञात होता है कि गुप्त जी साहित्य एवं साहित्यकार द्वारा शिवत्व और लोक-साधना का मार्ग अपनाने के समर्थक थे।

मुन्शी सज्जाद हुसैन द्वारा उर्दू की प्रगति तथा उर्दू साहित्य में उनके द्वारा श्रेष्ठ व्यंग्य के समावेश पर गुप्त जी ने हर्ष प्रकट किया है। गुप्त जी 'अवधपंच' में प्रकाशित उच्चकोटि के हास्य एवं व्यंग्य प्रधान लेखों की श्रेष्ठता का श्रेय मुन्शी सज्जाद हुसैन साहब को ही देते हैं। आपकी मान्यता थी कि उक्त मौलवी साहब ने भाषा के रूप का शृङ्गार किया। अनेक प्रसाधनों द्वारा उसे अलंकृत किया और यह सब उनकी शैली के अनुकूल रहा। लखनऊ शहर की भाषा को साहित्योपयोगी बनाने एवं उत्कर्ष पर पहुँचाने वालों में गुप्त जी मौलवी साहब की गणना करते हैं। मौलवी साहब

१—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, मौलवी मुहम्मद हुसैन आजाद, पृ० ८२।

ने केवल उर्दू-गद्य की ही नहीं, अपितु उर्दू-पद्य को भी उन्नत किया था। पद्य में हास्य और व्यंग्य का समावेश करके उसे गति प्रदान की और 'अवधपंच' पत्र का गौरव बढ़ाया। मौलवी साहब द्वारा प्रणीत गद्य के अतिरिक्त उनकी पद्यात्मक रचनाओं एवं उनकी विशेषताओं का भी गुप्त जी ने उल्लेख किया है। आपका मत है कि मौलवी साहब ने गद्य की भाँति पद्य में भी वह विशेषता उत्पन्न करदी है जो उच्चकोटि की गद्य में पाई जाती है। आपकी मान्यता है कि हास्य एवं व्यंग-विनोद से लेकर निन्दा तथा स्तुति, विज्ञान, दर्शन और राजनीति का कोई कठिन से कठिन विषय न था, जिसका विवेचन 'अवधपंच' में न होता हो। गुप्त जी मानते हैं कि मौलवी साहब की लेखनी ने उर्दू-भाषा में नवीन विशेषता उत्पन्न करदी थी।[1]

उच्चकोटि के साहित्य और भाषा-शैली की उत्तमता की दृष्टि से 'अवध-पंच' उन दिनों उर्दू भाषा के अच्छे पत्रों में सर्वोच्च स्थान प्राप्त कर चुका था। आप मौलवी सज्जाद हुसैन को ही 'अवधपंच' के प्राण स्वीकार करते थे। आपने स्वीकार किया था कि मौलवी साहब स्वयं उच्चकोटि के लेखक थे और उन्होंने सभी प्रसिद्ध लेखकों को उक्त पत्र में लिखने के लिए तैयार कर लिया था। गुप्त जी ने मौलवी साहब की सभी विशेषताओं का सम्यक् अंकन किया है।

मौलवी मुहम्मद हुसैन आज़ाद को गुप्त जी उर्दू भाषा का रूप प्रतिष्ठापक, नवीन लेखकों का मार्ग-दर्शक, उर्दू के जन्म और क्रमिक विकास की गति-विधि का अधिकारपूर्ण इतिवृत्त प्रस्तुत करने वाला इतिहासकार तथा भाषा का कुशल शिल्पी स्वीकार करते थे। आपकी मान्यता थी कि यदि आज़ाद ने 'आवेहयात' का प्रणयन न किया होता, तो दीर्घकाल तक लोग उर्दू की वास्त-विकता से अनभिज्ञ बने रहते। सम्भवतः ऐसी अवस्था में उर्दू के कुशल लेखकों का जन्म हो जाता। किन्तु वे उर्दू के जन्म, विकास और उत्कर्ष की स्थिति से अपरिचित रहते। आज़ाद ने उसका इतिहास लिखकर उर्दू-प्रेमियों के लिए महान कार्य किया है। गुप्त जी का मत है कि पंजाब के स्कूलों पर आज़ाद की भाषा का अधिक प्रभाव पड़ा था। पंजाब प्रान्त की शिक्षा संस्थाओं के पाठ्य-क्रम में 'आज़ाद' अथवा उनके शिष्यों द्वारा लिखित पुस्तकें ही

१—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, मौलवी मुहम्मद हुसैन आजाद, पृ० ८२।

अधिकांश में पढ़ाई जाती थीं। गुप्त जी यहाँ तक कहते हैं कि पंजाब में 'आज़ाद' द्वारा निर्मित उर्दू का ही अस्तित्व वर्तमान है।

गुप्त जी आज़ाद को उर्दू का जनक एवं सृष्टा मानते थे। उनका मत था कि आजाद ने उर्दू की प्रथम तीन पुस्तकें इस वैशिष्ठय के साथ लिखीं कि उर्दू पढ़ने वालों का पथ कंटकहीन हो गया; इनकी पुस्तकों की रचना के पूर्व उर्दू पढ़ने वालों के लिए कोई उत्तम पुस्तक न थी, जो थीं वे अनुपयुक्त और अनौचित्यपूर्ण। 'आज़ाद' द्वारा लिखीं उर्दू-गद्य की प्रथम तीन पुस्तकों के विषय में गुप्त जी का मत है—"सच यह है कि यह किताबें लिखकर उन्होंने उर्दू के पौधे लगाये, और उन्हें सींच कर हरा-भरा किया। नहीं-नहीं बल्कि उर्दू के दरख्त की जड़ों में पानी पहुँचाया। अब यही किताबें पंजाब के इब्तदाई स्कूलों में पढ़ाई जाती हैं।"[1] उक्त पंक्तियों से 'आज़ाद' की पुस्तकों की सर्वप्रियता और सार्वजनिक उपयोग का ज्ञान होता है। 'आज़ाद' को गुप्त जी केवल उर्दू का सृजक अथवा मार्ग प्रदर्शक ही न मानते थे, बल्कि इससे बढ़कर उन्हें भारत में फ़ारसी अध्ययन की सरलता तथा सुबोधता समुपस्थित करने वाला मध्यस्थ भी स्वीकार करते थे। उनका मत है कि 'आज़ाद' की प्रथम दो पुस्तकें पढ़ लेने के पश्चात् अध्येता सादी का 'गुलिस्तान' पढ़ने के योग्य हो जाता है।

'आज़ाद' की शैली, विषय प्रतिपादन के चातुर्य्य, उनकी अवसरोपयोगी गम्भीरता तथा सरलता और उनके सर्वव्यापी व्यक्तित्व के गुप्त जी परम भक्त और प्रशंसक थे। आपने आज़ाद की लेखनी का वैशिष्ठय बतलाते हुए लिखा था—"आज़ाद में यह एक खास वस्फ़ है कि वह जिस क़लम से आला से आला दर्जे की बात लिख सकता है, उसी से अदना से अदना दर्जे की बात लिख सकता है। वह उड़े तो आसमान के तारे तोड़ ला सकता है, और नीचे की तरफ़ जांय तो समुन्दर की काई निकाल ला सकता है। उसका वही कलम 'आबे-हयात' और 'नैरंगे खयाल' लिख कर उर्दू के फजला को हैरत में डाल सकता है और वही क़लम उर्दू की पहेली और मीठी लोरी लिखकर छोटे-छोटे बच्चों को हँसा और चुप कर सकता है।"[2] बालमुकुन्द गुप्त मानते थे कि 'आज़ाद' की शैली की सबसे प्रधान विशेषता यह थी कि वे बच्चे और वृद्ध दोनों को एक ही लेखनी से प्रभावित कर दिया करते थे। भिज्ञ और अल्पज्ञ दोनों को

१—जमाना, जून १९०७ ई०, पृ० ३३५।
२—वही, पृ० ३३६।

लुभाने और प्रभावित करने की अद्भुत शक्ति आज़ाद की शैली में थी। वे साधारण से साधारण और असाधारण से असाधारण बात को इस कौशल के साथ कह दिया करते थे कि पाठक प्रभावित हुए बिना न रहता था। उनकी एक ही लेखनी ने 'क़सिसे-हिन्द' जैसी सामान्य रचना तथा 'आबेहयात' और 'दरबारे-अकबरी' जैसी महान् कृतियाँ उर्दू जगत को दीं। यह उनका विशिष्ट गुण था। इसके अतिरिक्त 'आज़ाद' का व्यक्तित्व सामान्य रचना से लेकर सभी महान् रचनाओं तक में स्पष्ट रूपेण सन्निहित रहता था। चाहे वह उर्दू की पुस्तक हो अथवा आबेहयात; चाहे फ़ारसी की प्रथम रचना हो अथवा 'सखुनदान-फ़ारस' सब रचनाओं में 'आज़ाद' का व्यक्तित्व विद्यमान रहता है। उन्होंने उर्दू के प्रारम्भिक छात्रों के लिए 'कायदा' लिखा जिसमें उनकी शैली पांच वर्ष के बालक की भाँति है, फिर पहली, दूसरी, तीसरी तथा चौथी पुस्तकें लिखीं जिनमें शैली उत्तरोत्तर उन्नत होती गई। गुप्त जी की दृष्टि में यह विशेषता 'आज़ाद' में ही थी। अन्य लेखक इससे शून्य थे। बच्चों के लिए लिखते समय उनकी भाषा साधारण बोलचाल की, वाक्य छोटे-छोटे और सरलता लिए रहती थी तथा शिक्षित समाज के लिये लिखीं रचनाओं में शैली की उत्कृष्टता, भाषा-गाम्भीर्य, विचार-गहनता और अनुभूति की तीव्रता का समावेश होता था।

गुप्त जी ने 'आज़ाद' की विषय प्रतिपादन की तन्मयता और प्रतिपादित विषय में तल्लीनता पर भी विचार किया है। 'आज़ाद' की विशेषता यह थी, वे चाहे आत्मप्रेरित होकर के किसी विषय पर लिख रहे हों अथवा किसी के अनुरोध पर, वे पूर्णरूपेण दत्तचित होकर लिखते थे। उनका स्वभाव किसी कार्य को अनिच्छा पूर्वक करने का न था। विषय के प्रति इस तल्लीनता से उनकी रचना में अनुभूति की तीव्रता और व्यक्तित्व की स्पष्ट झलक आजाया करती थी। फलतः उनकी प्रत्येक रचना प्रभावशाली और लोकप्रिय सिद्ध हुई और अन्य लेखकों की समता में उनका स्थान ऊँचा उठ गया था, ऐसा उनका अभिमत है। गुप्त जी आज़ाद को उत्कृष्ट लेखक, महान् शैलीकार और भाषा का पंडित मानते थे। उनके द्वारा प्रणीत उर्दू का क़ायदा, तथा तीनों पुस्तकों की भाषा, विषय और साहित्यिक गुणों का अन्तर स्पष्ट करने के लिये आपने उनकी रचनाओं से उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं।

उर्दू-साहित्य की उन्नति करने वालों में गुप्त जी 'अवध पंच' के नियमित लेखक कसमण्डवी की भी गणना करते थे। उनके विषय में आपका मत है कि 'कसमंडवी' उन विख्यात लेखकों में से एक थे, जिन्होंने उर्दू-साहित्य को उन्नत

किया था। उनकी भाषा की छटा और वर्णन की शैली अवलोकनीय होती थी; बहुत दिन हुए उनका स्वर्गवास हो गया, उसके पश्चात् 'अवधपंच' में उस ढंग के लेख देखने में नहीं आ सके।[१]

हास्य और व्यंग्य के प्रसिद्ध उर्दू लेखक मिर्जा सितम ज़रीफ को भी आप उच्चकोटि का हास्य लेखक मानते थे। यही नहीं, हास्य लेखन कला में वे उन्हें अपना गुरू स्वीकार करते थे। मिर्जा सितम ज़रीफ़ ने अपने व्यंग्य एवं हास्य प्रधान लेखों में बड़े कौशल के साथ लिखा है कि नवाब लोग बटेर किस प्रकार लड़ाया करते थे, मुकद्दमे बाज़ किस प्रकार न्यायालयों में मुकद्दमे लड़ते हैं और उनकी विषमताओं में संलग्न होकर आर्थिक और नैतिक बल का ह्रास कर लेते हैं। लखनऊ के नवाब किस साज सज्जा और शृंगारिक प्रसाधनों से युक्त होकर रहते हैं, वहाँ के मेले-ठेलों का क्या रंग रहता है। इन बातों को लेकर मिर्जा साहब ने हास्य और व्यंग्य की सुन्दर रचनाएँ प्रस्तुत की थीं। बालमुकुन्द गुप्त से उक्त मिर्जा साहब की ये विशेषताएँ छिपी न रह सकीं। उन्होंने उनकी शैली का यथार्थ मूल्यांकन किया है। व्यंग्य लेखक के अतिरिक्त आप उन्हें मुहावरे और लालित्यपूर्ण भाषा लिखने वाला कुशल लेखक स्वीकार करते थे।

गुप्त जी गुणज्ञ और कुशल आलोचक थे। उन्होंने लेखकों एवं शैलीकारों के भाषा, शैली तथा साहित्यिक गुणों पर निष्पक्षता के साथ विचार किया है और एक न्यायाधीश की भाँति अपनी सम्मति स्पष्ट एवं प्रत्यक्ष शब्दों में व्यक्त करदी है। उर्दू-लेखकों की रचना का अपर पक्ष भी अछूता नहीं छोड़ा। तात्पर्य यह है कि उनकी पहुँच रचना के बाह्यपक्ष अथवा रूप तक ही सीमित न थी। उन्होंने रचना की आत्मा के गुणावगुणों का भी समुचित मूल्यांकन किया है। इसके अतिरिक्त उर्दू लेखकों की रचनाओं में अन्तर्निहित, साम्प्रदायिकता, संकीर्णता, धार्मिक कट्टरता और परम्परागत रूढ़िवादिता का भी डटकर विरोध किया है। उनके विरोध का परिणाम यह हुआ कि उर्दू-लेखकों के इन अवगुणों से पाठक-वर्ग परिचित हो गया था। उर्दू-साहित्यकार भारत की अन्य भाषाओं को अपना शत्रु समझते थे। उनसे भयभीत थे। गुप्त जी ने उनके भय का निवारण करने के लिये उन्हें सचेत किया और उनकी कमियां उन्हें समझाई। इस दृष्टि से एक सच्चे समीक्षक और पथ-प्रदर्शक के रूप में आप प्रतिष्ठित होते हैं।

१—गुप्त निबंधावली, प्रथम भाग, उर्दू-अखबार, पृ० २७४।

उर्दू-पत्रों के इतिहास पर गुप्त जी की धारणाएँ—

गुप्त जी के मतानुसार उर्दू का सबसे प्रथम पत्र सन् १८३३ ई० में दिल्ली से प्रकाशित हुआ था। किन्तु इस पत्र का नाम बताने में आप असमर्थ रहे थे। प्रथम पत्र प्रकाशन के विषय में आपका मत मौलिक नहीं है। प्रो० मुहम्मद हुसैन आज़ाद के आधार पर आपने उक्त बात कही है। यथार्थ में उर्दू का प्रथम पत्र 'जामे जहाँ नुमा' कलकत्ता से २८ मार्च सन् १८२२ ई० को प्रकाशित हुआ था।[1] इसके पश्चात् वहीं से ३० मई सन् १८२३ ई० को दूसरा उर्दू-फ़ारसी का पत्र 'शमशुल-अख़बार' प्रकाशित हुआ। दिल्ली से प्रकाशित होने वाला पत्र 'उर्दू-अख़बार' था जिसके नाम के विषय में आप संदिग्ध थे। यह पत्र आज़ाद के पिता ने प्रकाशित किया था। इसके उपरान्त १४ वर्ष पीछे सन् १८५० ई० में लाहौर से 'कोहेनूर' पत्र निकला था। इस पत्र को गुप्त जी उर्दू-पत्रकारिता का जनक मानते हैं। उनकी धारणा है कि उक्त पत्र के प्रेस में कार्य करने वाले लोग अनुभव लाभ करके स्वतन्त्र पत्रकार बन गए थे, जिनके द्वारा उर्दू-पत्रकारिता समुन्नत एवं गौरवान्वित हुई थी। यहाँ तक कि मुंशी नवलकिशोर जो बाद में बहुत बड़े उर्दू-प्रकाशक के रूप में प्रकट हुए प्रारम्भ में उक्त पत्र के कार्यालय में साधारण कर्मचारी थे। आपका मत है कि 'कोहेनूर' के पश्चात् कानपुर से 'शोलयेतूर' तथा 'मतलयेतूर'; लाहौर से 'पंजाबी अखबार', 'अंजमने हिन्द' तथा 'आफताबे पंजाब' दिल्ली से 'अशरफुल अखबार'; स्यालकोट से 'विक्टोरिया पेपर'; बम्बई से 'कशफुल'; लखनऊ से 'कारनामा' तथा 'अवध-अखबार' और मद्रास से 'जरीदये रोजगार' तथा 'शमशुल अखबार' आदि पत्र प्रकाशित हुए थे। उक्त पत्रों को आप प्रथम काल के पत्र मानते हैं। उनके मतानुसार उर्दू-पत्रकारिता का द्वितीयकाल लाहौर के पत्र 'अखबारे-आम' से प्रारम्भ होता है। द्वितीयकाल के पत्रों में 'अखबारे-आम' के अनन्तर लखनऊ में 'अवध पंच' तथा 'इण्डियन पंच'; दिल्ली से 'देहली पंच' एवं अन्य पंच प्रकाशित हुए थे, जिनमें से एक बाकीपुर से निकला था। उसी समय लाहौर से 'मुल्ला दो प्याज़ा', लखनऊ से सन् १८८३ ई० में 'हिन्दुस्तानी' तथा अलीगढ़ से 'अलीगढ़ इन्सटीटयूट गज़ट' आदि तीन पत्र प्रकाशित हुए। द्वितीय काल के पत्रों में गुप्त जी 'हिन्दुस्तानी' को सर्वश्रेष्ठ तथा अधिक प्रगतिशील मानते हैं।

बालमुकुन्द गुप्त के आधार पर उर्दू-पत्रकारिता का तृतीय काल लाहौर

१—डा० रामरतन भटनागर, दी राइज एण्ड ग्रोथ ऑफ हिन्दी जनरलिज्म १८२६–१९४५, पृ० ८१।

के समीपस्थ गुजरानवाला नामक स्थान से प्रकाशित 'पैसा अखबार' से प्रारम्भ होता है। इस काल के पत्रों के विषय में आपकी धारणा है कि उनके मूल्य कम, छपने की संख्या अधिक, लेखन शैली की नवीनता तथा पत्रकारिता में नवीन विकास आदि गुण थे। इस काल के पत्रकार तथा सम्पादक अधिकांश में अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त थे। अतः उन्होंने अंग्रेजी पत्रों के सम्पादन-कला की कुछ विशेषताएं अपनानी प्रारम्भ कर दीं थीं। फलतः उर्दू-पत्रकारिता शनैः शनैः प्रगति की ओर उन्मुख हो रही थी। यह काल उर्दू-पत्रकारिता का स्वर्णिम-युग था। गुप्त जी का कथन है कि 'पैसा-अखबार' के उपरांत चुनार से 'अखबारे-चुनार'; अमृतसर से 'वकील'; लाहौर से 'वतन' तथा 'शरीफ'; लुधियाने से 'आर्मी न्यूज'; लखनऊ से 'तफरीह' आदि पत्र प्रकाशित हुए। उक्त तीनों कालों के पत्र दैनिक अथवा साप्ताहिक थे। मासिक पत्र इनमें कोई न था। मासिक पत्रों का श्रीगणेश कब से हुआ, इस विषय में आप संदिग्ध हैं। वे साधिकार यह कहने में असमर्थता व्यक्त करते हैं कि उर्दू मासिक पत्र का जन्म किस वर्ष हुआ? फिर भी आपका अनुमान है कि सैयद अहमद का 'तहजीबुल अख़लाक' (सन् १२८७-१२९३ हिजरी) सन् १८७० ई० उर्दू का सम्भवतः प्रथम मासिक पत्र था। उसी समय दक्षिण हैदराबाद से भी कुछ पत्र प्रकाशित हुए थे। इनके बाद लाहौर से 'गंजेशायगान' तथा 'पंजाब-रिव्यू'; कलकत्ते से 'गुलस्तये नतीजये सखुन'; आगरे से 'गुलदस्ते सखुन' आदि पत्र निकलते थे। जिनके अनुकरण पर लखनऊ से अनेक 'गुलदस्ते' प्रकाशित हुए। इनमें निसार हुसैन का 'पयामेयार' निकला जिसके अनुसरण पर 'तोहफये उश्शाक' तथा कन्नौज से 'पयामे आशिक' आदि पत्र निकले। इनके उपरान्त मौलवी अब्दुल हलीम शरर ने लखनऊ से 'दिलगुदाज' निकाला था। अम्बाले से 'गुंचये मुराद' तथा गोरखपुर से 'इत्रे फितना' आदि पत्र उसी समय निकले थे। आपकी मान्यता है कि 'इत्रे फितना' साप्ताहिक पत्र था, मासिक नहीं। मासिक पत्रों की प्रगति का समय आप फ़ीरोज़ाबाद, आगरा से सन् १८९९ ई० में प्रकाशित 'अदीब' नामक पत्र से मानते हैं। यह पत्र केवल एक वर्ष जीवित रहा पर उर्दू-पत्रिकारिता का स्तर स्थापित करने में सफल सिद्ध हुआ। गुप्त जी के मतानुसार उक्त पत्र ने उर्दू-साहित्य में नवीन प्राण प्रतिष्ठा करने का प्रयास किया था; प्राचीन शैली और व्यर्थ के मसखरापने का परित्याग करके अंग्रेजी-मासिक पत्रों का अनुकरण करना सीखा था और उच्चकोटि के लेख लिखने के पथ की खोज की थी।[1]

१—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, उर्दू-अखबार, पृ० २९४।

गुप्त जी के अनुसार 'अदीब' से अनुप्रेरित होकर लखनऊ से 'मखजन' और कानपुर से 'ज़माना' नामक पत्र प्रकाशित हुए थे। इन पत्रों से उर्दू-मासिक पत्रों की अधिक उन्नति हुई थी। इनसे पूर्व सन् १८६८ ई० में 'मुजारिफ' दक्षिण हैदराबाद से 'हसन', 'दबदये आसिफी' और 'मजबुबुल कलाम', अलीगढ़ से 'उर्दू एमुअल्ला', प्रयाग से 'काश्मीर दर्पण', मेरठ से 'असरेजदीद', झज्जर से 'भारत प्रताप', ग्वालियर से 'ग्वालियर गजट', जयपुर से 'जयपुर गजट' तथा जोधपुर से 'जोधपुर गजट' आदि प्रकाशित हुए थे। उक्त तीनों 'गजट' उर्दू-हिन्दी दोनों भाषाओं में छपते थे। उसी समय मुरादाबाद से 'रहबर' एवं 'नय्यरे आजम', मथुरा से सन् १८८५ ई० में 'मथुरा-अखबार' तथा झज्जर से 'रिफाहे आम' आदि पत्र प्रकाशित हुए थे। इस प्रकार गुप्त जी ने सन् १६०१ ई० तक के प्रकाशित उर्दू-पत्रों का इतिहास प्रस्तुत किया है।

यद्यपि गुप्त जी ने उर्दू-पत्रों का इतिहास प्रस्तुत करके परवर्ती इतिहास लेखकों के लिए प्रकाश-स्तम्भ का कार्य किया था फिर भी गुप्त जी की रुचि पत्रों में ऐतिहासिक विवरण करने में न रम सकी थी। अतः आपने अनावश्यक तथा अप्रमुख पत्रों के नामों का विवरण देना भी अपेक्षित न समझा था। इसीलिए लखनऊ में 'हिन्दुस्तानी' पत्र के प्रकाशित होने के समय निकलने वाले अन्य पत्रों का उल्लेख गुप्त जी ने नहीं किया है। इसी प्रकार दूसरे काल में 'अखबारे आम' के उपरान्त कितना ही अन्य पत्र प्रकाशित हुए थे, आप उनके विषय में भी मौन रहे। तीसरे दक्षिण हैदराबाद से प्रकाशित होने वाले कई पत्रों का उल्लेख आपने ऐतिहासिक क्रम दिलाने के उद्देश्य से भी नहीं किया। चौथे बरेली, आगरा, इटावा, कानपुर, बदायूँ, फैजाबाद आदि शहरों से प्रकाशित पत्रों का उल्लेख भी उनकी प्रस्तुत लेख-माला में उपलब्ध नहीं होता। यथार्थ में पत्रों का ऐतिहासिक क्रम के अनुसार वर्णन प्रस्तुत करना उन्हें अभिप्रेत न था। वे केवल पत्रों की जन्मतिथि, उनके जीवन की गतिविधि-प्रगति एवं पतन—अथवा सम्पादक का नाम देकर संतुष्ट न हो सके। इसका कारण स्पष्ट है। उनकी दृष्टि आलोचनात्मक अधिक थी, ऐतिहासिक तथ्य अंकन की कम। इस आलोचना पर उनकी देशभक्ति परक रुचि का प्रभाव अधिक पड़ा है। अतः आलोच्य विवेचन में ऐसे पत्रों का उल्लेख न होना, जिनकी नीति से देश एवं समाज का हित न हुआ था, स्वाभाविक है। गुप्त जी द्वारा लिखित उर्दू-पत्रों के विवेचनात्मक इतिहास से यह बात भली प्रकार स्पष्ट हो जाती है कि अमुक पत्र ने युग का प्रतिनिधित्व किस सीमा तक किया है, वह किस सीमा तक युग की विचार धारा से प्रभावित हुआ

है अथवा अपनी मान्यताओं से किस सीमा तक उसने युग को प्रभावित किया है।

गुप्त जी की मान्यता थी कि पत्र-साहित्य राष्ट्र तथा समाज के उत्कर्ष के दुःसाध्य कार्य को सम्पादित करने की पूर्ण क्षमता रखता है। अतः आप प्रत्येक पत्र से आशा करते थे कि वह राष्ट्र-निर्माण के पावन कार्य में सक्रिय सहयोग प्रदान करेगा और उसकी नीति राष्ट्रीय विचार धारा की संपोषिका तथा जातीय भावों को उद्दीप्त करने वाली होगी। आपकी कामना थी कि भारतीय पत्र, चाहे वह किसी भी भाषा का हो भारतीय होने के नाते देश की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक गतिविधि का अंकन करे। देश वासियों के मानसिक एवं नैतिक उत्कर्ष में उपस्थित होने वाले व्यवधानों का परिहार करके गुणों के निखार में सचेष्टता अपनाए तथा प्रगतिशील शक्तियों का साथ देकर भारत के सांस्कृतिक पुनर्जागरण एवं राष्ट्रीय चेतना का प्रसार करने में अपनी शक्ति का नियोजन करे। इस नीति से शून्य पत्र कला की दृष्टि से उत्कृष्ट होने पर भी गुप्त जी की दृष्टि में निम्न कोटि का था। इस धारणा को लेकर आपने उर्दू-पत्र-साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास प्रस्तुत किया है। अतः पत्रों पर लिखते समय उनके सम्मुख पत्रों के तीन वर्ग अवश्य रहे होंगे। प्रथम वर्ग में सरकार के पक्षपाती पत्र थे। दूसरे वर्ग में प्रधानतः वे पत्र थे जो विदेशी सरकार के विरोधी और भारत के सच्चे हितैषी थे। तीसरे वर्ग में वे पत्र थे जिनकी अस्थिर नीति थी अर्थात् जो अवसरोपयोगी नीति अपना लेते थे। इस दृष्टि से गुप्त जी द्वारा उर्दू-पत्रों के इतिहास पर दीं गईं सम्मतियों का मूल्यांकन उक्त विभाजन के आधार पर होना उचित है।

प्रथम वर्ग के पत्रों में गुप्त जी ने 'अवध अखबार', 'अलीगढ़ इन्सटीटयूट' 'रफीक़े हिंद', 'पैसा अखबार', 'मखज़न' तथा जयपुर, जोधपुर और ग्वालियर से प्रकाशित होने वाले 'गजटों' को रखा है। इसका कारण यह है कि 'अवध अखबार' सिद्धान्त विहीनपत्र था। नीति की दृष्टि से गुप्त जी उसे बेसूंड़ का हाथी मानते थे।[1] वह देश की एक मात्र राष्ट्रीय संस्था, कांग्रेस का विरोधी था। सम्पादकीय स्तम्भ का इस पत्र में अभाव था। पर कांग्रेस एवं गोरक्षिणी सभाओं का विरोध करने तथा विदेशी सरकार की चाटुकारिता करते समय सम्पादकीय दीख पड़ता था। यह भीरु और चाटुकार पत्र था। 'अवध पंच' का

१—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, उर्दू-अखबार, पृ० २६४।

इस पत्र को 'बनिया अखबार' कहना उचित था। देश-विरोधी नीति के कारण ही इस पत्र को जनता की सहानुभूति कभी प्राप्त न हुई। गुप्त जी के विचार से--"यदि यह पत्र देश की भलाई के लिये चेष्टा करता तो बहुत कुछ कर सकता और यही सब उर्दू पत्रों में सब बातों में प्रधान गिना जाता।"[1]

इस वर्ग के शेष पत्रों का भी यही हाल था। इन पत्रों में दूसरे तथा तीसरे दौर के पत्र भी थे, किन्तु उनकी नीति 'अवध-अखबार' के समान ही थी। उर्दू-पत्र-साहित्य के विषय में गुप्त जी की सम्मति थी कि—"लखनऊ के अवध पंच के सिवा प्रायः सब मुसलमानी अखबार उसमें शामिल हुए।"[2] यहाँ आपका तात्पर्य भारत-विरोधी नीति में शामिल होने से है। जिसको लार्ड कालिव्रन के प्रभाव से सर सैयद अहमद खाँ ने अपनाया था। 'अलीगढ़ इन्स्टीट्यूट गजट' तथा प्रथम वर्ग के अन्य सभी पत्र भारत विरोधी नीति के संवाहक थे। फलतः उनकी गणना सरकार के पक्षपाती पत्रों में की जाती है।

दूसरे वर्ग के पत्रों में 'अवध पंच', 'हिन्दुस्तानी', 'जमाना' 'उर्दूएमुअल्ला' तथा 'मथुरा अखबार' की गणना होती है। ये सभी पत्र न्याय का समर्थन और अन्याय का विरोध करते थे। सरकार की शोषक नीति का विरोध एवं भारतीय स्वाधीनता की नवोदित भावनाओं के प्रसार करने के लिये सदैव तत्पर रहते थे। 'अवध पंच' का व्यंग्य साधारण न होकर, उच्चकोटि के देश भक्तों की नीति का सार होता था। यह पत्र सभी जातियों के त्यौहारों पर समान रूप से लिखता था। धार्मिक एकता और राजनैतिक चेतना इस पत्र के प्रमुख गुण थे। इसी प्रकार 'हिन्दुतानी' तथा 'ज़माना' दोनों राजनीतिक बातों पर स्वतन्त्रतापूर्वक लिखने वाले पत्र थे। यदि प्रथम पत्र की एक वर्ष की फाइल पूरे वर्ष का इतिहास मानी जाती थी, तो दूसरे को महान् प्रगतिशील एवं अंग्रेजी साम्राज्य का कट्टर विरोधी होने का अवसर प्राप्त था। शेष दोनों पत्र भी राजनीतिक और सामाजिक प्रश्नों पर निर्भीकता पूर्वक लिखते थे। अतः गुप्त जी उक्त चारों अखबारों की गणना भारत हितैषी पत्रों में करते थे।

गुप्त जी के विचारानुसार तीसरे वर्ग के पत्र वे हैं, जिनकी कोई स्थायी नीति न थी और जो जैसा अवसर देखते, वैसी ही नीति निर्धारित कर लिया करते थे। केवल अपना अस्तित्व मात्र बनाए रखना जिनका उद्देश्य था। इस

१—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, उर्दू-अखबार, पृ० २६६।

२—वही, वही, पृ० २८०।

प्रकार के पत्र थे—'कोहेनूर', 'आफताबे पंजाब', 'समशुल अखबार', 'अखबारे आम', 'रफीके हिन्द', 'तहजीबुल अखलाक' 'गुलदस्ते' तथा 'अदीव'।

'कोहेनूर' प्रतिष्ठित तथा ख्याति प्राप्त पत्र था। देशी राज्यों में उसका बड़ा सम्मान होता था। काशमीर, पटियाला तथा पंजाब की रियासतों में उसका विशेष प्रभाव था। उत्सवों और पर्वों पर देशी राज्यों से पत्र सम्पादक को निमंत्रण आया करता था। यही कारण था कि यह पत्र देशी राजाओं के हित-संरक्षण का साधन मात्र था। पत्र की नीति स्थायी न थी। जब जैसा संपादक मिला, तब तैसी ही नीति बदल गई। जिस समय गुप्त जी उक्त पत्र के सम्पादक थे, तब यह पत्र भी भारतीय काँग्रेस का समर्थक था। पर ऐसे अवसर बहुत कम थे। मूलतः पत्र तटस्थ नीति का संवाहक था। इसी भांति 'समशुल अखबार' नवाबों की प्रशंसा में संलग्न था और 'अखबारे आम' पंजाब के स्कूलों में स्थान पाकर मौन साधे बैठा था। शेष पत्र भी कहीं न कहीं से संरक्षण प्राप्त किए हुए थे। अतः किसी निश्चित नीति का निर्वाह नहीं कर पा रहे थे। 'मुबारिक', 'हसन', 'अवध रिवियू', 'दकन रिवियू', 'अफसाना', 'दिल गुदाज', 'दबदबये आसिफी' तथा 'मजबुबुलकलाम' आदि ऐसे पत्र थे, चलते रहना जिनका एक मात्र उद्देश्य था। वे किसी भी पक्ष का समर्थन न करते थे।

उर्दू-पत्र-कारिता को देशभक्ति की कसौटी पर परखने के अतिरिक्त गुप्तजी ने इस विवेचन में आलोचना के अन्य मापदण्डों का भी उपयोग किया है। आपने पत्र-प्रकाशन की तिथियों का उल्लेख करते हुए पत्र की भाषा पर भी विचार व्यक्त किए हैं। 'हिन्दुस्तानी', 'मखजन' और 'उर्दूएमुअल्ला' की भाषा पर व्यक्त गुप्त जी के विचार दर्शनीय हैं।[१] इसके अतिरिक्त पत्रों के मूल्य की अस्थिरता पर खेद प्रकाश किया है और इस नीति को पत्रकारिता के विकास में एक अवरोध ठहराया है। पत्रों के स्टाक की अल्पता तथा न्यूनता और योग्यता तथा अयोग्यता पर भी विचार किया है। यही नहीं, विविध पत्रों में प्रकाशित लेख एवं खबरों पर सुन्दर टिप्पणियाँ की हैं। 'अवध अखबार', 'समशुल अखबार' तथा 'मखजन' में अंग्रेजी पत्रों की खबरों एवं लेखों के अनुवाद छापने की प्रथा को बुरा बताते हुए अवश्य परमार्श दिए हैं।[२]

१—देखिए—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, उर्दू-अखबार, क्रमशः पृ० २८०, २६५ और ३०६।

२—वही, वही, क्रमश पृ० २६३, २६७ और २६६।

'अवध अखबार' आदि की अवस्था को लक्ष्य करके सुधार के आवश्यक सुझाव दिए हैं। विशेषतः खबरें प्रकाशन की ओर पत्रों का ध्यान आकर्षित किया है। धार्मिक एकता स्थापित करने के लिए पत्रकारिता को एक श्रेष्ठ साधन के रूप में स्वीकार करते हुए, इस बात पर बल दिया है कि हिन्दू और मुसलमान दोनों एक दूसरे के पत्रों में लिखा करें। पत्रों की आत्मनिर्भरता पर विचार करते हुए संपादकों के बहुभाषाज्ञान पर विचार किया है और पत्रकारिता के उन्नयन के लिए इसे आवश्यक माना है।

उर्दू-पत्रकारिता पर अभिव्यक्त गुप्त जी के विचार इस बात के प्रमाण हैं कि सन् १६०५ ई० तक केवल 'मखज़न' के अतिरिक्त अन्य कोई मासिक पत्र आत्म निर्भर नहीं था। उस समय तक लगभग सभी पत्र हानि उठाकर ही चलते थे। दूसरे अधिकाँश पत्र अस्थायी नीति के पोषक थे और साम्प्रदायिकता से ओत-प्रोत थे। फलतः सर्वसाधारण का प्रतिनिधित्व न कर सके और उनकी सहायता एवं सहानुभूति से वंचित रहे; इस सहायता के अभाव में अनेक पत्रों को अकाल ही में काल कवलित होना पड़ा था। केवल दो चार पत्र ही ऐसे थे जिन्होंने अपने कर्त्तव्य को समझा था और अपनी शक्ति का उपयोग भारतीय सांस्कृतिक पुनर्जागरण की भावना को मुखरित करने में किया था। ऐसे ही पत्र लोक-प्रियता भी पा सके थे। तीसरे उर्दू-पत्र बहुत काल तक चोरी की प्रवृत्ति अपनाए रहते थे, उनका कार्य अन्य भाषाओं के पत्रों से तार एवं लेख अनुवाद करके कलेवर को पूर्ण करना होता था। गुप्त जी के विचार में इसका कारण संपादकों का पूर्ण शिक्षित एवं अनुभवी न होना था। इन अभावों का उन्मूलन सन् १८६० ई० के लगभग 'पैसा अखबार' ने तथा बाद में 'मखज़न', 'अदीब', 'हिन्दुस्तानी' तथा 'ज़माना' आदि ने किया था। चौथी बात यह है कि उर्दू-पत्रों में सन् १८८६ ई० से पूर्व ऐसा कोई पत्र न था जिसमें देश, समाज, धर्म, नीति, वाणिज्य और विद्या से सम्बधित उच्चकोटि की रचनाएँ प्रकाशित हुई हों। सारांश यह है कि 'उर्दू-अखबार' नामक लेख उर्दू-पत्र-साहित्य' उर्दू पत्रकारिता के विकास एवं ह्रास, उर्दू-पत्र-साहित्य की प्रगति एवं अवनति, भाषा-सुधार एवं परिमार्जन के इतिहास तथा उर्दू-पत्रों द्वारा भारत-हित-समर्थन एवं विरोध में किए गए कार्यों का दर्पण है। गुप्त जी ने एक सच्चे आलोचक की भाँति उर्दू-पत्र-साहित्य की यथार्थ आलोचना की है और कुशल चिकित्सक की भाँति रोग का निदान करके उपयुक्त औषधि का समाधान किया है।

उर्दू गद्य-साहित्य में गुप्त जी का स्थान—

उर्दू-गद्य के प्रसार में फ़ोर्ट विलियम कॉलिज के अध्यक्ष डा० जॉन गिल क्राइस्ट तथा उनके सहयोगी सैयद मुहम्मद हैदर बख्स हैदरी, सैयद बशीर अली, बहादुर अली हुसैनी, अम्मन, अफसोस, हफ़ीज़ुद्दीन अहमद, मज़हर अली जबान, इकराम अली विला, अलीलुत्फ, मुहम्मद मुनीर, बेनीनरायन, निहालचन्द, मदारीलाल आदि का अधिकाँश भाग रहा है। इनके पश्चात् मिर्ज़ा ग़ालिब जहाँ उर्दू के सुविख्याति कवि थे, वहीं एक उच्चकोटि के गद्य-लेखक भी थे। आपने 'उर्दू–ए–मोअल्ला' और 'ऊदे-हिन्दी' लिखकर उर्दू-गद्य को समृद्ध बनाया था।

उन्नीसवीं शदी के उत्तरार्द्ध में सर सैयद अहमद खाँ ने गालिब की उक्त परम्परा का निर्वाह एवं उन्नयन किया। वे उर्दू-गद्य में नवीन शैली तथा कला प्रवर्तक के रूप में प्रतिष्ठित हुए हैं। आपने शिक्षा, सदाचार, दर्शन, धर्म, इतिहास, राजनीति और नागरिकता आदि विषयों पर उर्दू में निबन्ध लिखे, जो उर्दू-साहित्य के लिए एकदम नयी वस्तु थी। भाषा में प्रांजलता तथा परिमार्जन का समावेश किया। सारांश यह है कि उर्दू-गद्य-साहित्य की अधि-काँश उन्नति का श्रेय सैयद साहब को ही है। सैयद साहब ने भाषा तथा विषय परिशोधन के अतिरिक्त अनेक लेखक भी उत्पन्न किये। उनके साथी मौलाना हाली, मौलवी शिवली, मौलवी जका उल्ला, मौ० नजीर अहमद, मौ० चिराग़ अली, तथा नवाब मुहसुनुल मुल्क आदि थे। इन सभी सज्जनों ने उर्दू-गद्य के विकास में अधिक भाग लिया था। मौ० मुहम्मद हुसैन आज़ाद की 'आवेहयात' उर्दू-गद्य-साहित्य का रत्न है। उसने एक नवीन परम्परा तथा शैली का उर्दू-साहित्य में सूत्रपात किया था। उर्दू-गद्य में कथा साहित्य की परम्परा विकास की चरमसीमा तक पहुँच रही थी; सबसे प्रथम मीर मुहम्मद हुसैन साह और अहमद हुसैन क़मर ने फारसी की प्रसिद्ध पुस्तक 'दास्ताने हमज़ा' का उर्दू में अनुवाद किया; इसी प्रकार फ़ारसी के अन्य उपन्यास 'बोस्ताने खयाल' का अनुवाद 'बदरुद्दीन' और 'छोटे आग़ा' ने किया; इसके पश्चात् मिर्ज़ा रजब अली बेग 'सरूर' का 'फ़साने अजायब' एवं पं० रत्ननाथ सरशार का 'फ़साने आज़ाद' प्रकाशित हुए। इनके प्रकाशन से उर्दू के गद्य-साहित्य की बड़ी उन्नति हुई। इनमें से अधिकाँश लेखक गद्य-साहित्य के और प्राचीन परिपाटी पर लिखने वाले थे जिनके सम्मुख सामयिक प्रश्नों एवं घटनाओं पर लिखने का आदर्श उपस्थिति न था। बालमुकुन्द गुप्त का प्रवेश उर्दू-गद्य-साहित्य के

इस अभाव की पूर्ति करने वाला हुआ। वे अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा लेकर उर्दू-साहित्य में आए थे। पं० रत्ननाथ उत्तम कथाकार थे और आजाद कुशल गद्यकार, किन्तु पद्य की ओर से दोनों उदासीन थे; प्रो० आज़ाद कुशल गद्य-लेखक, पर पद्य की ओर इसी प्रकार। मौ० जका उल्ला तथा सर सैयद अहमद केवल गद्य-लेखक के रूप में प्रतिष्ठित हुए, किन्तु गद्य और पद्य में समान रूप से इन लोगों की रचना का अभाव है।

गुप्त जी की प्रतिभा बहुमुखी थी। उनकी लेखनी से एक ओर तो उच्च-कोटि के व्यंग्यात्मक लेख निकले, तो दूसरी ओर शृंगार तथा हास्यरस प्रधान सरस कविताएँ। एक स्थान पर वे आलोचक के रूप में प्रगट हुए, तो दूसरे स्थान पर कुशल जीवनी लेखक के रूप में समादृत हुए; किसी स्थान पर उनकी लेखनी ने एक सम्पादक की प्रतिभा का परिचय दिया, तो दूसरे स्थान पर उसी ने उन्हें इतिहास लेखक के रूप में प्रतिष्ठित किया; कहीं पर आप सच्चे आलोचक की भाँति उर्दू-साहित्य की भाषा एवं कला सम्बन्धी अभाव का उल्लेख करते हैं, तो दूसरे स्थान पर उर्दू-साहित्य में राष्ट्रीयता एवं देश प्रेम का समावेश करते हुए उर्दू-साहित्य को नवीन भाव तथा विचारधारा से परिपूर्ण करते हुए प्रकट हुए हैं। सारांश यह है कि गुप्त जी ने उर्दू-कविता लिख कर स्वयं को कवियों और गद्य लिखकर गद्यकारों की श्रेणी में खड़ा कर लिया है। यथार्थ में उनका व्यक्तित्व एक कुशल गद्यकार का अधिक था। अतः निबन्धकार, सम्पादक, आलोचक और जीवनी लेखक के रूप में वे समादृत हुए हैं।

कवि-रूप में गुप्त जी अपनी कवि-सुलभ-प्रतिभा, सूक्ष्म एवं उच्च भावों की सुन्दरतम अभिव्यक्ति तथा परम्पराभूत परिपाटी पर कविता लिखने की प्रवृत्ति के कारण उर्दू के प्राचीन कवियों के समतुल्य ठहरते हैं और उर्दू कविता में नवीन-विचारधारा के अनुसरण के कारण, इकबाल और अकबर की पंक्ति में आ विराजते हैं। उर्दू-काव्य में आशिक-माशूकी चोंचलेबाजी का परित्याग, तथा राष्ट्रीयता एवं देशभक्ति का परिपाक करके आप एक नवीनता-वादी कवि की कोटि में सहज ही अधिष्ठित हो जाते हैं और इस प्रकार वे उर्दू-कविता-साहित्य में प्रगतिशीलता के आविभावक बन जाते हैं।

उर्दू-निबन्धकारों में गुप्त जी का एक उच्च स्थान है। गुप्त जी के पूर्ववर्ती तथा समकालीन लेखक अच्छे निबन्धकार थे, पर उर्दू-निबन्ध रचना का विकास सर सैयद अहमद खाँ के समय से माना जाता है। सैयद तथा उनके सहयोगी सामयिक लेखकों ने सुन्दर और सार गर्भित लेख लिखे थे। वे कला

के सुन्दर निदर्शन भले ही कहे जाँय पर उनमें उपयोगिता के पक्ष का अभाव था। उनका दृष्टिकोण सीमित और क्षेत्र अति संकुचित था। गुप्त जी के निबन्धों में सामाजिकता एवं राष्ट्रीयता का प्राधान्य है। कला को उपयोगिता की तुला पर तोलने वाले इस कलाकार ने साधारण बोल-चाल की भाषा को लेकर उच्चकोटि के हास्य और व्यंग्य प्रधान लेख 'अवध पंच' तथा 'ज़माना' आदि पत्रों के लिये नियमित रूप से लिखे थे। 'ज़माना' में प्रकाशित गुप्त जी के 'शिवशम्भु के चिट्ठे' नामक निबन्ध कला और उपयोगिता दोनों के समन्वित रूप के श्रेष्ठतम निदर्शन हैं। गुप्त जी इन्हीं निबन्धों में अंग्रेजी-शासन विशेषतः लार्ड कर्जन, लार्ड फुलर तथा उदारतावादी मिंटो आदि की कठोर आलोचना लेकर उपस्थित हुए थे। इन निबंधों द्वारा आपने उर्दू-साहित्य में नवीन शैली की स्थापना की थी। निस्संदेह यह निबन्धमाला उर्दू-साहित्य की श्रेष्ठ निधि है। भाषा का जितना सुन्दर, सर्वव्यापी तथा सार्वजनिक रूप इन निबंधों में दृष्टव्य है, अन्यत्र दुःसाध्य है। भाषा प्रवाह प्राप्त, सरल और सामान्य जनोचित है। एक निबन्धकार के स्थान से उर्दू-साहित्य की संकीर्णता, सीमित जातीयता तथा दृष्टिकोण की ससीमता का परिहार करके राष्ट्रीयता, देशभक्ति, समाज-हितचिंतन तथा आदर्श की असीमता का आविर्भाव करने वाले गुप्त जी निश्चय ही उर्दू-साहित्य में युग-प्रवर्तक के रूप में ठहरते हैं।

सन् १८८५ तक उर्दू-पत्रकारिता अपने जीवन के लगभग बावन वर्ष पूर्ण कर चुकी थी। किंतु उसकी कला अभी तक अर्धविकसित और अनुन्नत थी। 'अखबारे-चुनार' और 'कोहेनूर' का सम्पादन करके गुप्त जी ने इस अभाव की भी पूर्ति की थी। वे केवल पत्रकार ही न थे, सम्पादन कला विशेषज्ञ भी थे; उन्होंने केवल पत्रों का सम्पादन ही नहीं किया, प्रत्युत सम्पादकों का निर्माण भी किया। उन्हें समाचार-पत्र-चिकित्सक कहना अधिक समीचीन होगा। उन्होंने पत्रों के सम्मुख एक आदर्श रखा। उनको एक सुनिश्चित नीति निर्धारित करने के लिए परामर्श दिए। उन्होंने इस बात पर अधिक ज़ोर दिया कि पत्रों को समाज-नीति अथवा राजनीति दोनों में से किसी एक को लेकर चलना अनिवार्य है, अन्यथा इसके अभाव में पत्र का अस्तित्व एवं स्थायित्व संदेहास्पद है। आपने 'अखबारे-चुनार' द्वारा एक सुदृढ़नीति, उच्चतम पठनीय सामग्री, यथेष्ट समाचार, भाषा का परिष्कृत रूप तथा राष्ट्रीयता का उच्चतम आदर्श अन्य पत्रों के सम्मुख रखा। पत्रकारिता के इस उच्च आदर्श की स्थापना के लिए ही समय-समय पर उर्दू तथा हिन्दी

आलोचकों द्वारा गुप्त जी की प्रशंसा होती रही। इसके अतिरिक्त सम्पादक के रूप में गुप्त जी ने दूसरा कार्य यह किया कि अपने सम्पादकीय अनुभवों से 'ज़माना' को लाभान्वित करने के लिये सदैव सतत् प्रयास किये तथा समय-समय पर अपने परामर्शों द्वारा 'ज़माना' सम्पादक को मार्ग दिखाया। 'ज़माना' के विकास और उत्कर्ष में गुप्त जी का अधिकांश भाग रहा है। इस प्रकार उर्दू-पत्रकार-कला का विकास करके आप निश्चित रूप से मुंशी हरसुख राय, मुन्शी नवलकिशोर, शेख़ अब्दुल कादिर बी० ए० सम्पादक 'मख़ज़न' तथा जकाउल्ला की पंक्ति में सहज ही आ ठहरते हैं।

गुप्त जी यद्यपि प्रो० आजाद को गुरुवत् स्वीकार करते थे, उर्दू का जनक तथा श्रेष्ठ आलोचक ठहराते थे। किंतु आलोचना के क्षेत्र में आपकी कला भी यथेष्ट उन्नत थी। वे इस क्षेत्र में किसी प्रकार उनसे पीछे न थे। स्वयं प्रो० आज़ाद पर लिखी उनकी लेखमाला उनकी आलोचना का निदर्शन है। आज़ाद की शैली, भाषा, और विषय पर गुप्त जी की आलोचनात्मक टिप्पणियाँ आलोचना के सुन्दर उदाहरण हैं। फारसी के प्रसिद्ध कवि शेख़ सादी और उर्दू-पत्रों के इतिहास पर लिखी लेखमाला में समालोचना का अच्छा रूप मिलता है।[1] 'अवधपंच' और 'ज़माना' पर लिखीं तुलनात्मक आलोचना की पंक्तियाँ आलोचना के यथार्थ एवं निष्पक्ष रूप की द्योतक हैं। बालमुकुन्द गुप्त के उर्दू-साहित्य के अध्ययन के आधार पर यह भली प्रकार कहा जा सकता है कि निबन्धकार, कवि और सम्पादक के अतिरिक्त गुप्त जी एक अच्छे समालोचक भी थे।

उर्दू-साहित्यप्रकाश में गुप्त जी उज्ज्वल कांतिमान सितारे की भाँति चमके हैं। आपके व्यक्तित्व में एक इतिहासकार तथा जीवन-चरित लेखक का भी समावेश था। पर विशेषता यह है कि इतिहास उन्होंने किसी राजा या नवाब के कुटुम्ब का नहीं, उनकी गौरव गाथा या प्रशस्ति का नहीं, अपितु उर्दू-संवाद पत्रों का लिखा है; उन्होंने पत्रों का इतिहास लिखकर एक नवीन मार्ग का द्वार उन्मुक्त किया था। यह उन्हीं का साहस था कि सबसे पहले उर्दू-पत्रों का विधिवत् आलोचनात्मक इतिवृत्त उपस्थित किया। अपने महान् कार्य के लिये गुप्त जी उर्दू-साहित्य में यथेष्ट सम्मान तथा गौरव के पात्र हैं। यह निर्विवाद

१—शेख सादी विषयक गुप्त जी की विचार के लिए देखिए, प्रस्तुत अध्याय का पृ० १०३, पाद टिप्पणी।

रूपेण सत्य है कि उनका यह कार्य अभूतपूर्व एवं महान् था। उर्दू पत्र-साहित्य का अध्येता उनके कार्य की गुरुता एवं सूक्ष्मता का यथार्थ मूल्यांकन कर सकेगा।

यही बात जीवन-चरित लिखने के लिये भी कही जा सकती है। उनकी लेखनी को किसी की यश-प्रशस्ति, धनोपार्जन की दृष्टि या गौरव लालसा की भावना से लिखना सह्य न था। उनके सम्मुख विस्तृत समाज एवं महान् भारतवर्ष था, जिसके तीस करोड़ व्यक्तियों के चरित्र तथा नैतिक मानों को उन्नत करने का प्रश्न था। वे अपने इस कर्त्तव्य की गुरुता को भली प्रकार समझते थे। इसीलिये उन्होंने बाबा हरिदास की जीवनी लिखी। उस समय जीवनियाँ लिखने की एक क्षीण-परम्परा उर्दू-साहित्य में विद्यमान थी। किन्तु इस्लाम के उपासकों अथवा धार्मिक महापुरुषों की जीवनियाँ लिखने तक ही इसका निर्वाह था। तत्पश्चात् बादशाह अथवा वीर सैनिक या कौम के नेता का जीवन-वृत्त लिखने की परम्परा का आविर्भाव हुआ था पर उसकी पृष्ठभूमि में एक सीमित वर्ग, जाति अथवा धर्म के अनुयायियों के हित-चिंतन की भावना अन्तर्हित रहती थी। उदाहरण के लिये मौलाना हाली ने सर सैयद की जीवनी 'हयाते जावेद' के नाम से लिखी और मौलाना शिवली ने कितने ही धार्मिक व्यक्तियों की जीवनियाँ लिखीं थीं। सम्पूर्ण मानव समाज, मानवीय-आदर्श के उत्कर्ष या भारतीयों के चरित्र-विकास की भावना से अनुप्रेरित होकर उस समय तक उर्दू साहित्य में जीवनियाँ नहीं लिखीं गई थीं। बाल-मुकुन्द गुप्त ने इस दिशा में भी उल्लेखनीय कार्य किया था। आपने एक योगी तथा तपस्वी व्यक्ति के जीवन-वृत्त तथा उसके अभूतपूर्व कार्यों को लेखनीवद्ध किया और सभी वर्ग, जाति तथा धर्म के व्यक्तियों के सम्मुख चरित्र-विकास के लिये आदर्श समुपस्थित किया। इस दृष्टि से गुप्त जी का कार्य उर्दू-साहित्य में नवीन मार्ग उपस्थित करने वाला रहा है। कविता, निबंध, आलोचना, सम्पादन-कला, इतिहास-लेखन तथा जीवनी-लेखन आदि सभी क्षेत्रों में गुप्त जी का कार्य प्रशंसनीय एवं श्लाघनीय रहा है। अतः इस विवेचना के आधार पर कहा जा सकता है कि गुप्त जी का उर्दू-गद्य-साहित्य में उच्च स्थान है।

बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने अखबारे-चुनार तथा कोहेनूर आदि उर्दू पत्रों का सम्पादन करके और ज़माना, अवधपंच, मख़ज़न, मथुरा अखबार और भारत-प्रताप आदि पत्रों में निबन्ध लिखकर उर्दू-साहित्य की अभूतपूर्व सेवा की थी। एक ओर तो आपने अपनी संपादन-कला-चातुरी द्वारा उर्दू पत्रकारिता को उन्नत किया और दूसरी ओर उत्कृष्ट साहित्य की रचना करके उर्दू-साहित्य के

अभावों का परिहार किया। उच्चकोटि के हास्य और व्यंग्य प्रधान लेख लिख-कर गुप्त जी ने जहाँ कला का विकास किया था, वहीं स्वस्थ और उपयोगी आलोचनाएँ लिखकर लेखकों का मार्ग प्रदर्शन भी किया था। उर्दू और फारसी के लेखकों के जीवन-चरित्र लिखकर आपने हिन्दी पाठकों से उन्हें परिचित कराया था, तो उर्दू-पत्र-साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास प्रस्तुत करके एक नवीन मार्ग का उद्घाटन किया था। इस प्रकार उर्दू-निबन्ध, कविता, आलो-चना, जीवन-चरित्र तथा पत्रकारिता आदि सभी क्षेत्रों में गुप्त जी की पहुँच थी। निःसन्देह वह उर्दू-साहित्य के कुशल शिल्पी थे।

अध्याय ३

गुप्त जी का प्रारम्भिक गद्य

हिन्दी-लेखक के रूप में अवतरित होने से पूर्व गुप्तजी उर्दू-लेखक और कवि के रूप में पूर्ण ख्याति उपलब्ध कर चुके थे। उनकी भाषा-शक्ति, प्रतिभा-चमत्कार, विचार-उत्कर्ष, राजनीतिक उग्रता तथा उत्कट देशभक्ति से हिन्दी-भाषी समाज, मूलतः भारतीय जनता को लाभान्वित कराने की भावना से अनुप्रेरित होकर मालवीय जी ने उन्हें हिन्दी की ओर लाने का सफल प्रयास किया था। उन्हीं के प्रयत्न स्वरूप बालमुकुन्द गुप्त 'हिन्दोस्थान' कार्यालय में सह-सम्पादक के रूप में पहुँचे।

'कालाकांकर' पहुँच कर ही गुप्तजी ने हिन्दी भाषा का विधिवत् अध्ययन किया था। उससे पूर्व वे हिन्दी जानते अवश्य थे, पर यह बात भी निर्विवाद है कि वह उसमें पारंगत न थे। जितना कौशल उन्हें उर्दू में प्राप्त था, उसका शतांश भी उस समय हिन्दी-लिखने में न था। साथ ही इस भ्रम का निराकरण भी हो जाना अनिवार्य है कि गुप्त जी द्वारा हिन्दी की वर्णमाला या प्रारम्भिक बातें सीखने का अवसर सन् १८८९ ई० के पश्चात् आया। इस विषय में यह भी एक धारणा है कि गुप्तजी और पं० दीनदयालु शास्त्री से मेरठ निवासी पं० गौरीदत्त शर्मा ने हिन्दी सीखने का अनुरोध किया था, अतः उन्हीं के अनुरोध पर उक्त दोनों व्यक्तियों ने हिन्दी पढ़ी।[1] यह धारणा मूलतः असत्य प्रतीत होती है, क्योंकि पं० दीनदयालु इस घटना से पूर्व वृन्दावन निवासी स्वामी नारायण दास जी से हिन्दी सीखने की प्रेरणा पा चुके थे और उक्त स्वामी जी के बनाये ब्रजभाषा के कुछ दोहे अपनी कथा प्रारम्भ करने के पूर्व पढ़ते थे। गुप्त जी के सन् १८८९ ई० से पूर्व हिन्दी जानने के बहुत से प्रमाण प्राप्य हैं। इस सम्बन्ध में पहली बात तो यह है कि सन् १८८८ ई० से पूर्व वे अपने पत्र व्यवहार के रजिस्टर की खाना पूरी उर्दू में किया करते थे किन्तु उसके पश्चात् उर्दू के स्थान पर हिन्दी का प्रयोग करने

१—अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी, गुप्त निबंधावली, (सं० १९९९) भूमिका।

लगे थे। गुप्तजी ने ३ सितम्बर सन् १८८७ ई० के दिन एक पत्र 'हिन्दोस्थान' कार्यालय कालाकांकर के लिये लिखा था और उसमें बिना मूल्य पत्र भेजने पर स्थानीय समाचार भेजने की बात कही थी। अनुमान होता है कि उक्त पत्र गुप्त जी ने अवश्य हिन्दी में लिखा होगा[1] क्योंकि उस समय वे हिन्दी लिखना जानते थे, तभी स्थानीय समाचार भेजने की बात कहते हैं। इस पत्र से उनके हिन्दी लिखना प्रारम्भ कर देने का काल सितम्बर १८८७ ई० विदित होता है। इस विषय में एक प्रमाण और है। गुप्त जी ने राजा लक्ष्मणसिंह से उनकी लिखी पुस्तकों का पता पत्र द्वारा पूछा था। उसके उत्तर में राजा साहब का २१ अप्रैल का पत्र गुप्त जी को मिला था।[2]

यह बात सत्य के अधिक निकट प्रतीत होती है कि राजा साहब को गुप्त जी ने पत्र हिन्दी में लिखा होगा। गुप्तजी ने तीसरा पत्र प्रसिद्ध कवि श्रीधर पाठक को २२-६-१८८८ ई० को हिन्दी में लिखा था। यह पत्र आज भी सुरक्षित है।[3] इस पत्र से यह पूर्णतः प्रमाणित हो जाता है कि जून सन् १८८८ ई० तक गुप्त जी हिन्दी लिखना भली प्रकार सीख गये थे और उस समय खूब लिख लिया करते थे। उस समय तक हिन्दी का एक रूप भी निश्चित हो चुका था। भारतेन्दु जी भाषा का एक आदर्श भी स्थापित कर चुके थे; अतः वह जैसा भी कुछ उस समय था, गुप्त जी ने ग्रहण कर लिया था। जिस समय पं० श्रीधर पाठक को गुप्तजी ने पत्र लिखा था, उस समय आप लाहौर के उर्दू पत्र 'कोहेनूर' के सम्पादकीय विभाग में कार्य कर रहे थे। गुप्तजी ने पं० श्रीधर पाठक की रचनाओं की आलोचना भी 'कोहेनूर' में प्रकाशित की थी।

पाठक जी को लिखे पत्रों की भाषा से उनके प्रारम्भिक गद्य का रूप प्रकट होता है। १६ जुलाई सन् १८८८ ई० के दिन लिखे पत्र की भाषा इस प्रकार है—"श्री युत ॥ १३ जून के हिन्दोस्थान में आपका विज्ञापन देखकर मुझे चेष्टा हुई कि मैं भी आपकी नवीन ढंग की सरस कविता को देखूँ। इसके

१—यह पत्र अप्राप्य है किन्तु इसके प्रत्युत्तर में आया रामलाल मिश्र का १७-६-८७ ई० का पत्र श्री नवलकिशोर, १४७ हरिसनरोड, कलकत्ता के पास सुरक्षित है।

२—यह पत्र भी श्री नवलकिशोर, १४७ हरिसन रोड, कलकत्ता के पास सुरक्षित है,

३—यह पत्र भी उक्त स्थान पर सुरक्षित है।

पहले मैंने काशी पत्रिका में आपका अनुवादित ऊजड़ गाम देखा है और मेरा जी चाहता है कि उसको पूरा देखूँ। इससे आप कृपा करके १ कापी उसकी मुझे भेज दें तथा और कोई ऐसी पुस्तक हो तो वह भी भेज दें। इनका मूल्य मैं आपके लिखे मूजब भेज दूँगा और कोहेनूर में अपनी सम्मति भी प्रकाश करूँगा।"[1]

इस पत्र से एक बात तो यह स्पष्ट होती है कि वे उस समय हिन्दी भली प्रकार पढ़कर समझ लेते थे और 'काशीपत्रिका', तथा 'हिन्दोस्थान' के पाठक थे। दूसरे उस समय उनकी भाषा का परिष्कार नहीं हो पाया था; वह उनकी प्रारम्भिक अवस्था थी। इस पत्र में आये 'चेष्टा', '१', 'ऐसी' और 'मूज़ब' शब्द ध्यान देने योग्य हैं। 'चेष्टा' का अर्थ इच्छा, कामना तथा लालसा होता अवश्य है पर वह अधिकाँश में प्रयुक्त होता है प्रयत्न, उपाय और उद्योग के अर्थ में। गुप्त जी ने यहाँ इस शब्द को इच्छा या लालसा के अर्थ में व्यवहृत किया है। 'एक' शब्द इस प्रकार न लिखकर गिनती का अङ्क लिख दिया गया है। 'ऐसी' शब्द की लिखावट आधुनिक नहीं। तीसरे 'मूजब' शब्द ठेठ उर्दू का रख दिया गया है। फिर भी भाषा में शिथिलता और वह लचरपन नहीं मिलता जो नौसिखिये की भाषा में प्रायः पाया जाता है। इस भाषा को देखकर सहसा यह मालूम नहीं होता कि एक मौलवी पंडित बनने का प्रयास कर रहा है। सबसे प्रधान बात तो यह है कि गुप्त जी उर्दू छोड़कर एकदम संस्कृत के पीछे नहीं पड़े जैसा कि प्रायः देखा जाता है। उन्होंने बोलचाल की भाषा ही ग्रहण की। अधिकाँश व्यक्ति जिस भाषा में बात करते थे, वही गुप्त जी द्वारा लिखने की भाषा बनाई गई थी। अतः साधारण अभावों के होते हुए भी वह ग्राह्य है। पं० श्रीधर पाठक को लिखे एक दूसरे पत्र की भाषा से इस विषय पर और भी अधिक प्रकाश पड़ता है। वह पत्र इस प्रकार है—"कल्ह कृपा कार्ड और राजा शिवप्रसाद की गुटका पोंहची और थोड़ी देर पीछे दूसरी डाक में दुर्गेशनन्दिनी पोंहची आपका कोटानकोट धन्यवाद है गुटका आपने मुझे बिना मूल्य ही भिजवाई है उसको मैं आपकी कृपा का बोहत बड़ा चिन्ह समझ कर बिना मूल्य ही स्वीकार करता हूँ मुझे आपके शरीर की पीड़ा से बड़ा खेद है मेरी भी यही अवस्था रही है मुझे आशा है कि मुझ सेवक पर इसी तरह आपकी दया रहैगी।"[2]

१—गुप्त स्मारक ग्रन्थ, पृ० २४।

२—श्री नवलकिशोर गुप्त, १४७ हरिसन रोड, कलकत्ता के संग्रहालय में सुरक्षित पत्र।

इस पत्र में 'कल्ह', 'पोंहची', 'बोहत', 'बड़ा', 'के' और 'रहैगी' आदि शब्द विचारणीय हैं। कल के स्थान पर 'कल्ह', पहुँची के स्थान पर 'पोंहची', बहुत के स्थान पर 'बोहत', कि के स्थान पर 'के' और रहेगी के स्थान पर 'रहैगी' आदि लिखना यह प्रमाणित करता है कि आरम्भ में गुप्त जी साधारण बोल-चाल की भाषा लिख रहे थे जो दिल्ली, हरियाना और मेरठ की 'बागपत' तथा 'मवाना' तहसीलों में बोली जाती है। उस समय उनकी भाषा पर स्थानीय उच्चारण का असर था। दूसरे विराम चिन्हों की ओर गुप्त जी का ध्यान न था। यह बहुत शोचनीय अवस्था थी।

कालाकांकर जाकर गुप्तजी को हिन्दी-लेखकों का घनिष्ठ सम्पर्क प्राप्त हुआ। भारतेन्दु जी पर उनकी पूर्ण आस्था थी ही। उनके परम प्रशंसक पं० प्रतापनारायण मिश्र को पाकर गुप्त जी प्रफुल्लित हो उठे और उनका शिष्यत्व ग्रहण किया। उसी समय से गुप्तजी ने हिन्दी का नियमित अध्ययन प्रारम्भ कर दिया था। मिश्र जी के मार्ग-प्रदर्शन और अपनी प्रतिभा के सुन्दर समन्वय से गुप्तजी ने शीघ्र हिन्दी लिखने में वह कौशल प्राप्त किया जिसकी समता उनके पूर्व हिन्दी लेखक नहीं कर सके। गुप्तजी के प्रारम्भिक हिन्दी-गद्य की पृष्ठभूमि में एक कुशल उर्दू-लेखक की लेखनी का चमत्कार समाविष्ट था जिसने उनकी भाषा को एक विशेष प्रवाह, फड़क, मस्ती, चुल-बुलाहट, तथा प्रेषणीयता प्रदान की थी। इन सभी गुणों को पाकर गुप्तजी की भाषा बेजोड़ हो गई थी।

हिन्दोस्थान तथा हिन्दी बंगवासी में उनका कार्य—

गुप्तजी ने जिस समय 'हिन्दोस्थान' पत्र के सम्पादकीय विभाग में सह-सम्पादक के रूप में प्रवेश पाया था, उस समय मदन मोहन मालवीय, पं० प्रतापनारायण मिश्र, बाबू शशिभूषण चटर्जी, पं० शीतलाप्रसाद तथा रामलाल मिश्र आदि वहाँ पहले से ही विद्यमान थे। पं० मदनमोहन मालवीय पत्र के प्रधान सम्पादक और शेष सहकारी सम्पादक थे। यहाँ यह बात भी स्मरणीय है कि 'हिन्दोस्थान' के सम्पादकीय विभाग में आने से पूर्व गुप्त जी द्वारा लिखे लेख तथा टिप्पणियाँ उक्त पत्र में प्रकाशित होतीं थीं। मालवीय जी द्वारा गुप्त जी को लिखे पत्र इस बात के साक्षी हैं।[१] इसके अनन्तर जब गुप्त जी

१—गुप्त स्मारक ग्रन्थ में पृ० २७–२८ पर प्रकाशित २६-४-१८८६ और ४-५-१८८६ के दो पत्र।

लिखने में सिद्धहस्त हो गये, तो विरोधी वर्ग के लेखकों को निरुत्तर करने में उनकी लेखनी का प्रयोग किया जाता था। एक बार राजा रामपालसिंह द्वारा विधवा-विवाह के समर्थन पर कटाक्ष करते हुए साहित्याचार्य पण्डित अम्बिका-दत्त व्यास ने 'पीयूष-प्रवाह' में लिखा था। राजा रामपालसिंह ने जब यह देखा तो उनके हृदय में प्रतिशोध की भावना उद्दीप्त हुई और तीव्र उत्तर दिलाकर उनका मुँह बन्द करना चाहा था। अतः इस कार्य के लिये गुप्त जी को चुना गया। तब गुप्त जी ने 'मैं सुकवि हूँ' शीर्षक से एक लेख 'हिन्दोस्थान' में लिखा था। व्यास जी कविता में अपना नाम 'सुकवि' रखते थे। गुप्त जी ने अपने लेख में इसी को लेकर करारे व्यंग्य किये थे।[१]

जिन दिनों गुप्त जी 'हिन्दोस्थान' में कार्य कर रहे थे, उन दिनों हिन्दी भाषा के निर्माण और रूप-प्रतिष्ठापन का प्रश्न सम्मुख था। उन दिनों ब्रजभाषा का स्थान खड़ी-बोली लेना चाह रही थी। इससे पूर्व भारतेंदु जी ने भी खड़ी बोली में कविता करने का प्रयास किया था। उन्होंने खड़ी बोली में कविता लिख कर पहली सितम्बर सन् १८८१ के 'भारत मित्र' में उसे प्रकाशित भी कराया था और इस विषय पर सर्वसाधारण की सम्मति भी जानने के लिए लिखा था।[२] भारतेंदु जी के अनुकरण पर प्रेमघन तथा अम्बिका प्रसाद व्यास आदि ने भी इसी प्रकार कविता लिख कर इस आन्दोलन को आगे बढ़ाया था। भारतेन्दु जी के स्वर्गवास के पश्चात् इस आन्दोलन में अधिक ज्वार आया। उस समय साहित्यिकों के दो दल बन गये थे। ब्रजभाषा के समर्थकों में पण्डित प्रतापनारायण मिश्र तथा राधाचरण गोस्वामी प्रधान थे और खड़ी बोली के समर्थन में बाबू अयोध्याप्रसाद खत्री तथा पं० श्रीधर पाठक प्रमुख थे। पीछे आकर बाबू अयोध्याप्रसाद खत्री ने 'खड़ी बोली आन्दोलन' नाम से एक पुस्तक का संकलन भी किया था, जिसका सम्पादन श्री भुवनेश्वर मिश्र द्वारा किया गया था। इस विवाद के विषय में गुप्त जी द्वारा किया हुआ कार्य विशेष महत्वपूर्ण है। आप न तो ब्रजाभाषा के पक्षपाती थे और न खड़ी बोली के। इसका तात्पर्य यह नहीं कि वे दोनों के विरोधी थे। यथार्थ में आप इस विवाद का समाधान बड़े सुन्दर ढङ्ग से करना चाहते थे। आप ब्रजभाषा का स्थान एक ऐसी भाषा को देना चाहते थे, जो बहु-संख्यकों द्वारा बोली जाती हो और जिसका स्वरूप बातचीत की भाषा से

१—गुप्त स्मारक ग्रन्थ, गोपालराम गहमरी का संस्मरण, पृ० २८७।

२—डा० रामविलास शर्मा, भारतेन्दु युग, पृ० १५५ के आधार पर।

बन रहा हो, उसका नाम भले ही खड़ी बोली हो किन्तु खड़ी बोली के नाम पर अनगढ़ तथा अप्रचलित भाषा का प्रचार उन्हें सह्य न था ।

इसी लिए अयोध्यासिंह उपाध्याय द्वारा 'अध खिला फूल' में प्रयुक्त खड़ी बोली के अनगढ़ रूप को लेकर गुप्त जी ने 'हिन्दोस्थान' में अधिक लिखा था । इसी पत्र में आपने 'मिस्टर हिन्दी' के नाम से भी खड़ी बोली बनाम ब्रज भाषा के प्रश्न पर कभी लिखा था ।[1]

हिन्दोस्थान पत्र के अधिकांश भाग को सभी लोग मिलकर लिखा करते थे । अतः गद्य में तो कभी-कभी ही कोई रचना गुप्त जी की स्वतन्त्र रूप से छपती थी । उनकी कविताएँ इस पत्र में अधिकता के साथ छपी थीं । गुप्त जी की प्रसिद्ध कविता 'सर सैयद का बुढ़ापा' इसी पत्र में प्रकाशित हुई थी ।[2] इसके अनन्तर 'वसन्तोत्सव' वाली कविता, जिसकी रचना द्वारा प्रकृति को आलम्बन रूप में अंकित करने वाले कवियों में उनकी गणना होती है, इसी पत्र में प्रकाशित हुई थी ।[3] गुप्त जी की वैष्णव भावना की परिचायक कविता 'पिता' भी उक्त पत्र में छपी थी ।[4]

'हिन्दोस्थान' में गुप्त जी के विचारों पर धार रक्खी गई; उनमें नवीन उत्तेजना तथा देश भक्ति का परिपाक हुआ था । जिस प्रकार मालवीय जी देशभक्त, किन्तु उदारतावादी थे; ठीक उसी प्रकार पं० प्रतापनारायण मिश्र सच्चे देश भक्त, किन्तु उग्रतावादी थे । दोनों महानुभावों की अप्रतिम तथा अप्रत्यक्ष छाया गुप्त जी पर पड़ी । इस प्रकार तेज तलवार पर और भी पानी चढ़ा । फलतः गुप्त जी की राष्ट्रीयता अबाध गति से प्रस्फुटित हुई । पत्र के स्वामी को गोरी सरकार का भय लगा; यद्यपि प्रारम्भ में वे कांग्रेस के पक्ष-पाती थे और कांग्रेस के समर्थन के लिए ही उन्होंने इंगलैण्ड में पत्र का प्रकाशन किया था । पर अब तक शासन की गंध और वैभव के रंगों ने देशभक्ति के नशे को फीका कर दिया था अतः उन्हें निर्भीक पत्रकार गुप्त जी को अपने पत्र से पृथक करने के लिए विवश होना पड़ा । कुल दो वर्ष कार्य करके गुप्त जी पत्र से अलग हो गए थे ।

'हिन्दोस्थान' पत्र में गुप्त जी को महान् प्रतिष्ठा मिली थी । पत्र के

१—हिन्दोस्थान, ६–२६ अप्रैल तथा २७ मई सन् १८६० ई० ।

२—वही वही ।

३—हिदोस्थान, ३ मई सन् १८६० ई० ।

४—वही वही ।

सम्पादक और मैनेजर राजा साहब स्वयं रहते थे। किन्तु मालवीय जी को यह श्रेय प्राप्त था कि उनकी उपस्थिति में सम्पादकीय स्तम्भ में उनका नाम लिखा जाता था, राजा साहब का नहीं। जब मालवीय जी कानून का अध्ययन करने चले गए तब गुप्त जी सहकारी सम्पादकों की मण्डली के प्रधान नियुक्त हुए। उस समय मुखिया का कार्य वही कर रहे थे। 'हिन्दोस्थान' द्वारा गुप्त जी ने हिन्दी भाषा और साहित्य की अमूल्य सेवा की है।

१ फरवरी सन् १८९१ के दिन हिन्दोस्थान कार्यालय में राजा साहब ने गुप्त जी को पृथक् करने की आज्ञा प्रसारित कर दी थी, अतः उसी समय से गुप्त जी अलग हो गये। तत्पचात् लगभग दो वर्ष घर पर व्यतीत करके उन्हें 'हिन्दी बंगवासी' में सह-सम्पादक के रूप में जाने का अवसर प्राप्त हुआ; यह सन् १८९३ ई० की बात है। 'हिन्दी बंगवासी' में आकर गुप्त जी ने हिन्दी का बड़ा हित किया। कलकत्ता की भूमि हिन्दी के लिए बड़ी उपयुक्त और उर्बर थी पर अब तक भली प्रकार बीजारोपण नहीं किया गया था। पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र, पं० गोविन्दनारायण शास्त्री तथा अमृतलाल चक्रवर्ती आदि महानुभावों द्वारा भली प्रकार सींची और तैयार की हुई भूमि में चतुर किसान के रूप में गुप्त जी ने हिन्दी-प्रेम और देश भक्ति के बीज बोये।

हिन्दी-पत्रकारिता के उत्कर्ष और हिन्दी के प्रसार में 'हिन्दी बंगवासी' द्वारा गुप्त जी ने जो सफलता प्राप्त की थी, वह अन्य पत्र-सम्पादकों को कम मिल सकी। इस सफलता का प्रथम कारण तो यह था कि पत्र-सम्पादक सर्व-मान्य भाषा का रूप न अपना सके थे। यद्यपि सन् १८७३ ई० में हिन्दी नई चाल में ढल चुकी थी, फिर भी भाषा का वह सार्वजनिक रूप सम्पादकों की व्यक्तिगत रुचि और वैयक्तिक प्रवृत्ति के कारण दलदल में पड़ गया था। गुप्त जी ने भारतेन्दु की भाषा को पुनर्जीवित किया था। 'हिन्दी-बंगवासी' की भाषा पाठक वर्ग के लिए आकर्षण का महान् कारण थी। भाषा ही नहीं, पत्रकार कला का भी बंगवासी द्वारा विकास हुआ। उससे पूर्व के पत्र प्रायः चार-पाँच वर्ष तक जीवित रह कर समाप्त हो जाया करते थे और जीवन काल में भी वे अधिक गाहक आकर्षित न कर सके थे। तत्कालीन पत्र-साहित्य की प्रगति के अभाव पर विचार करते हुए डा० रामरतन भटनागर ने छः कारण बताए हैं। उनमें से दूसरा कारण हिन्दी पत्रों का अन्य पत्रों से समाचार लेकर प्रकाशित करना था।[1] सार्वजनिक उपयोग की भाषा और ताजे तथा समुचित

१—डा० रामरतन, दि राइज एण्ड ग्रोथ ऑव हिन्दी जनरलिज्म, १८२६-१९४५ पृ० १०८

समाचारों के अभाव के कारण हिन्दी-पत्रकारिता अपकर्ष और अवनति के मार्ग पर चल रही थी गुप्त जी ने 'हिन्दी बंगवासी' द्वारा दोनों अभावों को पूर्ण कर दिया था। गुप्त जी द्वारा लिखित 'हिन्दी भाषा' की भूमिका लिखते समय श्री अमृतलाल चक्रवर्ती ने गुप्त जी द्वारा की गई भाषा की उन्नति के विषय में उल्लेख किया है।[1] जहाँ तक पत्र के लिए सत्य और ताजे समाचार एकत्रित करने का प्रश्न है, गुप्त जी की डायरी अवलोकनीय है। कलकत्ता में साम्प्रदायिक झगड़ों की मारपीट मची हुई थी, उसी को देखने के लिए दोपहर को गुप्त जी बाबू पांचकौड़ी चट्टोपाध्याय, अमृतलाल चक्रवर्ती तथा प्रभुदयाल पांडे के साथ गए थे।[2] १२ जून सन् १८९७ ई० की डायरी से प्रतीत होता है कि भूकम्प से पीड़ित जनता का हाल देखने के लिये भी वे अपनी मण्डली के साथ गए थे। इस प्रकार नगर के छोटे-से-छोटे समाचार से लेकर तत्कालीन युद्धों के समाचार भी पत्र में शीघ्रातिशीघ्र प्रकाशित करके गुप्त जी ने आलोच्य पत्र को उपयोगी और सच्चे अर्थ में समाचार पत्र बनाया था। गुप्त जी द्वारा सम्पादित 'हिन्दी बंगवासी' की प्रशंसा में लिखे श्री शिवाधार पांण्डे के शब्द विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। "......दो सतरों में पढ़ते हैं कि यूनानियों ने फलानी लड़ाई जीत ली—इतने यूनानी मरे, इतने तुर्क और दस सतरों में देखते हैं कि जोड़ा बगान के फलाने गाड़ी वाले से फलाने गाड़ी वाले की कैसी ठनी, क्या-क्या फव्वारे छूटे, कैसे गुत्थम गुत्था हुआ !! और पत्र प्रेषकों का उत्तर ? धन्य ! धन्य ! गागर में सागर ! बड़े-बड़े मिनिस्टर आवें, मात हो जायँ। कई वर्ष बाद मालूम हुआ, यह सब जादू किसके हाथ का खेल था। बालमुकुन्द गुप्त ! जिस लोक में तुम हो, नये-नये आनन्द उड़ाओ ! बड़े-बड़े लड्डू-पेड़े खाओ।"[3] स्पष्ट है कि 'हिन्दी बंगवासी' की प्रगति में गुप्त जी की लेखनी का कौशल था। आपने पत्र को पत्र बनाया; छोटे से लेकर बड़े से बड़े समाचार प्रकाशित किए; राष्ट्र प्रेम, समाज सुधार तथा जातीय सुधार संबंधी लेख लिखे; कहानी, उपन्यास, कविताएँ तथा अनेकानेक निबन्ध प्रकाशित किए। इस प्रकार 'हिन्दी बंगवासी' द्वारा गुप्त जी ने हिन्दी भाषा और हिन्दी-पत्रकारिता दोनों का उत्कर्ष किया। 'हिन्दी बंगवासी' की प्राचीन फाइलों के नष्ट हो जाने से गुप्त जी द्वारा साहित्य निर्माण और पत्रकारिता के विकास

१—बालमुकुन्द गुप्त, हिन्दी भाषा, भूमिका, पृ०

२—गुप्त जी की डायरी, मंगलवार ३ मई, सन् १८९८ ई०।

३—सरस्वती, सन् १९२२, पृ० १४६।

के क्षेत्र में किए गए कार्य का विस्तृत विवेचन आज सम्भव नहीं है। यदि 'हिन्दी बंगवासी' की फाइलें वर्तमान होतीं तो गुप्त जी द्वारा किए गए कार्य की गुरुता का ज्ञान होता।

'हिन्दी बंगवासी' सम्पादन काल के दो स्मृति चिन्ह साहित्य में सर्वथैव विद्यमान रहेंगे और वे हैं—श्री हर्ष की रत्नावली नाटिका का 'हिन्दी अनुवाद' तथा सन्त हरिदास पर लिखी उनकी पुस्तक 'हरिदास'। इनमें 'रत्नावली' नाटिका का तो स्वयं एक महत्वशाली इतिहास है जिसका आपने 'रत्नावली' के द्वितीय संस्करण की भूमिका में उल्लेख किया है। 'हिन्दी बंगवासी' में सर्वप्रथम गुप्त जी द्वारा लिखा हुआ 'मडेल भगिनी' का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हुआ था। यह पुस्तक बंगला से अनुवादित थी। दूसरे अनुवाद के पीछे भी एक घटना है जिसका साहित्यिक महत्व है और जिसे गुप्त जी को 'बंगवासी' के कार्यालय में पहुँचाने का श्रेय भी प्राप्त है। इसके अतिरिक्त गुप्त जी ने 'हिन्दी बंगवासी' में अधिक लिखा था। पत्र बहुत बड़ा और लम्बे-चौड़े कलेवर का होता था। उसका कोई कालम किसी के लिए निश्चित न था। प्रायः सभी लोग मिलकर लिखा करते थे। इस व्यवस्था के होने पर भी पत्र का अधिकाँश भाग गुप्त जी की लेखनी से ही पूर्ण होता था। गुप्त जी की बहुत सी कविताएँ 'हिन्दी बंगवासी' में प्रकाशित हुई थीं। उनमें से कुछ प्रधान कविताएँ निम्नलिखित हैं। 'पुरानी दिल्ली'[१] नामक कविता, जो भारत के ऐतिहासिक नगर की प्राचीन गौरव-गाथा का चित्र अङ्कित करती है और काल के घातक प्रभाव को बताती है, इसी पत्र में प्रकाशित हुई थी। 'स्वर्गीय कवि'[२] नामक कविता पं० प्रताप नारायण मिश्र के देहावसान पर लिखी गई थी और उक्त पत्र में छपी थी। 'जय रामचन्द'[३] नामक कविता जिसमें भक्ति कालीन कवियों की पद्धति पर मर्यादा पुरुषोत्तम राम का स्तवन किया गया है; जो कवि की भक्ति और वैष्णव भावना का प्रतीक है तथा जो तत्कालीन सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों का यथार्थ अङ्कन करती है; इसी पत्र में निकली थी। 'सभ्य होली'[४], 'जोरूदास'[५] और 'सभ्य बीबी[६]' तीन हँसी-

---

१—हिन्दी बंगवासी, २५ जून सन् १८९४ ई०।
२— वही, ३० जुलाई सन् १८९४ ई०।
३— वही, ८ अक्टूबर सन् १८९४ ई०।
४— वही, ११ मार्च सन् १८९५ ई०।
५— वही, वही।
६— वही, वही।

दिल्लगी की कविताएँ तथा 'भैंस का स्वर्ग'[१], 'पक्का प्रेम'[२] और 'सभ्य बीबी की चिट्ठी'[३] नामक तीन व्यंग्यात्मक कविताएँ इसी पत्र में निकलीं थीं। देवी के आह्वान में लिखी गई 'आगवनी'[४] नामक कविता जो देश की दुर्दशाग्रस्त अवस्था का भी अङ्कन करती है तथा शरद ऋतु के मनमोहक चित्र अङ्कित करने वाली 'शारदीय पूजा'[५] नामक कविताएँ भी इसी पत्र में प्रकाशित हुई थीं। 'तकरीरमुँहजवानी'[६], 'विरह'[७] तथा 'मिलन'[८] नामक चुटीले व्यंग्य प्रधान कविताएँ और भारत के दैन्य-दारिद्रय पीड़ित जनता के प्रति कवि की सहानुभूति व्यक्त करने वाली कविता 'जय लक्ष्मी'[९] भी इसी पत्र में छपी थी। 'कलियुग के हनुमान'[१०],'विज्ञ विरहनी'[११],'जोगीडा'[१२],'देशोद्धार की तान'[१३], 'पातिव्रत'[१४], 'जयदुर्गे'[१५], 'प्रार्थना'[१६], 'लक्ष्मी-स्तोत्र,[१७], और 'चूहों का मातम'[१८], नामक कविताएँ जो गुप्त जी की विचार-धारा का प्रतिनिधित्व करती हैं समय-समय पर उक्त पत्र में प्रकाशित हुई थीं। इन सम्पूर्ण कविताओं तथा लेखमाला को देखकर यह कहना अनुचित न होगा कि गुप्त जी के साहित्य

१— वही , २० मई सन १८९५ ई०।
२— वही , वही ।
३— वही , २३ सितम्बर सन् १८९५ ई०।
४— वही , वही ।
५— वही , वही ।
६— वही , २० जून सन् १८९६ ई०।
७— वही , वही ।
८— वही , वही ।
९—हिन्दी बंगवासी, २ नवम्बर सन् १८९६ ई०।
१०— वही , ८ मार्च सन् १८९७ ई०।
११— वही , २२ मार्च सन् १८९७ ई०।
१२— वही , वही ।
१३— वही , १९ अप्रैल सन् १८९७ ई०।
१४— वही , वही ।
१५— वही , ४ सितम्बर सन् १८९७ ई७।
१६— वही , वही ।
१७— वही , १ नवम्बर सन् १८९७ ई०।
१८— वही , २३ मई सन् १८९८ ई०।

का बहुत बड़ा भाग 'हिन्दी बंगवासी'––काल में रचा गया था और 'हिन्दी बंगवासी' द्वारा गुप्त जी भाषा और साहित्य के क्षेत्र में महान् परिवर्तन लाने में सफल हुए थे। इसी पत्र द्वारा उन्होंने हिन्दी भाषा के रूप की स्थापना की तथा नवीन-शब्द और उनके प्रयोगों को जन्म तथा स्थायित्व प्रदान किया था। अमृतलाल जी चक्रवर्ती की लेखनी द्वारा निःसृत शब्द गुप्त जी के 'हिन्दी बंगवासी' के कार्य के सम्बन्ध में अधिक महत्वपूर्ण हैं। उन्होंने आँखों देखा हाल इस प्रकार लिखा था––"......जिस समय उन्होंने 'हिन्दी बंगवासी' में आकर हिन्दी लिखने में परिश्रम करना आरम्भ किया था, उस समय की हिन्दी से वर्तमान हिन्दी की तुलना करने वाले निःसंकोच कह देंगे कि हिन्दी भाषा के लिए मानो युगान्तर उपस्थित हुआ है। अवश्य ही उससे बहुत पहले आधुनिक हिन्दी के पिता-स्वरूप स्वर्गीय बाबू हरिश्चन्द्र मार्जित हिन्दी का उत्तम आदर्श छोड़ गये थे; किन्तु उस समय के लेखक प्रायः किसी आदर्श के अवलम्बन से भाषा लिखकर भाषा की भविष्य श्री वृद्धि के लिए प्रयत्न करने का लक्षण नहीं दिखाते थे। सब अपनी-अपनी डफली अलग बजाते हुए भाषा में एकता लाने के बदले अनैक्य बढ़ाने में ही बहादुरी समझते थे। अब भी एकाध ऐसी विचित्र प्रकृति के लेखक नहीं मिलते हैं, ऐसा नहीं; बंगाल से लेकर बिहार, संयुक्त प्रान्त, पंजाब, मध्य प्रदेश, राजस्थान––प्रत्येक हिन्दी भूमि की हिन्दी बहुत कुछ एक ही लेखक की लेखनी से निकली हुई प्रतीत होती है। ध्यान से भाषा का विचार करने वाले आनन्द के साथ इस परिवर्तन का अनुभव करते होंगे। इस परिवर्तन में बाबू बालमुकुन्द का परिश्रम साधारण नहीं।"[१]

श्री अमृतलाल चक्रवर्ती के उपर्युक्त शब्दों से 'हिन्दी बंगवासी' द्वारा साहित्य के क्षेत्र में गुप्त जी के कार्यों की गुरुता और महत्ता का अनुमान होता है। प्रभुदयाल पाण्डे ब्रज निवासी, अमृतलाल जी बंगाली तथा गुप्त जी दिल्ली प्रान्त के निवासी थे। तीनों सज्जन अपने-अपने प्रान्त में बोली जाने वाली भाषा के पण्डित थे, अतः शब्दों का प्रयोग भली प्रकार सोच समझ कर करते थे। इस प्रकार हिन्दी की श्री वृद्धि करने के लिए उन्होंने कठिन परिश्रम किया था। चक्रवर्ती जी का यह कथन कि "हिन्दी बंगवासी और भारत मित्र में उनके लिखे लेखों को इकट्ठा करने पर महाभारत से कहीं बड़ा ग्रंथ बन सकता है।"[२] अधिकांशतः सत्य है। यथार्थ में 'हिन्दी बंगवासी' में आकर गुप्त जी

१––बालमुकुन्द गुप्त, हिन्दी भाषा, भूमिका, पृ० :॥~: और :॥=:।

२–– वही, पृ० :॥≡:

ने हिन्दी की बड़ी सेवायें कीं थीं । आप उक्त पत्र में सन् १८९८ ई० के अन्त तक रहे थे। लगभग छः वर्ष में उन्होंने इतना लिखा था कि दूसरे बीसियों वर्ष में इतना नहीं लिख पाते ।

हिन्दी पत्रिकाओं में प्रकाशित गुप्त जी की रचनायें—

पीछे उल्लेख किया जा चुका है कि अधिकतर 'हिन्दोस्थान' और 'हिन्दी बंगवासी' में गुप्त जी की गद्य-पद्य की रचनायें प्रकाशित हुई थीं । 'भारत मित्र' तो उनका विशेष पत्र था ही । अतः आठ वर्ष की साहित्य-साधना के काल में लिखीं लगभग सभी रचनाएँ उक्त पत्र में प्रकाशित हुई थीं । इन तीनों पत्रों के अतिरिक्त गुप्त जी दूसरे पत्रों के लिए भी लेख तथा कवितायें भेजते रहते थे। जब सन् १८९२ ई० में कार्तिकप्रसाद खत्री, कविवर रत्नाकर बी० ए०, बाबू राधाकृष्णदास तथा देवकीनन्दन खत्री आदि सज्जनों के प्रबन्ध से 'साहित्य सुधानिधि' प्रकाशित हुआ था, उस समय बाबू देवकीनन्दन खत्री की प्रेरणा से माधवप्रसाद जी ने पत्र लिख कर गुप्त जी से सहयोग की याचना की थी । पत्र के प्रकाशित होने पर प्रथम अंक गुप्त जी के पास भेजा गया जिसकी आलोचना 'भारत प्रताप' में गुप्त जी ने लिखी । इसी अंक को बाबू कार्तिकप्रसाद खत्री ने अपने १७ मार्च सन् १८९३ ई० के पत्र द्वारा गुप्त जी से माँगा था ।

'साहित्य-सुधा-निधि' के विषय में जो कुछ गुप्त जी ने लिखा था, उसका आभास खत्री जी के उक्त पत्र से ही मिल जाता है। खत्री जी ने लिखा है— आपने लिखा कि सा० सु० नि० लेख की ओर से कमजोर है सो प्यारे यह पत्र तो आप ही जैसे सज्जनों के भरोसे पर प्रकाशित हुआ है। जैसा चाहिये लिखिये साहित्य की जिससे पुष्टी हो वह उपाय कीजिये ।"[१] इन पंक्तियों से यह स्पष्ट है कि 'साहित्य सुधा निधि' के संचालकों ने गुप्त जी को पत्र का स्तर उन्नत करने तथा मूलतः साहित्य उन्नयन की भावना को उक्त पत्र में लिखने के लिए उनसे आग्रह किया था। अस्तु गुप्त जी ने अवसर का लाभ उठाया और 'साहित्य सुधा निधि' में प्रकाशनार्थ 'वसन्तोत्सव' नाम की कविता भेजी, जिसके छपने की सूचना बाबू कार्तिकप्रसाद खत्री ने २ अप्रैल सन् १८९३ ई० के पत्र द्वारा भेजी थी । इस कविता का कुछ भाग ही प्रकाशित हुआ था, अतः खत्री जी ने शेष भाग को भेज देने के लिये भी लिखा था ।

१—श्री नवलकिशोर गुप्त, १४७ हरिसन रोड, कलकत्ता के यहाँ सुरक्षित कार्तिकप्रसाद खत्री का १७ मार्च सन् १८९३ ई० का पत्र ।

खत्री जी ने एक पत्र १६ मार्च सन् १८९३ ई० के द्वारा गुप्त जी की कविता की पहुँच की स्वीकृति भेजी थी और लेख भेजने के लिये आग्रह किया था। इस पत्र-व्यवहार से यह स्पष्टतः प्रकट हो जाता है कि गुप्त जी 'साहित्य सुधा निधि' में अपने लेख और कवितायें भेजते रहते थे।

भारत मित्र और बालमुकुन्द गुप्त—

'भारत मित्र' का सम्पादन काल गुप्त जी के जीवन-इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखे जाने के योग्य समय था। आपने उक्त पत्र के कार्यालय में मध्य जनवरी सन् १८९९ ई० में प्रवेश किया था। सर्व प्रथम १६ जनवरी सन् १८९९ ई० का 'भारत मित्र' गुप्त जी की लेखनी द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित हुआ था। प्रवेश की तिथि से लेकर मृत्यु तक गुप्त जी 'भारत मित्र' द्वारा ही साहित्य की सेवा करते रहे। 'भारत मित्र' में गुप्त जी का कार्य-काल हिन्दी-साहित्य के उत्थान का इतिहास, भाषा के निर्माण की कथा तथा राष्ट्रीय काव्य की मनोहर गाथा है।

'भारत मित्र' का प्रकाशन ज्येष्ठ कृष्णा प्रतिपदा सम्वत् १९३५ वि० (१७ मई सन् १८७८ ई०) को हुआ था। पं० छोटूलाल मित्र तथा पं० दुर्गाप्रसाद मित्र इस पत्र के जन्मदाता तथा आदि सम्पादक थे। प्रारम्भ में यह पत्र पाक्षिक था और दसवीं संख्या से साप्ताहिक हो गया था। लगभग पाँच वर्ष तक उक्त दोनों सज्जन इसका सम्पादन करते रहे। वह काल ऐसा था कि नागरी का मुद्रणालय भी न था। हिन्दी पत्र प्रायः बंगला प्रेस में छपा करते थे, किन्तु 'भारत-मित्र' को ८ मई सन् १८७९ ई० से ही अपने निज के मुद्रणालय में छपने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। २५ अक्टूबर सन् १८८३ ई० को पं० हरमुकुन्द शास्त्री ने उस पत्र का सम्पादन अङ्गीकार किया था और कई वर्ष तक उसका सम्पादन भी किया। यह पत्र सन् १८९७ ई० में दैनिक हुआ पर प्रबन्धपटुता के अभाव में उसे बन्द होना पड़ा। साप्ताहिक पत्र पूर्ववत् चलता रहा था। दैनिक 'भारत मित्र' का बन्द होना उसके ग्राहकों को अच्छा न लगा, अतः सन् १८९८ में पुनः दैनिक प्रारम्भ हुआ। उस समय साप्ताहिक बन्द रहा; दैनिक पत्रों को जोड़कर ही साप्ताहिक बना दिया जाता था। जनवरी सन् १८९९ ई० में पत्र का कलेवर दो शीट रायल आकार के चार पृष्ठों से और अधिक बढ़ गया था। उसी समय से गुप्त जी के हाथ में उसका प्रबन्ध तथा प्रकाशन सभी कुछ आ गया था। वही क्षण

'भारत मित्र' के लिये गौरवपूर्ण तथा महत्वशाली था। एक कुशल सम्पादक तथा प्रबन्ध-पटु व्यवस्थापक का संरक्षण पाकर 'भारत मित्र' अहर्निश उन्नति करता चला गया था।

'भारत मित्र' में आते ही उन्होंने पत्र के प्रथम अङ्क ही में अपनी 'दिल्ली से कलकत्ता' यात्रा का वर्णन किया था; जो उनकी परिवर्तित विचार-धारा तथा राजनीतिक उग्रता का ही द्योतन नहीं करता, प्रत्युत गोरी जाति द्वारा भारतीयों के साथ किए गए कुव्यवहार की स्पष्ट रूप रेखा उपस्थित करता है।

इस समय गुप्त जी का ध्यान पहले से ही 'बंगवासी' के धर्म-भवन की ओर था, जो प्रत्यक्ष रूप से गुप्त जी के 'हिन्दी बंगवासी' से पृथक होने का भी उत्तरदायी था। यहाँ आते ही गुप्त जी की स्मृति पुनः ताजी हो उठी और उन्होंने धर्म-भवन वाले प्रश्न पर लिखना प्रारम्भ कर दिया। बात इस प्रकार थी—'हिन्दी बंगवासी' वालों ने राजपूताने के राजाओं से धर्म के नाम पर रुपये लेकर कलकत्ते में एक धर्म-भवन बनाने की आयोजना की थी। एतदर्थ उन्हें १७०० रुपये प्राप्त हो गये थे और बड़ा बाजार कलकत्ता से भी कुछ रुपये एकत्र हो गए थे, किन्तु पं० दीनदयालु शास्त्री के प्रभाव से उक्त रुपए 'बंगवासी' को न मिल सके। फलस्वरूप पण्डित जी 'बंगवासी' के कोपभाजन बने और गुप्त जी ने उनका असम्मान होने से पूर्व उक्त पत्र से त्याग-पत्र दे दिया था। 'धर्म-भवन' पर लिखने का उद्देश्य वस्तुस्थिति को स्पष्ट करना और दोषी पक्ष की दुर्नीति एवम् स्वार्थलिप्सा को प्रकट करना था।

इस विषय में गुप्त जी ने नौ लेख लिखे थे—धर्म भवन[१], धन्य हिन्दुत्व[२], पाँच कौड़ी भी नहीं,[३] बासी कढ़ी में उफान,[४] भवनान्द पिंडलोप,[५] तुम्हारा क्या,[६] बेहयाई तुम्हारा ही आसरा,[७] विज्ञ सहयोगी,[८] और खिताब की

१—भारत मित्र, २६ जनवरी सन् १८९९।
२— वही, ६ फरवरी सन् १८९९।
३— वही, १३ फरवरी सन् १८९९ ई०।
४— वही, १७ अप्रैल सन् १८९९ ई०।
५— वही, १५ मई सन् १८९९।
५— वही, ५ जून सन् १८९९ ई०।
७— वही, ३ जुलाई सन् १८९९ ई०।
८— वही, २७ नवम्बर सन् १८९९ ई०।

तलाश, ।[१] इन लेखों द्वारा लेखक ने 'बंगवासी' की चाल का पर्दाफाश कर दिया था। इसका फल यह हुआ कि धर्म के नाम पर एकत्रित रुपये का दुरुपयोग होना रुक गया और 'बंगवासी' तथा 'हिन्दी बंगवासी' की प्रतिष्ठा को बड़ी चोट लगी; साथ ही 'भारत मित्र' की धाक बंध गई और मारवाड़ी समाज का वह प्रिय पत्र बन गया।

गुप्त जी मारवाड़ी समाज की उन बुराइयों की कटु आलोचना भी करते रहते थे, जो नवशिक्षित व्यक्तियों में आचार-विचार हीनता, दुराचार तथा विलासिता के रूप में शनैः शनैः विकसित होती जा रही थी। 'घरपाय आया'[२] नामक लेख द्वारा आपने मारवाड़ी समाज पर कठोर व्यंग्य किया है।

धर्म-भवन के विवाद से सम्बन्धित लेखमाला पूरी समाप्त भी न हो पाई थी कि हिन्दी के अन्य भक्तों की भाँति गुप्त जी का ध्यान भी हिन्दी भाषा और नागरी लिपि के प्रचार की ओर आकृष्ट हुआ। उन्हीं दिनों १८ अप्रैल सन् १९०० ई० के दिन संयुक्त प्रान्त के गवर्नर की आज्ञा से अदालतों और सरकारी कार्यालयों में नागरी को प्रवेश पाने की अनुमति मिल गई थी। इस सूचना को पाकर उर्दू-पक्षपाती बौखला उठे थे और प्रत्यक्ष रूप से उन्होंने हिन्दी-विरोधी कार्य करने की योजना तैयार करली थी। गुप्त जी ने उस समय अपने कर्त्तव्य की ओर ध्यान दिया। आपने दोनों पक्षों को संयत रहने और भाषा तथा लिपि की वस्तुस्थिति को समझने के लिए परामर्श दिए। इस विवाद में आपका दृष्टिकोण भारत के लिए उपयोगी भाषा तथा वैज्ञानिक लिपि का समर्थन करना था। एतद्विषयक उनके लगभग एक दर्जन लेख आलोच्य पत्र में प्रकाशित हुए थे जिनके विषय में विस्तार के साथ विचार अध्याय आठ में किया गया है।

'भारत मित्र' द्वारा गुप्त जी हिन्दी-प्रचार का कार्य तो तन्मयता के साथ करते ही रहे थे। साथ ही सुरुचिपूर्ण उत्कृष्ट तथा लोक मगंलकारी साहित्य-सृजन की अनिवार्यता अनुभव करके साहित्यान्तर्गत होने वाली भद्दी नकल की ओर भी उनका ध्यान आकर्षित हुआ था और उसके प्रचार अवरोधनार्थ आपने अनेक प्रयत्न भी किये थे। सबसे प्रथम आपने पं० श्रीधर पाठक की रचनाओं की भद्दी अनुकृति करने वाले सुशील कवि को उचित मार्ग पर लाने

१—भारतमित्र, २८ मई सन् १९०० ई०।

२— वही, १९ मार्च सन् १९०० ई०।

के लिये 'कविता पर कविता'[१] नामक एक आलोचनात्मक लेख लिखा था। कामशास्त्र पर लिखी लाला शालिग्राम की पुस्तक की आलोचना भी गुप्त जी ने इसी पत्र द्वारा की थी।[२] इनके अतिरिक्त 'भारत जीवन' के मालिक बाबू रामकृष्ण वर्मा द्वारा बंगला से अनुवादित 'चित्तौड़ की चातकी'[३] या 'अश्रुमती' नाटक की आलोचना, 'तुलसी सुधाकर'[४] 'अधखिला फूल'[५], 'तारा'[६] उपन्यास, 'प्रवासी की आलोचना',[७] 'बंगला साहित्य पर विवेचनात्मक लेख'[८], और 'गुलशने हिन्द'[९], आदि पुस्तकों पर लिखी गुप्त जी की आलोचनाएँ आलोच्य पत्र में ही प्रकाशित हुई थीं।

बम्बई के पत्र श्री 'बेंकटेश्वर समाचार' के साथ 'शेष' शब्द पर आपका विवाद भारत मित्र में ही चला था। 'भारत मित्र' उन दिनों साहित्य के सर्वोत्कृष्ट विवादों को प्रकाशित करने वाला पत्र था। पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी जी के साथ चलने वाला 'अनस्थिरता' विषयक विवाद भी इसी पत्र में प्रकाशित होता रहा था। गुप्त जी के प्रसिद्ध निबन्ध 'शिवशम्भु के चिट्ठे' शिवशम्भु के नाम से इसी पत्र में प्रकाशित हुए थे। 'हिन्दी अखबार' वाली उनकी लेखमाला भारत-मित्र में ही प्रकाशित हुई थी। साहित्यिक विभूतियों तथा एतिहासिक व्यक्तियों पं० प्रतापनारायण मिश्र,[१०], पं० देवकीनन्दन तिवारी[११], साहित्याचार्य पं० अम्बिका दत्त व्यास[१२], पण्डित देवीसहाय[१३],

---

१—भारत मित्र, २१ अगस्त सन् १९०० ई०।
२— वही, ५ फरवरी सन् १८९९ ई०।
३— वही, २८ सितम्बर सन् १९०१ ई०।
४— वही, सन् १९०२ ई०।
५— वही, सन् १९०५ ई०।
६— वही, सन् १९०३ ई०।
७— वही। सन् १९०३ ई०।
८— वही, सन् १९०३ ई०।
९— वही, सन् १९०७ ई०।
१०— वही, सन् १९०७ ई०।
११— वही, सन् १९०५ ई०।
१२— वही, सन् १९०० ई०।
१३— वही, सन् १९०३ ई०।

पाण्डे प्रभुदयाल[१], बाबू रामदीनसिंह[२], योगेन्द्र चन्द्र वसु[३], पं० गौरीदत्त[४], पं० माधवप्रसाद मिश्र[५], मुन्शी देवीप्रसाद[६], हरबर्ट, स्पेन्सर[७], मैक्समूलर[८], अकबर बादशाह[९], टोडरमल[१०], शेखसादी[११] तथा शाइस्ता खाँ[१२], आदि पर उनके लेख भारत मित्र में लिखे गए थे।

'भारत मित्र' द्वारा गुप्त जी ने केवल साहित्य सृजन एवं साहित्य-सुधार ही नहीं किया, अपितु समाज-सुधार सम्बन्धी कई आन्दोलन उन्होंने 'भारत मित्र' द्वारा चलाये थे। कई सार्वजनिक संस्था-स्थापनार्थ प्रचार किया था और उनके चिरस्थायित्व के अनुरूप वातावरण बनाया था। इनके 'भारत मित्र' में आने से पूर्व बड़ा-बाजार की हिन्दी-भाषी-जनता में न इतनी जागृति थी और न उनके विचारों में प्रगति। 'भारत मित्र' में प्रकाशित गुप्त जी के लेखों ने इन अभावों का परिहार किया था और व्यावसायिक जीवन में केन्द्रित रहने वाले मारवाड़ी समाज में सार्वजनिक कार्यों के प्रति अनुराग और सहयोग की भावना उत्पन्न कर दी थी। इसी कारण 'भारत मित्र' बड़ा-बाज़ार का प्रमुख पत्र माना जाने लगा था। 'भारत मित्र' द्वारा ही गुप्त जी ने 'पिंजरा पोल' की चिन्त्यावस्था का ज्ञान सर्व साधारण को कराया था। एतद्विषयक इसके तीन लेख प्रकाशित हुए थे—प्रथम लेख 'पिंजरा पोल की व्यवस्था'[१३], दूसरा 'पिंजरा पोल की पोल'[१४], और तीसरा लेख 'पिंजरा पोल'[१५]।

१—भारत मित्र २८ सितम्बर सन् १९०३ ई०।
२— वही, सन् १९०३ ई०।
३— वही, सन् १९०५ ई०।
४— वही, सन् १९०० ई०।
५— वही, सन् १९०७ ई०।
६— वही, सन् १९०० ई०।
७— यही, सन् १९०४ ई०।
८— वही, सन् १९०० ई०।
९— वही, सन् १९०५ ई०।
१०— वही, सन् १९०४ ई०।
११— वही, सन् १९०१ ई०।
१२— वही, सन् १९०५ ई०।
११— वही, सन् १९०२ ई०।
१२— वही, सन् १९०३ ई०।
१३— वही, वही।

अँग्रेजी सभ्यता से आपाद-मस्तक प्रभावित भारतीय जो सांसारिक उन्नति को लक्ष्य करके ईसाई होते जाते थे और जिनके विचारों में भारत का दर्शन कोई महत्व नहीं रखता था—ऐसे लोगों को लक्ष्य करके आपने जो कुछ लिखा था उससे प्रतीक स्वरूप दो लेख—'उन्नति की सीढ़ी'[१], और 'बाबू की विवेचना'[२], आज विद्यमान हैं। लार्ड एलगिन के भारत से प्रत्यावर्तन करते समय गुप्त जी ने 'लार्ड एलगिन का प्रस्थान'[३] नाम से लेख प्रकाशित किया था। इस लेख में लार्ड एलगिन के कुशासन की आलोचना और अँग्रेजी राज्य के प्रति भारतीय भावना का सफल अंकन किया गया है।

बंगाल-विभाजन—१६ अक्टूबर सन् १९०५ ई० के उपरान्त भारत में राजनीतिक-उग्रता तथा स्वदेशी आन्दोलन का ज्वार आ गया था। बंगाल विशेषतः उन दिनों राष्ट्रीय जागरण एवं सांस्कृतिक चेतना का प्रमुख क्षेत्र बन चुका था। गुप्त जी द्वारा लिखीं गई राष्ट्रीय जागरण और राजनीतिक चेतना की प्रतिनिधि रचनाएँ उस समय भारतमित्र में ही प्रकाशित हुई थीं। इसके अतिरिक्त आपकी 'पंजाब में लायल्टी' नामक कविता, जो उनके राजनीतिक विचार उग्रता का मापदंड है, उक्त पत्र में प्रकाशित हुई थी। यही नहीं, देवी-देवताओं की स्तुति सम्बन्धी कविताएं जिनमें देश-दशा का चित्रण ही प्रमुख है, इसी पत्र में छपीं थीं। 'भारत मित्र' उनके व्यंग्य और विनोद का भी साधन था, 'वसन्त-विनोद', 'हँसी-दिल्लगी' की अन्य कवितायें तथा 'जोगीड़ा' आदि लोक गीत भी इसी पत्र में छपे थे। गुप्त जी के प्रसिद्ध व्यंग्य-गीत 'टेसू' भी पाठकों तक 'भारत मित्र' द्वारा ही पहुँचे थे। आपके गद्य में राजनीति सम्बन्धी लेख 'कर्जन शाही'[४], 'शाइस्ता खाँ का खत फुलर के नाम'[५], 'शासन सुधार'[६], 'सिडीसन का युग'[७], 'फूलों की वर्षा'[८], 'दो दल'[९], 'कलकत्ते में लखनऊ'[१०],

---

१—भारत मित्र, २२ जनवरी सन् १९०० ई०।
२— वही ३ जुलाई सन् १८९९ ई०।
३— वही २ जनवरी सन् १८९९ ई०।
४—इस लेख की जो कटिंग मिलती है उस पर तिथि, वर्ष, पृष्ठ आदि नहीं मिलते।
५—भारत मित्र, २५ नवम्बर सन् १९०५ ई०।
६— वही सन् १९०७ ई०।
७— वही सन् १९०७ ई०।
८— वही सन् १९०७ ई०।
९— वही सन् १९०७ ई०।
१०— वही सन् १९०६ ई०।

तथा 'बहादुरशाह की गोर'[१], आदि प्रसिद्ध लेख भारत मित्र में प्रकाशित हुए थे। इतनी तीव्रता के साथ राजनीतिक विषयों पर सरकार की आलोचना करते हुए भी गुप्त जी ने अपने भविष्य की चिंता न की थी जब कि उन्हें प्रेस के 'गलाघोंटू' कानून का ज्ञान था। जिसकी कठोरता तथा निरंकुशता का उल्लेख राजा राममोहन राय ने अपने पत्र 'मीरात-उल अखबार' के विदाई अंक ४ अप्रैल सन् १८२३ को किया था।[२] इसके अतिरिक्त गुप्त जी यह भी जानते थे कि उसी पत्र के पूर्ववर्ती सम्पादक श्री रुद्रदत्त शर्मा को पत्र के मालिक ने कलकत्ता के प्रेसीडेन्सी मजिस्ट्रेट की आज्ञा पर पत्र से पृथक कर दिया था। कारण केवल उत्कोच लेने वाले मजिस्ट्रेट के विषय में 'पंच' प्रकाशित करना था।[3] इतना होने पर भी गुप्त जी ने अपने पत्र द्वारा स्वतन्त्रता आंदोलन में सहयोग दिया था।

'भारत मित्र' द्वारा गुप्त जी ने 'ब्रजभाषा से खड़ी बोली' वाले आंदोलन में योग दिया था। आप ब्रजभाषा के समर्थकों में से थे। आपने 'चाहते हैं सो होता नहीं' लेख द्वारा खड़ी बोली के समर्थकों के अभावों का उल्लेख किया था। एक मारवाड़ी की सानुप्रास कविता का उदाहरण देकर आपने लिखा था—"जो लोग बिना तुक, बिना यमक, बिना अनुप्रास और बिना किसी प्रकार के आडम्बर के कविता करना चाहते हैं वह कृपा करके बतायें कि उनके कहे हुए नियमों के अनुसार यह मारवाड़ी कवि अपना कवित्त किस प्रकार लिखता।"[४] इसी आंदोलन के सम्बन्ध में उनका दूसरा लेख 'खड़ी बोली'[५] शीर्षक से प्रकाशित हुआ था। इसमें आपने खड़ी बोली के समर्थकों को खड़ी बोली भाषा को सामान्य बोलचाल की भाषा के समीप लाने के परामर्श दिए हैं और खड़ी बोली भाषा के जन्म तथा विकास पर विचार किया है।

'भारत मित्र' के मालिक ने गुप्त जी को आश्वासन दिया था कि उनके कार्य में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया जायगा। वे सर्वदा उस प्रतिज्ञा पर आरूढ़ रहे। गुप्त जी ने 'भारत मित्र' को सर्वदा अपना निजी पत्र समझ

१—भारत मित्र, सन् १६०६ ई०।

२—अम्बिका प्रसाद वाजपेयी, समाचार पत्रों का इतिहास, पृ० ३६।

३—डा० रामरतन भटनागर, राइज़ एण्ड ग्रोथ ऑव हिन्दी जनरलिज्म, १८२६–१६४५, पृ० ४५३।

४—भारतमित्र, 'चाहते हैं सो होता नहीं', २० जुलाई सन् १६०० ई०।

५— वही १ जून सन् १६०१।

कर कुशलता के साथ चलाया। यही कारण था कि गुप्त जी के आगमन से पूर्व 'भारतमित्र' साधारण पत्र होते हुए भी उनके सम्पादकीय कौशल के कारण शीघ्र अपने युग का सर्वोत्कृष्ट पत्र बन गया था। कुल मिलाकर भारत मित्र ने ५७ वर्ष तक हिन्दी-भाषा और हिन्दी-भाषा-भाषियों की सेवा की थी। इसका कारण यह है कि जिस समय से भारत मित्र निकला उस समय से हिन्दी में अच्छे और तेजस्वी पत्रों के निकलने का क्रम प्रारम्भ हुआ था। यह कार्य गुप्त जी के समय में आकर विशिष्टता पूर्वक सम्पन्न हुआ, परिणामस्वरूप यह पत्र हिन्दी पत्रजगत् में व्यापकता एवं नवीनता लेकर उपस्थित हुआ था।

भारतमित्र द्वारा हिन्दी-पत्रकार कला में नवीन विकास—

हिन्दी-पत्र-साहित्य का इतिहास ज्येष्ठ बदी ९, सं० १८८३ वि० (ता० ३० मई सन् १८२६) से प्रारम्भ होता है क्योंकि इसी दिन 'उदन्त मार्त्तण्ड' प्रकाशित हुआ था। उक्त दिन से लेकर गुप्त जी द्वारा 'भारत मित्र' के प्रकाशित होने की तिथि, १६ जनवरी सन् १८९९ ई० तक जितने पत्र प्रकाशित हुए, वे अधिकांश में हिन्दी-पत्रकारिता के प्रथम काल के पत्र थे। इनमें कुछ पत्र ऐसे भी थे जो तिथि की दृष्टि से हिन्दी-पत्रकारिता के द्वितीय एवं तृतीय काल के पत्र थे, पर पत्रकार कला एवं पत्रकारिता के उत्कर्ष और विकास की दृष्टि से प्रथम काल के पत्रों जैसे ही थे। भारतेन्दु तथा उनके सहयोगियों द्वारा प्रकाशित पत्र अवश्य ऐसे थे जिनमें प्रकाशित लेख और कविताएँ समान रूप से आकर्षण के कारण बने हुए थे। ये पत्र राजनीति और समाज दोनों क्षेत्रों से सांस्कृतिक-हीन-भावना का परिहार करने में ही समर्थ न हुए थे, प्रत्युत उन्होंने पत्र-प्रकाशन और सम्पादकीय कला के क्षेत्र में भी परवर्ती पत्रकारों का पथ-प्रदर्शन किया था। भाषा और शैली की दृष्टि से इनमें से बहुत से पत्र अनुकरणीय हैं। इतना होने पर भी पत्रकार-कला का उस समय तक समुचित विकास न हो पाया था। उस समय पत्र-पत्रिकाओं का एक निश्चित तथा उत्कृष्ट स्तर न था, बहुत से पत्र प्रायः उद्देश्यहीन थे। उनके मुख पृष्ठ पर मोटे-मोटे अक्षरों में सिद्धान्त-वाक्य छपते थे किन्तु पत्र उनको क्रियात्मक स्वरूप देने में प्रायः असफल रहते थे। ग्राहक-संख्या बहुत कम थी। अधिकांशतः पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित लेख-सामग्री उन्नत स्तर की न होती थी। पत्रों के मूल्य में समता अथवा नियमन न था; प्रकाशित होने का काल भी नियमित न था। अधिकांश पत्र ठीक समय पर प्रकाशित न होते थे। कितने ही पत्र हिन्दी शिक्षित जनता को भी अपनी ओर आकृष्ट करने में

असमर्थ थे, उन्हें जनता का प्रतिनिधि नहीं कहा जा सकता था। हिन्दी के पत्र होते हुए भी हिन्दी भाषा की उन्नति और साहित्य के प्रचार एवं प्रसार में उनको अधिक रुचि न थी। अधिकांश पत्रों के विषय में यह बात चरितार्थ होती थी।

गुप्त जी के पूर्ववर्ती प्रतिनिधि पत्रों की अवस्था के सिंहावलोकन के उपरान्त तत्कालीन पत्र-साहित्य की वास्तविक अवस्था का ज्ञान हो जाता है। 'उदन्त मार्त्तण्ड' के उपरान्त हिन्दी-पत्रों में बनारस से 'बनारस अखबार' (१८४५ ई०), 'मालवा-अखबार' (१८४८ ई०), 'सुधाकर' (१८५० ई०), 'बुद्धि प्रकाश' (१८५२ ई०) 'ग्वालियर-गजट' (१८५३ ई०) आदि पत्र ऐसे थे, जो प्रायः कई भाषाओं में निकलकर अल्पकाल तक जीवित रहे। अतः निश्चित है कि हिन्दी-पत्रकारिता के विकास में आलोच्य पत्रों का कोई स्थान नहीं है। इनके अनन्तर उल्लेखनीय पत्रिका 'कवि वचन सुधा' (१८६८ ई०) निकली। प्रारम्भ में तो प्रधानतः यह पत्रिका पद्यमय निकलती थी पर पाक्षिक होने के उपरान्त इसमें गद्य का समावेश हुआ और यह राजनीति, समाजनीति आदि पर अच्छे-अच्छे लेख और समाचारों से युक्त होकर निकलने लगी थी। इस पत्रिका ने हिन्दी-पत्र-साहित्य को नवीन मार्ग प्रदर्शित किया था, किन्तु इस पत्रिका का सबसे प्रमुख दोष समय पर प्रकाशित न होना था। इस बात पर बाबू राधाकृष्ण दास ने भी खेद प्रकट किया है।[1] भारतेन्दु जी के इससे पृथक् होने पर तो यह मृतप्रायः बन गई थी, अतः सन् १८८८ में बन्द हो गई। सारांश यह है कि उक्त पत्रिका से हिन्दी पत्र-पत्रकारिता का जितना हित सम्भाव्य था, उतना न हो सका। सन् १८७१ ई० में प्रकाशित होनेवाला 'अल्मोड़ा-अखबार' अपनी आयु के तेंतीस वर्ष पूर्ण कर लेने के उपरान्त भी पत्रकार कला में विशिष्ट योगदान न कर सका था। उसका प्रकाशन भी अनिश्चित था। माह में दो बार प्रकाशन का नियम था, किन्तु कभी-कभी प्रकाशित होता भी न था। पत्र छोटा था, किन्तु मूल्य छः रुपया, बारह आना और वह भी अनिश्चित। छात्रों से उसका मूल्य डेढ़ रुपया, सर्व साधारण से ढाई रुपया और सरकार तथा रईसों से पौने सात रुपया लिया जाता था। भाषा एवं नीति की दृष्टि से भी उक्त पत्र विशेष उन्नत न था। कलकत्ते का 'हिन्दी दीप्ति प्रकाश' भी इसी प्रकार का पत्र था। उस समय वहाँ पत्रों का

१—**बाबू राधाकृष्ण दास, हिन्दी के सामयिक पत्रों का इतिहास,** पृ० १५।

कोई विशेष मूल्य न था। उसके सम्पादक बाबू कार्तिक प्रसाद खत्री घर-घर जाकर लोगों को पत्र सुना आते थे और जिस प्रकार जो ग्राहक बनना स्वीकार करता, उसी प्रकार उसको ग्राहक बनाते थे। उनके इस कार्य से हिन्दी का प्रसार अवश्य हुआ। किन्तु 'हिन्दी दीप्ति प्रकाश' से पत्रकारिता के विकास में किसी प्रकार का योग न मिल सका। प्रारम्भ में 'भारत मित्र' की भी ऐसी ही अवस्था थी। 'सम्पादक ने पाँच-सौ ग्राहक होने पर पत्र को साप्ताहिक बनाने का आश्वासन दिया था',[1] किन्तु अधिक समय तक यह इच्छा पूर्ण न हो सकी थी और वह कई वर्ष तक साधारण खबरों का पत्र बना रहा। भाषा विषयक अनेक त्रुटियाँ भी वह करता था। संचालक स्वयं ग्राहकों को पत्र पढ़कर सुना आया करते थे।

'बिहार-बन्धु' (१८७२ ई०) ने कुछ प्रगति अवश्य की थी, किन्तु तत्कालीन अभावों एवं दोषों के सम्मुख वह नगण्य थी। दूसरे, उसकी प्रगति निरन्तर विकास-क्रम का अनुसरण न कर सकी। सम्पादक अपनी मौज के आदमी थे; जब मौज में होते अच्छा लिखते थे, जब मौज का परिहार होता उस समय पत्र साधारण कोटि का होता था। यदि सम्पादक महोदय चैतन्य तथा सचेष्ट होकर कार्य सम्पन्न करते तो अवश्यमेव हिन्दी-पत्रकारिता को प्रगति के पथ पर आसीन कर जाते। इसी प्रकार दिल्ली का 'सदादर्श' (१८७४ ई०), प्रबन्ध-पटुता एवं सम्पादकीय कौशल के अभाव में सन् १८७६ ई० में 'कवि वचन सुधा' से मिलकर सदा को लुप्त हो गया था। इन पत्रों से पत्रकार कला का उत्कर्ष न हो सका। भारतेन्दु जी की 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' (१८७३ ई०) लेख तथा सामग्री की दृष्टि से उच्च कोटि की थी, पर अधिक दिनों तक जीवित न रह सकी। इसलिये हिन्दी पत्रकारिता का यथार्थ उन्नयन उसके द्वारा भी न हो सका।

अलीगढ़ के प्रसिद्ध हिन्दी-भक्त बाबू तोताराम का 'भारत-बन्धु' (१८७४ ई०) जीवन के दिन पूरा कर रहा था। तासी के अनुसार 'उसका प्रचार केवल १४७ प्रतियों तक ही था।'[2] न तो उसके प्रकाशन की तिथि निश्चित थी और न अच्छे कागज़ पर छपता था। लेख निरुत्साह और उदासीनता के साथ

१—१ म खण्ड २ य, संख्या २ जून १८७८ ई०, पृ० ८। यहाँ १ के बाद 'म' और २ के बाद 'य', प्रथम खण्ड के 'म' तथा द्वितीय संख्या के 'य' को सूचित करते हैं। प्रारम्भ में इस पत्र की ऐसी ही प्रणाली थी।

२—अम्बिका प्रसाद वाजपेयी, समाचार पत्रों का इतिहास, पृ० १४५।

लिखे होते थे। कभी-कभी दो-चार सप्ताह तक पत्र-प्रकाशित भी न होता था। इस पर भी मूल्य साढ़े सात रुपया वार्षिक था। तात्पर्य यह है कि प्रसिद्ध हिन्दी-प्रेमी का पत्र होकर भी 'भारत-बन्धु' हिन्दी-पत्रकारिता के विकास में योग देने में समर्थ न हुआ।

दूसरे काल के पत्रों में 'मित्र-विलास' (सन् १८७७ ई०) ऐसा पत्र था जो साम्प्रदायिकतावादी नीति के कारण लोक-प्रियता प्राप्त न कर सका था, यद्यपि छपाई आदि में उसने अन्य पत्रों की अपेक्षा प्रगति करली थी। 'हिन्दी-प्रदीप' (१८७७ ई०) उच्च कोटि का पत्र था किन्तु अधिक दिन जीवित न रह सकने के कारण हिन्दी-पत्रकारिता को विशेष लाभ पहुँचाने में असमर्थ रहा।

सन् १८७८ ई० में कलकत्ते से 'सार सुधा निधि' पण्डित सदानन्द मिश्र द्वारा निकला। उक्त पत्र का मूल्य पौने छः रुपया था; उसका कलेवर भी अपेक्षाकृत बड़ा था—रायल एक शीट के आठ पन्नों पर प्रकाशित होता था। पत्र एक ऊँचे स्तर का था पर उसमें कुछ अभाव थे जिनके कारण वह हिन्दी पत्रों का नेतृत्व न सँभाल सका। पत्र की भाषा संस्कृत मिश्रित हिन्दी होती थी। वह कलकत्ता के व्यापारी वर्ग के लिए अनुपयुक्त थी। भाषा के विषय में वह हिन्दी का प्रतिनिधि पत्र न बन सका। उसे ग्राहक भी कम मिले। अपने अन्तिम दिनों में आकर यह पत्र इधर-उधर की नकल से भर जाया करता था। उसमें मौलिकता तथा उच्च पत्र के आदर्श योग्य सामग्री का विशेष अभाव था। इन्हीं कारणों से १२ साल चलकर सन् १८९० में यह बन्द हो गया। इसी पत्र के साथ 'उचित वक्ता' का जन्म हुआ था और संयोग वश पं० दुर्गाप्रसाद ने दोनों ही पत्रों को जन्म दिया था। 'उचित वक्ता' ने 'सार सुधा निधि' की तुलना में अधिक ग्राहक भी पाये थे। सम्पादक प्रवर पं० दुर्गाप्रसाद ने पत्र को बड़े कौशल के साथ चलाया था। लेख भी बड़ी सतर्कता के साथ तथा उच्च कोटि के लिखे होते थे। इस पत्र से हिन्दी-पत्रकारिता के उत्कर्ष की आशा झलक उठी थी, किन्तु वह शीघ्र विलीन होती चली गई और अन्ततः यह पत्र कला के उत्कर्ष का श्रेय प्राप्त न कर सका। इस पत्र के पतन और उसके स्तर के ह्रास का कारण यह था कि पं० दुर्गाप्रसाद जी सम्पादन छोड़ कर काश्मीर प्रयाण कर गए थे। पीछे उनकी अनुपस्थिति में पत्र की पतनावस्था प्रारम्भ हुई। पुनः उन्होंने सन् १८९४ ई० में उसे सँभाला पर प्राचीन प्रतिष्ठा प्राप्त न कर सका, अतः काल कवलित हो गया। 'भारत मित्र' ने अवश्य कुछ सीमा तक हिन्दी-पत्रकारिता में परिवर्तन और विकास के चिन्ह उपस्थित किए।

इस पत्र का जन्म भी 'उचित वक्ता' तथा 'सार सुधा निधि' के साथ पं० दुर्गा-प्रसाद मिश्र द्वारा हुआ था पर 'भारत मित्र' अपने सहयोगियों को पीछे छोड़ कर विकास के पथ पर आसीन हुआ। उसने महान् परिवर्तन देखे और अन्त में पत्रकार-कला में एक नवीन मार्ग का उन्मुख करने वाला बन गया।

ऊपर उन मासिक, पाक्षिक और साप्ताहिक पत्रों की अवस्था पर विचार किया जा चुका है, जिनके द्वारा पत्रकार कला में किसी भी प्रकार का उत्कर्ष न हो सका था। दैनिक पत्रों की अवस्था और भी असन्तोषजनक थी। उस समय का समाज तथा हिन्दी-शिक्षित व्यक्ति हिन्दी पत्रों की ओर से उदासीन थे। साथ ही पत्र भी जनता का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करने में असमर्थ थे। फिर भी राजा रामपालसिंह ने कालाकांकर से दैनिक 'हिन्दोस्थान' नामक पत्र निकाला था। परन्तु कालाकांकर के छोटे स्थान होने, वैज्ञानिक साधनों के विशेष अभाव तथा दैनिक पत्रों के लिये आवश्यक उपकरणों के अभाव में पत्र को विशेष सफलता प्राप्त न हो सकी थी। यही अवस्था 'राजस्थान समाचार' तथा 'सज्जन कीर्ति सुधाकर' आदि पत्रों की थी। कागज और छपाई में उन्नति कर लेने पर भी पत्र प्राणहीन रहते थे। लेख अन्य पत्रों से नकल किए जाते थे और सम्पादकीय स्तम्भ में प्राय: विविध समाचार दिए जाते थे। चित्र-प्रकाशन तथा स्थानीय समाचार देने की ओर पत्रों का ध्यान भी न था। सारांश यह है कि तत्कालीन हिंदी पत्र केवल नाम मात्र के पत्र थे। उनका प्रकाशन अनियमित और सम्पादन दोषपूर्ण होता था। स्वयं 'भारत मित्र' गुप्तजी के पूर्व बुरी अवस्था में था। उसकी दशा अधिक शोच-नीय थी, ग्राहक संख्या बहुत कम थी और पत्र का यह संकटमय समय था। 'हिन्दी बंगवासी' की समता में अनेक हिन्दी-पत्र बन्द हो चुके थे, 'भारत मित्र' उन दिनों अपने उदार और साधन सम्पन्न मालिक की दया पर चल रहा था। वे पत्र का घाटा अपने अन्य साधनों से पूर्ण कर रहे थे और ऐसा करते करते तंग आगये थे। यदि गुप्त जी 'हिंदी बंगवासी' का परित्याग कर 'भारत मित्र' के सम्पादकीय विभाग में न आते, तो यह निश्चित था कि कुछ दिनों में 'भारत मित्र' भी काल कवलित हो जाता।

गुप्त जी ने अदम्य उत्साह, अकथनीय उद्योग, अमूल्य परिश्रम, अक्लान्त चेष्टा, महान् अपरिग्रहशीलता तथा स्वार्थपरता से दूर रह कर पत्र का सम्पादन भार सम्भाला। इसका परिणाम यह हुआ कि शीघ्रातिशीघ्र भारत मित्र उच्च कोटि के पत्रों में सम्मिलित हो गया। गुप्त जी के पूर्व पं० रुद्रदत्त शर्मा उक्त पत्र के सम्पादक थे। उन्होंने अपने कट्टर आर्य-समाजी विचारों के

कारण बड़ा बाज़ार (कलकत्ता) की जनता को अप्रसन्न कर दिया था, किन्तु गुप्त जी की उदार तथा धार्मिक नीति ने सब रुष्ट ग्राहकों को प्रसन्न कर लिया था; अतः पत्र शीघ्र अपने व्यय से चलने योग्य हो गया था। उसको ग्राहक भी अन्य पत्रों की अपेक्षा अधिक मिल गए थे। 'भारत मित्र' के ग्राहकों के विषय में यह बात विख्यात है, "गुप्त जी ने हाथ में लेते समय जितने सौ ग्राहकों की नामावली देखी थी, मरते समय उसके दूने हजार ग्राहक हो गए थे।"[1] पत्र की ग्राहक संख्या की वृद्धि उसके सम्पादकीय कौशल पर निर्भर थी। भारत मित्र की ही नहीं, उनके सम्पादन काल में 'हिन्दी बंगवासी' की ग्राहक संख्या भी दो हजार हो गई थी। 'भारत मित्र' में आने तक तो उनका अनुभव और अधिक बढ़ गया था। यही कारण है कि 'भारत मित्र' द्वारा पत्रकारिता का सम्यक् विकास तथा उत्कर्ष हो सका।

स्वर्गीय बालमुकुन्द गुप्त ने हिन्दी-पत्रकार कला में नवीन विकास की ओर जो कदम उठाये थे, उनमें से प्रथम था—भारत मित्र का ठीक समय पर प्रकाशन। आप पत्र का प्रकाशन किसी भी अवस्था में देर से नहीं होने देते थे। साप्ताहिक पत्र बृहस्पतिवार को प्रकाशित होता था। पत्र का मूल्य भी अपेक्षाकृत कम कर दिया गया था। सन् १८९८ ई० में दैनिक पत्र रायल चार पृष्ठ पर निकलता था और मूल्य केवल १२ रुपया साल था। जनवरी सन् १८९९ ई० में पत्र का आकार और भी बढ़ा और साप्ताहिक पत्र का मूल्य केवल २ रुपया वार्षिक रखा गया। गुप्त जी यह जानते थे कि हिन्दी-भाषा में अधिक मूल्य वाले पत्र जीवित नहीं रह सकते। अतः उन्होंने मूल्य कम कर दिया था। उस समय हिन्दी पत्रों को विज्ञापन नहीं मिलते थे, पर गुप्त जी के प्रकाशन में भारत मित्र को पर्याप्त विज्ञापन मिले। अधिक विज्ञापन का होना पत्र के उच्च स्तर पर आघात करता है पर 'भारत मित्र' इसका अपवाद था। विज्ञापन की अधिकता से पत्र का व्यय निकल जाता था और ग्राहकों को कम मूल्य पर बड़ा पत्र पढ़ने को मिल जाया करता था। गुप्त जी ने यह प्रमाणित कर दिया था कि अधिक विज्ञापन प्रकाशित करके कम से कम मूल्य पर उत्तम से उत्तम पत्र किस प्रकार ग्राहकों को दिया जा सकता है। यह गुप्त जी की महान् सफलता थी। आज भी हिन्दी भाषा के सर्वश्रेष्ठ पत्र आदि, अन्त और मध्य में विज्ञापनों से पूर्ण रहते हैं। गुप्त जी ने इस दिशा में आदर्श उपस्थित किया था।

१—सरस्वती—भाग ८, संख्या १२, पृ० ५०९।

जनता प्राय: राजनीति और पर-राष्ट्रनीति की बातों के साथ समाचार पत्रों से विविध समाचार पाने की अकांक्षा रखती है। वह प्राय: राजनीति के नीरस एवं शुष्क वातावरण से ऊपर उठ कर जगत् और जीवन के अन्य अंगों के सम्बन्ध में जानने और सुनने की अपेक्षा रखती है। गुप्त जी के पूर्ववर्ती तथा समकालीन समाचार पत्र इस अभाव से ग्रस्त थे और स्थानीय समाचारों की ओर से प्राय: उदासीन रहते थे। यह एक ऐसा अभाव था जिसके कारण उन्हें लोक-प्रियता न मिल पाती थी। उदाहरण स्वरूप काशी की 'काशी पत्रिका' तथा 'भारत जीवन' और अजमेर का 'राजस्थान समाचार'। गुप्त जी ने इस अभाव को मिटाया था। वे शहर में होने वाली घटनाओं के निरीक्षण को स्वयं जाते और फिर रिपोर्ट लिखते थे। साधारण से साधारण घटना से लेकर प्रमुख बातों तक की सूचना आप प्रकाशित करते थे—गवर्नमेन्ट हाउस के सम्मुख नागा साधु के गोली मारे जाने से लेकर लार्ड कर्जन के आगमन तथा प्रत्यावर्तन तक की खबरें भारत मित्र में छपतीं थीं। 'हिन्दी बंगवासी' में ही वे इस कला में प्रशिक्षित हो चुके थे। गुप्त जी केवल शहर की ही नहीं देश-विदेश की सभी प्रमुख बातों की सूचना भारत मित्र में प्रकाशित करते थे और सुरुचि तथा रोचकता उत्पन्न करने के लिए 'कलकत्ते से लखनऊ' एवं 'बहादुर शाह की गोर' जैसे ऐतिहासिक महत्व के लेख प्रकाशित किया करते थे। इन गुणों से सम्पन्न 'भारत मित्र' उन दिनों का सुपाठ्य सामग्री से युक्त पत्र था। उसमें साहित्यिक लेख, ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख, व्यंग्यात्मक टिप्पणी, आत्म कथाएँ, जीवनियाँ, मनोहर कहानी, सुन्दर कथोपकथन से युक्त नाटकीय 'लेखमाला' तथा भाषा और व्याकरण विषयक लेख प्रकाशित होते थे।

गुप्त जी के काल के अधिकांश पत्र भारतेंदु की परम्परा का परित्याग करके साम्प्रदायिकतावादी नीति अपनाने में लग गए थे, और कुछ विशुद्ध साहित्यिक आवरण पहन कर कलावादी साहित्य सृजन में ही कर्त्तव्य की इति-श्री माने हुए थे। ऐसी अवस्था में पत्र-साहित्य का जन-जीवन के साथ सम्बन्ध विच्छिन्न हो गया था। गुप्त जी ने पुन: भारतेन्दु की परम्परा को आगे बढ़ाया। उन्होंने एक ओर तो 'भारत मित्र' द्वारा सुन्दर साहित्य की रचना की और दूसरी ओर जन-जीवन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किया। जन-जीवन के साथ सम्पर्क बनाए रखने के उद्देश्य से गुप्त जी ने त्यौहारों, पर्वों तथा विशेष अवसरों पर विशेषांक एवं क्रोड़-पत्र प्रकाशित करने की परम्परा को जन्म दिया, जिसका अनुसरण आज तक हिन्दी पत्र करते हैं। 'दशहरा',

'होली' और 'बसन्त' के अवसर पर 'भारत मित्र', 'टेसू', 'होली' और 'बसन्त' की कविताओं तथा चुटकलों से परिपूर्ण विशेषांक के रूप में निकलता था। इन अंशों में दशहरे के 'टेसू', होली के व्यंग्य विनोद तथा वसन्त की कविताएँ, जन-जीवन के हर्ष-विषाद, सुख-दुख, उन्नति-अवनति, उत्कर्ष-अपकर्ष तथा सामाजिक एवं राजनीतिक शोषण की गाथायें होती थीं। गुप्त जी ने सुदूरवर्ती ग्रामों से आए समाचारों को 'भारत मित्र' में सदैव प्रमुख स्थान दिया था[1] क्योंकि ये समाचार देहात का सजीव चित्र अंकित करते थे। कल्लू काश्तकार (आगरा) का एक समाचार 'भारत मित्र' में छपा था।[2] यही नहीं, गुप्त जी ने ऐसे पत्र-सम्पादकों की आलोचना भी की जो देश के समाचारों को पत्रों में स्थान न देते थे। आपने लिखा था—"भारत के समाचार पत्र भारत ही में निकलते हैं और इस देश की बातो से इतने शून्य होते हैं कि उन्हें भारत के पत्र कहने में भी लज्जा आती है।"[3] केवल लेख छापने और खबर प्रकाशित न करने पर गुप्त जी ने 'सार सुधा निधि' की भी आलोचना की थी। यद्यपि भाषा, विषय और राजनीतिक विचारों के प्रतिपादन के लिए वे उसकी प्रशंसा करते थे।[4] उनकी पत्रकारिता के विषय में सारांश में कह सकते हैं कि पत्र के विशेषांक और क्रोड़-पत्र निकाल करके गुप्त जी ने हिन्दी-पत्रों के लिए परम्परा स्थापित की, जन-जीवन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करके हिन्दी-पत्रों को भारतीयता का जामा पहनाया और श्रेष्ठ साहित्यिक निबन्धों की रचना करके साहित्य के भण्डार को भरा। उनके सार गर्भित, चुटीले निबन्धों की प्रशंसा पं० बालकृष्ण भट्ट ने भी साहित्य सम्मेलन की स्वागत कारिणी सभा के प्रधान पद से की है।[5] इस प्रकार गुप्त जी के प्रयास स्वरूप 'भारत मित्र' हिन्दी के प्रतिनिधि पत्र के रूप में प्रतिष्ठित हुआ और उसने यथाशक्ति अन्य पत्रों का बहुमुखी मार्ग प्रदर्शन किया।

इन विशिष्ट गुणों के अतिरिक्त गुप्त जी ने दूसरे पत्रों के अभावों की ओर

१—गुप्त स्मारक ग्रन्थ, पं० लोचन प्रसाद पाण्डेय का संस्मरण, पृ० ३३८।

२—भारत मित्र, ता० २५ जून सन् १९०० ई०।

३—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, उर्दू-अखबार, पृ० २७५।

४—वही, पृ० ३३३।

५—द्वितीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, कार्य विवरण—प्रथम भाग, पृ० ६।

संकेत करके उन्हें दूर करने के किए सचेष्ट किया । उन्होंने सम्पादक बन्धुओं के सुधार और परिष्कार का भी कार्य आरम्भ किया था—जिन पत्रों में अंग्रेजी पत्रों में प्रकाशित समाचारों के त्रुटिपूर्ण अनुवाद छापे जाते थे और मौलिकता पर ध्यान नहीं दिया जाता था, गुप्त जी ने उनको सचेत किया था।[१] जिन पत्रों की सम्पादकीय नीति देश एवं समाज हित विरोधी या पारस्परिक कलहवर्धक थी, उनको इस ओर से सचेत कर सुन्दर एवं आदर्श नीति ग्रहण करने के लिए प्रेरित किया था।[२] इस दृष्टि से 'उर्दू अखबार' वाला लेख विशेष उल्लेखनीय है। जो सम्पादक लकीर के फ़कीर बने अपने पत्रों का अनावश्यक विरोध बढ़ाते जा रहे थे, उनको रोक कर सत्य पथ पर लाने के लिए आपने अथक परिश्रम किया था। सरकार का पक्ष समर्थन करने वाले सम्पादकों की नीति की आलोचना करके उन्हें देशभक्ति और राष्ट्रप्रेम का पाठ भी गुप्त जी ने पढ़ाया था। मीर तकी 'मीर' के निधन पर सम्पादक 'ज़माना' का मीर विशेषांक प्रकाशित करना चाहते थे। उस समय गुप्त जी ने उन्हें जो परामर्श दिया था उससे ज्ञात होता है कि आपने किस प्रकार एक सम्पादक को देश भक्ति की शिक्षा दी थी। आपने लिखा था—'कौम के लिए यह मातमी साल है—हरगिज कोई खास नम्बर न निकालना······होश में आओ जबानदानी और शायरी पर लानत। कव्वाली और ढोलक का ज़माना अब नहीं है। मर्द बनो, 'ज़माने' से कौम की खिदमत करो।"[३] इसी पत्र को ठीक समय पर प्रकाशित करने और सत्याचरण का परामर्श भी गुप्त जी ने दिया था।[४] 'राजस्थान समाचार' के अभावों का उल्लेख करके आपने उसके दैनिक होकर कुछ स्वाधीनता के साथ लिखने पर हर्ष प्रकट किया था और प्रोत्साहित करते हुए कुछ आवश्यकीय परामर्श भी दिए थे। आपने लिखा था—"दैनिक होने के बाद से उसके लेखों का ढङ्ग कुछ बदल गया है। पहले की अपेक्षा कुछ स्वाधीनता उसमें आ गई है।"[१] इतना कहने के बाद पत्र को आकर्षक उन्नत और प्रभावशाली बनाने के विषय में परामर्श देते हुए लिखा था— "लेखों का ढङ्ग उसमें छोटे कागजों का सा होना चाहिये। अंग्रेजी दैनिकों की भाँति किसी लेख पर पाँच-पाँच सात-सात हेडिंग जड़ देना किसी छोटे आकार

१—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, उर्दू अखबार, पृ० २६३।

२—वही पृ० २५५।

३—जमाना, अक्टूबर-नवम्बर सन् १९०७, पृ० ३०३।

४—वही, पृ० २९९।

के दैनिक पत्र का काम नहीं। उसे अपने एक-एक लाइन के स्थान को बहुमूल्य समझना चाहिये।"[१] यह था एक अनुभवी पत्रकार का अपने सहयोगी सम्पादक को दिया गया परामर्श- जो अपनी सीमा, आकार एवं शक्तिहीनता का विचार न करके अंग्रेजी दैनिक पत्रों का अन्धानुकरण कर रहा था। गुप्त जी का दृष्टिकोण था कि हिन्दी-पत्रों में अपनी निजी मौलिकता, प्रभावशालिता और शक्तिमत्ता होनी आवश्यक है। अपनी शक्ति के अनुसार पत्र आकर्षक, प्रभावशाली और जनता में लोकप्रिय हो, तो अच्छा है।

भारत के पत्रों की उन्नति और पत्रकार-कला में नवीन विकास लाने के लिये गुप्त जी ने सम्पादकों की संकीर्णता और विविध-भाषा ज्ञान के अभाव की ओर संकेत किया था तथा सम्पादकों से निवेदन किया था कि वे अधिक से अधिक भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करें तभी वे प्रान्तीयता, जातीयता तथा वर्गवादी संकीर्णता से ऊँचे उठ पायेंगे। उर्दू-पत्र सम्पादकों की धार्मिक-संकीर्णता का उल्लेख करते हुए आपने लिखा था—"एक और संकीर्णता उर्दू पढ़े मुसलमानों में यह है कि वह अपने शीन काफ के फेर में बहुत पड़े रहते हैं। दूसरी भाषाएँ कम पढ़ते हैं।"[२] गुप्त जी का तात्पर्य यह था कि जब उर्दू-पत्र सम्पादक केवल उर्दू का ज्ञान रखेंगे और हिन्दी, अँग्रेजी, गुजराती, बंगला आदि भाषाओं से अपरिचित होंगे तो वे अपने पत्रों में उन गुणों का समावेश नहीं कर सकेंगे जो अन्य भाषा के पत्रों में आगए हैं। उनका सुनिश्चित मत था कि उर्दू-पत्र सम्पादकों के लिए भी अँग्रेजी की योग्यता अनिवार्य है। अच्छी अंग्रेजी और अच्छी उर्दू के ज्ञान के अभाव में पत्रकारिता का दम भरना, दुस्साहस और विडम्बना मात्र है। इसके प्रतिकूल, उर्दू पत्र-साहित्य अभाव ग्रस्त रहेगा। अस्तु, अभाव-सम्पन्नता की अवस्था में उर्दू-पत्र साहित्य द्वारा देश-हित-साधना अथवा लोक-मंगल का कार्य असम्भाव्य है, असंदिग्ध है। अतः इस महान् विनाश की कल्पना करके गुप्त जी ने हिन्दी और उर्दू दोनों भाषाओं के पत्र संपादकों को देश की अन्य भाषाओं के ज्ञान की ओर आकृष्ट किया था। गुप्त जी स्वयं उर्दू, हिन्दी, संस्कृत और बंगला के अच्छे ज्ञाता थे।

गुप्त जी ने सम्पादकों के अभिमान और आत्मश्लाघा को भी पत्र की उन्नति के लिये घातक समझा था। अतः इनके निवारण पर बल देते हुए आपने एक

१—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, पृ० ३५८।

२— वही 'उर्दू अखबार', पृ० २६७।

पत्र के विषय में लिखा था—"सम्पादक की निगाह कुछ अधिक ऊँची है, जिससे खुदपसन्दी सी जाहिर होती है। अच्छी भाषा लिखना अच्छी बात है, पर वह खुदपसन्दी के बिना भी लिखी जा सकती है। अच्छा काम करने वालों को हृदय में संकीर्णता नहीं रखनी चाहिये, उससे उन्नति में बाधा पड़ती है।"[1] पत्रकार कला के विकास में बाधा उपस्थित करने वाली ये व्यावहारिक बातें थीं, जिनकी ओर गुप्त जी का ध्यान आकर्षित हुआ था। इस दिशा में गुप्त जी ने एक और परिपाटी को जन्म दिया था। आपने ग्राहक संख्या बढ़ाने और हिन्दी भाषा एवं साहित्य की उन्नति की दृष्टि से विविध पुस्तकें छपाकर 'भारत मित्र' के स्थायी ग्राहकों को उपहार रूप में भेंट कराई थीं।[2] यह एक परम उपयोगी परिपाटी थी, जिसकी आज भी उतनी ही उपादेयता है।

गुप्त जी के पूर्व कालीन युग में हिन्दी-पत्र-पाठकों का विशेष अभाव था। जो कुछ भी अल्पाधिक थे, उनमें से भी अधिकांश पत्र का मूल्य ठीक समय पर नहीं भेजते थे जिसके कारण पत्रों की असामयिक मृत्यु हो जाती थी। ऐसे ही पाठकों को लक्ष्य करके बाबू राधाकृष्णदास ने 'वही ग्राहकों का रोना और वही लापरवाही' लिखा था और पं० प्रतापनारायण मिश्र को भी 'ब्राह्मण' में 'हरिगंगा' लिखनी पड़ती थी। अन्य सम्पादकों को भी ऐसे नाम 'नादिहन्दों की सूची' में प्रकाशित करने की धमकी देनी पड़ती थी। इसी अवस्था का द्योतन लाला श्रीनिवास द्वारा 'परीक्षा गुरु' में लाला मदनमोहन को लिखे एक पत्र सम्पादक के पत्र से होता है।[3] गुप्त जी को ऐसी समस्या का सामना कभी नहीं करना पड़ा। 'हिन्दी बंगवासी' का सम्पादन भी आपने इस उत्तमता के साथ किया था कि वह पाठकों के लिए आकर्षण का केन्द्र बन गया था। 'भारत मित्र' बहुपठित पत्र था ही। भारत मित्र कालीन गुप्त जी

१—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, 'उर्दू अखबार', पृ० ३०७।

२—गुप्तजी द्वारा प्रणीत 'रत्नावली नाटिका', मुन्शी देवी प्रसाद कृत 'जहाँगीर नामा', गुप्त जी की "स्फुट कविता" तथा 'सर्पाघात चिकित्सा', अक्षय वट द्वारा अनुवादित दण्डी का 'दशकुमार चरित' और पूरा भाषा भागवत केवल १ रुपये में तैयार कराके समय-समय पर भारत मित्र के उपहार में दिया गया था।

३—लाला श्रीनिवासदास, परीक्षा गुरु, पृ० ९८-९९।

की साधन सम्पन्नता की प्रशंसा डा० रामरतन भटनागर ने भी की है।[1] इसीलिए गुप्त जी अधिक पाठक आकर्षित करने में सफल हुए थे। गुप्त जी के पूर्व-युगीन पत्रों को पाठक क्यों कम मिलते थे? इसका प्रधान कारण जनता की अशिक्षा था और गौण कारण था, अंग्रेजी शिक्षित समाज को हिन्दी-पत्रों द्वारा आकर्षित करने की अक्षमता। अंग्रेजी और उर्दू-फारसी भाषा का अध्ययन उस समय आजीविका में सहायक होता था। इसलिए हिन्दी उस समय उपेक्षित थी; अतः लोग इधर कम ध्यान देते थे। ऐसी विषम परि-स्थिति में हिन्दी पत्रों का प्रचार दुस्तर कार्य था। जो भी पत्र प्रकाशित होते थे, उनको अंग्रेजी बंगला के उच्च स्तर के पत्रों के साथ समता करनी होती थी। इसी कारण प्रायः पत्र प्रकाशित होकर बन्द हो जाते अथवा बुरी दशा में चलते रहते थे। पत्रों में मनोरंजक सामग्री का भी अभाव रहता था। अस्तु, न तो वे उच्च वर्ग की साहित्यिक कामना की पूर्ति करने में समर्थ थे, न जनता का प्रतिनिधित्व करते थे और न मनोविनोद की सामग्री प्रस्तुत कर सबका मनोरंजन करने के योग्य थे। गुप्त जी ने अपने सम्पादन काल में इस अभाव का उन्मूलन भी किया था। 'भारत मित्र' द्वारा स्थायी साहित्य की रचना करके उन्होंने साहित्य के भण्डार को पूर्ण किया, सामयिक घटनाओं पर स्पष्टता पूर्वक लिखकर देश की जनता के मौन स्वर को शासकों तक पहुँचाया और यथा समय मनोविनोद के लिये व्यंग्य चित्र, व्यंग्य लेख, व्यंग्यपूर्ण कविताएँ तथा पंच आदि लिखकर हिन्दी पत्रों को गौरवान्वित किया।

भारतेन्दु द्वारा प्रकाशित 'बाला बोधिनी' (जनवरी सन् १८७४) के उद्देश्य से प्रभावित होकर गुप्त जी ने भारत के स्त्री-वर्ग की नैतिक उन्नति के लिए भी प्रयास किए थे। आपने 'भारत मित्र' में ऐसे लेख एवं कहानियाँ प्रकाशित कीं जिनसे स्त्री-चरित्र के गौरव, समाज में उनका पद तथा उनके उत्थान की महत्ता पर प्रकाश पड़ता है। 'मुरला'[2] नामक कहानी से नारी-चरित्र की विशेषता तथा आदर्श प्रियता का अनुमान होता है; 'कृष्णा कुमारी'[3] नामक लेखमाला से भारतीय नारी को अमूल्य शिक्षा मिलती है। इसके अतिरिक्त भारतीय नारी-समाज में पाश्चात्य सभ्यता के विकास से

१—डा० रामरतन भटनागर, दि राइज एण्ड ग्रोथ ऑव हिन्दी जनरलिज्म, १८२६-१९४५ ई०, पृ० ४५३।

२—भारत मित्र, सन् १९०२ ई० चार भागों में प्रकाशित कहानी।

३—वही, सन् १९०५ ई०, चार लेख।

अंकुरित बुराइयों पर 'भारत मित्र' में प्रायः लिखा जाता था।[1] विधवा-विवाह के अनौचित्य पर भी गुप्त जी ने कितने ही लेख उक्त पत्र में प्रकाशित किये[2] थे। इस प्रकार हिन्दी पत्रों में भारतेन्दु द्वारा प्रवर्तित स्त्री-विषयक लेख लिखने की प्रणाली को भी गुप्त जी ने आगे बढ़ाया और उनमें नवीनता उपस्थित की थी।

निष्पक्षता एवं सम्पादकीय शिष्टाचार की रक्षा अन्य गुण थे, जिनका गुप्त जी ने सम्पादकीय जीवन में पालन किया था। वे किसी प्रलोभन या स्वार्थ में लिप्त होकर सत्य पर आवरण नहीं डालते थे। दोषी को दोषी और असत्य को असत्य कहने में उन्होने कभी संकोच नहीं किया। अपरिग्रहशीलता एवं आदर्शप्रियता उनके अन्य विशष्टि गुण थे। आपने अपने सम्पादकीय सिद्धान्त के विषय में लिखा था—"मनुष्य को चाहिए कि अपनी ही वस्तु पर संतुष्ट रहे, कभी किसी से कुछ न माँगे और इस सिद्धान्त का दृढ़ता से पालन करे।"[3] इस आदर्श का पालन उन्होंने आजीवन किया। उनकी आवश्यकतायें सीमित थीं, अतः आप अपने आदर्श और आत्म-गौरव की रक्षा करने में समर्थ रह सके। गुप्त जी सन् १९०४ ई० में कलकत्ता के उच्च न्यायालय में जूरी में मनोनीत हुए थे, हिन्दी-पत्रों के प्रतिनिधि के रूप में १९०३ ई० के दिल्ली-दरबार में गए थे, चाहते तो सरकार के पक्षपाती बनकर जीवन भर आनन्द उड़ाते, उच्च पदवी धारण कर सरकार के कृपा पात्र बनते। पर नहीं, उन्हें यह सब आदर्श और सिद्धान्त के मूल्य पर प्रिय न था। वे भूखे रह कर तथा कष्टमय जीवन यापन करके भी हिन्दी-पत्रकारिता के सम्मुख उच्च-आदर्श की प्रतिष्ठा कर जाने के अभिलाषी थे।

पक्षपातहीन दृष्टि और निष्पक्ष सम्मति के लिए भी गुप्त जी विशेष विख्यात थे। एक बार सरस्वती में डा० श्यामसुन्दरदास ने 'समालोचक' पत्र के निकलने पर खेद प्रकट किया था। वह इसलिए नहीं कि पत्र उच्च स्तर का न था, अपितु इसलिए कि पत्र-सम्पादक बाबू गोपालराम से बाबू जी के

१—भारत मित्र, लीला की लालसा, सन् १९०० ई०।

२—वही, विधवा कन्या, २८ मई सन् १९०० ई०।

अथवा

वही, विधवा की बरात, ६ जुलाई सन् १९०१ ई०।

३—गुप्त जी की डायरी, ३ फ़रवरी सन् १८८९ ई०।

सम्बन्ध अच्छे न थे। गुप्त जी ने इस बात के लिये सरस्वती की भर्त्सना की,[१] क्योंकि व्यक्तिगत ईर्ष्या या द्वेष से अनुप्रेरित होकर साहित्य संवर्द्धन पर आघात करना न्यायसंगत नहीं कहा जा सकता। सम्पादकीय शिष्टाचार की रक्षा के लिए गुप्त जी विशेष रूप से विख्यात थे ही। इन्हीं गुणों के कारण वह पत्रकारिता को उन्नत करने में समर्थ हो सके थे।

गुप्त जी आदर्श पर सब कुछ उत्सर्ग करने वाले सम्पादक थे, यह बात स्वतः सिद्ध है। किन्तु केवल आदर्शवादिता पत्रकारिता का विशिष्ट गुण होते हुए भी अन्तिम नहीं कहा जा सकता। पत्रकार की कोरी आदर्शवादिता कभी-कभी विनाशमूलक प्रमाणित होती है; अतः उसके साथ व्यावहारिकता का सम्मिश्रण होना अनिवार्य है। आप में इस गुण का भी समावेश था। उन्होंने आदर्शवादिता के साथ देश की संघर्षमय विषम परिस्थितियों में प्रवेश किया था और उनके घात-प्रतिघातों के अनुकूल व्यावहारिक मार्ग का अनुसरण भी किया था। इस प्रकार उन्होंने अपने पत्र को व्यवसायीकरण के दोष से मुक्त रखकर आदर्श की स्थापना की थी और जन-जीवन के विविध-अङ्गों पर प्रकाश डाल कर व्यावहारिकता का प्रदर्शन किया था। इन दोनों गुणों का समन्वित रूप समकालीन पत्रों के सम्मुख रखकर गुप्त जी ने परम कौशल का परिचय दिया था।

सम्पादकों के पास आलोचनार्थ आयी हुई पुस्तकों की निष्पक्ष एवं शीघ्र आलोचना प्रकाशित करके गुप्त जी ने पत्रकार-कला में एक नवीनता का और समावेश किया। उस युग के सम्पादक पुस्तक प्राप्ति की स्वीकृति प्रकाशित करके अवकाश मिलने पर आलोचना लिखी जाने की बात कहकर अपने कर्त्तव्य की इति श्री समझ बैठते थे। गुप्त जी ने इस ओर नई परिपाटी स्थापित की थी। उन दिनों के पुस्तक-प्रेषक भी रचना के गुण एवं दोषों से अवगत होने के लिए आलोचनार्थ पुस्तक नहीं भेजते थे, अपितु उनका उद्देश्य केवल पुस्तक का विज्ञापन होता था। वे प्रायः सम्पादकों से प्रशंसात्मक आलोचना लिखाने की अपेक्षा रखते थे। इस विषय में गुप्त जी ने अगाध-धैर्य और अपरिमित निर्भीकता से कार्य किया। जिन पुस्तकों को उन्होंने साहित्य अथवा समाज के लिये हानिप्रद या प्राचीनों के नाम पर कलंक लगाने वाली

१—भारत मित्र, १६०२ ई० 'सामयिक-साहित्य' नामक शीर्षक में 'समालोचना पर सरस्वती' शीर्षक लेख।

समझा, उनकी डटकर आलोचना की,[1] जिन पुस्तकों से साहित्य अथवा समाज को लाभान्वित होते देखा, उनके लेखकों को प्रोत्साहित एवं प्रेरित किया[2]; तथा जिन पुस्तकों को सुरुचिहीन एवं साहित्य में भद्दी नकल पर आधारित पाया, उनकी कड़ी आलोचना की।[3] इस प्रकार गुप्त जी शीघ्रातिशीघ्र समालोचनार्थ आई हुई पुस्तकों की आलोचना प्रकाशित करके अपने सम्पादकीय कर्त्तव्य का पालन करते थे।

गुप्त जी की सम्पादन-कला की दूसरी विशेषता यह थी कि भारत मित्र अपनी विविध सुपाठ्य लेख माला के कारण सर्व प्रिय था। पाठक पत्र की प्रतीक्षा में टकटकी लगाये बैठे रहते थे। सम्पूर्ण डाक में से सबसे प्रथम भारत मित्र को छाँट कर पढ़ना साधारण बात बन गई थी। इस सर्वप्रियता का कारण उक्त पत्र में प्रकाशित इतिहास, अर्वाचीन साहित्य, धर्म, समाज-शास्त्र, अर्थशास्त्र, तथा राजनीति आदि विषयक लेख, पत्र-पत्रिकाओं की टिप्पणियाँ, सामयिक घटनाओं पर लेख, देश-विदेश की ज्ञातव्य बातें, महा-पुरुषों के जीवन वृत्त, और प्राचीन साहित्यिकों पर लेख थे।

भारत मित्र की सम्पादकीय नीति —

'भारत मित्र' की सम्पादकीय नीति पर विचार करने से पूर्व आवश्यक यह है कि पत्र-प्रकाशन के उन उद्देश्यों पर विचार कर लिया जाये, जिनके पूर्ण करने के लिये पत्र का जन्म हुआ था। अधिकांशत: जिन आदर्शों को लेकर पत्र के प्रकाशन का श्री गणेश होता है, उन्हीं की पूर्णता को दृष्टि में रखकर उसकी नीति निर्धारित की जाती है और यह निश्चय प्राय: सम्पादकों के बदलने पर भी अविचल और अनुकरणीय रहता है। इस नियम के भी कभी-कभी अपवाद पाये जाते हैं। यदा-कदा सम्पादक के व्यक्तित्त्व, आदर्श और क्षमता के आधार पर पत्र की नीति बदल भी जाया करती है। अब देखना यह है कि भारत मित्र के विषय में कौन सी बात किस सीमा तक पाई जाती है।

१—लाला शालिग्राम की 'काम शास्त्र' और किशोरीलाल गोस्वामी की 'तारा' नामक पुस्तकों पर लिखी आलोचना।

२—श्रीधर पाठक तथा मुन्शी देवी प्रसाद मुन्सिफ के विषय में लिखे लेख तथा 'गुलशने-हिंद' की आलोचना।

३—श्री सुशील जी लिखित 'उजाड़ गाँव,' 'साधु' और 'यात्री' नामक पुस्तकों की आलोचना।

'भारत मित्र' के प्रकाशित होने के उद्देश्य पर स्वयं गुप्त जी ने हिन्दी अखबारों का इतिहास लिखते समय लिखा है—"पहले नम्बर के पहले लेख में भारत मित्र ने अपने जारी होने के उद्देश्य लिखे हैं। उसमें दिखाया है कि जिस देश और समाज में उसी देश और समाज की भाषा में जब तक समाचार पत्रों का प्रचार नहीं होता, तब तक उस देश और समाज की उन्नति नहीं हो सकती। समाचार पत्र राजा और प्रजा के बीच में वकील है। दोनों की खबरें दोनों तक पहुँचा जाता है। जहाँ सभ्यता है, वहीं स्वाधीन समाचार पत्र हैं। जिन देशों में वाणिज्य की उन्नति है, उन्हीं में स्वाधीन समाचार पत्रों का आदर है।"[१] इसी प्रकार की और कई बातें कहीं थीं। इन्हीं कई उद्देश्यों को लेकर भारत मित्र ने कार्य आरम्भ किया था। प्रस्तुत पंक्तियों से स्पष्ट है कि 'भारत मित्र के आदि व्यवस्थापक, संचालक तथा संपादकों की यह सुनिश्चित धारणा थी कि देश और समाज की उन्नति के लिये उसी की भाषा में श्रेष्ठ पत्र का होना अनिवार्य है तथा सभ्यता, वाणिज्य और स्वाधीनता के विकास के लिये समाचार पत्र अत्यधिक उपयोगी और वांछित हैं। इनके अभाव में राज-दरबार में प्रजा का प्रतिनिधित्व करने वाला कोई नहीं रहता। इन्हीं बातों को अधिक स्पष्ट करते हुए एक दूसरे स्थान पर आपने लिखा था —"इसके आदि नेता कलकत्ता बड़ा बाजार के सारस्वत और खत्री हैं। जो इस कागज को केवल इसलिये निकालते थे कि हिन्दी भाषा में भी एक अच्छा समाचार पत्र रहे, वह लोग सब व्यापारी थे। इसके वर्तमान मालिक अग्रवाल वैश्य हैं और वह भी एक नामी व्यापारी हैं।......उनकी चेष्टा वही है, राजनीति, समाजनीति और वाणिज्यनीति आदि की जितनी बातें इस समय के लोगों के जानने के योग्य हैं, उन्हें यथा साध्य सरल हिन्दी में जनावे और हिन्दी के प्रचार की चेष्टा करे। इसकी आमदनी में जो कुछ बढ़ती हो, इसी पत्र के काम में खर्च हो।"[२]

उक्त पंक्तियाँ इस बात की द्योतक है कि 'भारत मित्र' के दो प्रमुख उद्देश्य थे—कलकत्ता के मारवाड़ी समाज को राजनीति, समाजनीति तथा व्यापार नीति विषयक बातों को भली प्रकार सरल भाषा में समझाना तथा उनमें हिन्दी-भाषा का प्रचार करना। अतः इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति के

१—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, पृ० ३३६-३३७।

२—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, पृ० ३४१–३४२।

लिए पत्र की नीति निर्धारित हुई और सम्पादकों ने उसका निर्वाह अन्तिम समय तक किया।

पत्र के नाम से भी उसकी नीति और उद्देश्य का कुछ आभास मिलता है। 'भारत मित्र', जैसा नाम से विदित होता है उस समय उत्पन्न हुआ था, जब यथार्थ में भारत को एक आदर्श मित्र की आवश्यकता थी। देश निरन्तर अकाल, प्लेग और दिनों-दिन बढ़ते हुए टैक्सों से दबा हुआ था। भारतीय जनता एक ओर तो दैविक आपत्तियों से और दूसरी ओर शासकीय प्रकोप से पिसी जा रही थी। काश्मीर से लेकर कुमारी अन्तरीप और सिंध से लेकर बंगाल की सीमा तक सारी जनता त्राहि-त्राहि कर उठी थी। उस समय न तो कोई उनकी बात दूसरों तक पहुँचाने वाला था और न राजा तक उनकी फरियाद ले जाने वाला वर्तमान था। जो थे उनके हाथ बड़े कमजोर और निर्बल थे। हिन्दी-भाषी जनता का प्रतिनिधित्व करने के लिए 'भारत मित्र' का जन्म हुआ। अपने जन्म दिन से ही 'भारत मित्र' भारतीय जनता के हित-साधन की प्रतिज्ञा करके सामने आया। उसी दिन से पत्र के ऊपर उसके सिद्धान्त वाक्य के रूप में लिखा जाता था—"ज्योऽस्तु सत्यनिष्ठानां येषां सर्वे मनोरथाः"। विशेषता यह है कि उक्त पत्र ने केवल विज्ञापन के लिए उपर्युक्त सिद्धान्त वाक्य नहीं लिखा था, अपितु उक्त भाव को सच्चाई के साथ क्रियात्मक रूप देने में अपनी शक्ति का उपयोग किया था। पत्र ने सर्वदा यही प्रयास किया कि सत्यनिष्ठ पुरुषों की जय हो और उनके मनोरथ पूर्ण होते रहें। गुप्त जी के पूर्ववर्ती सम्पादकों ने भी सर्वदा इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये महान प्रयास किये थे। पर जब से 'भारतमित्र' गुप्त जी के हाथों में आगया, तब से तो उनकी सारी बुद्धि और शक्ति पत्र के आदर्श और नीति को सुचारु रूप से सफलता की चरम सीमा तक ले जाने में ही व्यस्त रही। 'भारत मित्र' का प्रारम्भ से ही काम की बातों की ओर अधिक ध्यान रहता था; शहर हो अथवा ग्राम दोनों की हितकर एवं कल्याणकारी बातों के समर्थन में यह पत्र अपने कर्त्तव्य की पूर्ति समझता था। किसी विशेष आवश्यक तथा देश-व्यापी सार्वजनिक महत्त्व की बात को शीघ्रातिशीघ्र जनता तक पहुँचाने के लिए भारत मित्र क्रोड-पत्र निकालता था, यह उसकी निजी विशेषता थी। पत्र के दो प्रमुख उद्देश्य थे—प्रथम हिन्दी भाषा का प्रचार तथा उन आवश्यकीय राजनीतिक बातों से जनता को अवगत करना, जिनका ज्ञान उसके लिए वर्तमान युग एवं परिस्थितियों में अत्यधिक आवश्यक है।

हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि के प्रचार की नीति को कार्यान्वित

करने के लिए भारत मित्र ने हिन्दी-विरोधी तत्त्वों के साथ डट कर मोर्चा लिया था दूसरी ओर स्थायी साहित्य के सृजन द्वारा हिन्दी-साहित्य को दूसरी भाषाओं के साहित्य के समकक्ष रखने का प्रयास किया। वह हिन्दी का प्रबल समर्थक और उत्तम स्रष्टा था, अपनी हिन्दी-निर्माण की नीति को पूर्ण करने के लिए तथा शुद्ध भाषा शैली के प्रसार के उद्देश्य से अच्छे-से-अच्छे महारथियों से लड़ गया था। 'सारे देश में एक लिपि हो' इस नीति के प्रचार के लिए भारत मित्र ने 'लिपि विस्तार परिषद्' का शक्ति भर समर्थन किया था और इस आन्दोलन को बहुत दिनों तक चलाया था।

'भारत मित्र' मुख्यतः राजनीतिक पत्र था। राजनीति विषयक घटनाओं पर विस्तार पूर्वक और निर्भीकता के साथ लिखना पत्र की विशेष नीति थी। घटना चाहे देश की हो अथवा विदेश की 'भारत मित्र' उस पर अवश्य लिखता था। काबुल की लड़ाई पर इस पत्र में धारावाहिक रूप से टिप्पणियाँ होतीं रहीं थीं। इन लेखों से तत्कालीन राजनीतिक समस्याओं का अच्छा ज्ञान प्राप्त होता है। अँग्रेजों ने रूसी भालू का भय दिखाकर सरहद पर फौज़ी-दीवार बनाने की योजना बनाई थी, 'भारत मित्र' ने लेखों और कविताओं के द्वारा उस योजना की वास्तविकता से जनता को परिचित कराया था। लार्ड कर्ज़न और किचनर में व्यक्तिगत स्वार्थ पर मतभेद हो गया था, उससे देश का न कोई हित होता और न कोई यश, हाँ! इतना अवश्य था कि सिविल और सैनिक शक्तियों के संघर्ष के बीच बंगाल पिस गया था; 'भारत मित्र' ने कितने ही उग्र लेखों और 'टेसू' कविताओं द्वारा इस घटना पर प्रकाश डाला था। लार्ड कर्ज़न की भारत विरोधी नीति को अनावरण करने में 'भारत मित्र सर्वदा आगे रहता था। स्वदेशी-आन्दोलन के समर्थन और पूर्वी बंगाल के गर्वनर की आंदोलन-विरोधी दमन नीति की कटु आलोचना करने में 'भारत मित्र' ने असीम साहस और महान् निर्भीकता से काम लिया था। कर्ज़न द्वारा दिल्ली दरबार करने, विक्टोरिया मेमोरियल हाल बनवाने तथा अन्य तुमतुराक से भरे कार्य करने को 'बुलबुल उड़ाने के स्वप्न' के समान बताकर भारतीय भावनाओं का परिचय 'भारत मित्र' ने दिया था। देशी राजाओं द्वारा अँग्रेजों की चाटुकारिता पर गुप्त जी ने बड़े तीखे व्यंग्य किये हैं। जो अखबार भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन का विरोध करके अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिये अँग्रेजों के पक्षपाती बन गए थे अथवा जिनके ऊपर अँग्रेजों की विशेष कृपा हो गई थी, उनको गुप्त जी द्वारा दी गई स्पष्ट चुनौती 'भारत मित्र' की नीति की परिचायक है। गुप्त जी ने लिखा था—"हमारे कितने ही

पढ़े-लिखे भाई, जिनकी पीठ पर गोरे अखबारों ने हाथ फेर दिया है, चिल्लाते हैं कि हमें राजनीतिक आंदोलन न करके समाज-सुधार का करना चाहिए। (खूब) इनसे कोई पूछे, संसार में कोई भी ऐसा देश है, जहाँ के निवासी बिना देश के अन्दर स्वतन्त्रता प्राप्त किये, श्रेष्ठ और उद्यमी हुए हैं ?"[१]

राजनीतिक घटनाओं के उल्लेख, अँग्रेजी राज्य की भारत विरोधी गति-विधियों के प्रकाशन तथा अन्तर्राष्ट्रीय मामलों पर स्वतन्त्रता पूर्वक लिखने में 'भारत मित्र' अँग्रेजी के पत्र 'अमृत बाज़ार पत्रिका' के आदर्श पर चलता था। उक्त पत्रिका का जन्म 'भारत मित्र' से केवल आठ वर्ष पूर्व हुआ था और अपने राजनीतिक दृष्टिकोण की प्रगतिशीलता के कारण ही वह देश में विख्यात हो चुकी थी। पत्रिका के आदर्श पर चलने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि देश-प्रेम और राष्ट्रभक्ति के विषय में 'भारत-मित्र' और 'अमृत बाज़ार पत्रिका' दोनों का एक मार्ग था। दोनों ही देश विरोधी तत्त्वों के विरोधी, जातीय परम्परा के प्रबल समर्थक, तथा सबसे प्रथम स्थान भारतीयता को देने वाले थे। वैसे 'भारत मित्र' की अपनी स्वतंत्र नीति थी। वह धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करता था। धर्म सम्बन्धी झगड़ों में यह तटस्थ रहता था, पर हिन्दू धर्म की आलोचना होती देख उसमें सम्मिलित होना वह अपना कर्त्तव्य समझता था। धर्म के मूल सिद्धान्तों पर कुठाराघात होता देख उसे उसका समर्थन करने पर बाध्य होना पड़ता था। उसका विश्वास था कि धर्म के मूल आदर्श सार्वदेशीय एवं सार्वभौम होते हैं, हाँ! विभेद एवं पृथकत्व बाह्य आडम्बरों में ही दृष्टव्य है। 'भारत मित्र' ने साम्प्रदायिकता तथा संकीर्ण जातीयता का कभी पक्ष नहीं लिया। हिन्दू-धर्म तथा हिन्दू समाज का यह समर्थन करता था; पर दूसरे धर्मों के विरोध के लिये नहीं, अपितु सभी धर्मावलम्बियों को स्वजाति, स्वदेशानुराग तथा मानव धर्म का परिपालन करने के लिये। इस विषय में गुप्त जी की निश्चित धारणा थी—"भारत मित्र भारतवर्ष का कागज है, भारतवर्ष हिन्दुओं का देश है, हिन्दुओं ही की इसमें प्रधानता है। हिन्दुओं ने ही भारत मित्र को जन्म दिया है। जिन लोगों ने इसे चलाया हैं, वह हिन्दू हैं और जो इसको लिखते हैं, वह भी हिन्दू हैं, इसी से भारत मित्र हिन्दुओं का तरफदार है और वह तरफदारी किसी मजहब वाले से लड़ाई करके नहीं, दूसरे मजहब को अपने मजहब में मिलाने के लिये

१—गुप्त स्मारक ग्रंथ, पृ० १५५।

नहीं ।"[१] हिन्दू धर्म का दृढ़ समर्थक होने पर भी भारत मित्र हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य का प्रवक्ता था ।

'भारत मित्र' का दूसरे पत्रों के संचालन के विषय में भी स्पष्ट मत था। जिसकी जो चाल हो, उसी पर चलने से उन्नति होती है। उसके बिगड़ने से अवनति और अपयश। अपने सहयोगी पत्र 'आर्यावर्त' से अपनी सम्पादकीय नीति के विषय में एक बार कहा था—"आर्यावर्त को स्मरण रखना चाहिये कि, 'भारत मित्र' मजहबी पत्र नहीं है। राजनीतिक पत्र है। हिन्दी का प्रचार और राजनीतिक चर्चा इसके प्रधान उद्देश्य हैं। धर्म का आन्दोलन करना इसकी पालिसी नहीं है।"[२]

अन्त: साक्ष्य के इस आधार पर कहा जा सकता है कि गुप्त जी ने 'भारत मित्र' की नीति प्रथमत: हिन्दी का प्रचार और राजनीतिक जागरूकता का उत्कर्ष बना रखी थी। वे धार्मिक विद्वेष और अनैक्य के घृणित प्रचार से भी सर्वथा बचे रहे। 'भारत मित्र' को वे सम्पूर्ण भारतवर्ष का प्रतिनिधि पत्र मानते थे, किसी पत्र विशेष का अन्यायपूर्ण विरोध और अन्य का अनुचित समर्थन करना उनकी नीति न थी। एक बार 'भारत जीवन' (बनारस) के सम्पादक बाबू रामकृष्ण वर्मा ने गुप्त जी से 'राजस्थान' पत्र का समर्थन करने के लिये आग्रह किया था। 'राजस्थान' के समर्थन में गुप्त जी की नीति पर आघात होता था, अत: आपने इस विषय में जो लिखा था, उससे उनकी नीति अधिक स्पष्ट होती है। आपने कहा था—"भारत मित्र सम्पादक आप ही का नहीं सब हिन्दी वालों का है। सदा वह सब हिन्दी प्रेमियों का उत्साह बढ़ाने की चेष्टा किया करता है। हिन्दी वालों का वह बराबर तरफदार रहता है उनके कोई छोटे-मोटे दोष दिखाये तो उन पर कान भी नहीं धरता।"[३] गुप्त जी ने अपनी इस सत्य नीति का प्रकाशन करते हुए अनुचित रूप से 'राजस्थान' का समर्थन करने से अस्वीकार कर दिया। 'भारत जीवन' के सम्पादक चाहते थे कि जिस प्रकार 'बंगवासी' वालों ने 'खंगविलास प्रेस' वालों को प्रोत्साहित किया था, गुप्त जी भी उसी भाँति 'राजस्थान' का समर्थन करें। इस घटना से गुप्त जी तथा भारत मित्र की नीति स्पष्ट होती है। वह न्यायप्रियता तथा सत्य से कितनी युक्त थी।

१—भारत मित्र, हमारा धर्म, सन् १९०० ई०।

२— वही , वही ।

३— वही , 'आपका उत्साह', सन् १९०६ ई०।

भारत मित्र का नीति मानव-धर्म का पालन करने की थी। मानव-धर्म के विषय में अपनी धारणा प्रकट करते हुए गुप्त जी ने लिखा था—"स्वजाति, स्वदेशानुराग मनुष्य का धर्म है।"[१] इस धर्म का समर्थन गुप्त जी ने आजीवन किया। स्वदेशानुराग और स्वजाति प्रेम ही संक्षेप में 'भारत मित्र' की नीति कही जा सकती है। सम्पादक होने के नाते उन्होंने समान धर्म वाले अन्य पत्रों की स्वाधीनता-रक्षार्थ सर्वदा आन्दोलन किया था। राजस्थान के राजे-महाराजे पत्रों को स्वतन्त्रता पूर्वक लिखने नहीं देते थे। गुप्त जी ने इस नीति की आलोचना करते हुए लिखा था—"अख़बार कोई गनीम नहीं है कि जो स्वाधीन होकर रियासत को कुछ हानि पहुँचावे, वरंच् यदि उसकी ठीक-ठीक सहायता की जाय और उसे उन्नत होने के लिए अवसर दिया जाय तो वह राज्य के एक बहुत ही काम की वस्तु बन सकता है। जब एक विदेशीय गवर्नमेन्ट इस देश की प्रजा को प्रेस सम्बन्धी स्वाधीनता देती है, तब देशी राजा महाराजा अपनी देशी प्रजा को स्वाधीनता न दें, यह कैसे दुःख की बात है।"[२]

'भारत मित्र' में गुप्त जी की सर्वथा यह नीति रही कि उन्होंने केवल लिखने के उद्देश्य से नहीं लिखा; उसके पीछे स्वान्तः सुखाय की भावना भी न थी। जनता का हित और केवल उसी का हित सम्पादन पत्र की सम्पादकीय नीति थी। केवल समाचार प्रकाशित कर उन पर टीका-टिप्पणी मात्र करके संतोष कर लेना गुप्त जी का उद्देश्य न था। वे अपने को जन-चेतना का, जन-कामना का, जनाधिकार और समष्टि हित-साधना का संरक्षक मानते थे और इसी सतर्कता के साथ उन्होंने अपने पत्र द्वारा जनता की सेवा की।

गुप्त जी की भाषा सम्बन्धी नीति—

गुप्त जी भाषा के विषय में पूर्णतः नवीनतम विचार रखते थे। उन्होंने न तो संस्कृत विद् पण्डितों की संस्कृत शब्दावली से युक्त हिन्दी का समर्थन किया और न उर्दू व फ़ारसी की वाक्य-रचना तथा शब्द-विन्यास से परिपूर्ण हिन्दी का पक्ष लिया। उन्होंने संयुक्त प्रान्त की सरकार के भाषा-प्रचार के विचार का घोर विरोध किया था। उन दिनों सरकार ऐसी भाषा का प्रचार करना चाहती थी, जिसमें से संस्कृत के क्लिष्ट शब्द निकाल दिये गए हों और

१—भारत मित्र, 'हमारा धर्म', सन् १९०० ई०।

२—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, 'हिन्दी अख़बार', पृ० ३६४।

अरबी-फ़ारसी के कठिन शब्दों का भी बहिष्कार कर दिया गया हो तथा जिसे शिक्षित हिन्दू और मुसलमान दोनों बोलते हों। गुप्त जी ने सरकार द्वारा प्रस्तावित ऐसी भाषा को मौलवियाना या पादरियाना भाषा की संज्ञा दी थी और उसे हिन्दुस्तानी कहा था। आप उसे बेमुहावरा भाषा कहते थे। भाषा के विषय में वे पूर्णतः भारतेन्दु जी के अनुयायी थे। उस समय विविध लेखकों की व्यक्तिगत रुचि और स्वभाव के कारण भारतेन्दु द्वारा प्रदर्शित भाषा का रूप कुछ अन्धकार में पड़ गया था। व्याकरण और विराम चिन्हों में यद्यपि सुधार और परिमार्जन हुआ अवश्य, पर भाषा का वह रूप विविध-शैलियों के घटाटोप में खोता जा रहा था, जिसे भारतेन्दु जी स्थापित कर गये थे। शैली की विविधता उस युग की एक विशेषता बन गई थी। पं० देवकीनन्दन खत्री का ध्यान सर्वसाधारण जनोचित भाषा का रूप प्रतिष्ठापित करने की ओर आकृष्ट हुआ था। इससे हिन्दी का प्रचार एवं प्रसार हुआ तथा शैली में सरलता उत्पन्न हुई। किंतु उनकी भाषा गम्भीर भाव-प्रकाशन के सर्वथा अनुपयुक्त रही। किशोरीलाल गोस्वामी भाषा शैली का निश्चित आदर्श उपस्थित करने में असमर्थ रहे। उनके उपन्यासों की भाषा उर्दू के लचरपन से मुक्त रही और उपन्यास-क्षेत्र के बाहर उन्होंने संस्कृतनिष्ठ शैली का प्रयोग किया। अयोध्यासिंह उपाध्याय ने गद्य में पद्यात्मक सौष्ठव की छटा दिखाई। अतः वे भी भाषा की आदर्श शैली का स्वरूप निर्धारित न कर सके। श्यामसुन्दर दास साहित्यिक भाषा शैली के अनुकर्त्ता थे। उनकी शब्दावली संस्कृत से प्रभावित और अलंकारिता लिये हुए रहती थी। आचार्य द्विवेदी जी की रुचि संस्कृत शब्दावली की ओर थी। पं० गोविन्द नारायण मिश्र ने समासांत पदावली से युक्त अलंकृत भाषा शैली का अनुगमन किया, जिससे हिन्दी की जातीय शैली के विकास की रुचि का अभाव तथा पांडित्य प्रदर्शन के भाव की अभिव्यंजना होती है। चन्द्रधर शर्मा गुलेरी तथा माधवप्रसाद मिश्र की भाषा भी हिन्दी की जातीय शैली का रूप प्रवर्तित करने में समर्थ न हो सकी।

सारांश यह है कि जिस व्यावहारिक एवं प्रवाहमयी परिमार्जित भाषा के रूप का प्रवर्तन भारतेन्दु जी ने किया था, वह शनैः शनैः साहित्य-पटल से विलीन होता जा रहा था और व्यक्तिगत-वैचित्र्य शैली में प्रविष्ट होता जाता था। गुप्त जी ने बड़ी सतर्कता और शक्तिमत्ता के साथ उसी भाषा को पुनर्जीवित किया। उन्होंने साधारण बोलचाल के चलते शब्दों को संस्कृत के व्यावहारिक तत्सम तथा तद्भव शब्दों के साथ मिलाकर तथा उर्दू के स्वाभाविक चमत्कार का पुट देकर बड़ी सजधज के साथ व्यवहृत किया। उन्होंने भाषा

के उस परिमार्जित एवं व्यवस्थित रूप का जो शिक्षित-समाज में आदर्श का पात्र हो सकता था, समर्थन एवं प्रवर्तन किया।

गुप्त जी किसी भी प्रान्त के भाव-द्योतक शब्द का अनादर न करते थे। यहाँ तक कि अन्य प्रान्तों की भाषा के मुहावरों को भी उन्होंने भाषा में समाविष्ट किया। अतः व्यवहार में आते-आते वे अपनी भाषा के मुहावरे बन गए। वे सुन्दर, सुगठित, मुहावरेदार भाषा के पक्षपाती थे। शब्दों का आडम्बर उनकी भाषा का आवश्यक गुण न था। सीधे-साधे शब्दों द्वारा भाषा में सौन्दर्य ला देना उनकी निजी कला थी। दूसरी भाषाओं के शब्दों का उचित स्थान पर व्यवहार करके आप भाषा में नया रंग उत्पन्न कर दिया करते थे। विदेशी भाषा के शब्दों के व्यवहार के विषय में उनका मत था कि उनको ज्यों का त्यों हिन्दी में ग्रहण कर लेना उचित है, उनका अनुवाद कर लिखने में व्यर्थ कष्ट होगा और वास्तविक एवं स्वाभाविक अर्थ भी उपलब्ध न हो सकेगा। उदाहरण के लिए 'मशाल', 'शेख', 'सुलतान', 'याकूब', आदि अरबी के शब्द हैं। 'शक्कर', 'कमान', 'सेख', 'शाह', 'खानजादे'; 'कुशाह', 'तेग', 'तेज' आदि फ़ारसी के और 'उजबक' तुर्की का शब्द है; इनमें से कई एक नाम हैं जिनका अनुवाद किया नहीं जा सकता; कई एक ऐसे हैं जिनके अनुवाद की चेष्टा की जाय तो कई-कई पंक्तियाँ लग जाएँ तो भी अर्थ स्पष्ट न हो। इसी प्रकार 'रेल', 'स्टेशन', 'लाट', 'कमेटी' आदि शब्द हैं, जिनका अनुवाद करना व्यर्थ कष्ट करना है। फ़ारसी अरबी के कितने ही शब्द प्रयोग में आकर हिन्दी के शब्दों से भी अधिक प्रिय बन गए हैं। 'साहब' शब्द का प्रयोग तुलसीदास ने भी बड़ी भक्ति के साथ किया है।[1] गुप्त जी की यह भाषा सम्बन्धी नीति थी। वे स्वयं लतीफों और चुटकलों का प्रवेश करके अपनी भाषा को प्रभाव पूर्ण बना दिया करते थे।

हिन्दी के अन्य समाचार पत्रों के विषय में गुप्त जी की नीति बड़ी स्पष्ट एवं निष्पक्ष थी। वे उर्दू का भी उतना ही सम्मान करते थे, जितना हिन्दी का। अच्छी उर्दू के प्रतिनिधि पत्र को पतनावस्था से उठाने के लिए आपने एक अपील की थी।[2] इससे स्पष्ट होता है कि गुप्त जी उर्दू के विरोधी न थे, प्रत्युत अच्छी हिन्दी लिखने के लिए उर्दू का ज्ञान आवश्यक समझते थे। इस विषय में 'ज़माना' सम्पादक को लिखे गुप्त जी के पत्र विशेष महत्वपूर्ण

१—'हिन्दी भाषा' नामक लेख में व्यक्त विचारों के आधार पर।

२—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, उर्दू अखबार, पृ० २७६।

हैं। उर्दू के विषय में गुप्त जी नीति मुन्शी दयानारायण निगम के अनुसार 'शुलहकुन' थी।[1]

भाषा के विषय में गुप्त जी का एक निश्चित आदर्श था। आप 'भारत मित्र' द्वारा उस आदर्श का परिपालन करना चाहते थे। उनकी मान्यता थी कि पत्र ही भाषा का सुन्दर एवं व्यावहारिक रूप जन-समुदाय के सम्मुख उपस्थित कर सकते हैं। जिन पत्रों से इस आदर्श की रक्षा न हो सकी या जो एक आदर्श स्तर से निम्न कोटि की भाषा लिखते थे, गुप्त जी ने उन पत्रों की कड़ी आलोचना की है।[2] पर ऐसा करते समय परिस्थितियों पर भी यथोचित ध्यान दिया है। उनके प्रभाव पर विचार किया है। काशी के 'बनारस-अखबार' द्वारा लिखी भाषा का उपहास मुन्शी शीतलसिंह ने किया था। एक महाराष्ट्रीय सज्जन गोविंद रघुनाथ थत्ते उसके सम्पादक थे। वे जिस प्रकार की भाषा लिखते थे उसका एक निदर्शन इस प्रकार है—"यहाँ जो पाठशाला कई साल से जनाब कप्तान किट साहब बहादुर के इहतिनाम और धर्मात्माओं के मदद से बनता है उसका हाल कई दफा जाहिर हो चुका।"[3] गुप्त जी की दृष्टि में इस प्रकार की भाषा लिखना गुरुतर अपराध न था। क्योंकि प्रथम तो सम्पादक दक्षिण निवासी था, दूसरे उस समय हिन्दी का रूप भी निश्चित न हो पाया था। गुप्त जी का इतना कहना अवश्य है कि लल्लूलाल की भाषा उनके लिये आदर्श हो सकती थी पर उनकी भाषा उनके ग्रंथों तक सीमित रही; अन्य लोगों ने उनकी भाषा में ग्रन्थ रचना न की। यदि उस भाषा के आदर्श पर कुछ और रचनाएँ होतीं तो भाषा के एक सुन्दर रूप के प्रतिष्ठित होने की सम्भावना थी। स्पष्ट है कि अच्छी भाषा न लिख सकने वाले पत्रों के विशेष अभावों पर भी गुप्त जी ने विचार किया है। इसी प्रकार 'अल्मोड़ा अखबार' की भाषा अधिक उन्नत न थी पर प्रकाशित होने के स्थान और परिस्थितियों पर विचार कर गुप्त जी ने उसकी भाषा को सन्तोषप्रद कहा है।[4] 'बिहार-बन्धु' पत्र की उर्दू-मिश्रित हिन्दी भाषा को भी गुप्त जी

१—जमाना, अक्टूबर-नवम्बर सन् १९०७, पृ० २९८।

२—गुप्त निबन्धावली प्रथम भाग, हिन्दुस्तानी पत्र के विषय में उनकी टिप्पणी; पृ० २८०-२८९।

३—वही, बनारस अखबार पर गुप्त जी की टिप्पणी, पृ० ३१२।

४—वही; अलमोड़ा पत्र पर गुप्त जी की अलोचना, पृ० ३२४—३२५।

तत्कालीन अवस्था में उचित स्वीकार करते थे।[1] पर भाषा का एक आदर्श प्रतिष्ठित हो जाने के उपरान्त दूसरे-काल के हिन्दी पत्रों ने जहाँ कहीं भाषा अथवा लिपि में आवश्यक उलट फेर किया, गुप्त जी उसकी आलोचना किये बिना नहीं मानते थे। राजा रामपालसिह द्वारा 'हिन्दोस्थान' में विचित्र प्रकार से अक्षरों के लिखने पर गुप्त जी ने टिप्पणी की थी और लिपि-विषयक असमानता के लिए उनका विरोध किया था।[2] वे भाषा और लिपि के विषय में एकता के पक्षपाती थे। जो हिन्दी-पत्र नागरी लिपि में उर्दू भाषा लिखते थे गुप्त जी ने उन पत्रों का भी विरोध किया था। 'ग्वालियर-गज़ट' की भाषा को गुप्त जी हिन्दी के लिये कलंक मानते थे। 'हिन्दी बंगवासी' की बंगलापन लिये हुए भाषा को भी आप अनुचित समझते थे।

गुप्त जी बोलचाल की व्यावहारिक भाषा के पक्षपाती थे। उनका मत था कि सूरदास की ब्रजभाषा बोलचाल की भाषा है, इसीलिए ३०० वर्ष बाद भी बोधगम्य और सरस मानी जाती है। वे भाषा को सजीव, सार्वजनिक और प्रभावशाली बनाने के लिये व्याकरण की उतनी आवश्यकता नहीं समझते थे, जितनी कि उसकी व्यावहारिकता की। उनके मत से जो लोग प्रतिदिन व्यवहार में आने वाली भाषा लिखने में असमर्थ हैं वे व्याकरण के बल पर अपनी भाषा को स्थायी या आदर्श नहीं बना सकते। जटिल एवं अनधिगम्य भाषा को आप निम्नकोटि की व्यर्थ भाषा मानते थे। उनका मत था कि जब भाषा में अर्थात् शब्द लगाने की आवश्यकता पड़ जाती है तो उसे अच्छी हिन्दी लिखने वाले श्रेष्ठ भाषा नहीं मानते। उनकी भाषा विषयक नीति के अधिक स्पष्टीकरण के लिये उनके शब्दों की अधिक उपयोगिता है। आपने लिखा है—"हमारे लिये इस समय वही हिन्दी अधिक उपकारी है, जिसे हिन्दी बोलने वाले तो समझ ही सकें उनके सिवा उन प्रान्तों के लोग भी उसे कुछ-न-कुछ समझ सकें जिनमें वह नहीं बोली जाती। हिन्दी में संस्कृत के सरल-सरल शब्द अवश्य अधिक होने चाहिये, इससे हमारी मूल भाषा संस्कृत का उपकार होगा और गुजराती, बंगाली, मराठे आदि भी हमारी भाषा को समझने के योग्य होंगे। किसी देश की भाषा उस समय तक काम की नहीं होती, जब तक उस देश की मूल भाषा के शब्द बहुतायत के साथ शामिल नहीं होते।"[3] भाषा के इसी आदर्श

१—गुप्त निबन्धावली प्रथम भाग, हिन्दी अखबार, पृ० ३२७।

२—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, हिन्दी अखबार, पृ० ३५३–३५४।

३— वही, अधखिला फूल, पृ० ५७०।

को सम्मुख रखकर गुप्त जी ने अयोध्यासिंह उपाध्याय [१], पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी [२] तथा 'राजस्थान समाचार' की भाषा की आलोचनाएँ कीं थीं।

अन्ततः गुप्त जी की भाषा-नीति के विषय में यह कहा जा सकता है कि वे हिन्दी को सर्वदेशीय और सार्वजनिक प्रयोग की भाषा बनाने के लिए संस्कृत से नए शब्द ग्रहण करने के पक्ष में थे जिससे भाषा के क्षेत्र में अन्तर्प्रान्तीय अभेदमूलकता बनी रहे। खड़ी बोली के नाम पर अस्वाभाविक प्रयोगों के आप विरोधी थे और उर्दू के सम्पर्क से हिन्दी को शक्तिशाली तथा प्रवाह पूर्ण बनाने के पक्ष में थे। वे भाषा की व्यावहारिकता और जातीयता के प्रबल समर्थक थे, इसी मान्यता को लेकर उन्होंने अन्य पत्रों की भाषा सम्बन्धी आलोचनाएँ की थीं।

गुप्त जी की पत्रकारिता पर भारतेन्दु की पत्रकारिता का प्रभाव—

भारतेन्दु जी ने 'कवि वचन सुधा' (१८६८ ई०), 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' (१८७३ ई०) और 'बालाबोधिनी' (१८७४ ई०) प्रकाशित करके हिन्दी-पत्र-साहित्य की उस क्षीण परम्परा को स्थायित्व प्रदान किया था, जिसका प्रवर्तन ३० मई, सन् १८२६ को 'उदन्त मार्त्तण्ड' द्वारा हुआ था। यही नहीं, भारतेन्दु जी के प्रोत्साहन से लगभग दो दर्जन पत्र प्रकाशित हुए थे। स्वदेश-प्रेम और राष्ट्रभक्ति उनके पत्र-साहित्य की प्रथम विशेषता थी। 'कवि-वचन-सुधा' का सिद्धान्त-वाक्य उनकी विचार धारा का द्योतक है। 'स्वत्व निज भारत गहै' वाक्यांश बतलाता है कि भारतेन्दु जी ने कांग्रेस की स्थापना के पूर्व स्वतंत्र भारत का उद्घोष किया था और सरकार से देश के लिये स्वशासन की माँग की थी। विविध पत्रिकाओं में प्रकाशित भारतेन्दु जी के लेख और नाटकों के कथानक देशभक्ति और भारतीय समस्याओं से पूर्ण हैं। 'भारत-दुर्दशा' और 'नीलदेवी' के कथानक भारत के सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनीतिक तथा आर्थिक-जीवन का परिचायक और सच्चे अर्थ में प्रगतिशील एवं यथार्थवादी हैं। डा० रामविलास शर्मा के मतानुसार 'कवि वचन सुधा' में—"भारतेन्दु ने स्वदेशी वस्तुओं के व्यवहार के लिए अपना प्रतिज्ञा पत्र

१—गुप्त निबंधावली, प्रथम भाग, 'अधखिला फूल' पृ० ५६८-६९।

२—भारत मित्र सन् १९०५-०६ में प्रकाशित अनस्थिरता विषयक लेखमाला।

छापा था, इसी में उन्होंने खानदेश के बाढ़-पीड़ितों की सहायता के लिए अपील छापी थी, इसी पत्रिका में उन्होंने अँग्रेजी शिक्षा, अँग्रेजी नीति का भंडाफोड़ किया था, इसी में उन्होंने हिन्दी के प्रचार और विकास के लिए आन्दोलन किया था।"[1] अस्तु, भारतेन्दु जी की पत्रकारिता के विषय में यह कहा जा सकता है कि वह राष्ट्रीय स्वाभिमान, नवजागरण और स्वभाषा उत्कर्ष का स्वर प्रधान रूप से लिए हुए थी। 'हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका' की पत्रिकारिता के विषय में डा० शर्मा का विचार है कि साहित्य और पत्रकारिता के माध्यम से भारतेन्दु ने राष्ट्रीय-सम्मान की भावना जाग्रत की, साहित्यिक रुचि का संवर्द्धन किया और हिन्दी भाषा को देश के सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन में ऊँचा स्थान दिलाने के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य किया।[2] भारतेन्दु की पत्रकारिता के इसी गुण का प्रभाव गुप्त जी की पत्र-कारिता पर पड़ा था।

भारतेन्दु की भाँति गुप्त जी भी आपाद-मस्तक देशभक्ति और समाज-सुधार की भावना से ओत-प्रोत थे और उन्हीं की भाँति गुप्त जी ने भी अपने विचारों का वाहक समाचार पत्र ही बनाया था। गुप्त जी की देशभक्ति और राष्ट्र-प्रेम ने सर्व-प्रथम तो अपना प्रभाव कालाकांकर के 'हिन्दोस्थान' में ही दिखा दिया था, जिससे भयभीत होकर राजा साहब ने उन्हें पत्र से पृथक् कर दिया था। सम्भवतः गुप्त जी प्रथम हिन्दी-पत्रकार थे, जिन्हें उग्र देशभक्ति के कारण अपनी नौकरी से हाथ धोना पड़ा था। 'भारत मित्र' में आकर यह गुण और भी अधिक विकसित हुआ। समय के प्रवाह ने उनमें अधिक निर्भीकता एवं स्पष्टता का समावेश किया और वे भारतेन्दु तथा उनके सहयोगियों की अपेक्षा अधिक उग्रता के साथ सरकारी कार्यों की आलोचना करके देश के लिये स्वशासन की माँग को शासकों के सम्मुख रखने लगे थे। उन्होंने स्वदेशी आन्दोलन का पाठ पढ़ाकर देशवासियों को आत्मनिर्भरता एवं 'एक साथ जीने-मरने' की शिक्षा दी। काँग्रेस के नर्मदल और गर्मदल नामक वर्गों में बँट जाने पर हर्ष प्रकट करते हुए आपने 'दो-दल' शीर्षक लेख द्वारा गर्मदल, जो स्वशासन के लिये क्रान्ति का पथ ग्रहण कर रहा था—के साथ अपनी सहानुभूति प्रकट की। इस प्रकार उन्होंने अपनी स्वतन्त्रता विषयक

१—डा० रामविलास शर्मा, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पत्रकारिता और निबंध-कला, पृ० ९६।

२— वही , पृ० १०४।

विचारधारा एवं जागरूकता का परिचय दिया था। गुप्त जी ने भारतमित्र द्वारा भारत के असंख्य बुभुक्षित नर-नारियों के झोंपड़ों से लेकर गगनचुम्बी अट्टालिकाओं में अनवरत चलते हुए विलासमय जीवन के चित्र उपस्थित किए तथा देश के कण-कण में सजीवता और स्पन्दन का मंत्र फूँका था। इस प्रकार जागरण एवं सांस्कृतिक चेतना का उन्होंने शक्तिभर प्रसार किया। गुप्त जी ने 'लार्ड लिटन जाते हैं' लेख द्वारा लिटन के अत्याचारपूर्ण कार्यों की आलोचना की और 'एलगिन का प्रस्थान' लेख लिखकर एलगिन के अप्रिय शासन के दुर्गतिपूर्ण कार्यों का भंडाफोड़ किया और 'कर्ज़न शाही' शीर्षक लेख लिखकर लार्ड कर्ज़न के भारत-विरोधी कार्यों से भारतीय जनता को अवगत कराया। इस प्रकार गुप्त जी सदैव दृढ़तापूर्वक अँग्रेजी शासन की जड़ें हिलाने के लिए भारताय स्वतन्त्रता की उपासक जनता को उत्तेजित करते रहे।

भारतेन्दु की पत्रकारिता की दूसरी विशेषता थी, समाज-सुधार के लिये आन्दोलन—'खल गनन सों सज्जन दुःखी मति होय' भारतीय समाज की शांति और सुखद अवस्था के चिन्तन एवं कामना का द्योतक है। ये शब्द इंगित करते हैं कि भारतेन्दु शांत और सुखद वातावरण के प्रति जागरूक थे। 'हरिपद मति रहे'—जनता में प्रवर्तित धार्मिक अविश्वास एवं अनीश्वरवादी विचार धारा का परिहार करके धार्मिक भावना के पुनःस्थापन की ओर संकेत करता है तथा 'नारि नरसम होंहि'—भारतीय समाज में स्त्री-पुरुष की विषमता एवं असंगति की ओर इंगित करता है तथा उसका उन्मूलन कर दोनों के समान अधिकार की मौलिक माँग का प्रतिपादन करता है। भारतीय-समाज में कुछ काल से स्त्री उपेक्षित रहती आई है उसके जन्मजात अधिकारों के संरक्षण, उसके समाज में व्याप्त अशिक्षा के उन्मूलन तथा आत्म-सम्मान एवं जातीय-गौरव के प्रतिष्ठापन के लिये भारतेन्दु जी ने 'बाला बोधिनी' पत्रिका को जन्म दिया था। गुप्त जी ने भी भारतेन्दु के इस गुण को आत्मसात करने में अपने जीवन की प्रमुख शक्ति को नियोजित किया था। आपने 'भारत मित्र' द्वारा उस समाज में बहुमुखी सुधार किये जिसका कि वे स्वयं एक अंग थे। उनके द्वारा सार्वजनिक संस्थाओं के स्थापन और सामाजिक दुर्गुणों के विच्छेदन की बात का उल्लेख किया जा चुका है। सामाजिक-सुधार की भावना गुप्त जी की पत्रकारिता का एक अभिन्न अङ्ग थी।

भारतेन्दु जी के पत्रकार जीवन की तीसरी विशेषता है, हिन्दी-प्रेम और सरल व्यावहारिक भाषा का श्रेष्ठतम निदर्शन उपस्थित करना। 'कवि वचन सुधा' का प्रकाशन ही साहित्य सृजन और उत्थान की दृष्टि से किया गया था।

'हरिश्चन्द्र मैगजीन' के प्रकाशन की पृष्ठभूमि में भी यही भावना सक्रिय थी। भारतेन्दु को जहाँ वाङ्मय के विविधांगों के प्रवर्तन का श्रेय प्राप्त है, वहाँ उन्हें गद्य के रूप प्रतिष्ठापक और प्रवर्तक के उच्च स्थान पर भी आसीन किया जाता है। भारतेन्दु की भाषा सम्बन्धी नीति का प्रभाव बालमुकुन्द गुप्त पर किस सीमा तक पाया जाता है इसका उल्लेख किया जा चुका है।[1]

भारतेन्दु की पत्रकार और लेखक के रूप में चौथी विशेषता है, भाषा में व्यंग्य का समुचित पुट तथा हिन्दी में एक व्यंग्यपूर्ण शैली का प्रदर्शन। आपके 'स्वर्ग में विचार सभा का अधिवेशन', 'लेवी प्राण लेवी', 'पांचवे पैगम्बर', 'कंकड़ स्तोत्र', 'अंगरेज स्तोत्र' आदि लेख हास्य और व्यंग्य के सुन्दर निदर्शन और उनकी जागरूकता के प्रतीक कहे जा सकते हैं। 'स्वर्ग में विचार सभा का अधिवेशन' धार्मिक और सामाजिक व्यंग्य तथा शेष लेख सामाजिक, राजनीतिक तथा सामयिक व्यंग्य की तीव्रता लिए हुए हैं। भारतेन्दु जी की इस व्यंग्यात्मक शैली का प्रभाव गुप्त जी पर अधिकांश में पड़ा था। गुप्त जी द्वारा लिखे 'शिवशम्भु के चिट्ठे' सामाजिक और राजनीतिक व्यंग्य के उत्तम उदाहरण हैं; अनस्थिरता विषयक लेख शुद्ध साहित्यिक व्यंग्य का रूप सम्मुख रखते हैं, तथा कितने ही ऐसे निबन्ध हैं जिनमें समान रूप से उनके साहित्यिक और राजनीतिक व्यंग्य का रूप मिलता है। गुप्त जी के पास व्यंग्य की तो वह महान् शक्ति थी जिसके बल पर वे बड़े-बड़े लेखकों एवं शासकों को खोटी-खरी सुना दिया करते थे। यह कहा जाय तो अनुचित नहीं कि गुप्त जी की रचनाओं में व्यंग्य का स्वर सर्वोच्च है।

इस संक्षिप्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की पत्रकार-कला का प्रभाव गुप्त जी पर विशेष रूपेण था। भारतेन्दु ही वह प्रकाश-पिंड थे जहाँ से सभी लोग दिव्य-ज्योति ग्रहण करके अपने-अपने अभीष्ट की ओर उन्मुख हुए थे। सम्पादक भारतेन्दु द्वारा प्रदर्शित भारतीय स्वातंत्र्य की जागृति और नवीन सांस्कृतिक जागरण की जो भूमिका तैयार हुई थी, गुप्त जी ने उसे भली प्रकार सँजोया और यथा समय अवसरोपयोगी परिवर्तन करके भारतेन्दु के आदर्श, विचार और कार्य को पूर्णता की ओर पहुँचाया। गुप्त जी की पत्रकारिता भारतेन्दु जी के विचारों का ही परिवर्तित और संवर्द्धित संस्करण थी।

१—प्रस्तुत अध्याय का—गुप्त जी की भाषा सम्बन्धी नीति, शीर्षक।

सामयिक पत्रों पर गुप्त जी की नीति का प्रभाव—

हिन्दी-भाषा के पत्र-साहित्य के इतिहास का अध्ययन करने के पश्चात् यह पूर्ण रूपेण स्पष्ट हो जाता है कि बाबू बालमुकुन्द गुप्त की नीति का प्रभाव उनके सामयिक तथा परवर्ती पत्रों पर अधिकांश में पड़ा था। यह पत्रों के उत्थान और विकास का काल था। अतः देश की विविध भाषाओं में पत्रों का जन्म हुआ। अधिकांश में नवोदित पत्र उनकी नीति को लेकर चले। पत्रों के मूल्य के विषय में उनका सिद्धान्त सर्वप्रिय एवं आदर्श बन गया था। गुप्त जी के पूर्ववर्ती पत्रों का मूल्य अधिक होता था पर उन्होंने भारत मित्र का मूल्य बहुत घटा दिया था। अतः उनके अनुकरण पर नवोदित पत्रों ने मूल्य बहुत कम निश्चित किया। नरसिंहपुर का पाक्षिक पत्र 'आर्य-सेवक', कोढ़ा जिला मिर्जापुर का 'काव्य कलानिधि', बम्बई का 'जैनमित्र', जयपुर का 'समालोचक', लखनऊ की 'बसुन्धरा', गया की 'लक्ष्मी', और कन्नौज की 'मोहिनी' आदि ऐसे पत्र थे जिनका वार्षिक मूल्य डेढ़ रुपए से अधिक न था। इनके अतिरिक्त 'राजपूत', बनारस का 'मित्र' और इटावे का 'ब्राह्मण-सर्वस्व' ऐसे पत्र थे जिनका मूल्य दो रुपया चार आना वार्षिक से अधिक न था। उस युग के प्रकाशकों एवं सम्पादकों को यह ज्ञात हो गया था कि अधिक मूल्य वाले पत्रों का जीवन हिन्दी-क्षेत्र में सुरक्षित नहीं है।

अन्य पत्रों पर गुप्त जी की भाषा-सुधार और हिन्दी-साहित्य के उत्थान की नीति का प्रभाव भी समुचित रूप में पड़ा प्रतीत होता है। तत्कालीन पत्रों में अजमेर का 'राजस्थान समाचार', राजपूताने में हिन्दी भाषा और नागरी लिपि का प्रचार करता रहा था। बूंदी रियासत से प्रकाशित 'सर्वहित' पत्र भी गुप्त जी की भाषा सम्बन्धी नीति को अपनाये हुए था। उस पत्र में भाषा और साहित्य-विषयक कई एक अच्छे लेख और नोट प्रकाशित होते थे। चुटकुले, पहेली और हँसी दिल्लगी की बातें उस पत्र में भारत मित्र के अनुसरण पर हुआ करती थीं। पुस्तकों की आलोचना करने का ढंग भी उक्त पत्र ने अपनाया था।

गुप्त जी के हिन्दी-सुधार और साहित्य निर्माण का 'हितवार्त्ता','सरस्वती', 'समालोचक', 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका', आदि पत्रों पर भी प्रभाव पड़ा था। इन पत्रों ने गुप्त जी के देहावसान के उपरान्त हिन्दी-निर्माण के उस महान् कार्य को पूर्ण किया, जिसका बीजारोपण स्वर्गीय भारतेन्दु जी कर गये थे और जिसके अंकुरित एवं विकसित होने के लिये उपयुक्त वातावरण का निर्माण बालमुकुन्द गुप्त ने किया था।

हिन्दी के पत्रों पर ही नहीं उर्दू-भाषा के अखबारों पर भी गुप्त जी की सम्पादकीय नीति का प्रभाव प्रचुरता के साथ पड़ा था। धर्म की ओर से तटस्थता की नीति का प्रभाव 'अवधपंच' पर पूर्ण रूपेण लक्षित होता है। गुप्त जी स्वयं उक्त पत्र में लिखते थे। उनके लेखों और सिद्धान्तों का प्रभाव उक्त पत्र पर पड़ना स्वाभाविक था। यही कारण है कि वह पत्र हिन्दू-मुस्लिम विरोध को मिटाकर धार्मिक एकता का कट्टर पक्षपाती बन गया था। भारत में रहने वाली सभी जातियों के त्यौहारों पर 'भारत मित्र' की तरह स्वतन्त्रता पूर्वक लिखता था। जातीय-गौरव का रक्षक और भारत-हित-चिंतन का समर्थक था। इसी प्रकार लखनऊ से प्रकाशित होने वाला 'हिन्दुस्तानी' गुप्त जी की राजनीतिक नीति से प्रभावित हुआ था। राजनीति के मामलों में उक्त पत्र में बड़ी निर्भीकता से साथ लिखा जाता था। वह जो कुछ लिखता निडरता के साथ लिखता था। उसकी एक वर्ष की फाइल वर्ष भर की राजनीतिक घटनाओं का इतिहास मात्र थी। धर्म के मामले में उसने कभी हस्तक्षेप नहीं किया था, मुसलमानों का अनुचित समर्थन तथा धर्मावलम्बियों का विरोध उस पत्र से कभी न हो सका था। काँग्रेस के अधिवेशनों की रिपोर्ट उक्त पत्र में शीघ्र प्रकाशित हो जाया करती थी। पत्र आद्योपांत भारत हितैषी था। उर्दू भाषा में ऐसे पत्र बहुत कम थे।

कानपुर के 'ज़माना' मासिक के साथ तो गुप्त जी का घनिष्ठ सम्पर्क था। वे उसके स्थायी लेखक थे और पत्र-सम्पादक से उनकी अभिन्न मित्रता थी। उक्त पत्र के सुचारु प्रकाशन, सुन्दर और समयोचित सामग्री संकलन तथा पत्र की नीति निर्धारण के विषय में गुप्त जी प्रायः परामर्श दिया करते थे। दोनों सम्पादकों के मध्य होने वाले पत्र-व्यवहार के अध्ययन के पश्चात् यह प्रमाणित हो जाता है कि गुप्त जी के परामर्शों का मूल्य ज़माना-सम्पादक कितना करते थे। उक्त पत्र में सामयिक विषयों की आलोचना बड़ी स्वतन्त्रता पूर्वक हुआ करती थी। इस पत्र ने हिन्दू और मुस्लिम लेखकों को अधिक समीप लाने में अद्भुत कार्य किया था। नये लेखकों को प्रोत्साहित करने में यह गुप्त जी का यथार्थ अनुयायी था। प्रेमचन्द जी की प्रारम्भिक रचनाएँ उक्त पत्र में ही प्रकाशित हुई थीं। अलीगढ़ के 'उर्दूएमुअल्ला' नामक पत्र ने भी अल्पांश में गुप्त जी की राजनीति विषयक नीति को अपनाया था, पर अन्य बातों में उनसे विरोध था। इस प्रकार सिद्ध होता है कि भारत मित्र की सम्पादकीय नीति, भाषा विषयक नीति, वस्तु-योजना, सम्पादकीय टिप्पणियाँ, आकार-प्रकार आदि बातों का सामयिक पत्रों पर अधिकांश में प्रभाव पड़ा था।

उपसंहार—

बालमुकुन्द गुप्त ने उर्दू साहित्य-सेवा का परित्याग करके 'हिन्दोस्थान' द्वारा हिन्दी-क्षेत्र में पदार्पण किया था। तदनन्तर आपने 'हिन्दी बंगवासी' और 'भारत मित्र' का सम्पादन करके प्रथमतः हिन्दी-पत्रकारिता को उत्कर्ष की चरम सीमा तक पहुँचा देने के लिए अथक श्रम किया, जिसमें उन्हें अधिकांश सफलता का अनुभव हुआ था। दूसरे हास्य एवं व्यंग्यपूर्ण उत्कृष्ट साहित्य का सृजन करके हिन्दी साहित्य में भारतेन्दु की परम्परा को आगे बढ़ाया। तीसरे हिन्दी-पत्रों की भाषा विषयक नीति में सुधार करके सर्वमान्य भाषा का रूप उपस्थित किया, और चौथे सामयिक पत्रों की नीति की आलोचना करके उन्हें राष्ट्रप्रेम और देशभक्ति पूर्ण नीति अपनाने के लिए विवश किया था। इस प्रकार गुप्त जी ने अपने सम्पादन काल में पत्रकारिता के कलात्मक विकास को दृष्टि में रखकर हिन्दी-पत्रकारिता का परम हित किया था।

अध्याय ४

गुप्त जी के साहित्यिक वाद-विवाद

भारत मित्र-सम्पादन-काल में गुप्त जी को हिन्दी के दो प्रमुख वाद-विवादों में भाग लेना पड़ा था। पहला विवाद अनस्थिरता सम्बन्धी था, जिसके प्रतिपक्षी आचार्य पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी थे। पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी भाषा के परिमार्जन और परिष्कार पर बल देते हुए हिन्दी भाषा के लिए एक सर्वमान्य व्याकरण की अनिवार्यता प्रकट की थी और भारतेन्दु-कालीन लेखकों की रचनाओं से भाषा विषयक अशुद्धियों का उल्लेख करते हुए अपने मत के समर्थन में सबल तर्क उपस्थित किए थे। स्वर्गीय गुप्त जी ने द्विवेदी जी के 'अनस्थिरता' शब्द के अशुद्ध प्रयोग पर आपत्ति प्रकट करते हुए उनके 'भाषा और व्याकरण' नामक लेख की प्रत्यालोचना लिखी थी। इस आलोचना तथा प्रत्यालोचना के अन्तर्गत दोनों ओर से व्यक्तिगत आरोप और प्रत्यारोप होने लग गये थे जिनके कारण भाषा संस्कार की बात पर कुछ काल के लिए आवरण पड़ गया था।

गुप्त जी का दूसरा विवाद 'शेष' शब्द को लेकर हुआ था। सन् १९०० ई० में गुप्त जी ने 'शेष' शब्द का प्रयोग 'समाप्ति' तथा 'अन्त' के अर्थ में किया था। इस पर श्री बेंकटेश्वर समाचार के सम्पादक पं० लज्जाराम मेहता ने आपत्ति प्रकट की थी और 'शेष' का अर्थ 'बाकी' किया था। इस विवाद में भी तत्कालीन विद्वान् तथा प्रसिद्ध लेखकों ने दोनों पक्षों में अपने-अपने मत प्रस्तुत किये थे; अन्त में गुप्त जी का मत मान्य स्वीकार कर लिया गया था। इस प्रकार इस विवाद की इतिश्री हुई। नीचे इन्हीं विवादों का विस्तृत विवेचन किया जा रहा है :—

अनस्थिरता विषयक विवाद—

भारतेन्दु-युग में भाषा तथा शैली का प्रश्न सबसे प्रमुख एवं जटिल था, कारण यह था कि उनसे पूर्व हिन्दी की कोई निश्चित शैली और भाषा का रूप स्थिर न हो पाया था। हिन्दी-गद्य का विकास देश के राष्ट्रीय जागरण के साथ ही साथ हुआ है। उससे पूर्व हिन्दी-गद्य में कोई ऐसी महत्वपूर्ण रचना

न हो सकी थी जो उल्लेखनीय हो। गद्य में कुछ रचनाएँ हुईं अवश्य पर वे खड़ी बोली-गद्य में न होकर ब्रजभाषा-गद्य में हुई थीं। सन् १३५० ई० से लेकर सन् १७६५ ई० तक जिन ग्रंथों का प्रणयन हुआ उनमें 'गोरख गणेश गोष्ठी', 'महादेव गोरख सम्वाद', 'गोरख नाथ की सत्रह कला', 'श्रृङ्गार रस मण्डन', 'चौरासी त्रैष्णवों की वार्ता', 'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता', 'अष्टयाम', 'अगहन महात्म्य', 'वैशाख महात्म्य', 'नासिकेतोपाख्यान', 'वैताल पचीसी' और 'आइने अकबरी की भाषा वचनिका', आदि प्रसिद्ध हैं। भारत के सांस्कृतिक पुनर्जागरण के पूर्व खड़ी बोली-गद्य में एक दो फुटकर रचनाएँ हुई थीं, जिनमें 'चन्द छंद बरनन की महिमा', 'भाषा योग वशिष्ठ' (सन् १७४२ ई०) और 'मण्डोवर का वर्णन' (सन् १८३०-४० ई०) उल्लेखनीय हैं। किन्तु इन रचनाओं से हिन्दी-गद्य की परम्परा स्थापित न हो सकी। खड़ी बोली-गद्य के प्रवर्तन में आधुनिक-युग के पूर्वगामी चार लेखकों ने जो कार्य किया था, वह गद्य के विकास की दृष्टि से स्तुत्य है। लल्लूलाल जी ने 'प्रेमसागर' और सदल मिश्र ने 'नासिकेतोपाख्यान', फोर्ट विलियम कॉलेज के आश्रय में लिखा था। किन्तु इनसे पूर्व मुन्शी सदासुखलाल, 'सुख सागर' और इन्शा अल्ला खाँ 'रानी केतकी की कहानी' लिख चुके थे। इस प्रकार हिन्दी-गद्य में कुछ रचनाएँ हुईं पर सन् १८०३ ई० से लेकर १८५७ ई० तक गद्य-साहित्य में सुष्ठु और परिमार्जित भाषा तथा उत्तम शैली की दृष्टि से कोई भी रचना विशेष महत्त्व की न हो सकी।

ईसाई धर्म प्रचारकों द्वारा हिन्दी-गद्य का अधिक प्रचार हुआ, उन्होंने अपनी धार्मिक पुस्तकों के हिन्दी अनुवाद प्रकाशित किए। इससे हिन्दी-गद्य के प्रसार को तो प्रोत्साहन मिला पर गद्य की भाषा और शैली का रूप स्थापित न हो सका। ईसाइयों की प्रतिक्रिया स्वरूप राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द, राजा लक्ष्मणसिंह, श्रद्धाराम फुल्लौरी तथा स्वामी दयानन्द का आविर्भाव हिन्दी-गद्य के विकास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। पर इतना होने पर भी हिन्दी का रूप अव्यवस्थित और शैली अनिर्णीत एवं अपरिपक्व ही रही। प्रस्तुत काल के गद्य-लेखकों की भाषा पर लल्लूलाल का प्रभाव अक्षुण्ण था—व्याकरण विषयक त्रुटियों पर लेखकों का ध्यान न था, विराम चिन्हों का अभाव भाषा में सर्वत्र व्याप्त था, रूढ़ि गत एवं अप्रचलित शब्दों के व्यवहार से भाषा बोझिल रहती थी और मुहावरों तथा लतीफों का प्रयोग चिन्त्य था। शैली के क्षेत्र में सभी लेखक नए-नए प्रयोग कर रहे थे। अस्तु, आदर्श शैली के अभाव में वैविध्य एवं अनेकरूपता वर्तमान थी। हिन्दी-गद्य की ऐसी अवस्था के समय

भारतेन्दु जी का उदय हुआ। वे महान प्रतिभा और अपूर्व क्षमता लेकर उत्पन्न हुये थे। उन्होंने यथाशक्ति हिन्दी गद्य को परिष्कृत और परिमार्जित किया। अप्रचलित शब्दों को बोलचाल की कसौटी पर खरादा; मुहावरों का प्रयोग ठीक किया, व्याकरण विषयक असंगतियों को शुद्ध किया और विराम चिन्हों को महत्त्व दिया। इस प्रकार भारतेन्दु जी खड़ी बोली-गद्य के अधिकांश में व्यवस्थित एवं संस्कृत रूप को लेकर उपस्थित हुए। उनके भाषा-संस्कार की प्रशंसा सभी परवर्ती आलोचकों ने मुक्त-कण्ठ से की है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल उन्हें वर्तमान गद्य के स्वरूप-प्रतिष्ठापक और वर्तमान साहित्य-परम्परा के प्रवर्तक मानते हैं। भारतेन्दु द्वारा प्रवर्तित हिन्दी उनके युग के लेखकों के लिए आदर्श बन गयी थी। उसे लोग हरिश्चन्दी हिन्दी के नाम से पुकारने लग गए थे।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारतेंदु जी ने खड़ी बोली-गद्य का परिशोधन करके उसकी जातीय शैली का ज्ञान अवश्य कराया था, किन्तु इस समय तक भी लल्लूलाल जी द्वारा प्रयुक्त शब्दों का प्रभाव भाषा में वर्तमान था। जिसके कारण कहीं-कहीं भाषा दूषित और व्याकरण विरुद्ध हो जाती थी। भारतेन्दु-युग के लेखकों की भाषा में यत्र-तत्र स्वर, व्यंजन, सर्वनाम, विशेष्य-विशेषण, क्रिया, वचन, कारक सम्बन्धी अशुद्धियाँ तथा भाषा में अस्पष्टता एवं शिथिलता भी दृष्टिगोचर होती थी। यही कारण था कि भारतेन्दु जी के उपरान्त भाषा-संस्कार का गुरुतर भार द्विवेदी जी के ऊपर पड़ा। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी सरस्वती के सम्पादक थे। सम्पादक होने के नाते उन्हें लेखों का सुधार और प्रूफ-संशोधन करना पड़ता था। उन्होंने जब लेखकों की भाषा-सम्बन्धी उपर्युक्त अशुद्धियाँ देखीं, तो सामूहिक लाभ की दृष्टि से उन्होंने व्याकरण विषयक अशुद्धियों के निवारण के लिए एक योजना बनाई।

इस योजना को कार्यान्वित करने के लिए आचार्य द्विवेदी ने 'भाषा और व्याकरण' नामक एक लेख लिखा था।[1] इस लेख में द्विवेदी जी ने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के एक नोटिस से, राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द के विद्यांकुर २३ वीं आवृति से, गदाधर सिंह की एक विज्ञप्ति से, राधाचरण गोस्वामी के 'भारतेन्दु' पत्र से, तथा काशीनाथ खत्री की एक सूचना से कुछ व्याकरण विषयक अशुद्धियों का उल्लेख करते हुये एक सर्वमान्य व्याकरण बनने की

१—देखिये, सरस्वती, भाग ६, संख्या ११, नवम्बर १९०५ ई०।

अनिवार्यता घोषित की थी। प्रस्तुत लेख में द्विवेदी जी का दृष्टिकोण इस प्रकार था कि मान्य व्याकरण के अभाव में अतीत के पचास वर्षों से लेकर वर्तमान काल की हिन्दी में व्याकरण की सामान्य अशुद्धियाँ तथा विभेदता बनी हुई है। एक लेखक की भाषा दूसरों से और एक पत्र की भाषा अन्य पत्रों से नहीं मिलती। अतः हिन्दी भाषा के क्षेत्र में अस्थिरता और अशुद्धता वर्तमान है। द्विवेदी जी ने भाषा-संस्कार का कार्य उचित अवसर पर प्रारम्भ करके पूर्वकाल से चलती आई हुई अशुद्धियों के परिहार का उत्तरदायित्व भली प्रकार संभाला और इस क्षेत्र में आशातीत सफलता उपलब्ध की। इसके लिए हिन्दी-साहित्य द्विवेदी जी का चिर ऋणी रहेगा।

भाषा-परिशोधन का कार्यारम्भ करते समय आचार्य द्विवेदी जी ने अपने पूर्ववर्ती भाषा सुधारक तथा भाषा और शैली के रूप प्रतिष्ठापक, भारतेन्दु तथा उनके सहयोगी आदि द्वारा इस दिशा में किए गए कार्य पर विचार नहीं किया। यदि आचार्य द्विवेदी ने पूर्ववर्ती लेखकों द्वारा किए गए सीमित कार्य का श्रद्धा एवं सम्मान के साथ यथोचित मूल्यांकन करके आगे कार्य किया होता तो उनके समकालीन लेखकों को सम्भवतः कोई आपत्ति न होती। उस अवस्था में द्विवेदी के गुरुतर कार्य का अपेक्षाकृत अधिक सम्मान होता और उन्हें अवश्यमेव सभी लेखकों का सहयोग मिलता। पूर्ववर्ती कार्य के मूल्यांकन के अभाव में द्विवेदी जी द्वारा किए गए कार्य की विपरीत प्रतिक्रिया हुई। कुछ हिन्दी प्रेमियों को ऐसा प्रतीत हुआ कि द्विवेदी जी ने अपनी-सर्वज्ञता प्रदर्शित करने के उद्देश्य से यह कार्य किया है। दूसरे लेखकों की इस धारणा का आधार यह था कि द्विवेदी जी ने जिन व्याकरण-विषयक अशुद्धियों का उल्लेख पूर्ववर्ती लेखकों की भाषा से किया था, उनसे मिलती-जुलती अशुद्धियों स्वयं द्विवेदी जी द्वारा ज्ञात और अज्ञात रूप से उक्त लेख में हुई थीं। द्विवेदी जी के विरोधी-वर्ग के नेता थे, 'भारत-मित्र' के तत्कालीन सम्पादक बाबू बालमुकुन्द गुप्त।

गुप्त जी ने 'आत्माराम' के नाम से आचार्य द्विवेदी जी के 'भाषा और व्याकरण' नामक लेख की आलोचना में 'भाषा की अनस्थिरता' शीर्षक से दस लेख 'भारत मित्र' (सन् १९०६ ई०) में लिखे। इन लेखों में गुप्त जी ने द्विवेदी जी द्वारा की गई व्याकरण की भूलों की ओर संकेत करते हुए पूछा था कि क्या 'अनस्थिरता' शब्द व्याकरण सम्मत है? इन लेखों की प्रतिक्रिया स्वरूप हिन्दी-क्षेत्र में महान् विवाद उठ खड़ा हुआ था, जिसे 'अनस्थिरता सम्बन्धी विवाद' कहा जाता है। इस विवाद के समय लगभग सभी हिन्दी-लेखक दो

वर्गों में विभाजित हो गए थे। एक वर्ग द्विवेदी जी का समर्थन कर रहा था, तो दूसरा गुप्त जी का। द्विवेदी के समर्थन में पं० गोविन्द नारायण मिश्र ने पं० शिवदत्त कविरत्न के नाम से 'आत्माराम की टेंटें', पं० देवी प्रसाद शुक्ल ने 'विचार-विडम्बना' और पं० गिरजाप्रसाद जी वाजपेयी ने आत्माराम के वकील नाम से लिखा था। इनके अलावा द्विवेदी जी का पक्ष लेने वाले पं० गंगा प्रसाद अग्निहोत्री, बाबू काशीप्रसाद तथा पं० पद्मसिंह शर्मा आदि भी थे। गुप्त जी का समर्थन करने वाले श्री विष्णुदत्त शर्मा, पं० जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी, पं० गिरधर शर्मा, पं० अक्षयवट मिश्र, बाबू गोकुलनन्द प्रसाद वर्मा और प्रसिद्ध उपन्यासकार बाबू गोपालराम गहमरी तथा चन्द्रधर शर्मा गुलेरी आदि थे। इस विवाद में उस समय के लगभग सभी पत्र सम्मिलित थे। विशेषतः 'सरस्वती' (प्रयाग), 'भारत मित्र' (कलकत्ता), 'हिन्दी बंगवासी' (कलकत्ता), 'समालोचक–(जयपुर), 'वैश्योपकारक' (कलकत्ता) आदि ने भाग लिया था। इस विवाद में पं० श्रीधर पाठक तटस्थ रहना चाहते थे। गुप्त जी तथा द्विवेदी जी दोनों ही उनके समान भाव से मित्र थे। वे भाषा के प्रश्न पर अपने सम्बन्धों में कटुता लाना नहीं चाहते थे। प्रथम तो उन्होंने द्विवेदी जी को पत्र लिखकर अपनी तटस्थता बतानी चाही, दूसरे गुप्त जी को इस आशय का एक पत्र लिखा था कि द्विवेदी जी की आलोचना इतनी कठोर नहीं होनी चाहिए थी[1], पर गुप्त जी तथा द्विवेदी जी दोनों ही ने पं० श्रीधर पाठक के मत को प्रकाशित कर दिया था।

खेद का विषय यह है कि व्याकरण-सुधार की जिस भावना को लेकर यह आलोचना प्रारम्भ हुई थी, वह आदि में ही तिरोहित हो गयी थी और द्विवेदी जी के सहयोगियों को ऐसा प्रतीत हुआ कि 'ब्राह्मण-द्विवेदी को एक वैश्य-गुप्त ने दबा लिया है।' यह धारणा 'आत्माराम की टेंटें'[2] नामक लेख माला के आधार पर निर्मित होती है। मिश्र जी की उक्त लेख माला से जातीय श्रेष्ठता और वंशगत गौरव का भाव अधिक स्पष्ट होता है, भाषा-परिशोधन की बात कम। वैश्य-गुप्त जी द्वारा, ब्राह्मण-द्विवेदी जी की आलोचना करने पर मिश्र जी ने लिखा था—"जगत पूज्य आदि वर्ग के परम गौरव की सम्पत्ति 'द्विज' शब्द को भी स्पर्द्धापूर्वक अधिकार में लाकर वर्णश्रेष्ठ सर्वोत्तम

१—गुप्त स्मारक ग्रन्थ, पृ० १३४।

२—हिन्दी बंगवासी, २६ मार्च सन् १९०६ ई०।

माननीय ब्राह्मणों की बराबरी भी इन पक्षियों ने की है।"[१] स्पष्ट है कि 'आत्माराम', पक्षी विशेष 'गुप्त' होकर भी ब्राह्मण की समता करता है। मिश्र जी की दृष्टि में यह गुरुतर अपराध है। मिश्र जी इतने से ही संतुष्ट नहीं हुए। अपनी लेखनी का चमत्कार दिखाते हुए आपने लिखा था—"आज अंग्रेजों के प्रताप से वैसे ही नीच घमण्ड में 'ऐंठते' हुए 'झाड़' टोकरी और मलसार सहित भीड़ में भले मानसों को बेरोकटोक के छूते और धक्का देते चलते हैं। ऊँचे वर्ण के विचारे ब्राह्मणादि दूर से ही वैसे नीचों को देख, स्वयं डरते हुए आज किनारा ताकते और उनके स्पर्श से सावधानता पूर्वक भाग-भाग कर अपनी रक्षा करते दिखते हैं।......नहीं तो नीचों को अब कुछ भी शंका, भय, वा धर्म की मर्य्यादा के बिगड़ने में विचार या आगा-पीछा नहीं है। यदि कोई खिन्न होकर वैसे नीचों को शिक्षा देने के लिए कदाचित कुछ कह बैठता है, तो आँख दिखाकर नीच उसे एक की दस सुनाते और अपमानित करने को कमर कसकर बाजार के बीच में खड़े हो जाते हैं।......ऐसे समय में आत्माराम की श्रेणी के मदमस्त अविवेचकों को परम पूज्यनीय सुकवि, पण्डित और धार्मिक सज्जनों को ललकार कर गँवार कहना कोई आश्चर्य की बात नहीं है।"[२]

इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि 'भाषा और व्याकरण' विषयक इस विवाद को मिश्र जी ने किस रूप में ग्रहण किया था और उनकी धारणा का प्रभाव भाषा-संस्कार के कार्य पर किस रूप में पड़ा था ? मिश्र जी के इस दृष्टिकोण का प्रभाव द्विवेदी जी के समर्थकों पर इस रूप में पड़ा था कि 'विचार-विडंबना' के लेखक ने आत्माराम को गाली देते हुए लिखा था—"विचार भी करेंगे तो क्या लाला, आत्माराम ऐसे अशिष्ट और भीरु अविचारी आदमी से।"[३] ऐसा प्रतीत होता है कि इस टीका-टिप्पणी का ही प्रभाव यह हुआ कि द्विवेदी जी व्याकरण की भूल-सुधार के साथ-साथ 'अनस्थिरता' शब्द की शुद्धता प्रमाणित न करके 'कल्लू अलहत' के रूप में प्रकट हुए। कल्लू अलहत के 'सरगो नरक ठिकानो नाहिं' नामक आल्हा में गुप्त जी को खरी-खोटी सुनाने, उनके वंश और जाति का उपहास करने, उन्हें महानीच बताने, उनकी

१—गोविन्द निबन्धावली—आत्माराम की टेंटें, पृ० २।

२—वही, पृ० ३२।

३—श्री वेंकटेश्वर समाचार, जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी का लेख, साहित्य में हाईकोर्ट, भाग १०, संख्या ४६।

प्रारम्भिक उर्दू शिक्षा पर छींटे कसने, उनके कौटुम्बिक व्यवसाय का मजाक उड़ाने तथा उनकी शिक्षा की हँसी करने में ही लेखनी की कुशलता दिखाई गई है।[१] इस आल्हा में उनकी भाषा, शैली, व्याकरण की शुद्धता और अशुद्धता पर विचार नहीं किया गया। इस आल्हा को द्विवेदी जी की व्याकुलता का प्रतीक कहा जा सकता है। आल्हा के बाद द्विवेदी जी ने 'भाषा और व्याकरण' पर एक लम्बा लेख और भी लिखा।[२] इस लेख में द्विवेदी जी ने जहाँ भाषा और व्याकरण विषयक कुछ बातें कहीं हैं, वहाँ 'आत्माराम' के साथ अपनी प्राचीन शत्रुता भी प्रमाणित की है। इस विषय में आगे विचार किया गया है।

यह सत्य है कि आत्माराम ने द्विवेदी जी की आलोचना बड़े कड़े शब्दों में की थी, जिसके लिए पं० श्रीधर पाठक ने भी उन्हें उपालम्भ दिया था। आत्माराम को निश्चय ही कुछ धैर्य, संयम, और अधिक शिष्टता के साथ संयत शब्दावली में अपनी बात कहनी थी ; उन्हें व्यंग्य और कटाक्षों का आश्रय न लेकर भाषा-सुधार का कार्य अग्रसर करना था। वह काल द्विवेदी जी की प्रतिष्ठा और सम्मान का युग था। आत्माराम के व्यंग्य प्रधान लेखों से द्विवेदी जी की प्रतिष्ठा भंग होती थी। कहीं-कहीं उनके भाषा ज्ञान, उनकी विद्वता, उनका संस्कृत श्लोकों का उच्चारण आदि पर भी कठोर व्यंग्य किए गए हैं। उदाहरण के लिए—"एक विशेष प्रकार के जलपक्षी की भाँति द्विवेदी जी को किनारे के कीचड़ ही में सब मिल जाता है। इसी से अगाध जल तक कष्ट करने की आवश्यकता आपको नहीं पड़ती।"[३] "द्विवेदी जी आँधी की भाँति उठते हैं, किन्तु धूल की भाँति गिरते हैं। आपकी लम्बी चौड़ी फूँ फाँ और हू-हुल्लड़ देखकर तो यही प्रतीत होने लगता है कि न जाने कैसी भारी बात आप कहेंगे, पर पास जाते ही मालूम हो जाता है कि देहाती गुल गप्पाड़े से बढ़कर कुछ नहीं है।"[४] इन पंक्तियों में शिष्ट और सौजन्य शील भाषा का प्रयोग किंचित मात्र नहीं। सभ्य-समाज में यह शब्दावली सर्वदा वर्जित एवं अवांछनीय है। एक दो उदाहरण और भी हैं—"अब प्रश्न करने वाले एक प्रश्न कर सकते हैं कि क्यों द्विवेदी जी को इस प्रकार अचानक लाल बुझक्कड़

१—सरस्वती—भाग ७ संख्या १, जनवरी सन् १९०६ ई०।

२—वही, वही २, फरवरी सन् १९०६ ई०।

३—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, भाषा की अनस्थिरता, पृ० ४६६।

४—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, भाषा की अनस्थिरता, पृ० ४५१-४५२।

बनकर इस खुदा की सुरमादानी का पता बताने की जरूरत पड़ी ?"[१] इस उद्धरण में द्विवेदी जी के लिए 'लाल बुझक्कड़' और व्याकरण के लिए 'खुदा की सुरमादानी' का प्रयोग अनुचित है। "द्विवेदी जी बहुत-सी विद्या और बहुत तरह की बातें एक साथ फाँक गये हैं। वह सब आपके पेट में बकर-कूद मचा रही हैं। आप एक को श्री मुख से निकालना चाहते हैं, तो कई लथड़-पथड़ करती आगे-पीछे निकल पड़ती हैं और सिलसिला खराब कर देती हैं।"[२]

आत्माराम ने अवश्य ही अधीरता और कुछ सीमा तक अशिष्टता से काम लिया है पर द्विवेदी-वर्ग भी उससे किंचित मात्र भी ऊँचा न उठ सका था। इस वर्ग के लेखकों की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—"और तो जो लोग ज्ञान लवदुर्विदग्ध हैं, ईर्षा-द्वेष से जिनका जी जल रहा है, उनको बृहस्पति के बाप की बातों में भी पूर्वापर विरोध और संदिग्ध भाव देख पड़ेगा।"[३] "हाँ, अगर हम हरियाने के देहाती होते तो बात दूसरी थी।—न हम पंजाब के देहाती हैं और न हम महामहा देहाती होकर नागरिक बनने और जुबांदानी का लोलक लटकाने का दावा ही रखते हैं।"[४] और भी—"उदाहरण के लिये पंडित जी के एक चेले (हमारे समालोचक-शुक्राचार्य के आत्म रूप) को देखिये। आपको बहुत दिनों तक पंडित जी ने राम राम रटाया है, पर आपकी राय में हमारा लेख बिल्कुल ही कूड़ा करकट है।"[५] "पहले अपने लेख में भाषा की नश्वरता का जिकर करते समय हमने संसार की नश्वरता का नाम ले लिया, इस पर वाजिद अलीशाह के मकतब के एक-जुबादां को गश आ गया।"[६] इन उद्धरणों और द्विवेदी जी तथा उनके समर्थकों के लेखों का निष्पक्ष अध्येता इस निष्कर्ष पर अवश्य पहुँचेगा कि द्विवेदी-पक्ष के द्वारा भी उसी मार्ग का अनुसरण किया गया था, जिसको आत्माराम ने अपनाया था। द्विवेदी वर्ग ने आत्माराम द्वारा भाषा और व्याकरण के विषय में उठाए गए प्रश्नों को प्राथमिकता न देकर 'ईंट का उत्तर पत्थर से देने' की उक्ति चरितार्थ की थी। यही नहीं, द्विवेदी पक्ष के लेखकों द्वारा आत्माराम के 'भाषा की अनस्थिरता' विषयक

१—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, भाषा की अनस्थिरता, पृ० ४४६।
२— वही वही , पृ० ४३७।
३—सरस्वती—भाग ७ संख्या २, पृ० ६७।
४— वही , पृ० ७६।
५— वही , पृ० ६१।
६—पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी, वाग्विलास, पाद-टिप्पणी, पृ० ११२।

लेख-माला का भाषा-सुधार की दृष्टि से यथोचित मूल्यांकन भी न किया गया था। उन्होंने उन लेखों को अनर्गल प्रलाप और अनाधिकार चेष्टा की संज्ञा देकर अनुचित ठहराया। यद्यपि भाषा-संस्कार की दृष्टि से उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। गुप्त जी द्वारा उठाये गये भाषा और व्याकरण विषयक प्रश्नों के सम्बन्ध में द्विवेदी जी का मत था—"उत्तर समालोचनाओं का दिया जाता है, प्रलापों का नहीं। जिसे ज़ुबांदानी, कवायद दानी, और ज़ुबांदानी की सोहवत से मिले हुए ज्ञानीपन का त्रिदोष ज्वर-चढ़ा हुआ है, उसकी कल्पनाओं का उत्तर ही क्या? कुत्सापूर्ण-निस्सार बर्राने का भी क्या कोई उत्तर होता है।"[1] यह वास्तविकता पर पर्दा डालने के समान था। इसके साथ-साथ गुप्त जी के लेखों को शत्रुता की भावना से लिखा हुआ भी घोषित किया गया था। गुप्त जी को सरस्वती का प्राचीन शत्रु बताते हुए लिखा था—"जिस काया में घुसकर हमारे शूर समालोचक वाण-वर्षा कर रहे हैं उसकी शुरू ही से सरस्वती पर नेक नजर रही है। आक्रमण पर आक्रमण होते आये हैं। पर हमने कभी उनकी तरफ ध्यान देने की जरूरत नहीं समझी। नहीं मालूम क्यों कुछ लोगों की आँख में सरस्वती कांटे-सी चुभती है।"[2] इसी भावना को प्रमाणिकता प्रदान करते हुए आगे लिखा गया था—"आपकी बड़ी नेक नीयती नई नहीं है, ६ वर्ष की पुरानी है। जब उसका वेग बढ़ जाता है तब वह समय-समय पर कभी लेख, कभी नोट, कभी तस्वीर आदि के रूप में बाहर निकल कर आईने के समान आपके साफ दिल को हल्का कर दिया करती है।"[3] इन पंक्तियों के अध्ययन से यह बात स्पष्ट है कि द्विवेदी जी का आत्माराम को अपना शत्रु घोषित करके उसके युक्ति-संगत-तर्कों का उत्तर न देना और 'अनस्थिरता' शब्द के अशुद्ध प्रयोग को स्वीकार न करके आत्माराम के लेखों का भाषा-परिष्कार की दृष्टि से यथार्थ मूल्यांकन न करना, उनके पक्ष की निर्बलता का द्योतक है।

द्विवेदी जी तथा उनके समर्थकों के इस दृष्टिकोण को हिन्दी आलोचना के लिए अनौचित्यपूर्ण समझते हुए गुप्त जी ने लिखा था—"हम अफसोस करते हैं कि आत्माराम के लेखों को द्विवेदी जी ने भाषा और साहित्य की दृष्टि से नहीं पढ़ा—हिन्दी में एक उच्च श्रेणी का सर्वाङ्ग सुन्दर व्याकरण बनाने की दृष्टि से नहीं पढ़ा।"[4] गुप्त जी की यह धारणा कुछ अंशों में सत्य थी। पहले

१—सरस्वती—भाग ७, संख्या ३, पृ० ७०।
२— वही पृ० ७०। ३— वही पृ० ८०।
४—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, हिन्दी में आलोचना, पृष्ठ ५३१।

कहा जा चुका है कि पं० गोविंदनारायण मिश्र आदि के लेखों से आत्मश्लाघा, वर्ण-श्रेष्ठता, जातीय-उच्चता, और ईर्ष्या-द्वेष की गंध आती है। द्विवेदी जी ने अपने ऐसे समर्थकों को हतोत्साहित न करके उनके लेखों को अपनी बात का प्रमाण-पत्र घोषित किया था। दूसरी ओर गुप्त जी ने असाधारण सौजन्य के साथ द्विवेदी जी से विनय करते हुए अनुरोध किया था कि आप मुझे अपना शत्रु घोषित न करें। उनके शब्द इस प्रकार हैं—"पर इतनी उदारता कीजिये कि उसे अपना पुराना शत्रु होने के इल्ज़ाम से माफ कीजिये, इससे समालोचकों की बड़ी निन्दा होती है। लोग कहेंगे कि यह समालोचक लोग बड़े इतर जीव हैं कि लोगों से अपनी शत्रुता निकालने के लिये उनकी पोथियों के दोष दिखाया करते हैं। साहित्य या भाषा की भलाई के लिये यह कभी नहीं लिखते। खाली प्रमाद और विप्रलिप्सावश अन्टसन्ट बका करते हैं।"[1]

यह सत्य है। गुप्त जी ने द्विवेदी जी के लेख की आलोचना शत्रुता अथवा प्रतिशोध लेने की भावना से नहीं की थी। इसके पीछे भाषा-परिमार्जन का भाव ही था। जब उन्होंने द्विवेदी जी को इस ओर कदम उठाते देखा, तो उनके कार्य को पूर्णता तक पहुँचाने के लिए उनकी अशुद्धियों का उल्लेख कर दिया, जिनका रह जाना भी भाषा-शुद्धता तथा परिमार्जन की दृष्टि से अनुचित था। पर गुप्त जी की व्यंग्यात्मक शैली और विषय-प्रतिपादन की तीक्ष्णता का प्रभाव जब प्रतिकूल हुआ, तो उन्होंने परिस्थिति को सँभालने का प्रयास भी अंतिम सीमा तक किया था; जिसकी अभिव्यक्ति उपर्युक्त पंक्तियों से होती है। इसके अतिरिक्त गुप्त जी ने द्विवेदी जी के साथ किए गए अपने मित्रता के कार्यों का उल्लेख, सरस्वती पत्रिका के प्रति अपनी अगाध श्रद्धा, और द्विवेदी जी के प्रति अपने पूज्य भाव का उल्लेख किया था। साथ ही, साहित्यिक आलोचना के लिए भी उन्हें आमन्त्रित करते हुए लिखा था—"क्या शत्रु की आलोचना का कोई युक्ति-युक्त उत्तर नहीं हो सकता? शत्रु को केवल शत्रु कहकर उसकी युक्तियों की उपेक्षा करना तो आलोचकों का धर्म नहीं है। मजा तो जब ही है कि शत्रु अपनी कटूक्ति का भी ऐसा उत्तर सुने कि दाँत खट्टे कराके भागे।"[2] आलोचना तथा प्रत्यालोचना के विषय में गुप्त जी का यह दृष्टिकोण था। एक स्थान पर उन्होंने गोविंद नारायण मिश्र के जातिवादी दृष्टिकोण पर

१—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, हिन्दी में आलोचना, पृ० ५०८।
२— वही, पृ० ५११।

टिप्पणी करते हुए लिखा था—"द्विवेदी जी हों या और कोई, मतलब बात से है न कि लेखक के कुल-शील से और उसके नाम-धाम से। बहस भाषा और व्याकरण की है चाहे उसे आत्माराम लिखे या भारत-मित्र सम्पादक। चाहे लेखक वर्ण में ब्राह्मण हो या नाई, धार्मिक हो या अधार्मिक। भाषा की बहस में हम तो यही समझते हैं कि धर्म या जाति, स्वर्ग या नरक की जरूरत नहीं। बात का उत्तर बात से दो, विचार से उत्तर दो, बिगड़ने या नाराज होने की कोई जरूरत नहीं।"[१] गुप्त जी की यह भावना उचित ही थी। आलोचना शत्रु की हो, या मित्र की, आलोचकीय गौरव से गिरनी नहीं चाहिए।

दोनों पक्षों की इस आलोचना तथा प्रत्यालोचना के फलस्वरूप भाषा-सुधार का कार्य बहुत कुछ मंद पड़ गया था। दोनों दलों के लेखकों में 'अनस्थिरता' शब्द को लेकर बड़ा वितंडावाद उठ खड़ा हुआ था। द्विवेदी-पक्ष के लोग कभी 'अनस्थिरता' शब्द को हिन्दी-व्याकरण से शुद्ध बताते, कभी संस्कृत से सिद्ध करते। इसके विपरीत गुप्त जी के समर्थक इस शब्द को अशुद्ध घोषित करते। दोनों पक्षों की विचार धारा एवं अवस्था को भली प्रकार समझने की दृष्टि से दोनों पक्षों के एतद्विषयक मत उद्धृत किए जाते हैं। पं० गोविंदनारायण मिश्र ने केवल इतना लिखा था—"संस्कृत और व्याकरण के अनुसार जिन शब्दों के आदि में स्वर वर्ण रहते हैं, उनके आगे युक्त होने वाले निषेध वाचक 'न' का 'अन्' परन्तु व्यंजनों के आगे आना पड़े तो 'अ' हो जाता है। हिन्दी के व्याकरण के नियमों में ऐसी कैद नहीं है। इसलिये हिन्दी शब्दों में व्यंजनों के आगे आने वाले निषेध-वाचक 'न' को भी 'अन' होता है। इससे हिन्दी में 'अनरीति', 'अनरस', 'अनहोनी', 'अनमिल', 'अनमोल', 'अनहित', 'अनगणित', 'अनहुई' आदि अनेकों शब्द सर्वथा विशुद्ध ही माने जाते हैं।"[२] इस उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है कि उक्त तर्क के आधार पर मिश्र जी 'अनस्थिरता' शब्द का प्रयोग शुद्ध और व्याकरण सम्मत मानते थे। पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी तथा उनके अन्य समर्थकों ने भी मिश्र जी के सिद्धान्त को पुष्ट और शुद्ध मान लिया था। पर पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने इस शब्द को अशुद्ध सिद्ध किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने द्विवेदी जी की एक दूसरी भूल का उल्लेख किया था। यह भूल एक सूत्र के सम्बन्ध में है। द्विवेदी जी ने लिखा था—"अथ शब्दानुशासनम्" पाणिनि का सूत्र है, यहाँ 'अनुशासन' में

१—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, व्याकरण विचार, पृ० ४३१।
२—गोविंद निबंधावली—आत्माराम की टेंटें, पृ० ६।

जो 'अनु' उपसर्ग है वह इस बात को सूचित करता है कि शब्दों के अनन्तर उनका शासन किया गया है।"[१] द्विवेदी जी की धारणा गलत थी। गुलेरी जी ने उसका निराकरण करते हुए लिखा था—"परन्तु क्या सम्पादक महाशय बतलायेंगे कि 'अथ शब्दानुशासनम्' यह पाणिनि का सूत्र है, यह उन्हें किसने बताया? यह पातंजल महाभाष्य का प्रथम वाक्य है, पाणिनि का नहीं। इस अनुशासन शब्द के उपसर्ग को पृथक करके जो विलक्षण गमक निकाला गया है कि पाणिनि ने अपने समय तक के शब्दों का ही अनुशासन किया है, यह निरर्थक है। 'यथोत्तर मुनीनां प्रामाण्यम्' कौन नहीं जानता और इसी हिसाब से द्विवेदी जी ने भी अपने पहले हिन्दी आचार्यों को सम्हाल ही लिया है। परन्तु यदि 'अनु' होने से यह अर्थ निकाला गया तो अनुष्ठान पीछे खड़े होना, अनुमान पीछे नापना, अनुसार पीछे रेंगना, अनुरोध पीछे रोकना भी मानना चाहिए।"[२] गुलेरी जी के तर्क के आधार पर 'अनस्थिरता' का अर्थ किया जाय तो 'पीछे स्थिरता' होता है। जो द्विवेदी द्वारा अभिप्रेत अर्थ में प्रयुक्त नहीं होता।

'अनस्थिरता' शब्द की प्रामाणिकता के विषय में मिश्र जी तथा द्विवेदी जी का विरोध करते हुए पं० जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी ने अपना मत इस प्रकार दिया था—'अनरीति की तरह अनस्थिरता शुद्ध है, तो अनमंगल, अनशुभ, अनकाल, अनयश, अनपूर्ण, अनपरिपक्व आदि शब्द भी मजे में व्यवहृत होने चाहिए।"[३] चतुर्वेदी जी के मतानुसार अरीति, अमंगल, अशुभ, अकाल, अयश आदि की जगह जिस प्रकार उक्त शब्द व्यवहृत नहीं हो सकते उसी प्रकार 'अस्थिरता' के स्थान पर 'अनस्थिरता' का प्रयोग अव्यावहारिक है। गुप्त जी का मत भी चतुर्वेदी जी से मिलता जुलता है। उनकी धारणा थी, यदि द्विवेदी जी ने 'अनस्थिर' शब्द का प्रयोग किया होता तो कुछ सीमा तक उचित था। किंतु 'अनस्थिरता' का प्रयोग तो एकदम अस्वाभाविक और प्रवाह शून्य है। मिश्र जी के मत का प्रतिवाद करते हुए आपने जो लिखा था, उसका आशय यह है—'अनमिल', अनरीति, अनसुनी, अनहुई, अनपढ़, अनहित आदि शब्दों के पीछे 'ता' जोड़ दिया जाय तो कितनी परिहास मूलक निरर्थक ध्वनि निकलेगी,

---

१—सरस्वती— भाग ४, संख्या ११, पृ० ४२४।

२—समालोचक, भाग ४, क्रमागत संख्या ४०–४१।

३—श्री वेंकटेश्वर समाचार—भाग १०, संख्या ४६, २० अप्रैल सन् १९०६।

ऐसे ही 'अनस्थिरता' शब्द से प्रसारित होती है। एक स्थान पर 'अनस्थिरता' शब्द की शुद्धता पर व्यंग्यात्मक टिप्पणी करते हुए गुप्त जी ने लिखा है—"हरवर्ट स्पेन्सर के Education में हमें Unorganizable शब्द मिला, यह भी द्विवेदी जी की अनस्थिरता के ढंग का है। डाकखाने वालों का Unclaimed भी उसी श्रेणी का है। इसी प्रकार Unscrupulous, Unthought, Uncivilised, Unreal, Ungrammatical आदि शब्दों में भी द्विवेदी महाराज का 'अन' मौजूद है। देखिये कैसा सिद्ध किया ? Unknowable की भांति अनस्थिरता का भेद जानना भी सहज नहीं है।"[1]

इस संक्षिप्त विवरण के आधार पर संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि 'अनस्थिरता' शब्द को प्रमाणित करने के लिए मिश्र जी द्वारा जो तर्क रखा गया था, उसमें आंशिक सत्य के दर्शन होते हैं। पूर्ण सत्य के नहीं। दूसरे, मिश्र जी के तर्कों का खंडन गुप्त जी तथा उनके पक्ष वालों ने कर दिया था और उसके पश्चात् द्विवेदी जी के पक्ष से इस शब्द को शुद्ध प्रमाणित करने के लिए अन्य प्रमाणपुष्ट तर्क प्रस्तुत नहीं किए गए। एक स्थान पर आपने अवश्य आलोच्य शब्द को प्रामाणिक सिद्ध करने के लिए लिखा था—"अभी दिसम्बर के अखीर में जब हम बनारस में थे, एक दिन नागपुर के पं० माधवराय सप्रे बी०ए० और संस्कृत चन्द्रिका के सम्पादक अप्पा शास्त्री विद्यावागीश हमारे स्थान पर आये। विद्या वागीश जी संस्कृत के अद्वितीय पंडित हैं। उनसे इस शब्द के विषय में बातचीत हुई। सप्रे महाशय भी उस समय थे। हमने उसे एक तरह से इच्छित अर्थ में संस्कृत का शब्द साबित किया। उसे तो उन्होंने मान ही लिया, पर उन्होंने एक और तरह से शुद्ध ठहराया।"[2] पर द्विवेदी जी की उक्त बात को प्रामाणिक मानने में आपत्ति यह है कि उन्होंने वह विधि नहीं बताई जिसके द्वारा विद्यावागीश जी ने आलोच्य शब्द को शुद्ध बताया था। दूसरी ओर इसके ठीक विपरीत गुप्त जी तथा उनके समर्थकों ने सबल तर्क और पुष्ट प्रमाणों के आधार पर इस शब्द को अशुद्ध प्रमाणित कर दिया था। फिर भी द्विवेदी पक्ष से स्वमत की श्रेष्ठता के प्रति इतना आग्रह देखकर 'सुदर्शन' पत्र के सम्पादक पं० माधव प्रसाद मिश्र ने लिखा था—"सरस्वती के सुयोग्य सम्पादक श्री बैंकटेश्वर समाचार के आक्षेप पढ़कर विचार करें कि क्या उनका यही उत्तर है, जैसा कि उन्होंने दिया है। क्या

१—गुप्त निबंधावली, प्रथम भाग, आत्मारामीय-टिप्पणी, पृ० ४६०
२—सरस्वती भाग ७, संख्या २, पृ० ७३-७४।

'शब्दानुशासनम्' और 'हलन्त वर्ण' का यही न्यायसंगत उत्तर है ? सत्य के स्वीकार करने में जिन्हें इतना संकोच हो, न्याय के लिये दुहाई देना उनका काम नहीं है।"[१] मिश्र जी के शब्दों से किसी प्रकार का पक्षपात प्रतीत नहीं होता, प्रत्युत वस्तुस्थिति पर यथार्थ प्रकाश पड़ता है। मिश्र जी के उक्त शब्दों की निष्पक्षता और न्यायसंगतता इस बात से और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है कि जिस समय उन्होंने ये शब्द लिखे थे, उससे लगभग २ वर्ष पूर्व से वे गुप्त जी से रुष्ट थे। अतः यह सिद्ध है कि 'अनस्थिरता' के विवाद में द्विवेदी जी का आधार निर्बल था। इस बात का एक सर्वोत्कृष्ट प्रमाण स्वयं द्विवेदी जी के उन शब्दों से मिलता है, जिनका उल्लेख पं० किशोरीदास वाजपेयी ने गुप्त जी विषयक अपने संस्मरण में किया है।[२]

द्विवेदी जी ने अपने समर्थकों द्वारा लिखे लेखों से कतिपय उद्धरण देकर यह सिद्ध करना चाहा था कि उनका आधार उचित और सत्य है। इस पर गुप्त जी ने 'भाषा दानी की सनदात'[३] नामक एक लेख लिख कर उनके तर्कों का प्रतिवाद किया था। द्विवेदी जी का कुछ ऐसा विचार था कि मित्रों द्वारा मिले सार्टीफिकेट छाप कर वे विजय लाभ कर लेंगे। ऐसा ही उन्होंने 'कालिदास की निरंकुशता' सम्बन्धी विवाद के अवसर पर भी किया था। जिस पर टिप्पणी करते हुए पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी ने लिखा था—"अनस्थिरता आदि के कोलाहल से यह तो निश्चित हो चुका है कि हिन्दी साहित्य में आपके 'जी हजूर', 'जो आज्ञा' वाले भक्तों की कमी नहीं है। उनके समाज में आप जो फ़रमावें, वह बावन तोला पाव रत्ती ही माना जायगा। जिसकी चाहें प्रतिष्ठा और जिसकी चाहें अप्रतिष्ठा करना आपके ही हाथ में तो रह गया।"[४] इस उद्धरण से यह निष्कर्ष निकाला जाय कि द्विवेदी जी दूसरों की आलोचना करने का पूर्ण अधिकार रखते थे, पर अपनी आलोचना देखकर क्षुब्ध हो उठते थे और प्रतिपक्षी आलोचक को दलबन्दी में डालकर समाप्त कर देना चाहते थे, तो अनौचित्य पूर्ण न होगा। आत्माराम ने अपने लेखों में कई स्थानों पर इस बात का उल्लेख किया है और द्विवेदी जी को विशुद्ध आलोचक के स्थान से प्रतिपक्षी आलोचक के तर्कों का उत्तर देने के लिए

१—वैश्योपकारक, भाग २ संख्या ११, पृ० ३३२।

२—गुप्त स्मारक ग्रंथ—समालोचक—प्रतिभा और कर्त्तव्य निष्ठा, पृ० ४१०

३—भारत मित्र, सन् १९०६ ई०।

४—निरंकुशता—निदर्शन, पृ० १२०।

आमन्त्रित किया है, द्विवेदी जी की इस प्रवृत्ति पर 'कालिदास की निरंकुशता' की प्रत्यालोचना में भी टिप्पणी की गई है। पण्डित जगन्नाथ प्रसाद ने लिखा था—"यदि कोई दूसरा विद्वान् आपके निर्दिष्ट पथ का अनुसरण करता हुआ आपके लेख का और प्रसंगतः प्राचीन आलंकारिकों की उक्तियों की समालोचना करे, तो आपको चिढ़ जाना उचित नहीं है।"[१] इन दोनों विवादों की गति-विधि का अध्ययन करने के उपरान्त द्विवेदी जी के स्वभाव और भाषा-सुधार के विषय में कितनी ही नई बातों का पता लगता है। द्विवेदी जी के सम्पूर्ण कार्य की आलोचना करते हुए बालमुकुन्द गुप्त ने इस विवाद का अन्त करने के लिए आठ लेख और लिखे थे, जिनमें उन्होंने अपने पक्ष की सफाई और द्विवेदी जी के आरोपों का युक्तिसंगत उत्तर दिया है। गुप्त जी के उक्त आठ लेखों में से दो 'आत्मारामीय-टिप्पण' और शेष 'हिन्दी में आलोचना' शीर्षक से गुप्त निबंधावली में संग्रहीत हैं। ये लेख भाषा-सुधार तथा हिन्दी में आलोचना के विकास की दृष्टि से बड़े महत्त्वपूर्ण हैं।

अनस्थिरता सम्बन्धी विवाद का साहित्यिक महत्व—

भाषा-परिशोधन, शैली की प्रांजलता, आलोचना पद्धति के विकास और अन्ततः हिन्दी-गद्य के उत्कर्ष की दृष्टि से इस विवाद का हिन्दी साहित्य में अपना स्थान है। आलोच्य-विवाद के परिणाम-स्वरूप हिन्दी-भाषा का अधिक परिमार्जन और संस्कार हुआ है। इस अध्याय के पिछले पृष्ठों में उल्लेख किया जा चुका है कि भारतेन्दु जी ने हिन्दी-गद्य के रूप को निर्धारित करके हिन्दी की जातीय शली का निर्माण किया था। किंतु इस समय तक भी भाषा पर लल्लूलाल का प्रभाव वर्त्तमान था जिसके कारण भाषा में प्रांजलता न आने पाई थी और व्याकरण विषयक अशुद्धियाँ तथा कहीं-कहीं अस्पष्टता एवं शिथिलता रह जाती थी। यहाँ उन अशुद्धियों तथा भूलों का अध्ययन किया जा रहा है, जो भारतेन्दुकालीन भाषा में पाई जातीं थीं और जिसके परिष्कार एवं शोधन का श्रेय द्विवेदी जी को ही अधिकांशतः प्राप्त है।

भारतेन्दु जी की भाषा में स्वर-गत अशुद्धियाँ—भारतेन्दु जी, बातें के स्थान पर 'बातैं'[२], मिलें के लिए 'मिलैं'[३], सकें के लिए 'सकैं'[४], इसी प्रकार

१—निरंकुशता—निदर्शन, पृ० ६८।
२—डा० केसरी नारायण शुक्ल, भारतेन्दु के निबन्ध, रामायण का समय, पृ० ४।
३— वही , पृ० वही।
४— वही , पृ० ५।

चीजें, 'करें, समझें, छूटें, पुस्तकें, कहें, जानें, देखें, रखें, हों, बढ़ें, फैलावें, सकेगा, रहे, बोलें, चलेगा, बतलावेंगे, बढ़ेगा, तुम्हें, बातें, क्यों, जाने, डाले, दुकानें, नवाब, उससे, पुलिस, क्योंकि, गलेंगी, पावे, गिरावें, छिपावेंगे, सहेंगे, तो, सामने, बचावें, गिरेंगी, बिछुड़ेंगे, मरेंगे, इससे, जिससे, रहेगा, आदि, इत्यादि, वायु, तथा स्थायी आदि के स्थान पर 'चीजैं'[1], 'करैं'[2], 'समझैं'[3], 'छूटैं'[4], 'पुस्तकैं'[5], 'कहैं'[6], 'जानैं'[7], 'देखैं'[8], 'रखैं'[9], 'हौं'[10], 'बढ़ैं'[11], 'फैलावैं'[12], 'सकैगा'[13], 'रहैं'[14], बोलैं'[15], चलैगा'[16], बतलावैंगे'[17], 'बढ़ैगा'[18], 'तुम्हैं'[19], 'बातैं'[20], 'क्यौं'[21], 'जानैं'[22], 'डालैं'[23], 'दुकानैं'[24], 'नौबाव'[25],

---

१—डा० केसरी नारायण शुक्ल, भारतेन्दु के निबन्ध, रामायण का समय, पृ० ६।

२— वही , पृ० १०।

३— वही , पृ० वही।

४— वही , पृ० वही।

५— वही , अकबर और औरंगजेब पृ० १३।

६— वही , पृ० १६।

७— वही , मणिकर्णिका, पृ० १८।

८— वही , तदीय सर्वस्व, पृ० २७।

९— वही , पृ० वही।

१०— वही , पृ० वही।

११ से १५—वही , भारतवर्षोन्नति कैसे हो सकती है, पृ० ४२।

१६— वही , पृ० ४३।

१७— वही , पृ० वही।

१८— वही , पृ० ४३।

१९-२०— वही , पृ० ४४।

२१-२२— वही , पृ० ४५।

२३— वही , मेंहदावल, पृ० ५७।

२४— वही , हरिद्वार-२, पृ० ६९।

२५— वही , दिल्ली दरबार, पृ० ७९।

'उस्से'[१], 'पूलिस'[२], 'क्यौंकि'[३], 'गलैंगी'[४], 'पावैं'[५], गिरावैं,[६], 'छिपावैंगे'[७], 'सहैंगे'[८], 'तौ'[९], 'साम्हने'[१०], 'बचावैं'[११], 'गिरैंगी'[१२], 'बिछुड़ैंगे'[१३], 'मरैंगे'[१४], 'इस्से'[१५], 'जिस्से'[१६], 'रहैगा'[१७], आदी'[१८], 'इत्यादी'[१९], 'वायू'[२०], तथा 'स्थाई'[२१], लिखते थे ।

भारतेन्दु कालीन हिन्दी में व्यंजन-गत अशुद्धियाँ—प्रकट, उडीसे, सराय, उर्दू, पार्वती, पार्लियामेन्ट, आसमान, सर्वथा, अनवरत, पूर्व, वीर, विरुद्ध, पर्वत, शृंगार आदि के स्थान पर क्रमशः 'प्रगट'[२२], 'आड़ी से'[२३], 'सरा'[२४], 'उरदू'[२५], 'पार्व्वती'[२६], 'पालमिण्ड'[२७], 'आस्मान'[२८], 'सर्व्वथा'[२९], 'अनबर्त'[३०],

---

१—डा० केसरी नारायण शुक्ल, भारतेन्दु के निबन्ध, अकबर और औरंगजेब, पृ० १६ ।
२— वही , अंगरेज स्तोत्र, पृ० ६६ ।
३-४— वही , पांचवे पैगम्बर , पृ० १०७ ।
५— वही , स्वर्ग में विचार सभा का अधिवेशन पृ० १११ ।
६ से ८— वही , पृ० ११२ ।
९— वही , जाति विवेकिनी सभा, पृ० ११८ ।
१०— वही , बीबी फातिमा, पृ० १४६ ।
११— वही , काश्मीर कुसुम, पृ० १६६ ।
१२ से १४—वही , बादशाह दर्पण, पृ० १७४ ।
१५ से १७—वही , पुरदय उदय, पृ० १८६ ।
१८— वही , भारतवर्षोन्नति कैसे हो सकती है, पृ० ४३ ।
१९— वही , इशुखृष्ट और ईशकृष्ण, पृ० ५१ ।
२०— वही , ग्रीष्म ऋतु, पृ० ७६ ।
२१— वही , कवि वचन सुधा सम्पादक को पत्र, पृ० २०२ ।
२२— वही , रामायण का समय, पृ० ६ ।
२३— वही , पृ० ८ ।
२४— वही , सरयू पार की यात्रा, पृ० ५५
२५— वही , हिन्दी भाषा पृ० ६४ ।
२६— वही , वैद्यनाथ की यात्रा, पृ० ७३ ।
२७— वही , कंकड़ स्तोत्र, पृ० ६५ ।
२८— वही , पांचबे पैगम्बर, पृ० १०७ ।
२९— वही , बीबी फातिमा, पृ० १४५ ।
३०— वही , लार्ड म्यो साहब का जीवन चरित्र, पृ० १५२ ।

'पूर्व्व'[१], 'बीर'[२], 'बिरुद्ध'[३], 'पर्बत'[४], तथा 'सिङ्गार'[५] लिखा जाता था। इसी प्रकार वेद के स्थान पर 'बेद'[६], त्रिशूल के स्थान पर 'तृशूल'[७], इन्होंने के स्थान पर 'इनने'[८], शाहजहाँ के लिए 'शाहजहान'[९], हठधर्मी और रुपया के स्थान पर 'हठधरमी'[१०], और 'रूपया'[११], अस्पताल या डाक्टरखाना के स्थान पर 'डाक्तर खाना'[१२], जायसी के स्थान पर 'जाइसी'[१३], जिस पर के लिए 'जिस्पर'[१४] तथा पिशाच के लिए 'पिसाच'[१५] भारतेन्दु लिखा करते थे।

भारतेन्दु-कालीन हिन्दी में लिंग सम्बन्धी अशुद्धियाँ—स्वयं भारतेन्दु जी ने लिखा है—"केकयी ने राम जी को वन जाते समय आज्ञा दिया"[१६], "इसी सर्ग में लिखा है कि रामायण वाल्मीकि जी ने पहिले बनाया है वह जो सुनता है सो वह पापों से छूट जाता है। इसमें (पुराकृतं) पद से जैसे मनु का शास्त्र भृगु ने एकत्र किया वैसे ही बाल्मीकि जी की कविता भी किसी ने एकत्र किया है यह सन्देह होता है।"[१७] इस वाक्य में 'आज्ञा' और 'रामायण' शब्दों के लिए पुल्लिग क्रिया 'दिया' तथा 'बनाया' का प्रयोग व्याकरण विरुद्ध है। इसी प्रकार दूसरे वाक्य में 'कविता' स्त्री लिंग से लिए 'एकत्र किया' पुल्लिग क्रिया का प्रयोग किया गया है।

१—डा० केसरी नारायण शुक्ल, भारतेन्दु के निबन्ध, लार्ड म्यो साहब का जीवन चरित्र, पृ० १५६।
२-३— वही , अकबर और औरंगजेब, पृ० १७।
४— वही , स्त्री सेवा पद्धति, पृ० १०३।
५— वही , कक्कड़ स्तोत्र, पृ० ६४।
६— वही , स्त्री सेवा पद्धति, पृ० १०४।
७— वही , वही , पृ० १०४।
८— वही , सूरदास का जीवन चरित्र, पृ० १२५।
९— वही , अकबर और औरंगजेब, पृ० १४।
१०-११— वही , भारतवर्षोन्नति कैसे हो सकती है, पृ० ४६।
१२— वही , मेंहदावल, पृ० ५७।
१३— वही , हिन्दी भाषा, पृ० ६२।
१४— वही , हरिद्वार २, पृ० ७०।
१५— वही , स्वर्ग में विचार सभा का अधिवेशन, पृ० ११२।
१६— वही , रामायण का समय, पृ० ६।
१७— वही , वही , पृ० ११।

इसी तरह और स्थलों पर लिंग का प्रयोग अशुद्ध किया गया है। यथा—"—जिससे पूर्वोक्त बादशाहों का स्पष्ट चित्त और विचार (Policy) प्रकट हो जायगी।"[१] "आलस यहाँ इतनी बढ़ गई कि मलूकदास ने दोहा ही बना डाला।"[२] "फिर परमात्मा ने अपनी प्रकृति रूपी परिणत शरीर से प्रजा उत्पन्न करने की इच्छा से चिंता किया कि कैसे कब होगा और यह चिन्ता करके पहिले जल होय यह कह कर आकाशादि क्रम से जल सृष्टि किया।"[३] "मूर्ति पूजा की निंदा किया"[४], "राजा ने ह्य लोगों को इनके प्राण हरने की आज्ञा दिया",[५], "किंतु उन्होंने किसी की मुखापेक्षा नहीं किया।"[६] "तब गह्वर में छिपकर उन्होंने अपने प्राण की रक्षा किया था"[७], "राजा शिलादित्य ने सकुटुम्ब सपरिवार वीरों की गति पाया।[८] तथा "राजा ने नगर के बाहर सब लोक रीति किया।"[९] यहाँ पर तीसरे उद्धरण में 'प्रकट हो जायगी' क्रिया का लिंग 'पालसी' के अनुसार रखा गया है, 'चित्त और विचार' के अनुकूल नहीं, यह गलत है। चौथे उद्धरण में 'आलस' को स्त्री लिंग माना गया है। पाँचवे उद्धरण में वाक्यविन्यास की शिथिलता तो है ही, इसके अतिरिक्त, 'चिंता किया' और 'जल सृष्टि किया' का प्रयोग भी व्याकरण-विरुद्ध है; छठवे उद्धरण में 'निंदा किया' के स्थान पर 'निंदा की' अधिक शुद्ध है; इसी प्रकार, 'प्राण की रक्षा किया था' का प्रयोग अशुद्ध है; 'प्राणों की रक्षा की थी' होना चाहिए था तथा गति पाई के स्थान पर 'गति पाया' प्रयोग करना व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध है।

भारतेन्दुकालीन भाषा में वचन सम्बन्धी अशुद्धियाँ—स्वयं भारतेन्दु जी कभी-कभी एकवचन के स्थान पर बहुवचन और बहुवचन के स्थान पर एकवचन का प्रयोग किया करते थे। उदाहरण के लिए—"—रामजी ने बालि से मनु के २ श्लोक कहे हैं और यह भी कहा है कि मनु भी इसको प्रमाण मानते

१—भारतेन्दु के निबन्ध, अकबर और औरंगजेब, पृ० १६।
२— वही , भारतवर्षोन्नति कैसे हो सकती है, पृ० ४३।
३— वही , इशुखृष्ट और ईश कृष्ण, पृ० ४८।
४— वही , स्वर्ग में विचार सभा का अधिवेशन, पृ० १०६।
५— वही , श्री जनदेव जी का जीवन चरित्र, पृ० १३५।
६-७—वही , महात्मा मुहम्मद, पृ० १४२।
८— वही , पुरदय उदय, पृ० १८४।
९— वही , मदालसा उपाख्यान, पृ० २०६।

थे।"[१] "जिस विजयी और विख्यात सिकन्दर ने संसार को जीता उसकी अस्थि कहाँ गड़ी है।"[२] प्रथम उद्धरण में दो श्लोकों के लिए 'इसको' एक वचन सर्वनाम का प्रयोग न होकर 'इनको' का प्रयोग करना वाँछनीय है। इसी प्रकार दूसरे उदाहरण में 'अस्थि' के स्थान पर 'अस्थियाँ' बहु वचन का प्रयोग होना चाहिए।

इनके अतिरिक्त कारक सम्बन्धी भूलें भी भारतेन्दु की भाषा में मिलती हैं—यथा—"मुझको मेरे मित्रों ने कहा था"[३], "अनेक लोगों का मत है कि जयदेव जी ने पूर्व में एक विवाह किया था उस स्त्री के मृत्यु के पीछे उदास होकर······रहते थे।"[४] "यद्यपि महात्मा मुहम्मद को अनेक सन्तति थीं।"[५] "जब कुंवर उसके पीछे धनुष तान कर घोड़ा दौड़ाया तो वह घने जंगल में घुस गया।"[६] तथा "मदालसा उससे छुड़ाना चाहा।"[७] इन उद्धरणों में से प्रथम वाक्य में 'मुझको' के स्थान पर 'मुझसे' पर्याप्त था; दूसरे उद्धरण में 'स्त्री के मृत्यु के पीछे' के स्थान पर 'स्त्री की मृत्यु के पीछे' अधिक समीचीन है; तीसरे उदाहरण में 'मुहम्मद को' न होकर 'मुहम्मद के' होना ठीक था। चौथे वाक्य में 'कुंअर' के पश्चात् 'ने' कर्त्ता कारक का चिह्न आना चाहिए; इसी प्रकार 'मदालसा' के पश्चात् कर्म कारक का चिह्न 'को' आना जरूरी है। इसके अतिरिक्त इसी वाक्य में 'कुंवर' के ऊपर 'अं' की बिन्दी न होकर चन्द्र बिन्दु लगना चाहिए।

इस युग की भाषा में कुछ और भी अशुद्धियाँ पाई जाती हैं। जैसे—"पितृव्य यदि तुम वात्सल्य स्वरूप औषध हमको प्रदान करने चाहते हो।"[८] इस वाक्य में 'करने' की अपेक्षा 'करना' होना चाहिए था। कहीं-कहीं ऐसे वाक्य आगए हैं जहाँ अर्थ स्पष्ट नहीं होता, जैसे—"मिवार के राज्याभिषेक

१—भारतेन्दु के निबन्ध, रामायण का समय, पृ० ८।
२— वही , काशी, पृ० २०।
३— वही , भारतवर्षोन्नति कैसे हो सकती है, पृ० ४२।
४— वही , महाकवि श्री जयदेव जी का जीवन चरित्र, पृ० १३४।
५— वही , बीबी फातिमा, पृ० १४४।
६— वही , मदालसा उपाख्यान, पृ० २०५।
७— वही , पृ० वही।
८— वही , महात्मा मुहम्मद, पृ० १४३।

के समुदय प्राचीन नियम रक्षा करने में विपुल अर्थ का व्यय होता है ।।"[१] इस वाक्य की भाषा में भारीपन है, प्रवाह नहीं । एक स्थान पर भारतेन्दु लिखते हैं—"जितना ग्राम गीत शीघ्र फैलते हैं और जितना काव्य को संगीत द्वारा सुनकर चित्त पर प्रभाव होता है उतना साधारण शिक्षा से नहीं होता ।"[२] इस उद्धरण में 'जितना' एक वचन के स्थान पर बहु वचन शब्द 'जितने' होना चाहिए क्योंकि कर्त्ता 'ग्राम गीत' और उसकी क्रिया 'फैलते हैं' दोनों ही बहु वचन हैं । कहीं-कहीं वाक्य में अनावश्यक शब्द भी भर दिए गए हैं, यथा—"इस विषय में, जिनको जिनको कुछ भी रचना शक्ति है ।"[३] इस वाक्यांश में 'जिनको' 'जिनको' के स्थान पर या तो 'जिस-जिसको' शब्दों का प्रयोग होता अथवा केवल 'जिसे' शब्द होता तो ठीक था । विराम चिन्हों का अभाव भी कभी-कभी खटकता है । जैसे—"रेल पर जाने वाले पथिक कपड़ा पहिने बोझे से लदे सिपाहियों का धक्का खाए रूपया गवाये भूखे प्यासे बिना नहाये धोये गाड़ी की कोठड़ियों में अचार के मटके में पसीने से पसीजे नमकीन नीबू से ठसे जी से खट्टे होने को धूप में तपाये जाते हैं—।"[४] इस अवतरण में प्रथम तो 'रूपया' और 'गवाये' शब्द विचारणीय हैं । प्रथम में तो मात्रा की अशुद्धि है । मात्रा दीर्घ नहीं ह्रस्व होनी चाहिए । दूसरे शब्द में 'म' के स्थान पर 'व' का प्रयोग किया गया है । इनके अतिरिक्त विराम चिह्न तो एकदम लुप्त हैं ।

भारतेन्दु जी कभी-कभी भाषा में पंडिताऊपन और व्याकरण की शिथिलता कर जाया करते थे; जैसे हुई, कर, कहलाते हैं, ढको, वह, हो ही आदि के स्थान पर 'भई', 'करके', कहाते हैं', 'ढकौ', 'सो', और 'होई' लिख जाते थे । इसी प्रकार विद्यानुराग के लिए—'विद्यानुरागिता', श्यामता के लिए 'श्यामताई', अधीरमना के लिए 'अधीरजमना' तथा नाग देशों में के स्थान पर 'नागदेश' में लिखते थे ।'[५] भारतेन्दु जी के अतिरिक्त उस युग के अन्य लेखक पं० बालकृष्ण भट्ट, पं० प्रतापनारायण मिश्र, लाला श्री निवास दास तथा बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन आदि की भाषा में भी कुछ अशुद्धियाँ पाई जातीं

१—भारतेन्दु के निबंध, पुरदय उदय, पृ० १८९ ।
२— वही , जातीय संगीत, पृ० २३३ ।
३— वही , पृ० वही ।
४— वही , ग्रीष्म ऋतु, पृ० ७६ ।
५—जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, हिन्दी की गद्य शैली का विकास, पृ० ३१ ।

हैं। भट्ट जी तथा मिश्र जी दोनों की भाषा में ब्रजभाषा के ऐकार और औकार का बाहुल्य है। भट्ट जी 'कटै', 'दै', पड़ैगा', 'करैंगी', 'पकैगा', 'कहैगा', 'पचै', 'लडै', 'सिधारै', 'मिलै', 'घरैलू' आदि शब्दों का व्यवहार करते थे और मिश्र जी की भाषा तो ऐसे प्रयोगों से पूर्ण है। इसके अतिरिक्त इनकी भाषा में 'लगै', 'आवैगा', 'तौ, 'देखौ, 'दिखावै,, 'उपजाय' 'शरीर भरे की', 'बात रही', 'है कै जने' आदि ऐसे प्रयोग भी प्राप्त होते हैं। इन दोनों की भाषा में पूर्वीपन के भी दर्शन होते हैं। भट्ट जी 'हेठा', 'टेघराना', 'भागाभूगी', 'चह', 'चर्राई', 'जोरू', 'खटराग', 'ऐंचपेंच', 'खुचुर' आदि शब्दों का प्रयोग करते थे, तो मिश्र जी 'भुड़ियावै', 'झपका', 'फुन्दनों', 'मांप', 'हथकंडे', 'रंजापुञ्जा', 'टिचरै', 'टेंटुआ', 'मुड़धुन', 'जाटुल्ला', 'खौखियाना' आदि का। भट्ट जी की भाषा में लिंग सम्वन्धी अशुद्धियाँ भी अधिक मात्रा में पाई जातीं हैं। 'प्रेमघन' जी की भाषा में वाक्यों के लम्बे-लम्बे होने के कारण अधिक दुरूहता और अव्यावहारिकता का समावेश था, तो लाला श्री निवासदास, मिश्र जी और भट्ट जी की भाँति भाषा में प्रान्तीयता का पुट दे रहे थे। उनके ऊपर दिल्ली की प्रान्तीयता का अधिक प्रभाव है। उन्होंने 'इस्की', 'उस्की', 'उस्से', 'किस्पर', 'इस्तरह', 'तिस्पर' 'तथा' 'उन्नै' आदि प्रयोग भी किए हैं। ठा० जगमोहन सिंह की भाषा भी पूर्वी एवं पंडिताऊ पन से खाली न थी। उन्होंने 'शाक्षी', 'तुम्हैं समर्पित है' 'जिसै दू'', 'हम क्या करैं', 'चाहती हौ' और 'धरै हैं' आदि प्रयोग किए हैं।[१] इनके अतिरिक्त भट्ट जी ने भारतेन्दु की भाँति ही जिसके, ज्यादा, उजियाला, उनमें, तैयारी, व्यास, अनुवादित, विषयों, सर्वत्र, प्रकट, अपव्यय, पूर्व आविष्कार, उत्साह, दूसरी, यज्ञोपवीत, सर्वथा, मालूम, मूर्ति, दुर्वाशा, फिक्र आदि के स्थान पर 'जिस्के'[२], 'ज़ियादा'[३], 'उज्याला'[४], 'उन्में,[५], 'तयारी'[६], 'ब्यास'[७], 'अनुवादित'[८], 'बिषयों'[९],'सर्बत्र'[१०], 'प्रगट'[११]' 'अपब्यय'[१२], 'पूर्ब'[१३], 'आबिष्कार'[१४], 'उच्छाह'[१५], 'दुसरी'[१६],

---

१—जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, हिन्दी की गद्य शैली का विकास, पृ० ५३।
२ से ६—हिन्दी प्रदीप, जिल्द ६, सं० ४, पृ० २१।
७ से ६— वही , जिल्द ६, सं० ५, पृ० १६।
१०— वही , जिल्द ६, सं० ७, पृ० १।
११ से १४— वही , जिल्द ६, सं० ७, पृ० ११।
१५ से १६— वही , पृ० ११।

'यज्ञोपबीत'[१], 'सर्बथा'[२] 'मालुम'[३], 'मुर्ति'[४], 'दुरबासा'[५], फिकिर'[६] आदि लिखा करते थे। पं०प्रतापनारायण मिश्र तत्सम शब्दों को भी ग्रामीण बोलचाल के ढंग पर लिखते थे—त्यौहार, व्यवहार, ऋचा, गृहस्थ, जितेन्द्रीय, ऋषीश्वर, पितृ आदि शब्दों को 'तेह्वार'[७], ब्यौहार',[८], 'रिचा'[९], गिरस्त'[१०], 'जितैंदी'[११], रिषीश्वर'[१२], पितर'[१३] इत्यादि लिखते थे। स्वरगत त्रुटियाँ भी मिश्र जी के गद्य में उपलब्ध होती हैं। वे जिसके, तो, स्वाद, गहरा, देहाती आदि के स्थान पर 'जिस्के'[१४], 'तौ'[१५], 'स्वादु'[१६], गहिरा'[१७], 'दिहाती'[१८] लिखते थे। व्यंजन-गत त्रुटियाँ भी मिश्र जी करते थे--पराकाष्ठा के स्थान पर 'पराकाष्टा'[१९], हुआ के लिए 'हुवा'[२०], विज्ञापन को 'बिज्ञापन'[२१], वरंच को 'बरंच'[२२]लिखना उनका स्वभाव सा बन गया था। ग्रामीण बोलचाल के शब्दों को भी मिश्र जी निस्संकोच भाव से प्रयोग में लाते थे 'मुंदी भलमंसी'[२३], 'ठनठनाहट'[२४],

---

१ से ३—हिन्दी प्रदीप, जिल्द ६, सं० ७, पृ० १२।
४, ५—वही , जिल्द ६, सं० ८, पृ० ११।
६— वही , पृ० १५।
७—ब्राह्मण, खण्ड १, संख्या १, पृ० ५।
८— वही , पृ० ८।
९— वही , वही।
१०—रमाकांत त्रिपाठी, प्रताप पियूष, स्त्री, पृ० ८६।
११— वही , मुक्ति के भागी, पृ० ११०।
१२—ब्राह्मण खंड १, संख्या ६, पृ० ६३।
१३—रमाकांत त्रिपाठी, प्रताप पियूष, होली है, पृ० ११४।
१४—ब्राह्मण खंड १, संख्या १, पृ० ८।
१५—रमाकांत त्रिपाठी, प्रताप-पियूष, पृ० ५२, ६६, ८८, ६२।
१६— वही , स्त्री, पृ० ८६।
१७— वही , दो पृ० ६१।
१८— प्रताप पियूष, दो, पृ० ७२।
१९—ब्राह्मण, खण्ड ५, संख्या ७, पृ० ६।
२०—प्रताप-पियूष, होली है, पृ० ११२।
२१—ब्राह्मण, खण्ड ५, संख्या ८, पृ० १०।
२२—प्रताप-पियूष, पृ० ५२।
२३— वही , परीक्षा, पृ० ६६।
२४— वही , पृ० ७१।

'व्यापती'[1], 'रुजगार-व्यौहार'[2], तथा चोरी-चहारी'[3] शब्द उनकी इस प्रवृत्ति के द्योतक हैं। मिश्र जी की भाषा में प्रान्तीयता और पूर्वीपन का भी यथोचित पुट है। यथा, "यह शोर ही शोर तो रही गया है"[4], 'हुई ऐसा क',[5] और 'अपने तईं'[6], इन प्रयोगों से मिश्र जी का गद्य व्यापकत्व को तो प्राप्त हुआ किंतु उसमें परिमार्जन और संस्कार का अभाव रह गया। मिश्र जी तथा भट्ट की भाँति ही पं० राधाचरण गोस्वामी भी इसी प्रकार की भूलें करते थे। उनके गद्य में देशी, वर्ष, पादरी, नवम्बर, नबाव, डूबेगा, रहेगा तथा म्युनिसिपल आदि शब्दों के स्थान पर 'देसी'[7], बरस,[8], 'पाद्री'[9], नौबेम्बर'[10], 'नव्वाव'[11], 'डुबैगा'[12], 'रहैगा'[13] तथा 'म्यूनीसिपल'[14] लिखते थे। बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन भी ऐसी भूलें किया करते थे—आपने सभी, बातें, मुहावरा, मुसकरायेगी, कोष, कभी, के स्थान पर 'सबी'[15], 'बातैं'[16], 'मुहाविरा'[17], 'मुस्कुरायेगी'[18], 'कोश'[19] और 'कबी'[20] लिखा

१—प्रताप-पियूष, मुक्ति के भागी, पृ० ११० ।
२— वही , होली है, पृ० ११३ ।
३— वही , पृ० ११५ ।
४—ब्राह्मण, खण्ड १, सं० १, पृ० ७ ।
५—प्रताप-पियूष, दो, पृ० ६१ ।
६— वही , पृ० ६४ ।
७—भारतेन्दु, पुस्तक १, अंक ३, पृ० ३३ ।
८— वही , पृ० ३४ ।
९— वही , पुस्तक १, अंक ४, पृ० ५४ ।
१०— वही , पुस्तक १, अंक ६, पृ० १३० ।
११— वही , पृ० वही ।
१२-१३—वही , पुस्तक १, अंक १०, पृ० १४७ ।
१४— वही , पुस्तक १, अंक ४, पृष्ठ ५१ ।
१५—तृतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन, कलकत्ता के सभापति का भाषण, सम्मेलन कार्य विवरण, पहला भाग, पृ० ३० ।
१६— वही , पृ० ३३ ।
१७— वही , पृ० ४१ ।
१८— वही , पृ० ४४ ।
१९— वही , पृ० ५० ।
२०— वही , पृ० ५२ ।

है। प्रेमघन जी गद्य में भी पद्य की भाँति तुक लगाया करते थे, जैसे' 'महाकवि न पायेगी'[१], 'सदा सतरायेगी'[२], भावों से मुस्कुरायेगी'[३] आदि। लाला श्री निवास दास पर दिल्ली के हरियाना प्रान्त की बोली का अधिक प्रभाव है। जैसे—इनसे, रुपये, नायिका, विद्या-विषय, दूसरे से, बुद्धिमानों, कार्यवाही, बोलती हूँ, तुमसे और सर्वथा आदि शब्दों के लिए 'इन्सै'[४], 'रुपे'[५], 'नायका'[६], 'बिद्या-बिषय'[७], 'दूसरे-सै'[८], 'बुद्धमानों'[९], 'काररवाई'[१०], 'बोल्ती हूँ',[११] 'तुमसे'[१२], तथा 'सर्वधा'[१३] आदि लिखते थे। सारांश यह है कि भारतेन्दु जी द्वारा भाषा-शैली का अधिक निखार हुआ था, फिर भी विविध लेखकों की रचनाओं में स्वर, व्यंजन, कारक, लिंग तथा विराम-चिन्ह सम्बन्धी अशुद्धियाँ होतीं थीं और भाषा पूर्व या पछाँह पन के पुट से बोझिल रहती थी; ब्रज-भाषा के ऐकार और औकार का प्रभाव सभी लेखकों पर लगभग समान था। ऐसी अवस्था में भाषा का पूर्ण परिमार्जित रूप अभी तक सम्मुख नहीं आ पाया था। अतः भाषा के परिमार्जन का भार द्विवेदी जी के ऊपर पड़ा और उन्होंने इस दिशा में गौरव पूर्ण कार्य किया।

आचार्य द्विवेदी जी द्वारा किए गए भाषा-सुधार के कार्य के विषय में यह कहा जा सकता है कि उन्होंने एक चतुर कृषक की तरह भाषा-कानन से अनावश्यक वस्तुओं को उखाड़ कर फेंकने का सफल प्रयास किया था। उसे स्वच्छ, परिष्कृत और शोभनीय बनाया था। उनके भाषा-सुधार की गुरुता का आभास उस समय होता है, जब यह देखा जाय कि उन्होंने किस सीमा तक

१-२-३—तृतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन, कलकत्ता के सभापति का भाषण, सम्मेलन कार्य विवरण, पहला भाग, पृ० ४४।
४—लाला श्री निवासदास, परीक्षा गुरु, पृ० ३।
५— वही , पृ० १।
६— वही , निवेदन, पृ० १।
७— वही , वही, पृ० ३।
८— वही , पृ० १७१।
९— वही , पृ० २१६।
१०— वही , पृ० २३७।
११— वही , पृष्ठ २७७।
१२— वही , पृष्ठ वही।
१३— वही , पृष्ठ २९३।

समय-समय पर पूर्णसिंह, वृन्दावनलाल वर्मा, गणेश शंकर विद्यार्थी, लक्ष्मीधर बाजपेयी, सूर्यनारायण दीक्षित, गिरिधर शर्मा, रामचन्द्र शुक्ल, श्रीमती बंग महिला, कामता प्रसाद गुरु, मिश्रबंधु, बेंक्टेश्वर तिवारी, काशी प्रसाद, गोविन्द वल्लभ पन्त, बाबूराव विष्णु पराड़कर, रामचरित उपाध्याय, गिरजा प्रसाद द्विवेदी, सत्यदेव आदि अपने युग के नव-युवक लेखकों के लेखों का संशोधन किया था। उपर्युक्त सभी लेखकों की रचनाओं में वे अशुद्धियाँ मिलतीं थी, जिनका उल्लेख भारतेन्दु-युग की भाषा के विषय में किया जा चुका है। द्विवेदी जी ने 'हिन्दी शिक्षावली तृतीय, भाग', की समालोचना लिखकर हिन्दी वालों का ध्यान लिंग-सम्बन्धी गलतियों की ओर आकृष्ट किया था और 'हिन्दी कालिदास की समालोचना' द्वारा व्याकरण के अव्यावहारिक रूपों कर्ता, क्रिया और कारक चिन्हों के अशुद्ध प्रयोगों को बतलाया था। उर्दू से हिन्दी में आने वाले कुछ लेखक 'इ' और 'ई' की मात्राओं के प्रयोग में असावधानी करते थे। उन्हें लक्ष्य कर द्विवेदी जी ने लिखा था—'ये अरबी फारसी और उर्दू के दास 'सत्य' को 'सत', 'पति' को 'पती', 'अनुभूति' को 'अनुभूती', 'लक्ष्मी' को 'लक्शमी', 'स्त्री', को 'इस्त्री', 'पांच सौ' को 'पान्सौ', मेषराशि को 'मेख (खूँटा) राशि' और 'सदच्छा' को 'सदेच्छा' लिखकर अपनी ज़ुबाँदानी साबित करते हैं। यहाँ तक कि अपना नाम लिखने में वे 'नारायण' को 'नरायण' (न), 'प्रसाद' को 'परसाद' और 'गुप्त' को 'गुप्ता' तक कर डालते हैं। खुद तो वे 'नामोनिशान' या 'नामोनिशां' की जगह अक्सर 'नामनिशान' लिखते हैं, पर यदि कोई 'रद्द बदल' लिखदे तो उसे 'रद्दोबदल' कराने दौड़ते हैं—"[१] द्विवेदी जी ने बड़ी सतर्कता के साथ कार्य किया था। विरामादि चिन्हों के संशोधन की दृष्टि से आपने जो कार्य किया था, उसकी गुरुता अधोलिखित पंक्तियों से भली प्रकार स्पष्ट हो जाएगी—"विरामादि चिन्हों के संशोधन की दृष्टि से गणपति जानकी राम दुबे का 'रायगिर' अथवा 'रायटेक' (१९०६ ई०), सूर्यनारायण दीक्षित के 'टिड्डी दल' (०६ ई०) मिश्रबंधु का 'जीवन बीमा' (०६ ई०) बदरीनाथ भट्ट का 'महाकवि मिल्टन' (११ ई०) आदि लेख विशेष दर्शनीय हैं। इनमें विराम चिन्हों की अत्यन्त अवहेलना की गई है।"[२] इसके अतिरिक्त यकारान्त

१—सरस्वती, भाग ७, संख्या २, पृ० ६६।

२—डा० उदयभानु सिंह—महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग भाषा और भाषा-सुधार, पृ० २१२।

और एकारान्त, अकारान्त और एकारान्त, शब्दों के लिखने तथा अनुस्वार के प्रयोग में जो गलतियाँ होतीं थीं, उनके परिहार के लिए द्विवेदी जी ने पण्डित विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक से कहा था—"देखिये लेने के अर्थ में जब लिये शब्द लिखा जाता है तब यकार से लिखा जाता है और जब विभक्ति के रूप में आता है तब एकार से लिखा जाता है। जो शब्द एक वचन में यकारान्त रहते हैं वे बहुवचन में भी यकारान्त ही रहेंगे। जैसे—'किया-किये', 'गया-गये' परन्तु स्त्री-लिंग में 'गयी' न लिखकर ईकार से 'गई' लिखा जाता है। 'कहिए', 'चाहिए', 'देखिए' इत्यादि में एकार लिखा जाता है। अकारान्त शब्दों का बहुवचन एकारान्त होता है। जैसे 'हुआ' का बहुवचन 'हुए'। जहाँ पूरा अनुस्वार बोले अनुस्वार लगाया जाता है। जैसे 'संस्कार' और जहाँ आधा अनुस्वार, जिसे उर्दू में नूनगुन्ना कहते हैं, बोले वहाँ चन्द्र बिन्दु लगाया जाता है—जैसे काँपना।"[1] इस प्रकार द्विवेदी जी लगभग सभी प्रकार की व्याकरण विषयक त्रुटियों का परिष्कार करते रहे। उन्होंने भारतेन्दु-युग के कुछ लेखकों की रचनाओं से उदाहरण देकर अनेक प्रकार की त्रुटियों का परिहार करते हुये नवीन लेखकों के लिए पथ प्रशस्त किया था।

द्विवेदी जी ने भारतेन्दु जी की भाषा से जो अशुद्ध उदाहरण प्रस्तुत किया था, वह इस प्रकार है—"मेरी बनाई या अनुवादित या संग्रह की हुई पुस्तकों को श्री बाबू रामदीनसिंह 'खड्गविलास' के स्वामी को कुल अधिकार है और किसी को अधिकार नहीं कि छापे।" यह वाक्य प्रवाहयुक्त नहीं, इसमें कुछ शिथिलता है। अतः द्विवेदी जी ने इसका संस्कार करते हुए लिखा था—"इस वाक्य में पुस्तकों के आगे कर्म्म का चिह्न को विचारणीय है। 'पुस्तकों को—स्वामी का कुल अधिकार है।' यह वाक्य व्याकरण-सिद्ध नहीं। यदि 'को' के आगे 'छापने का' ये दो शब्द आ जाते तो वाक्य की शिथिलता जाती रहती। फिर 'छापे' के पहले एक सर्वनाम भी अपेक्षित है। यहाँ पर मतलब 'पुस्तकों को छापे' से है। पर यदि सर्वनाम भी कोई चीज है तो 'पुस्तकों को' की जगह पर 'उन्हें' या उनको जरूर आना चाहिए।"[2] एक स्थान पर 'व' और 'ब' की सामान्य भूल का उल्लेख करते हुए आपने लिखा

१—डा० उदयभानु सिंह, महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग, भाषा और भाषासुधार, पृ० २४५-४६।

२—सरस्वती भाग ६, संख्या ११, नवम्बर १९०५ ई०, भाषा और व्याकरण, पृ० ४२७।

था—"कभी 'ब' की जगह व हो जाता है और कभी व की जगह ब। ऊपर के अवतरण में जो 'अनुबादित' शब्द है उसमें 'वा' की जगह 'बा' हो गया है। पर जिस पुस्तक की पीठ पर यह नोटिस छपी है, उसके नाम 'वकरी विलाप' की 'बकरी' में 'ब' की जगह 'व' हो गया है।"[1] राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द के अधोलिखित वाक्यों का परिशोधन आपने किया था। वाक्य इस प्रकार है—"धरती पर अनेक देश हैं, और उनमें मनुष्य बसते हैं। परन्तु सब (१) देश के लोगों की एक सी बोली नहीं है।"[2] "बिजली कुछ बादलों में ही नहीं रहती थोड़ी बहुत (२) सब जगह और अक्सर चीजों में रहा करती है। यहाँ तक कि (३) हमारे और तुम्हारे बदन में भी है। और कलों के जोर से भी (४) निकल सकती है।"[3] (विद्यांकुर, २३ वीं आवृति) "औरङ्गज़ेब ने तख्त पर बैठ कर अपना लकब आलमगीर रक्खा। मुल्तान के पास तक (५) दारा शिकोह का पीछा किया। लेकिन जब (६) सुना कि दारा शिकोह मुल्तान से सिन्ध की तरफ भाग गया और शुजा बङ्गाल से आता है, फौरन (७) इलाहाबाद की तरफ मुड़ा" (इतिहास तिमिर नाशक १) इन वाक्यों में वचन, सर्वनाम और कर्तृ पदों की त्रुटियाँ हैं। द्विवेदी जी ने इनका संशोधन करते हुए लिखा था—"इन अवतरणों में (१) 'सब देश' की जगह 'सब देशों' क्यों न हो ? (२) 'थोड़ी बहुत' के आगे 'बिजुली' क्यों न हो ? और जहाँ (३) और (४) अंक हैं, वहाँ 'वह' क्यों न हो ? (५) और (६) की जगह 'उसने' और (७) की जगह 'वह' भी अपेक्षित है।"[4] इसी प्रकार ठा० गजाधरसिंह की कादम्बरी से एक वाक्य "यंत्रालयाध्यक्ष महाशय की इस पर ऐसी कृपा हुई कि आज एक वर्ष में छापकर अब आप के हस्तगत होने के योग्य किया है।" इस वाक्य में द्विवेदी जी ने 'छापकर या किया है' के पहले 'इसे' या 'इसको' शब्द जोड़ने का परामर्श दिया है; इसके बाद 'किया है' सकर्मक क्रिया का कर्म रखने की अपेक्षा बतलाई है और क्रिया के कर्त्ता 'यंत्रालयाध्यक्ष महाशय' के पश्चात् कर्त्ता की विभक्ति 'ने' लाने की आवश्यकता का उल्लेख किया है। द्विवेदी जी ने राधाचरण गोस्वामी

१—सरस्वती भाग ६, संख्या ११, नवम्बर १९०५ ई०, भाषा और व्याकरण, पृ० ४२७।

२—सरस्वती भाग ६, संख्या ११, पृष्ठ ४२८।

३— वही , पृष्ठ ४२८।

४— वही , भाषा और व्याकरण, पृष्ठ ४२८।

की भाषा से भी उदाहरण देकर इस प्रकार की गलतियों का उल्लेख किया है और उनकी भाषा में आने वाले अश्लील शब्दों की ओर से भावी लेखकों को सचेत किया है। गोस्वामी जी के अनन्तर काशीनाथ खत्री की भाषा से आपने यह वाक्य उद्धृत किया—"यह एक पुस्तक नागरी में है।—जिसको ये दोनों पुस्तक लेनी हों—शाहजहाँ पुर से मँगाले।— तृतीय भाग में निषेधकों के आपत्तियों और कल्पनाओं के विधि पूर्वक उत्तर हैं।"[१] उक्त वाक्य में वचन और लिंग सम्बन्धी त्रुटियाँ हैं। उनकी ओर संकेत करते हुए द्विवेदी जी ने लिखा था—"पुस्तक के पहले 'एक' शब्द अनावश्यक जान पड़ता है। 'दोनों पुस्तक' की जगह 'दोनों पुस्तकें' क्यों नहीं? 'आपत्ति' और 'कल्पना' शब्द भी स्त्री लिंग हैं। अतएव उनके सम्बन्ध के सूचक चिह्न 'के' की जगह स्त्री लिंग 'की' होना चाहिए।"[२] आपने लेखकों की सुविधा के लिए कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य, भाववाच्य और कर्मकर्तृवाच्य आदि वाक्यों का अन्तर स्पष्ट कर मार्ग प्रदर्शन भी किया था। इस प्रकार द्विवेदी जी ने अपने पूर्ववर्ती तथा वर्तमान सभी लेखकों की भाषा का संशोधन और परिमार्जन किया था। दूसरों की ही नहीं, द्विवेदी जी को स्वयं अपनी भाषा का भी सुधार करना पड़ता था। सारांश में यह कहा जा सकता है कि द्विवेदी जी ने यथाशक्ति स्वर, व्यंजन, वचन, लिंग, कारक, विभक्ति, शिथिलता, अस्पष्टता तथा ग्रामीणता विषयक जितनी अशुद्धियाँ लेखक करते थे उनके परिहार के लिये अथक परिश्रम किया और हिन्दी को परिष्कृत एवं टकसाली रूप प्रदान किया था। भाषा-सुधार की दृष्टि से आपका बहुत ऊँचा स्थान है।

भाषा का सुधार करने वाले थे अकेले द्विवेदी जी और त्रुटियाँ करने वाले थे अनेक। सरस्वती के प्रारम्भिक लेखक प्रायः वे त्रुटियाँ करते थे, जो परंपरा से चलती आ रहीं थीं। लेखकों की संख्या और त्रुटियों की सीमा के आधिक्य की अपेक्षा द्विवेदी जी की शक्ति परिमित थी। वैयक्तिक शक्ति की इस सीमा के कारण द्विवेदी जी से कुछ त्रुटियों का छूट जाना अथवा स्वयं कुछ त्रुटियाँ होना असम्भव न था। द्विवेदी जी से स्वयं कुछ त्रुटियाँ हुईं, उनमें से अधिकांश का सुधार बाबू बालमुकुन्द गुप्त द्वारा किया गया। द्विवेदी जी ही नहीं, अन्य लेखकों की व्याकरण सम्बन्धी भूलों का सुधार भी गुप्त जी ने किया है। गुप्त जी स्वयं एक कुशल सम्पादक होने के नाते भाषा की गति-विधि और लेखकों

१—वाग्विलास—भाषा और व्याकरण (१), पृ० ६४।
२— वही, पृ० वही।

की रचनाओं पर तीव्र दृष्टि रखते थे। अतः भाषा-सुधार का गुरुतर भार उनके ऊपर भी था। भारत मित्र के विविध लेखकों की रचनाओं में भाषा-सम्बन्धी जो सुधार गुप्त जी ने किया था, उन रचनाओं की हस्तलिखित प्रतियों के नष्ट हो जाने के उपरान्त उनके भाषा-सुधार के महान् कार्य की कल्पना करना साधारण कार्य नहीं है। गुप्त जी के भाषा-सुधार के प्रमाण-स्वरूप द्विवेदी जी के भाषा और व्याकरण नामक लेख की आलोचना पर लिखे गए दस लेख आज उपलब्ध हैं तथा अयोध्यासिंह उपाध्याय के 'अधखिला फूल' की आलोचना वर्तमान है। इन लेखों से भली प्रकार अनुमान किया जा सकता है कि भाषा-सुधार के कार्य में गुप्त जी ने कितना योग दिया था।

गुप्त जी का भाषा सुधार—द्विवेदी जी कुछ समय तक अपनी बोल-चाल की मातृ-भाषा के उच्चारण के अनुसार शब्दों को लिखते थे। वे हमें, जिन्हें, सकें, करें, बातें, दोनों, बिजली, बनावेगा, बनेगा आदि के स्थान पर 'हमैं', 'जिन्हैं', 'सकैं', 'करैं', 'बातैं', 'दोनौं', 'बिज्जुली', 'बनावैगा', 'बनैगा' आदि लिखते थे।[१] गुप्त जी ने 'भाषा की अनस्थिरता' वाले लेख में इनका ध्यान इस त्रुटि की ओर आकर्षित किया था। आपने लिखा था—'हमैं', 'जिन्हैं', 'सकैं', 'करैं' आदि द्विवेदी जी बहुत लिखते हैं और हम देखते हैं कि, जो लोग उनकी 'सरस्वती' में इन शब्दों का शुद्ध उच्चारण अर्थात् 'हमें', 'जिन्हें', सकें, करें आदि लिखते हैं उनकी भी आप इसलाह कर डालते हैं।[२] इसी प्रकार 'बातें' के स्थान पर 'बातैं' लिखने पर गुप्त जी ने लिखा था—"इस कृपा का धन्यवाद, पर आपने बातें की भाँति दोनौं क्यों न लिखा।"[३] 'बिजली' शब्द के गलत लिखने पर गुप्त जी ने टिप्पणी की थी—"धन्य बिज्जुली। देहात की औरतों को भी द्विवेदी जी ने मात किया।"[४] 'तो', 'तब' और 'बनेगा' शब्द के अशुद्ध प्रयोग पर गुप्त जी ने लिखा था—"नहीं साहब नहीं बनैगा, आपकी दलील पत्थर की लकीर है। पर आप जैसे हिन्दी दां को 'तो' और 'तब' का प्रयोग ठीक नहीं मालूम यह कैसे गजब की बात है। आप इस तरह कहिये—"तब क्या फिर एक नया व्याकरण बनेगा।"[५] और 'करे' के स्थान पर 'करैं' का प्रयोग करने पर गुप्त

१—सरस्वती भाग ६, संख्या ११, भाषा और व्याकरण, शीर्षक लेख।
२—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, भाषा की अनस्थिरता, पृ० ४८३।
३—वही, पृ० ४७४।
४—वही, पृ० ४५८।
५—वही, पृ० ४४६।

जी ने लिखा था—"कितनी ही व्याकरण दानी का दावा करके भी आप अपने देश की करै-सरै को मत छोड़िये।"[१] यह निश्चित है गुप्त जी द्वारा इस प्रकार की व्यंग्योक्तियों से प्रभावित होकर द्विवेदी जी ने स्वयं की तथा अपने लेखकों की इस प्रकार की त्रुटियाँ सुधारी थीं। द्विवेदी जी 'मुहावरा' के स्थान पर 'मुहाविरा', 'मुहावरे' के स्थान पर मुहाविरे, 'रद्दो बदल' के स्थान पर 'रद् बदल' तथा 'अस्थिरता' के स्थान पर 'अनस्थिरता' लिखते थे। गुप्त जी ने इन शब्दों की त्रुटियों की ओर उनका ध्यान आकृष्ट किया था। इसके अतिरिक्त गुप्त जी ने द्विवेदी द्वारा प्रयुक्त शब्दों के अशुद्ध रूप, अशुद्ध प्रयोग, वाक्य-रचना की शिथिलता, तथा मुहावरों के अशुद्ध प्रयोगों को ठीक किया। जिनका उल्लेख प्रस्तुत अध्याय के 'द्विवेदी जी द्वारा की गई भाषा विषयक भूलें' नामक शीर्षक के अन्तर्गत किया गया है। उन सभी अशुद्धियों का परिमार्जन गुप्त जी ने किया है।

अयोध्यासिंह उपाध्याय ने 'अधखिला-फूल' में कुछ ऐसे शब्द और मुहावरों का प्रयोग किया था, जो न ब्रज-भाषा के ही कहे जा सकते थे और न उस भाषा के, जिसकी जातीय शैली का रूप भारतेन्दु जी प्रतिष्ठापति कर गये थे। गुप्त जी ने उपाध्याय जी की भाषा की त्रुटियों का उल्लेख करते हुए लिखा था—"आकाश, पच्छिम, अन्धियाला, मिट्टी, यह सब शब्द ब्रजभाषा के भी नहीं हैं। ब्रज भाषा में अकास, अंधियारा, मट्टी या माटी कहा जाता है और 'इसतिरी' शब्द भी ब्रजभाषा में नहीं।"[२] उपाध्याय जी ने 'सिर' शब्द के स्थान पर 'सर' लिखा था। गुप्त जी ने दोनों शब्दों का भेद स्पष्ट करते हुए लिखा था—"हिन्दी में 'सर' नहीं होता। उर्दू वाले भी 'सर' नहीं बोलते हैं, जहाँ फारसी तरकीब आ जाती है—जैसे 'सरदर्द'। खाली होता है तो 'सिर' बोलते हैं।'[3] शब्दों को अशुद्ध लिखने के अतिरिक्त उपाध्याय जी ने कुछ मुहावरों के प्रयोग भी गलत अर्थ में किए थे। उन्होंने 'ठन्डा होना' मुहावरे का प्रयोग छतों पर रात की शीतलता का आनन्द लेने के अर्थ में किया था। गुप्त जी ने इस मुहावरे का यथार्थ प्रयोग बताते हुए लिखा था—"······हिन्दी में आदमी के लिए ठण्डा होने का अर्थ मर जाने से है।"[४]

१—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, भाषा की अनस्थिरता, पृ० ४३८।
२— वही, अधखिला फूल, पृ० ५६८।
३— वही, पृ० ५६६।
४— वही, पृ० ५६६।

उपाध्याय जी ने 'पंखा हाँकना' और 'कमाने का खटका नहीं' आदि मुहावरों का गलत प्रयोग किया था। गुप्त जी ने बताया था कि 'हाँकना' शब्द का प्रयोग गाय, बैल आदि के लिए होता है, पंखा के साथ नहीं। 'कमाने का खटका नहीं' के सम्बन्ध में उनका मत था—"......कमाने के साथ खटका नहीं चल सकता, क्योंकि खटके का अर्थ आशंका है। 'कमाने की चिन्ता नहीं' या 'कमाने का खटराग नहीं', कहा जा सकता है।"[१] उपाध्याय जी ने कुछ शब्दों को पूर्णतः उर्दू उच्चारण के अनुसार लिखा था। गुप्त जी ने उन पर अपना मत देते हुए कहा था—"अयोध्यासिंह जी स्त्री को 'इसतीरी', मित्र को 'मितर', स्वर्ग को 'सरग', शब्द को 'सबद' आदि लिखकर अपनी भाषा को सौ साल पीछे धकेलेने की चेष्टा क्यों करते हैं?"[२] इन अवतरणों से पता लगता है कि गुप्त जी भाषा में किस प्रकार के शब्दों को प्रयुक्त होने से हतोत्साहित और किस प्रकार के शब्दों को प्रोत्साहित कर रहे थे। कुछ शब्दों के उचित प्रयोग बताते हुए आपने लिखा था—'चाल-चलन' सर्वत्र पुलिंग है। आपने दिखाया है कि 'भारत मित्र' में 'तुम्हारी चाल चलन' लिखा गया था। यदि ऐसा लिखा गया हो तो यह भी गलत है। 'धरती', 'घनी-घनी कुंज बेलें लहलहा रही हैं, 'आव', आदि सब शब्द ब्रजभाषा के होने पर भी साधारण भाषा में चलते हैं, एक प्रान्तीय नहीं हैं।[३] प्रस्तुत अवतरण से स्पष्ट है कि गुप्त जी भाषा-सुधार की ओर किस सत्यता के साध आकृष्ट थे। उन्होंने त्रुटियों को स्वीकार करने में आपत्ति, संकोच या अपमान की भावना का प्रकाशन नहीं किया। प्रत्युत सत्य को सत्य ही स्वीकार किया। आपने 'प्यारी', 'निगोड़ी' और 'भोली' शब्द के प्रयोग पर अपना मत प्रकाशित करते हुए लिखा था—"प्यारी शब्द साधारण हिन्दी में चलता है,—उर्दू में नहीं। 'निगोड़ी' शब्द गंवारी नहीं है, शहर में भी चलता है पर स्त्रियों की बोली में। 'भोली' शब्द तो उर्दू वाले भी खूब लिखते हैं।"[४] गुप्त जी ने अन्य भाषाओं के उन शब्दों का प्रयोग हिन्दी-लेखकों के सम्मुख स्पष्ट किया है, जो हिन्दी में घुल-मिल गए थे और हिन्दी में जिनका प्रयोग मूल भाषा के प्रयोग से भिन्न अर्थ में होता था। यद्यपि द्विवेदी जी ऐसे शब्दों के विरोध में थे। उन्होंने ऐसे

१—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, अधखिला फूल, पृ० ५६६।
२—वही, पृ० ५७०।
३—वही, पृ० ५६६-५७०।
४—वही, पृ० ५७०।

शब्दों को सर्वथा त्याज्य घोषित किया था। गुप्त जी का दृष्टिकोण भिन्न था। आपने बताया था कि 'गरीब' अरबी का शब्द है, जिसका अरबी में अर्थ 'विचित्र' और मुसाफिर होता है, पर हिन्दी में दीन या गरीब होता है। विनय-पत्रिका में इसका प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है। अतः त्याज्य नहीं, ग्रहणीय है। इसी भाँति आपने फ़ारसी के 'मुर्ग'; अरबी के 'तमाशा'; संस्कृत के 'राग' आदि शब्दों के भिन्न-भिन्न अर्थों को बताया और हिन्दी में उनके उचित प्रयोग पर प्रकाश डाला था। उन्होंने 'चिड़िया', 'गोरैया', 'आन्दोलन', 'दस्तपनाह' अर्थात् चिमटा, 'ताजीरात हिन्द' आदि शब्दों के प्रयोग के विषय में स्पष्टीकरण किया था। उनका मत था, जो शब्द अपनी भाषा में मिल गए हैं वे सर्वथा ग्राह्य हैं, चाहे उनका प्रयोग उनकी मूल भाषाओं में किसी भी अर्थ में होता हो। द्विवेदी जी ने हिन्दी वालों को जब-तब, जो तो आदि शब्दों के प्रयोग के लिए भी दोषी ठहराया था। उनकी धारणा थी कि हिन्दी में यह रीति उर्दू के प्रभाव से आई। उनका मत था कि उर्दू वाले 'जब' के साथ 'तो' का प्रयोग करते हैं और अपने कथन के प्रमाण में द्विवेदी जी ने गालिब से एक उदाहरण भी दिया था।[1] गुप्त जी ने इन शब्दों के उचित प्रयोग का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है—"सुनिये उर्दू वाले 'जब' के मुकाबिले में 'तो' भी नहीं लाते, उसे गायब ही कर देते हैं। बहुत से हिन्दी वाले भी इसी चाल को पसन्द करते हैं—प्रयाग और काशी के हिन्दी लेखक जब के मुकाबिले में तब अधिक लिखते हैं। यह भी ठीक समझा जाता है।"[2] यहाँ गुप्त जी का दृष्टिकोण स्पष्ट है। उनका मत था कि 'जो' के साथ 'तब' का प्रयोग उचित नहीं है। आपने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि 'जब' 'तब' 'जो' और 'तो' को उर्दू वाले शर्त में प्रयोग करते हैं; जबकि द्विवेदी जी प्रथम दो को समय सूचक मानते थे। गुप्त जी का मत है कि पहले उर्दू वाले भी प्रथम दो को समय सूचक और शर्त के अर्थ में प्रयोग में करते थे। किन्तु अब ऐसा नहीं किया जाता। समय सूचित करने के समय 'जब' के स्थान पर 'जिस वक्त' का प्रयोग उर्दू वाले करते हैं। गुप्त जी ने कालाकांकर के 'हिन्दोस्थान' की भाषा का भी परिमार्जन किया था। उक्त पत्र में अंग्रेजी के A और E दोनों के लिए 'य' लिखा जाता था, Manager में दो बार A वर्ण आता है अतः उक्त पत्र में 'म्यन्यजर' लिखा जाता था; Editor में E है, अतः 'यडिटर' लिखा

१—सरस्वती भाग ६, सं० ११, भाषा और व्याकरण शीर्षक।

२—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, भाषा की अनस्थिरता, पृ० ४७६।

जाता था; इसी प्रकार Assistant के लिए 'असिस्टयण्ट' और self के लिए 'स्यलफ्' लिखा जाता था। इसी प्रकार राजा रामपाल सिंह अंग्रेजी वर्ण O के स्थान पर 'व' लिखते थे। अतः Proprietor के लिए 'प्रवप्यूटर' लिखा जाता था।[1] गुप्त जी ने उनकी उक्त अशुद्धियों की ओर शिक्षित समुदाय का ध्यान आकृष्ट किया था। राजस्थान-समाचार भी 'गलतियाँ' के स्थान पर 'गलतियें' लिखता था।[2] गुप्त जी ने भाषा विषयक इस अनियमतता का अन्त करने के लिए बड़ी कठोरता के साथ उनकी आलोचनाएँ कीं थीं। गुप्त जी ने केवल भाषा का संशोधन ही नहीं किया, अपितु उसके उचित संस्कार की ओर भी उनका यथेष्ट ध्यान था। शब्दों के उचित प्रयोग का निर्धारण करके आपने भाषा को लेखकों की व्यक्तिगत रुचि और शैली को युद्ध क्षेत्र न बनने दिया था, प्रत्युत भाषा के सार्वजनिक रूप-निर्माण में महान् सहायता प्रदान की थी। अतः भाषा-सुधार और संस्कार की दृष्टि से हिन्दी-साहित्य में गुप्त जी का उच्च स्थान है।

आचार्य पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी और बाबू बालमुकुन्द दोनों ही प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति थे; दोनों ही सम्पादक के रूप में भाषा-सुधार का कार्य लेकर साहित्य-क्षेत्र में अवतीर्ण हुए, और दोनों ने आजीवन हिन्दी-भाषा के परिष्कार और साहित्य-उन्नयन का गुरुतर उत्तरदायित्व निभाया था। पर दोनों की अपनी-अपनी सीमाएँ थीं। अतः दोनों की भाषा में व्याकरण विषयक त्रुटियाँ पाई जाती हैं। यहाँ हमारा अभिप्रेत दोनों की भाषा-सम्बन्धी भूलें दिखाना है।

आचार्य द्विवेदी जी द्वारा की गईं भाषा विषयक भूलें--लिखते समय पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी जी से भी व्याकरण सम्बन्धी जो भूलें हुई हैं, उनका विवरण इस प्रकार दिया जा सकता है--(अ) शब्दों के अशुद्ध रूप का प्रयोग--जिसमें स्वर और व्यंजन-गत भूलों का उल्लेख आ सकता है। (अ) मुहावरों का ग़लत प्रयोग, (इ) लिंग तथा वचन सम्बन्धी अशुद्धियाँ (ई) अप्रचलित और क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग, (उ) विराम चिन्हों की अवहेलना तथा वाक्य-विन्यास की शिथिलता एवं अनावश्यक शब्दों का समावेश।

१—गुप्त निबंधावली, प्रथम भाग, हिन्दी अखबार, पृ० ३५३।

२— वही , पृष्ठ ३५६।

(अ) शब्दों के अशुद्ध रूप का प्रयोग—द्विवेदी जी अपने युग की व्यापक प्रवृत्ति के कारण कभी-कभी 'हुआ' के स्थान पर 'हुवा', 'उसके' के स्थान पर 'उस्के', 'प्रकट' की जगह 'प्रगट', 'समझा' के स्थान पर 'समुझा', 'रद्दोबदल' के लिए 'रद्दबदल', मरज की जगह 'मर्ज' और 'जिक्र' की जगह 'जिकर' लिखते थे। इसी प्रकार 'करे', 'रहे', 'जनों', 'वीरों', 'तो', 'के', 'जिन्हें', 'से', 'रहेंगे', 'करेंगे', 'बनायेगा', 'आयेगा', 'मिलेगा', 'निकालेगा' आदि के स्थान पर 'करैं', 'रहैं', 'जनौं', 'वीरौं', 'तौ', 'कै', 'जिन्हैं', 'सै', 'रहैगे', 'करैंगे', 'बनावैगा', 'आवैगा', 'मिलैगा', निकालैगा' आदि का प्रयोग करते थे। द्विवेदी जी ने 'र' के स्थान पर 'ऋ' और 'ऋ' के स्थान पर 'र' का प्रयोग भी किया हैं जैसे 'प्रथक', भृकुटी', और 'पृथा'। इसके अतिरिक्त 'ए' के स्थान पर 'ऐ' और 'ये' का प्रयोग भी उनकी रचनाओं में पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है। 'ट' के स्थान पर 'ठ', 'ब' के स्थान पर 'व' और 'यी' के स्थान पर 'ई' का प्रयोग भी आपने अधिकता के साथ किया है। उदाहरणार्थ, 'धृष्ठ', 'चेष्ठा', 'ओष्ट', 'विना', 'स्थाई'[१] तथा 'दुखदाई'[२]। वकालत के स्थान पर 'विकालात'[३] निरुपायेगी के लिए 'निरूपयोगी'[४] और शौरसेनी के लिए 'सौरसैनी'[५] भी द्विवेदी जी ने लिखा है। स्वर और व्यंजन-गत अन्य त्रुटियाँ भी द्विवेदी जी द्वारा हुई हैं। 'प्रतिकार' के स्थान पर आपने 'प्रतीकार'[६], और 'य' के स्थान पर 'व' यथा 'जायेगा' के लिए 'जावेगा'[७] भी लिखा है। इसी प्रकार 'व' के लिए 'ब' यथा—'वस्तु के बदले 'बस्तु'[८] और वस्तुतः के लिए 'बस्तुतः'[९] तथा दुर्वस्था,

---

१—सरस्वती भाग ६, संख्या ११, भाषा और व्याकरण।

२—उदयभानुसिंह, महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग, भाषा और भाषा सुधार।

३—सरस्वती भाग ४, संख्या ५, पृ० १८२।

४— वही , भाग ५, संख्या २, पृ० ४२।

५— वही , पृष्ठ ४०५।

६—नागरी प्रचारिणी पत्रिका संख्या १८६८, पृष्ठ ११४।

७—नागरी प्रचारिणी पत्रिका सं० १८६८, पृष्ठ ११४।

८— वही , सं० १६०० चौथा भाग, पृष्ठ ६।

९— वही , पृष्ठ ६।

जाने, एवं उपर्युक्त आदि शब्दों के लिए 'दुरवस्था'[१], 'जानै'[२] और 'उपरोक्त'[३] आदि शब्द द्विवेदी जी ने लिखे हैं।

(आ) **मुहावरों का अशुद्ध प्रयोग**––द्विवेदी जी ने 'नमूना के लिए' तथा 'इस प्रकार की सारी त्रुटियाँ हम मुहावरे में नहीं गिन सकते' आदि मुहावरों के स्थान पर लिखा है––'नमूने दिये'[४] और 'इस तरह की सारी त्रुटियों को हम मुहाविरा नहीं समझते।'[५] इनके अतिरिक्त 'अनुभव लेने को', 'बुद्धि को निरोगता आती है', 'स्वार्थ लेने वाले'[६] तथा 'तब हमने यह विचार रहित कर दिया'[७] आदि अशुद्ध प्रयोग किए हैं।

(इ) **लिंग और वचन सम्बन्धी भूलें**–––द्विवेदी जी ने पुल्लिग शब्दों को स्त्रीलिंग में प्रयोग किया है। 'गड़बड़ पैदा हो जायगी'[८] तथा 'नोटिस छपी है'।[९] वचन सम्बन्धी भूलें इस प्रकार हैं––"लिखित भाषा में ग्रंथकार अपने कीर्तिकलाप को रखकर अपना नश्वर शरीर छोड़ जाते हैं।"[१०] इस वाक्य में 'ग्रन्थकार' कर्त्ता और 'छोड़ जाते हैं' क्रिया दोनों बहुबचन हैं पर 'अपना नश्वर शरीर' एक वचन। यह प्रयोग अशुद्ध है। इसी प्रकार 'पृथ्वी के पेट से उनकी हड्डियों को खोदकर उन्होंने उनकी ठठरी अजायब घरों में रख दी है।"[११] यहाँ 'ठठरी' का प्रयोग अशुद्ध है। अजायब घरों के साथ ठठरियाँ होना चाहिए था।

(ई) द्विवेदी जी ने अप्रचलित और क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग करके भाषा को बोझिल और अस्पष्ट ही बना दिया था, जैसे––"दूसरे उसकी अनस्थिरता

१—नागरी प्रचारिणी पत्रिका सं० १९०० चौथा भाग, पृष्ठ ७।
२— वही , पृ० वही।
३— वही , पृ० ५।
४—सरस्वती भाग ६, संख्या ११, भाषा और व्याकरण, पृष्ठ ४३१।
५— वही , पृष्ठ ४२९।
६—उदयभानुसिंह, महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग-भाषा और भाषा-सुधार पृष्ठ २०७।
७—सरस्वती भाग ७, सं० २, पृ० ७०।
८—सरस्वती भाग ६, सं० ११, पृ० ४३४।
९— वही , पृ० ४२७।
१०— वही , पृष्ठ ४२६।
११— वही , मई सन् १९०६ ई०।

उसे बरवाद कर रही है"[१], "—भाषा को कभी स्थैर्य्य आने का नहीं ?"[२] हिन्दी को कालसह (अर्थात्) कुछ काल के स्थाई करने के लिये यह बहुत जरूरी बात है।"[३] उपर्युक्त उद्धरणों में 'अनस्थिरता', 'स्थैर्य्य' और 'कालसह' तीनों ऐसे शब्द हैं जो प्रवाह प्राप्त नहीं हैं; इस प्रकार के शब्दों से भाषा की स्वाभाविकता नष्ट हो जाती है।

(उ) **विराम चिह्नों की अवहेलना**—द्विवेदी जी की भाषा में विराम-चिन्हों का अभाव भी कहीं-कहीं खटकता है। वह भाषा-शैली के निर्माण का युग था। लेखक-रचना के इस आवश्यक अंग से पूर्णतः अपरिचित थे। द्विवेदी जी भी कुछ समय इधर पर्याप्त ध्यान न दे पाए थे। इसके अतिरिक्त उनकी भाषा में जो अधिक खटकने वाली भूल होती थी वह है, वाक्य विन्यास की शिथिलता और अनावश्यक शब्द एवं कारक विभक्तियों का समावेश। सारांश में कहा जा सकता है कि द्विवेदी जी की रचना में स्वर, व्यंजन, भाववाचक संज्ञाओं में दूसरा भाववाचक प्रत्यय 'त' (तत्) जोड़कर संज्ञा शब्द बनाना, विशेष्य-विशेषण, वचन, लिंग, अँग्रेजी का अनावश्यक प्रभाव तथा अस्पष्टता सम्बन्धी अनेक प्रकार की भूलें हुई है।

गुप्त जी द्वारा की गई भाषा सम्बन्धी भूलें—बालमुकुन्द गुप्त की रचनाओं में भी भाषा सम्बन्धी भूलें प्राप्त होतीं हैं। गुप्त जी ने 'स' के स्थान पर 'श', 'स' की जगह 'ष', 'ट' के स्थान पर 'ड' और 'उ' के स्थान पर 'ऊ' का प्रयोग भी किया है। उदाहरणार्थ, 'विकाश'[४], 'ईष्ट इण्डिया'[५], 'भठ्ठियों'[६], (यह छापे की भूल भी हो सकती हैं), 'फुटपाथ' आदि। ब्रजभाषा का प्रभाव होने के कारण उन्होंने 'ए' की जगह 'व' और 'य' के स्थान पर 'व' का प्रयोग भी किया है। जैसे—'वह होली क्यों गावे'[८], 'हटावेंगे'[९], और

१—सरस्वती, भाग ६, सं० ११, भाषा और व्याकरण, पृ० ४२६।
२— ही , पृ० ४३०।
३— वही , पृ० ४३४'
४—गुप्त निबंधावली, प्रथम भाग, एक दुराशा, पृ० २०४।
५— वही , पीछे मत फेंकिये, पृ० १९२।
६— वही , एक दुराशा, पृ० २०८।
७— वही , पृ० २०७।
८— वही , पृ० २०४।
९— वही , पार्ली साहब केनाम, पृ० २२९।

'आवेगी।'[१] इनके अतिरिक्त गुप्त जी ने 'होल्कर', 'कमेटी', 'सैयद', 'नर्म', 'कन्वोकेशन', 'पार्लियामेण्ट', 'उम्रें', 'उद्धव', 'पृथ्वी', 'हाउस', 'गवर्नमेंन्ट', 'इण्डिया', 'डण्डा', 'इंग्लैंड', 'घमण्डी', 'सेन्डो', 'घन्टे', 'तैयार', 'चान्सलर', 'दर्जा', 'खान', 'पद्मावत' और 'सजीवता' के स्थान पर 'हुल्कर'[२], 'कमिटी'[३], 'सय्यद'[४], 'नर्म्म'[५], 'कानवोकेशन'[६], 'कनवौकेशन'[७], 'पार्लामिण्ट'[८], 'उमरें'[९], 'उद्धव'[१०], 'पृथिवी'[११], 'होस'[१२], 'गवर्नमेण्ट'[१३], 'इण्डिया'[१४], 'डण्डा'[१५], 'इंगलैण्ड'[१६], 'इंग्लैण्ड'[१७], 'घमण्डी'[१८], 'सैण्डो'[१९], 'घण्टे'[२०], 'तय्यार'[२१], 'चेंसलर'[२२],

---

१—बालमुकुन्द गुप्त, चिट्ठे और खत, पृ० २।

२—गुप्त निबंधावली प्रथम भाग, पीछे मत फेंकिये, पृ० १९३।

३— वही , हिन्दी भाषा, पृ० ११७।

४— वही , सर सय्यद अहमद का खत, पृ० २५२।

५— वही , पीछे मत फेंकिये, पृ० १९४।

६— वही , आशा का अन्त, पृ० २०१।

७— वही , विदाई सम्भाषण, पृ० २१३।

८— वही , आशा का अन्त, पृष्ठ २०१।

९— वही , पृष्ठ २०२।

१०— वही , एक दुराशा, पृष्ठ २०५।

११— वही , पीछे मत फेंकिये, पृष्ठ १९६।

१२— वही , एक दुराशा, पृष्ठ २०६।

१३— वही , पीछे मत फेंकिये, पृष्ठ १९४।

१४— वही , पृ० वही।

१५— वही , एक दुराशा, पृष्ठ २०८।

१६— वही , बंग-विच्छेद, पृ० २१६।

१७— वही , श्रीमान का स्वागत, पृ० १८६।

१८— वही , वैसराय का कर्त्तव्य, पृष्ठ १८८।

१९— वही , श्रीमान का स्वागत, पृ० १८३।

२०— वही , बनाम लार्ड कर्जन, पृ० १७७।

२१— वही , बंग विच्छेद, पृष्ठ २१६।

२२— वही , एकदुराशा, पृ० २०७।

'दरजा'[१], 'खानि'[२] और पद्मावत'[३], तथा 'सजीवता'[४], लिखा है।

गुप्त जी ने किसी-किसी स्थान पर 'क' के लिए 'ग' और 'न' के स्थान पर 'ण' का प्रयोग भी किया है, उदाहरणार्थ 'प्रगट'[५] और 'महाराणी'[६], उन्होंने एक स्थान पर 'झडी' के लिए 'झाडी'[७] और हाकिम के लिये 'हाकीम'[८] लिखा है; निश्चित रूप से ये भूलें छापे की हो सकती है क्योंकि आगे की पंक्ति में 'हाकिम' शब्द ठीक लिखा हुआ है। इसके विपरीत 'अभ्र-स्पर्शी' और 'परिपूरित' शब्दों को गुप्त जी ने 'अभ्रूस्पर्शी'[९] तथा 'परपूरित'[१०] लिखा है, ये अशुद्ध हैं। इसी प्रकार लैफ्टीनेन्ट, वायसराय और प्रिंसिपल आदि को 'लफटन्ट'[११], 'वैसराय'[१२] और 'प्रिन्सपल'[१३], ग्रामीण बोलचाल के आधार पर लिखा है; ग्रामीण जन इन शब्दों का उच्चारण इसी प्रकार करते हैं, जैसे कि गुप्त जी ने लिखा है।

लिंग और वचन सम्बन्धी भूलें भी गुप्त जी ने की हैं। उन्होंने एक स्थान पर लिखा है—'ढाढ़स मिली है'[१४] और दूसरे पर "—निकल जाना एक नई आन था'[१५], 'ढाढ़स' पुल्लिग शब्द है पर इसका प्रयोग गुप्त जी ने स्त्री लिंग में किया है। इसके विपरीत 'आन' स्त्री लिंग को पुल्लिग में प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार एक वचन 'वह' को गुप्त जी ने बहुवचन 'वे' के स्थान पर और 'यह' को 'ये' के स्थान पर भी प्रयोग किया है। यथा—"जब तक

१—गुप्त निबंधावली, प्रथम भाग, विदाई सम्भाषण, पृ० २१३।
२— वही , आशा का अन्त, पृ० २०१।
३— वही , हिन्दी भाषा, पृ० १३४।
४— वही , भाषा की अनस्थिरता, पृ० ४४५।
५— वही , बनाम लार्ड कर्जन, पृ० १८०।
६— वही , वैसराय का कर्त्तव्य, पृ० १६०।
७— वही , एक दुराशा, पृ० २०५।
८— वही , मार्ली साहब के नाम, पृ० २२८।
९-१०— वही , आशीर्वाद, पृ० २३४।
११— वही , लार्ड मिन्टो का स्वागत, पृ० २२५।
१२— वही , वैसराय का कर्त्तव्य, पृ० १८७।
१३— वही , सर सय्यद अहमद का खत, पृ० २५३।
१४— वही , बंग विच्छेद, पृ० २१७।
१५— वही , श्रीमान का स्वागत, पृ० १८४।

वह आंखें न होंगी"[१] यहाँ 'आँखें' बहुवचन संज्ञा का 'वह' एक वचन सर्वनाम प्रयोग किया गया है। यह अशुद्ध है। 'वह' के स्थान पर 'वे' होना अपेक्षित था।

विराम चिह्नों के प्रयोग में यत्र-तत्र अशुद्धियाँ गुप्त जी द्वारा हुई हैं; जैसे—"तब सौ साल के बाद क्या हाल होगा।"[२] यहाँ प्रश्न सूचक चिह्न का लगाया जाना आवश्यक है, क्योंकि प्रश्नवाचक वाक्य है। इसी प्रकार—"पिछले पाँच साल से अधिक समय में श्रीमान् ने जो कुछ किया, उसमें भारतवासी इतना समझने लगे हैं कि श्रीमान् की रुचि कैसी है और कितनी बातों को पसंद करते हैं।"[३] इस वाक्य के बाद भी प्रश्नवाचक चिह्न अपेक्षित है। 'इधर उधर'[४], 'हिलते जुलते'[५], 'हक्का बक्का'[६] आदि शब्दों के बीच एक योजन-चिह्न आने की आवश्यकता है। कहीं-कहीं अनावश्यक अल्प-विराम का प्रयोग किया गया है। यथा—'जिस प्रकार कहा जाता है, कि काशी में—उसी प्रकार कहा जा सकता है, कि यदि—।"[७] यहाँ 'कहा जाता है' और कहा जा सकता है' के पीछे अल्प-विराम व्यर्थ है।

गुप्त जी ने एक स्थान पर 'जबान'[८] शब्द का प्रयोग किया है, तो दूसरे स्थान पर 'ज़ुबान'[९] और इसी से 'ज़ुबान दानो'[१०] भी बनाया है। एक ही शब्द को विविध प्रकार से लिखना अनुचित है। व्याकरण की दृष्टि से वह चाहे ठीक हो पर भाषा को टकसाली रूप देने में इस प्रकार के प्रयोग से बाधा उपस्थिति होती है। गुप्त जी ने यत्र-तत्र ग्रामीण बोल-चाल के साधारण शब्दों का व्यवहार भी किया है, जिनका प्रयोग सौम्य प्रतीत नहीं होता।

१—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, एक दुराशा, पृ० २०८।
२— वही , भाषा की अनस्थिरता, पृ० ४४०।
३— वही , श्रीमान का स्वागत, पृ० १८३।
४-५— वही , एक दुराशा, पृ० २०६।
६— वही , मार्ली साहब के नाम, पृ० २२९।
७— वही , बाबू रामदीन सिंह, पृ० ३०।
८— वही , शाइस्ता खाँ का खत (२) पृ० २४८।
९— वही , वही (१), पृ० २३९।
१०— वही , भाषा की अनस्थिरता, पृ० ४४०।

उदाहरणार्थ 'अटरम-सटरम'[१], 'अन्ट-सन्ट'[२], 'अल्ल-बल्ल'[३], 'गड्ड-मड्ड'[४], 'दण्ड-मुण्ड'[५] आदि। इसके अतिरिक्त आपने 'खराद', 'ईसवी', 'पूर्ववर्ती' और 'त्यौहार' आदि शब्दों के स्थान पर 'खैराद'[६], 'ईस्वी'[७] 'पूर्व्ववर्ती'[८] तथा 'त्यौवहार'[९] भी लिखा है, जो अशुद्ध है।

गुप्त जी ने कहीं-कहीं 'और' शब्द का प्रयोग भी अनावश्यक स्थान पर किया है; जैसे—"......आपके बाद जो वैसराय आपके राज सिंहासन पर बैठे उसे शौकीनी और खेल-तमाशे के सिवा दिन में और नाच, बाल या निद्रा के सिवा रात को कुछ करना न पड़ेगा।"[१०] इस वाक्य में 'दिन में' के पश्चात् आने वाला 'और' व्यर्थ है। इसके प्रयोग से अर्थ अस्पष्ट हो गया है। इसी प्रकार 'जो' शब्द का प्रयोग भी आप बिना समझे कर गए हैं। जैसे—"उसकी आड़ में आप जो चाहे जितनी मजबूत दीवारों की कल्पना कर सकते हैं।"[११] इस वाक्य में 'जो' शब्द निरर्थक है, इसका कोई विशेष अर्थ नहीं। यदि 'जी' होता, तो ठीक भी था। फिर 'जी चाहे' बनकर विशेष अर्थ का द्योतक बन जाता। गुप्त जी ने पूर्व चाल पर 'तिस पर'[१२] तथा 'पिन्हाते'[१३] आदि शब्दों का प्रयोग भी किया है। उनकी रचना में 'तिलांजलि', 'जजिया', 'बन्दे मातरम्' आदि शब्दों के स्थान पर 'जलांजलि'[१४], 'जिजिया'[१५] और

१—गुप्त निबन्धावली प्रथम भाग, हिन्दी में आलोचना, पृ० ४६८।
२— वही, पृ० ५०८।
३— वही, पृ० ५२०।
४— वही, पृ० ४३७।
५— वही, एक दुराशा, पृ० २०६।
६— वही, भाषा का अनस्थिरता, पृ० ४४१।
७— वही, पृ० ४४०।
८— वही, लार्ड मिन्टो का स्वागत, पृ० २२३।
९— भारत मित्र, २ मार्च सन् १९०१ ई०।
१०—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग वैसराय का कर्तव्य, पृ० १८९।
११— वही, पृ० १९०।
१२— वही, साहित्याचार्य पं० अम्बिकादत्त व्यास, पृ० २१।
१३— वही, पृ० २२।
१४— वही, विदाई सम्भाषण, पृ० २१३।
१५— वही, शाइस्ता खाँ का खत (१), पृ० २४२।

बन्दये मातरम्'[1] आदि का प्रयोग पाया जाता है। गुप्त जी की भाषा में किसी-किसी स्थान पर वाक्य में शब्द-योजना भी त्रुटिपूर्ण पाई जाती है, जैसे—'कभी-कभी ठीक नाड़ी पर काटता है, तो साँप का दांत नाड़ी को भेद कर शरीर में चला जाता है। ऐसी अवस्था में विष जल्द नाड़ी में घुसकर आदमी मर जाता है।"[2] प्रथम वाक्य में 'कभी-कभी' के स्थान पर 'जब कभी' होता तो इस वाक्य के उत्तरार्द्ध में आने वाले शब्द 'तो', जो संकेत वाचक अव्यय का कार्य करता है, के साथ ठीक सम्बन्ध स्थापित हो जाता और फिर अर्थ-बोध में सुगमता आ जाती। इसी प्रकार दूसरे वाक्य में भी शिथिलता है। यदि इस वाक्य को इस प्रकार लिखा जाता—'ऐसी अवस्था में विष जल्द नाड़ी में प्रवेश कर जाता है और आदमी मर जाता है', तो अधिक उपयुक्त होता। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि गुप्त जी उच्च कोटि के हिन्दी-लेखक होते हुए भी कहीं-कहीं भाषा विषयक भूलें कर जाया करते थे। पर अन्य लेखकों की अपेक्षा उनकी भूलें सामान्य हैं।

व्याकरण विषयक वे भूलें जिनके आधार पर गुप्त जी ने द्विवेदी जी की आलोचना की है :—गुप्त जी हिन्दी भाषा के कुशल शिल्पी और महान् कलाकार थे। उन्होंने पं० महावीर द्विवेदी जी की व्याकरण सम्बन्धी भूलों को लेकर उनकी आलोचनाएँ लिखीं। भाषा को प्रांजल और परिमार्जित बनाने के लिए यह अपेक्षित भी था। द्विवेदी जी ने स्वयं इस ओर पर्याप्त प्रगति की थीं, जिसका उल्लेख पीछे किया जा चुका है। किन्तु जो अशुद्धियाँ स्वयं द्विवेदी जी से होतीं थीं, उनका संस्कार होना भी अपेक्षित था। एतदर्थ गुप्त जी ने प्रधानतः द्विवेदी जी की भाषा-विषयक भूलों को लेकर आलोचनाएँ लिखीं थीं। गुप्त जी ने द्विवेदी जी के लेखों की आलोचनाएँ जिन दृष्टियों से कीं थीं, उन्हें सुविधा के लिए इस प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है—(अ) शब्दों का शुद्ध प्रयोग, (आ) शब्दों का शुद्ध रूप, (इ) वाक्य-रचनाएँ तथा (ई) मुहावरे। यहाँ संक्षेप में इन्हीं पर विचार किया जा रहा है।

(अ) शब्दों का शुद्ध प्रयोग, से तात्पर्य उन शब्दों से है जिनका प्रयोग द्विवेदी जी ने अपनी रचनाओं में शुद्ध नहीं किया है अथवा यों कहिए कि जो द्विवेदी जी के लेखों में अशुद्ध रूप में प्रयुक्त हुए हैं। उदाहरणार्थ—एक स्थान

१—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, शाइस्ता खाँ का खत (१) पृ० २४२
२— वही, सर्पाघात चिकित्सा, पृ० ३१।

पर द्विवेदी जी ने लिखा है—"मनुष्य और पशु-पक्षी आदि की उम्र देश, काल, अवस्था और शरीर-बन्धन के अनुसार जुदा-जुदा होती है।"[१] इस वाक्य में गुप्त जी ने 'उम्र' और 'जुदा-जुदा' के प्रयोग पर आपत्ति की है। उनके मतानुसार 'उम्र' के स्थान पर 'उम्रें' और 'जुदा-जुदा' के स्थान पर 'न्यूनाधिक' शब्द का प्रयोग होना चाहिए था। क्योंकि उम्रें जुदा-जुदा नहीं होती, कम या अधिक होती हैं; जिसके लिए 'न्यूनाधिक' शब्द ही अधिक उपयुक्त है। दूसरे स्थान पर द्विवेदी जी ने लिखा था—"नया-नया साहित्य हमेशा उत्पन्न हुआ करता है।"[२] यहाँ गुप्त जी को 'नया' शब्द के दो बार प्रयोग पर आपत्ति है। उनके मत से यह प्रयोग उचित नहीं है। उनकी दृष्टि से 'नया साहित्य हमेशा उत्पन्न हुआ करता है' अथवा 'नित्य नया साहित्य उत्पन्न हुआ करता है', लिखना अधिक समीचीन है। उक्त वाक्य में गुप्त जी के इस संशोधन से सरसता और प्रवाह आ गया है। एक अन्य स्थान पर द्विवेदी जी ने लिखा था—"किसी भी व्याकरण के नियम……"[३]। यहाँ गुप्त जी 'किसी' शब्द के साथ 'भी' का प्रयोग आवश्यकता से अधिक मानते हैं। उनका मत है कि 'किसी' शब्द में 'भी' तो स्वतः वर्तमान रहता है, फिर अनपेक्षित शब्द का प्रयोग क्यों किया जाय? चौथे स्थान पर द्विवेदी जी ने लिखा है—"भाषा को स्थिरता आ जाती है।"[४] यहाँ गुप्त जी 'भाषा को' शब्द के प्रयोग पर विरोध प्रदर्शित करते हैं; उनकी धारणा है कि 'भाषा को' के स्थान पर 'भाषा में' होना चाहिए। उनके विचार से 'स्थिरता कुछ नींद नहीं है, जो भाषा को आवे।"[५] द्विवेदी जी ने लिखा था—"लिखने की भाषा अधिक दिनों तक एक रूप में रहती है। बोलने की भाषा में बहुत शीघ्र-शीघ्र फेरफार होते रहते हैं। इसलिए कथित भाषा चिरकाल तक एक रूप में नहीं रहती।"[६] यहाँ पर गुप्त जी कहते हैं कि 'कथित भाषा' शब्द का प्रयोग अनावश्यक है; इसके स्थान पर 'वह' सर्वनाम ही आना चाहिए। गुप्त जी की धारणा सत्य है, संज्ञा के प्रयोग की पुनरावृत्ति से बचने के लिए सर्वनाम

१—सरस्वती, भाग ६, संख्या ११, भाषा और व्याकरण, ४२४।
२— वही, पृ० ४२५।
३— वही, पृ० वही।
४— वही, पृ० वही।
५—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, भाषा की अनस्थिरता, पृ० ४३८।
६—सरस्वती, भाग ६, संख्या ११ पृ० ४२५।

का प्रयोग होता है। द्विवेदी जी द्वारा प्रयुक्त 'परन्तु' शब्द पर भी आपने टिप्पणी की है। द्विवेदी जी ने लिखा था—"पुरानी भाषाओं के भी जानने वाले हुआ करते हैं। परन्तु बहुत थोड़े।"[1] गुप्त जी का कथन है कि यहाँ केवल 'पर' शब्द ही उचित अर्थ का द्योतक है 'न्तु' अनपेक्षित है। 'नियमन' शब्द का प्रयोग भी गुप्त जी को खटकता था; द्विवेदी जी ने लिखा था—"व्याकरण का नियमन भाषा की उन्नति का प्रतिवन्धक अवश्य है।"[2] 'नियमन' का अर्थ शासन होता अवश्य है, पर इसका प्रयोग प्रवाह प्राप्त नहीं। इसके स्थान पर 'शासन' शब्द का प्रयोग होता तो गुप्त जी को नहीं अखरता अथवा केवल 'व्याकरण' का प्रयोग होता तो भी समुचित अर्थ की अभिव्यक्ति हो जाती। एक स्थान पर द्विवेदी जी ने लिखा था—"जिस अखबार को उठाइये, जिस पुस्तक को उठाइये, सब की वाक्य रचना में आपको भेद मिलेगा।"[3] इस वाक्य में 'सबकी' शब्द पर गुप्त जी टिप्पणी करते हैं "सबकी कहना था तो 'जिस' को ताक में रहने दिया होता।"[4] उनके मत से 'सबकी' का प्रयोग गलत है, इसके स्थान पर 'उसी की' होना चाहिए था। राजा शिवप्रसाद सितारे हिंद ने उर्दू के 'हरदेश' या 'हर मुल्क' का अनुवाद 'सब-देश' करके प्रयोग किया था। द्विवेदी जी ने इसके लिये राजा साहब की आलोचना की थी और इस प्रयोग को उनकी भूल माना था।[5] पीछे राजा साहब की भाँति 'हरेक' शब्द का अनुवाद 'सबकी' करके द्विवेदी जी ने प्रयोग किया जिसकी त्रुटि का उद्घाटन गुप्त जी ने किया है। एक अन्य स्थान पर द्विवेदी जी ने लिखा था—"सम्भव है, बाबू हरिश्चन्द्र ने इस वाक्य को ठीक लिखा हो"[6]। गुप्त जी का मत है कि इस वाक्यांश में 'इस वाक्य को' शब्द समूह का प्रयोग अशुद्ध है। इसके स्थान पर 'यह वाक्य' शब्द-समूह का प्रयोग करना चाहिए था। 'वाक्य' शब्द के आदि में 'इस' और अन्त में 'को' के संयोग से भाषा में कुछ लचरपन सा आ जाता है। इसी प्रकार द्विवेदी जी द्वारा प्रयुक्त 'जीव' और 'सदोषता' शब्दों के प्रयोग पर भी गुप्त जी ने आपत्ति प्रदर्शित की थी।

१—सरस्वती, भाग ६, सं० ११, पृ० ४२६।
२— वही , पृ० वही।
३— वही , पृ० ४२७।
४—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, भाषा की अनस्थिरता, पृ० ४५०।
५—सरस्वती, भाग ६, सं० ११, भाषा और व्याकरण
६— वही , पृ० ४२७।

वे इन दोनों शब्दों के प्रयोग को अशुद्ध मानते थे। आचार्य द्विवेदी जी का प्रयोग यह था---"मुहाविरा ही भाषा का जीव है।"[१] 'जीव' का अर्थ 'प्राण' और 'प्राणधारी' दोनों ही होता है। यहाँ यह शब्द प्रयुक्त हुआ है 'प्राण' या 'जीवन' के अर्थ में। अतः गुप्त जी का मत था 'जीव' का प्रयोग न करके स्पष्ट अर्थ-बोध की दृष्टि से 'जीवन' का प्रयोग अधिक समीचीन था। दूसरे शब्द का प्रयोग इस प्रकार था---"उनकी सदोषता जाती रहती।"[२] इस शब्द के प्रयोग में गुप्त जी को आपत्ति यह है कि 'दोष' शब्द पर इतनी कवायद क्यों कराई गई? पहले इसमें 'स' उपसर्ग जोड़कर 'सदोष' बनाया और फिर 'ता' जोड़कर भाव-वाचक संज्ञा। इस परिश्रम के उपरान्त भी एक प्रवाहहीन शब्द बना। इसके स्थान पर यदि 'उनका दोष जाता रहता',[३] लिखते तो अच्छा था।

(आ) शब्दों का शुद्ध रूप---द्विवेदी जी द्वारा प्रयुक्त शब्दों के रूप को लेकर भी गुप्त जी ने उनकी आलोचना की है। द्विवेदी जी ने अपने 'भाषा और व्याकरण' वाले लेख में कुछ ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है, जिनका रूप अशुद्ध है और जिनको आचार्य द्विवेदी ने शुद्ध मानकर प्रयोग किया है। गुप्त जी ने स्पष्ट रूप से द्विवेदी जी की इन भूलों का उल्लेख किया है। द्विवेदी जी 'हमें', 'जिन्हें', 'सकें', 'करें', 'बातें', 'दोनों', 'बिजली', 'बनावेगा' 'बनेगा', आदि शब्दों को अशुद्ध लिखते थे, जिनका उल्लेख प्रस्तुत अध्याय के 'द्विवेदी जी द्वारा की गई भूलें' नामक शीर्षक में किया जा चुका है। गुप्त जी ने द्विवेदी जी की इन भूलों की कड़ी आलोचना की है। उनके लिये द्विवेदी जी पर व्यंग्य के तीव्र प्रहार किए हैं। इसके अतिरिक्त द्विवेदी जी ने लिखा था--"इससे क्या हुआ है कि भाषा को अनस्थिरता प्राप्त हो गई है।"[४] 'अनस्थिरता' शब्द को लेकर ही भाषा सुधार का आन्दोलन प्रारम्भ हुआ था। शब्द है---मुहावरा, जिसको आवश्यकतानुसार द्विवेदी जी ने 'मुहाविरा'[५], 'मुहाविरे'[६] और 'मुहाविरों'[७] लिखा है। गुप्त जी ने इस शब्द के शुद्ध रूप का

१---सरस्वती, भाग ६, सं० ११, पृ० ४२६।
२--- वही , पृ० ४३२।
३---गुप्त निबंधावली प्रथम भाग, पृ० ४७८।
४---सरस्वती भाग ६, संख्या ११, पृ० ४२५।
५---वाग्विलास, पृ० ८६।
६---सरस्वती, भाग ६, संख्या ११, पृ० ४२६।
७---वाग्विलास, पृ० १२२।

उल्लेख करते हुए लिखा था—"अजी महाराज ! मुहाविरा व्याकरण विरुद्ध कैसे होता है। किसी से इस कमबखत शब्द के मानी तो पूछ लीजिये।"[१] इसी शब्द पर टिप्पणी करते हुए गुप्त जी ने दूसरे स्थान पर लिखा था—"पहले तो आप किसी से यह पूछिये कि त्रुटियों को 'मुहाविरा' कैसे समझा करते हैं। फिर यह पूछिये कि 'मुहाविरा' शब्द का ठीक उच्चारण और अर्थ क्या है। जब तक आपको इस शब्द के अर्थ का ज्ञान हो जाय, जब तक आपको इस शब्द के अर्थ का ज्ञान हो जाय, तब तक इसका नाम लेकर अपनी हँसी मत कराइये।"[२] स्पष्ट है कि द्विवेदी जी को इस शब्द का शुद्ध प्रयोग सिखाने वाले गुप्त जी ही थे। द्विवेदी जी ने एक स्थान पर 'मुहाविरे' शब्द के लिए, 'मुहाविरा' का प्रयोग भी किया है। उदाहरणार्थ—"हम मुहाविरा के खिलाफ़ नहीं। मुहाविरा ही भाषा का जीव है।"[३] यहाँ पर पहले 'मुहाविरा' शब्द का प्रयोग गलत है; इस स्थान पर 'मुहाविरे' होना चाहिए था। गुप्त जी ने इस अशुद्ध प्रयोग की ओर संकेत किया है।[४]

द्विवेदी जी द्वारा प्रयुक्त 'नश्वर शरीर' और 'कीर्तिकलाप' शब्दों पर भी गुप्त जी ने टिप्पणी की थी। द्विवेदी जी का वाक्य इस प्रकार था—'लिखित भाषा ही में ग्रंथकार अपने कीर्तिकलाप को रखकर अपना नश्वर शरीर छोड़ जाते हैं।"[५] 'नश्वर शरीर' के विषय में गुप्त जी का मत था कि ग्रन्थकार अनेक हैं। अतः उनके शरीर भी अनेक होने चाहिए, फिर क्या कारण है कि वे एक शरीर छोड़ जाते हैं। तात्पर्य यह है कि 'शरीर' के स्थान पर 'शरीरों' चाहते थे और 'कीर्तिकलाप' में 'कलाप' को अनपेक्षित मानते थे। उनका मत था कि केवल 'कीर्त्ति' शब्द उपयुक्त है। इसी भाँति द्विवेदी जी के तीन वाक्य और हैं जिनमें आए हुए शब्दों की आलोचना गुप्त जी ने की है। वे इस प्रकार हैं—"पुरानी भाषाओं के भी जानने वाले हुआ करते हैं।"[६] "रासो की भाषा को आप देखिये। उसमें कितने अपरिचित शब्द भरे हुए हैं। छः सात सौ वर्ष में तो यह दशा है; हजार दो हजार वर्ष में यदि भाषा की वर्तमान

१—गुप्त निबंधावली, प्रथम भाग, भाषा की अनस्थिरता, पृ० ४४६।
२— वही , पृ० ४६६।
३—सरस्वती, भाग ६, संख्या ११, पृ० ४२६।
४—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, भाषा की अनस्थिरता, पृ० ४६६।
५—सरस्वती, भाग ६, संख्या ११, पृ० ४२६।
६— वही , पृ० वही।

स्थिति ज्यों की त्यों बनी रही, तो रासो बिल्कुल समझ में न आवैगा।"[१] पहिले वाक्य के 'हुआ करते हैं' वाक्यांश के स्थान पर गुप्त जी 'होते हैं, शब्द-समूह का प्रयोग कराना चाहते थे। 'होते हैं' के प्रयोग से वाक्य की प्रेषणीयता अधिक बढ़ जाती है। दूसरे वाक्य में प्रथम शब्द-समूह है 'हजार दो हजार वर्ष में, ; दूसरा है, 'बनी रही' तथा तीसरा है 'आवैगा' जिसके प्रयोग पर गुप्त जी ने आपत्ति की है। उनका संशोधन इस प्रकार है—'हजार दो हजार वर्ष में' के स्थान पर 'हजार दो हजार वर्ष तक' होना चाहिए, 'बनी रही' के स्थान पर 'बनी रहे' और 'आवैगा' के स्थान पर 'आयेगा' होना चाहिए। द्विवेदी जी ने एक स्थान पर 'अनस्थिरता' की भाँति 'अनस्थिर' शब्द का भी प्रयोग किया है, आपने लिखा था—"इसी से हिन्दी की दशा अनस्थिर हो रही है।"[२] गुप्त जी ने इस पर टिप्पणी की थी—"यह अनस्थिर अनस्थिरता का बड़ा भाई है।"[३] तात्पर्य है जिस प्रकार 'अनस्थिरता' व्याकरण-विरुद्ध और प्रवाह हीन था, उसी प्रकार 'अनस्थिर' शब्द भी अशुद्ध है। ऐसे अशुद्ध प्रयोगों के लिए गुप्त जी ने द्विवेदी जी की आलोचना निर्भीकता पूर्वक की थी।

शब्दों के शुद्ध रूप और उनके शुद्ध प्रयोग के अतिरिक्त गुप्त जी ने द्विवेदी जी की वाक्य-रचना को लेकर भी आलोचना की है। द्विवेदी जी के वाक्य कहीं-कहीं शिथिल और अपेक्षाकृत अधिक लम्बे हो जाते थे। गुप्त जी ने उनकी शिथिलता का परिहार करते हुए उन्हें लघु रूप दिया और अर्थ-बोध की शक्ति को उन्नत कर दिया। उदाहरणार्थ—"शब्द समूह का नाम भाषा है। शब्दों के उत्पन्न होने के बाद व्याकरण उत्पन्न होता है। पहले शब्द तब अनुशासन, पहले साहित्य तब व्याकरण।"[४] द्विवेदी जी के इस चार छोटे-छोटे वाक्य और लगभग २१ शब्दों के संयुक्त वाक्य को गुप्त जी ने तीन लघु वाक्यों वाला तथा सत्रह शब्दों का वाक्य बना दिया है। इस प्रकार यह परिणति अर्थ-बोध के लिए अवरोध न बनकर सहायक बन गई है। गुप्त जी का संशोधन इस प्रकार है—"शब्दों के समूह का नाम भाषा है। पहले शब्द उत्पन्न होते हैं पीछे व्याकरण। व्याकरण शब्दों का अनुशासन करता है।"[५] गुप्त जी का

१—सरस्वती, भाग ६, संख्या ११, पृ० ४२६।

२— वही , पृ० ४२७।

३—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, भाषा की अनस्थिरता, पृ० ४५०।

४—सरस्वती भाग ६, संख्या ११, पृ० ४२४।

५—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, भाषा की अनस्थिरता, पृ० ४३६।

यह संशोधन उपयुक्त है। द्विवेदी जी का एक दूसरा वाक्य था—"मन में जो भाव उदित होते हैं, वे भाषा की सहायता से दूसरों पर प्रकट किये जाते हैं।"[१] गुप्त जी को इस वाक्य के उत्तरांश पर आपत्ति है कि "भाषा की सहायता से मन के भाव दूसरों पर प्रगट किये जाते हैं या भाषा से ? आप टाँगों की सहायता से चलते हैं या टाँगों से ? आँखों की सहायता से देखते हैं या आँखों से ?[२] गुप्त जी का उद्देश्य यह था कि 'सहायता' शब्द का प्रयोग अशुद्ध एवं अनावश्यक है, केवल 'भाषा से' कहने पर वांछित अर्थ का द्योतन हो जाता है। इसी आधार पर इस वाक्य को आपने इस प्रकार शुद्ध कर लिखा था—"मन में जो भाव उठते हैं, वह भाषा से दूसरों को सुना दिये जाते हैं।" अथवा "मन की बात बोलकर दूसरों को जना दी जाती है।"[३] गुप्त जी का दृष्टिकोण भाषा को अपेक्षाकृत सरल और सुबोध बनाने की ओर रहा है। द्विवेदी जी के गुंम्फित वाक्यों को वे सरलता के साथ सामान्य और प्रेषणीय बना देते हैं। एक स्थान पर द्विवेदी जी ने लिखा था—"बहुत से वाक्यों को न समझ सकें।"[४] गुप्त जी को इस वाक्य में 'को' शब्द आवश्यकता से अधिक लगा ; अतः आपने परामर्श दिया कि उक्त वाक्यांश को "बहुत से वाक्य न समझ सकें।"[५] लिखना चाहिए। द्विवेदी जी की प्रवृत्ति का झुकान विस्तार पूर्वक बात कहने और लिखने की ओर था। उदाहरण के लिए—"लिखने और बोलने की भाषा में कुछ भेद होता है। लिखने की भाषा थोड़ी बहुत अस्वाभाविक होती है और लेखक के प्रयत्न और परिश्रम से सिद्ध होती है, पर बोलने की भाषा स्वाभाविक होती है। उसके प्रकाशन में किसी तरह की चेष्टा नहीं दरकार होगी।"[६] इस वाक्य की शिथिलता दूर करते हुए गुप्त जी ने इसका संस्कार इस प्रकार उपस्थित किया था—"लिखने की भाषा कुछ बनावटी होती है और बोलने की सीधी बे बनावटी। लिखने की भाषा में लेखक को कुछ चतुराई और सावधानी से काम लेना पड़ता है, पर बोलने की

१—सरस्वती, भाग ६, संख्या ११, पृ० ४२४।

२—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, भाषा की अनस्थिरता, पृ० ४३६।

३—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, भाषा की अनस्थिरता, पृ० ४३६–४३७।

४—सरस्वती, भाग ६, सं० ११, पृ० ४२५।

५—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, भाषा की अनस्थिरता, पृ० ४४१।

६—सरस्वती, भाग ६, सं० ११, पृ० ४२५।

भाषा में कुछ नहीं करना पड़ता।"[१] गुप्त जी ने इन पंक्तियों में वह बात बड़ी सरलता के साथ अभिव्यक्त करदी है, जिसके लिये द्विवेदी जी ने महान् परिश्रम किया है और हेर-फेर के साथ जिसकी अभिव्यंजना की है।

आचार्य द्विवेदी जी ने भारतेंदु युगीन लेखकों की भाषा में जो संशोधन किया है, उसे तथा उस संशोधन के गुप्त जी द्वारा किए हुए संस्कार का अध्ययन करने से दोनों के भाषा-संस्कार की क्षमता और गुरुता का ज्ञान होता है। द्विवेदी जी ने उनकी त्रुटियों का परिहार करने के लिये बाह्य शब्दों का समावेश किया है और गुप्त जी ने भर्ती के शब्दों को पृथक् करके अभिलषित अर्थ की अभिव्यक्ति के योग्य वाक्यों को बना दिया है। गुप्त जी ने द्विवेदी जी के संशोधन की इस प्रवृत्ति की आलोचना की है। उदाहरण के लिये भारतेंदु का वाक्य और द्विवेदी जी का संशोधन इस प्रकार है—"मेरी बनाई वा अनुवादित वा संग्रह की हुई पुस्तकों को श्री बाबू रामदीन सिंह 'खड्गविलास' के स्वामी का कुल अधिकार है और किसी को अधिकार नहीं कि छापै।" द्विवेदी जी ने इस वाक्य के संशोधन के लिये 'पुस्तकों को' के आगे 'छापने का' और 'छापे' शब्द से पूर्व 'पुस्तकों' संज्ञा के लिये 'उन्हें' या 'उनको' सर्वनाम शब्द जोड़ने का परामर्श दिया है।[२] इस तरह उक्त वाक्य को कुछ अन्य शब्द जोड़ कर अर्थ-बोध के उपयुक्त बनाया है पर गुप्त जी का मत कुछ अन्य है। वे इस वाक्य में छापे की एक साधारण भूल मानते हैं। उनका मत है—'ऊपर के वाक्य में छापे खाने की भूल ने पहले तो 'का' के स्थान पर 'को' बना दिया है, पीछे 'को' की जगह 'का' जोड़ दिया है, शुद्ध वाक्य इस प्रकार था—"मेरी बनाई वा अनुवादित वा संग्रह की हुई पुस्तकों का श्री बाबू रामदीन सिंह 'खड्गविलास' के स्वामी को कुल अधिकार है।"[३] गुप्त जी का संशोधन महत्त्व-पूर्ण है। वे संशोधन को अनावश्यक रूप से बढ़ाने के विपक्ष में थे। इसी प्रकार गजाधर सिंह के—'यंत्रालयाध्यक्ष महाशय की इस पर ऐसी कृपा हुई कि आज एक वर्ष में छाप कर अब आप लोगों के हस्तगत होने के योग्य किया है।' इस वाक्य का संशोधन द्विवेदी जी ने अपनी प्रवृत्ति के अनुकूल किया है और गुप्त जी ने उसकी आलोचना की है। उक्त वाक्य को ठीक करने के लिये द्विवेदी जी पहले तो 'छापकर' अथवा 'किया है' के पूर्व 'इसे' या 'इसको'

१—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, भाषा की अनस्थिरता, पृ० ४४२।
२—सरस्वती भाग ६, संख्या ११, भाषा और व्याकरण, पृ० ४२७।
३—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, भाषा की अनस्थिरता, पृ० ४५३।

जोड़ना चाहते हैं ; फिर 'किया है' क्रिया का कर्म और सकर्मक क्रिया के कर्त्ता की विभक्ति 'ने' लाने की अनिवार्यता बताते हैं। तत्पश्चात् 'कृपा हुई' के अनन्तर कहीं पर 'आपने' या 'उन्होंने' जोड़ने की आवश्यकता घोषित करते हैं। अथवा इस वाक्य को दो भागों में विभक्त करके और 'किया है' क्रिया के लिये 'ने' विभक्ति से संयुक्त कर्त्ता लाकर लिख देने का परामर्श देते हैं।[१] इतने बौद्धिक व्यायाम के पश्चात यह वाक्य परिमार्जित होगा। दूसरी ओर गुप्त जी का मत है—"इस इबारत में 'आज' और 'अब' दो शब्द हैं। इनमें एक अधिक है। चाहें 'अब' को निकाल दीजिये चाहे 'आज' को, इबारत ठीक हो जायगी।"[२] यह गुप्त जी का संशोधन है। वे मानते थे कि इन दोनों शब्दों में से एक असावधानी के कारण जुड़ गया है। दोनों का अर्थ भी एक ही है, अत: किसी के निकाल देने पर अर्थविपर्यय भी न होगा और वाक्य भी शुद्ध बन जायेगा।

एक दूसरे स्थान पर द्विवेदी जी ने दो वाक्य लिखे हैं, उनकी लचक भी गुप्त जी ने दूर की है। द्विवेदी जी के वाक्य हैं--"यदि वे सब मुहाविरा समझ लीं जायंगी तो मुहाविरा की परिभाषा के बाहर शायद एक भी त्रुटि न रह जाय। सभी उसमें आ जायंगी।"[३] इन दो वाक्यों में, गुप्त जी का कथन है कि 'वे' शब्द ग्रामीण है। अच्छे लेखक इसका प्रयोग नहीं करते; 'मुहाविरा' अशुद्ध लिखा है। 'मुहाविरा की परिभाषा' के स्थान पर 'मुहाविरे की परिभाषा' लिखा जाना अपेक्षित है। 'समझ ली जायंगी' के साथ 'रह जाय' का प्रयोग कानों को खटकता है। या तो पहले 'गी' शब्द नहीं आना चाहिए, अगर उसका प्रयोग होता है तो पीछे भी एक 'गी' और जोड़ देना चाहिए।[४] गुप्त जी का 'वे' को ग्रामीण शब्द कह कर इसके स्थान पर 'वह' का प्रयोग करना उचित नहीं है। क्योंकि 'वह' एकवचन और 'वे' बहुवचन है। द्विवेदी जी का यह प्रयोग व्याकरण सम्मत था। गुप्त जी ने यह संशोधन अभ्यास दोष के कारण किया है। वे स्वयं एकवचन और बहुवचन में केवल 'वह' प्रयोग करते थे। भाषा-सुधार का कार्य करते समय द्विवेदी जी ने कुछ ऐसे शुद्ध और व्याकरण सम्मत वाक्यों के निदर्शन उपस्थित किए जिनमें कर्तृपद लुप्त

१—सरस्वती भाग ६, संख्या ११, पृ० ४२८।

२—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, भाषा और व्याकरण, पृ० ४६३।

३—सरस्वती, भाग ६, संख्या ११, पृ० ४२९।

४—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, पृ० ४६९।

रहने से वाक्य में शोभा आ जाती है। वे वाक्य इस प्रकार हैं—(१) सुनते हैं राजपूताना में अकाल पड़ा है। (२) दामोदर देर मत करो हमें दफ्तर जाना है। (३) कानपुर से एक नया अख़बार निकला है। चल जाय तो है।[१] गुप्त जी इन वाक्यों को शुद्ध नहीं मानते। अतः उन्होंने द्विवेदी जी की वाक्य-रचना प्रणाली का संशोधन कर दिया है। उनके मत से उक्त तीनों वाक्यों में कुछ मोच है जिसके निकल जाने पर ही उनका रूप ठीक हो सकेगा। गुप्त जी द्वारा किया गया संशोधन इस प्रकार है—"(१) सुनते हैं राजपूताने में अकाल पड़ा है। (२) दामोदर देर मत करो, दफ्तर जाना है। (३) कानपुर से एक नया अख़बार निकला है। चल जाय तो अच्छा है।"[२] इसके अतिरिक्त द्विवेदी जी ने चार उदाहरण ऐसे वाक्यों के दिए हैं जो न कर्तृवाच्य हैं, न कर्मवाच्य; न भाववाच्य हैं और न कर्म कर्तृवाच्य। आपने संस्कृत के व्याकरण से उक्त चारों वाक्यों के लक्षण प्रस्तुत करके उनका परीक्षण किया और फिर उनका संशोधन। गुप्त जी ने द्विवेदी जी के संशोधन को अनावश्यक घोषित करते हुए अपना संशोधन प्रस्तुत किया है। ये चार वाक्य इस प्रकार हैं—(१) लाचार फौज की सहायता से गिरजा घेर लिया और उसको पकड़ कर कैद खाने में पहुँचाया गया। (२) एक स्त्री को सिखा पढ़ा कर उन स्त्रियों को भेद लेने के लिए भेजा गया। (३) लार्ड किचनर को प्रसन्न करने के लिए लार्ड कर्जन को वे इज्जत किया गया। (४) यदि मुझे वालंटीयर नहीं बनाया जायगा तो······मैं······अभियोग उपस्थित करूँगा। इन वाक्यों के संशोधन में द्विवेदी जी का मत है कि पहले वाक्य के दो भाग हैं, पहले भाग का वाच्य एक प्रकार का है और दूसरे का अन्य प्रकार का। अतः 'गिरजा घेर लिया' के स्थान पर यदि 'गिरजा घेर लिया गया' कर दिया जाय तो यह व्याकरण सम्मत बन सकता है, अथवा उसका वाच्य भी उत्तरार्द्ध के वाच्य की भाँति कर दिया जाय तो पूरा वाक्य एकसा हो जाय। इसी प्रकार अन्य वाक्यों के संशोधन का परामर्श देकर उनका रूप आप इस प्रकार चाहते हैं—"(१)··· वह पकड़ कर कैद खाने में पहुँचाई गई। (२) एक स्त्री······भेद लेने के लिए भेजी गई, (३)······लार्ड कर्जन वे इज्जत किये गए। (४) यदि मैं वालंटी-यर न बनाया जाऊँगा······।"[३] गुप्त जी का मत था कि यदि चारों वाक्यों

१—सरस्वती, भाग ६, संख्या ११, पृ० ४३१।

२—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, भाषा की अनस्थिरता, पृष्ठ ४७६।

३—सरस्वती, भाग ६, संख्या ११, पृष्ठ ४३२।

में से एक 'को' शब्द पृथक कर दिया जाय, तो कर्त्ता के अनुसार क्रिया रह जायगी। इस अवस्था में वाक्य अपने आप ठीक हो जाते हैं। उनके अनुसार 'को' का अनावश्यक जुड़ना वाक्यों के रूप को बिगाड़ता है। द्विवेदी जी प्रायः वाक्यों में 'को' शब्द जोड़ दिया करते थे, उन्होंने लिखा था—"......इस प्रकार के प्रयोगों को हमने उर्दू वालों से सीखा है।"[१] गुप्त जी ने द्विवेदी जी के प्रस्तुत वाक्य को अशुद्ध प्रमाणित किया और आपने उसका संशोधन करके इस प्रकार कर दिया था—"इस तरह के प्रयोग हमने उर्दू वालों से सीखे हैं।" गुप्त जी का संशोधन महत्त्वपूर्ण है। अनावश्यक और भरती के शब्दों को पृथक कर देना उनके संशोधन की विशेषता है। एक बार श्याम सुन्दरदास जी के चित्र के नीचे सरस्वती में छपा था—"मातृ भाषा के प्रचारक विमल बी० ए० पास।" गुप्त जी ने तुरन्त पूछ डाला—"विमल बी० ए० पास, कौनसी परीक्षा का नाम है।"[२] यथार्थ में डिग्री लिखते समय 'पास' शब्द नहीं लिखा जाता। गुप्त जी का अभिप्राय इस त्रुटि का संशोधन करना था।

(ई) द्विवेदी जी द्वारा प्रयुक्त वाक्यों तथा उनके अन्तर्गत आए मुहावरों का संशोधन भी गुप्त जी ने किया था। द्विवेदी जी ने लिखा था—"हिन्दी पठित समाज इस पत्रिका पर कृपा बनाए रहेंगे और पूर्ण सहायता देंगे।" इस पर टिप्पणी करते हुए गुप्त जी ने लिखा था—"समाज" और "बनाये रहेंगे" कैसा?"[३] इसी प्रकार आगे लिखा था—"बनाया" का बहुवचन "बनाए"[४] लिखती है, 'सिफारिश की बाज़ार गर्म हुई लिखती है। पहुँची की

१—वाग्विलास, भाषा और व्याकरण (१), पृष्ठ ६८।

२—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, हिन्दी में आलोचना, पृ० ५२७।

३—भारत मित्र सन् १६०० ई०।

४—सरस्वती का 'बनाए' लिखना शुद्ध था। पर गुप्त जी 'गये' और 'चाहिये' की भाँति ही 'बनाये' भी शुद्ध मानते थे। कलकत्ता का उचित वक्ता और सारसुधानिधि पत्र भी इन शब्दों को इसी प्रकार लिखते थे। आगरे की नागरी प्रचारिणी सभा ने भी गयी, गये और चाहिए आदि रूप मान्य समझे थे। इसी आधार पर पं० जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल भी इन शब्दों को लिखते थे। इस विषय में अम्बिका प्रसाद वाजपेयी ने 'हिन्दी शब्दों के भिन्न रूप' नामक लेख में लिखा था—"इन दिनों बम्बई के श्री वेंकटेश्वर समाचार के सम्पादन का भार पं० जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल पर था। इन्होंने आरे की सभा के सिद्धान्त

की पहुंची लिखती है।' 'कवि वचन सुधा जो गवर्नमेंट लेती थी वह बन्द किया गया' कहती है। खिलाड़ी का स्त्री लिंग 'खिलवाड़िन' कैसी रीति है।[१]

भाषा सुधार के कार्य में गुप्त–द्विवेदी का तुलनात्मक मूल्यांकन—प्रस्तुत अध्याय में पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी तथा बाबू बालमुकुन्द गुप्त द्वारा किए गए भाषा-सुधार के कार्य पर प्रकाश डाला जा चुका है। इस विवेचन के आधार पर यह कहना अनुचित न होगा कि गुप्त जी का भी भाषा-सुधारक के रूप में लगभग वही स्थान है, जो द्विवेदी का था। दोनों के भाषा-परिमार्जन का तुलनात्मक अध्ययन इस विषय को और भी अधिक स्पष्ट बना देगा। द्विवेदी जी ने भारतेन्दु द्वारा प्रवर्तित हिन्दी को शुद्ध और परिमार्जित करके टकसाली रूप दिया था। इस बात को हिन्दी का प्रत्येक अध्येता मुक्त कण्ठ से स्वीकार करता है किन्तु उन्हें इस स्थान तक पहुँचाने का अधिकाँश श्रेय गुप्त जी को है। गुप्त जी ने द्विवेदी जी की भाषा-विषयक भूलों का उल्लेख करके तीव्र आलोचना न की होती, तो उन त्रुटियों के परिमार्जन की इतनी शीघ्र सम्भावना अल्प थी। कारण स्पष्ट है, उस समय द्विवेदी जी के प्रशंसक और अनुयायी अधिक, और निर्भीकता पूर्वक उनकी त्रुटियों का उल्लेख करने वाले कम थे। गुप्त जी ने उनकी भूलों को प्रकाश में लाकर, उनके परिमार्जन की आवश्यकता का ज्ञान कराया था। भारतेन्दु जी पेंतीस वर्ष की उम्र में दिवंगत हुए, तो गुप्त जी बयालीस वर्ष की। भारतेन्दु जी को कुल मिलाकर लगभग पन्द्रह वर्ष साहित्य सेवा के लिए मिलीं थीं, उनमें भी उनका ध्यान सृजन की ओर अधिक और उसके संस्कार की ओर कम था; तो गुप्त जी को केवल आठ वर्ष सृजन और संस्कार के लिए मिल पाये थे। जिन दिनों गुप्त जी 'भारत-मित्र' के सम्पादक रहे थे, उन्हीं दिनों उन्होंने साहित्यकार और भाषा-सुधारक का कार्य किया था। यदि उन्हें आचार्य द्विवेदी जी की भांति जीवन के तेंतीस स्वर्णिम वर्ष कार्य करने के लिए मिल पाते, तो निश्चय है कि वे भाषा-सुधार के कार्य को उत्कर्ष की चरमसीमा तक पहुँचा देते। उन्होंने अपने संक्षिप्त काल में ही भाषा का पूर्ण व्यावहारिक एवं सर्वमान्य रूप उपस्थित किया था। उन्होंने आठ वर्ष के समय में भाषा-परिशोधन का जो

के अनुसार उक्त पत्र में 'गयी' 'गये' 'चाहिए' आदि लिखना प्रारम्भ किया।' (पंचम हिन्दी साहित्य सम्मेलन, लखनऊ। कार्य क्रम दूसरा भाग) लेखमाला पृ० १०४।

१—भारत मित्र, सन् १९०० ई०।

कार्य किया, वह कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। उनकी भाषा-सुधार विषयक महत्ता इससे और भी बढ़ जाती है कि शब्दों के लिंग विषयक-विवादों में परवर्ती लेखकों ने गुप्त जी के प्रयोगों को आदर्श माना है। 'झंझट' शब्द के लिंग विषयक विवाद पर पं० जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी ने गुप्त जी के प्रयोग को प्रमाण्य माना था।[1]

द्विवेदी जी ने भारतेन्दु युगीन हिन्दी में पाई जाने वाली व्याकरण विषयक विविध भूलों का संस्कार किया, अपनी भाषा की भूलों को ठीक किया तथा भावी पीढ़ी के लेखकों की भूलों का परिष्कार किया था। दूसरी ओर गुप्त जी प्रारम्भ से ही सुन्दर हिन्दी लिखने वाले लेखक थे। उर्दू में उनकी लेखनी पहले ही परिष्कृत हो चुकी थी। हिन्दी में आते ही उन्होंने एक विशेष कला प्राप्त कर ली और उत्कृष्ट लेखक के रूप में प्रकट हुए। त्रुटियाँ भी कीं, पर नगण्य और सामान्य। उनकी भाषा विषयक त्रुटियों की अपेक्षा भाषा-सुधार के कार्य की गुरुता अधिक है। अस्तु, द्विवेदी जी तथा गुप्त जी दोनों ही भाषा-सुधारक के रूप में समादृत होते हैं। दोनों ने ही अपनी तथा अन्यों की भूलों का सुधार किया, किन्तु दोनों की सुधार-नीति की शैली में भेद था। द्विवेदी जी परिष्कार करने के लिए मूल अंश में बाहर से शब्द जोड़ने तथा मूल अंश को बढ़ा देने की प्रवृत्ति अपनाए हुए थे, तो गुप्त जी मूल वाक्य के अनावश्यक या अनपेक्षित शब्दों को पृथक् करके उसे सुगठित और सार्थक बना देते थे। तात्पर्य यह है कि द्विवेदी जी यदि अभिलषित अर्थ प्राप्त करने के लिए बाहरी शब्दों की सहायता लेते थे तो गुप्त जी काट-छाँट द्वारा ईप्सित अर्थ निकाल लिया करते थे। गुप्त जी वैयाकरणों के इस सिद्धान्त—'अर्द्ध मात्रा लाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः—' से पूर्णतः सहमत थे। उनके भाषा-सुधार की यह सर्व प्रथम विशेषता है कि उन्होंने भर्ती के शब्दों का बहिष्कार किया और मूल वाक्य के अस्त-व्यस्त शब्दों को उपयुक्त स्थान पर रखकर भाषा में प्रवाह पैदा कर दिया। इस दिशा में द्विवेदी जी उनकी समता नहीं कर पाए हैं। दूसरे द्विवेदी जी ने कहीं-कहीं छापे की भूलों को भी व्याकरण की त्रुटि मानकर सुधार की सक्रियता का द्योतन किया है पर गुप्त जी का ध्यान वाक्यों की शिथिलता तथा लचरपन के

१—नवम् हिन्दी साहित्य सम्मेलन, बम्बई। कार्य विवरण दूसरा भाग (लेखमाला) पृष्ठ ११०।

परिहार की ओर अधिक आकृष्ट हुआ था। यही उनके भाषा-सुधार का प्रमुख अंश है।

द्विवेदी जी वैयाकरण थे। भाषा के लिए व्याकरण की अनिवार्यता घोषित करते थे। व्याकरण के नियमानुसार शब्द-प्रयोग, वाक्य-विन्यास तथा वाक्य-रचना पर बल देते थे। उनका भाषा-सुधार व्याकरण के नियमों का अक्षरशः परिपालन मात्र है। दूसरी ओर गुप्त जी बोल-चाल, बामुहावरा, और प्रवाह पूर्ण भाषा का निर्माण करना भाषा-सुधार का अर्थ लगाते थे। उन्होंने द्विवेदी जी तथा उपाध्याय जी आदि लेखकों की भाषा का सुधार करके उसे बामुहावरा बनाया है। भाषा-संस्कार के समय वे प्रवाह और शैली की सजीवता की ओर अधिक सचेष्ट थे। उत्तम भाषा की कसौटी उन्होंने व्यावहारिक एवं प्रचलित शब्दावली को माना है। अप्रचलित एवं रूढ़िगत शब्द व्याकरण सम्मत होते हुए भी गुप्त जी की लेखनी से समादृत न हो सके। उनके भाषा-परिशोधन का रहस्य सार्वजनिक, प्रवाहपूर्ण, उर्दू की चुहलबाजी और सजीवता से परिपुष्ट भाषा-शैली को जन्म देना है; दूसरी ओर द्विवेदी जी ने शब्दों को व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध किया; खड़ी बोली को निश्चित रूप दिया; किन्तु डा० रामविलास शर्मा के शब्दों में "......इस संस्कार में भारतेन्दु युग की सजीवता भी बहुत कुछ नष्ट हो गई।"[१] इस सजीवता के अन्तर्गत भाषा का चलता रूप, हिन्दी की जातीय शैली और भाषा की व्यावहारिकता आदि गुण आते हैं जिनका अभाव द्विवेदी जी के भाषा-संस्कार द्वारा हो गया था। गुप्त जी का भाषा-सुधार इसका अपवाद है। द्विवेदी जी ने भाषा-संस्कार द्वारा भाषा को टकसाली अवश्य बनाया, शब्दों के प्रयोग में एकता स्थापित की और उनके रूप का निर्धारण किया। किन्तु वे गुप्त जी जैसी शैली का प्रवर्तन न कर सके। इसीलिए गुप्त जी ने द्विवेदी जी द्वारा संस्कार किए हुए वाक्यों का उपहास किया है और उन्हें पुनः परिष्कृत करके चलती भाषा के निदर्शन रूप में उपस्थित किया है। इस दृष्टि से भाषा-सुधार के क्षेत्र में गुप्त जी का स्थान बहुत ऊँचा ठहरता है। द्विवेदी जी ने अपने पूर्वकालीन, समकालीन तथा भावी पीढ़ी के उदीयमान लेखकों की भाषा का सुधार करके हिन्दी को व्यवस्थित, सुष्ठु, साहित्योचित, एवं संस्कृत बनाया था। इस दृष्टि से साहित्य में उनका उच्च स्थान है; पर गुप्त जी स्वयं द्विवेदी जी की भाषा को केवल व्याकरण की दृष्टि से ही परिमार्जित न करके उसे सार्वजिनक एवं सामान्य जनोचित रूप

१—**संस्कृति और साहित्य—हिन्दी साहित्य की परम्परा, पृ० ८।**

भी प्रदान किया था। अतः गुप्त जी हमारे सम्मुख केवल एक भाषा-सुधारक अथवा संशोधक के रूप में ही उपस्थित न होकर व्यंग्यात्मक एवं प्रवाहपूर्ण शैली के जनक के रूप में भी उपस्थित होते हैं। अतः यह कहने में अतिशयोक्ति न होगी कि भाषा-सुधार और शैली-निर्माण के क्षेत्र में बाबू बालमुकुन्द गुप्त का एक गौरवास्पद स्थान है। वे हिन्दी की जातीय शैली के प्रवर्तक और संरक्षक भी हैं।

अनस्थिरता विषयक लेख-माला का कला, व्यंग्य, शैली आदि की दृष्टि से महत्व—

गुप्त जी द्वारा लिखी 'भाषा की अनस्थिरता' विषयक लेखमाला का लेखन कला की दृष्टि से अधिक महत्व है। भाषा-सौंदर्य, कथन-चातुरी, उपयुक्त शब्द चयन, तर्कशीलता, वाक्य-विन्यास, सफल भावाभिव्यंजन तथा व्यंग्य-चमत्कार की दृष्टि से गुप्त जी के आलोच्य लेख साहित्य में उच्च स्थान रखते हैं। इस लेख-माला की प्रथम विशेषता यह है कि भाषा-सुधार जैसे गम्भीर, प्राविधिक तथा नीरस विषय को अति मनोरंजक, सरस और आकर्षक शैली में उपस्थित किया गया है। शैली की मनोरंजकता के कारण ही प्रस्तुत लेख-माला की लोक-प्रियता इतनी अधिक बढ़ गई थी कि तत्कालीन हिन्दी-पाठकों ने उसे खोज खोज कर पढ़ा था और जो लोग उस समय न पढ़ सके उनकी माँग के आधार पर उसे बाद में पुस्तकाकार प्रकाशित कराया गया।

जहाँ तक प्रस्तुत लेख माला के कलात्मक सौंदर्य का प्रश्न है, वह हमें गुप्त जी द्वारा दिए गए विरोधी वर्ग के प्रश्नों के उत्तरों में मिलता है। द्विवेदी जी एवं उनके सहयोगियों द्वारा संस्कृत और हिन्दी व्याकरण से 'अनस्थिरता' शब्द को सही बताना; और गुप्त जी एवं उनके सहयोगियों द्वारा उनके मतों का खंडन करना, तर्क शीलता और विषय प्रतिपादन की कलात्मकता का परिचायक है। द्विवेदी जी द्वारा वाक्यों का परिमार्जन करना और गुप्त जी द्वारा उनको अशुद्ध प्रमाणित करके सही रूप को सम्मुख लाना, उनके कौशल और चमत्कार का प्रमाण प्रस्तुत करता है।

व्यंग्य और हास्य तो इस लेखमाला के प्राण हैं। गुप्त जी का साहित्यिक व्यंग्य इसी लेख माला में प्राप्त होता है। चलते मुहावरों, लतीफों और चुट-कुलों के प्रयोग से व्यंग्य की प्रेषणीयता बढ़ गई है। द्विवेदी जी की शैली, शब्दों के उच्चारण और कहीं-कहीं उनके सिद्धान्त का तीव्रता के साथ उपहास यहाँ देखने को मिलता है। इसके अतिरिक्त इस लेख माला में गुप्त जी की

व्यंग्यात्मक, आलोचनात्मक और इतिवृत्तात्मक शैलियों के अनेक उदाहरण मिलते हैं। उपयुक्त तर्कशीलता और शैली के चमत्कार के कारण ही तो ये लेख साहित्य की अमरनिधि हैं। भाषा-शैली और विषय की उत्कृष्टता के कारण यह लेखमाला सुन्दर कलाकृति ठहरती है।

श्री बैंकटेश्वर समाचार से 'शेष' शब्द को लेकर विवाद—

बाबू बालमुकुन्द गुप्त अपने समय के सजग और सचेष्ट साहित्यकार थे। उन्हें जहाँ कहीं कोई अनियमता एवं सिद्धान्त-हीनता दीखती, शीघ्र उसकी चिकित्सा के लिए आप प्रयत्नशील होते थे। पुस्तकों एवं पत्रों की भाषा पर वे तीव्र दृष्टि रखते थे। व्याकरण-असम्मत और अशुद्ध भाषा के लेखक को बिना टोके वे नहीं छोड़ते थे। भाषा-परिष्कार के विषय में साधारण और असाधारण, मान्य और अमान्य, प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध, सभी व्यक्तियों के साथ आप समान व्यवहार करते थे। भूल करने वाला व्यक्ति चाहे कोई क्यों न हो, वे उसे सचेत किये बिना कभी नहीं मानते थे।

सन् १९०० की बात है कि 'श्री बैंकटेश्वर समाचार' में एक बार बाबू श्यामसुन्दर दास और बाबू राधाकृष्ण दास के चित्र प्रकाशित हुए थे। उक्त चित्र में बाबू राधाकृष्ण दास को 'भारतेन्दु जी का निकट सम्बन्धी' लिख दिया गया था। गुप्त जी ने उक्त शब्द पर आपत्ति प्रकट की और बताया कि 'फुफेरे भाई को निकट सम्बन्धी कहना प्रशंसा नहीं, अपितु एक गाली है।' श्री बैंकटेश्वर समाचार के सम्पादक को गुप्त जी का उक्त वाक्य पसंद नहीं आया - प्रत्युत्तर में उसने जानना चाहा था कि क्या फुफेरा भाई निकट सम्बन्धी नहीं होता। गुप्त जी जानते थे कि इस शब्द का प्रयोग ब्रजप्रांत में दूसरे अर्थ में होता है। अतः उन्होंने उत्तर में लिखा था—"क्या आपके प्रान्त में फुफेरे भाई को निकटस्थ सम्बन्धी कहते हैं ? यदि कहते हैं तो निकटस्थ सम्बन्धी क्या कहलाते हैं ? शायद आप इतने पर भी न समझे हों, इससे विनय है कि भाई को सम्बन्धी कहना गाली है। हमारा विश्वास न हो तो जी चाहे जिस हिन्दी जानने वाले से पूछ लें। चाहे, जिसकी प्रशंसा की है उसी से पूछ देखें।"[१]

इतने पर भी बूंदी निवासी पं० लज्जाराम मेहता, जो उस समय उक्त पत्र का सम्पादन कर रहे थे, गुप्त जी द्वारा अभिप्रेत अर्थ को ग्रहण न कर सके। इसके विपरीत आपने गुप्त जी की टिप्पणी से अपना अपमान समझा और

१—गुप्त स्मारक ग्रंथ, पृ० ११४।

प्रतिशोध लेने का अवसर खोजने लगे। इसी वाद-विवाद के मध्य गुप्त जी ने कहीं 'शेष' शब्द का प्रयोग 'समाप्ति' अथवा 'अन्त' के अर्थ में कर दिया था। आप इस शब्द का प्रयोग प्रायः इसी अर्थ में किया करते थे। यथा--"सवेरे स्नानादि श्री गंगा जी पर किया। पुस्तक पढ़ी। आफिस गये। लेख शेष किया।[१] 'शेष' शब्द का प्रयोग अंत के अर्थ में देखकर मेहता जी को कुछ सन्देह हुआ और उन्होंने प्रतिशोध का अवसर पाकर गुप्त जी से 'शेष' शब्द का अर्थ पूछा। मेहता जी ने लिखा था—"अब केवल इतना ही कहना है कि, हमारा मित्र 'समाप्ति' या 'अन्त' शब्द की जगह शेष न मालूम किस आधार पर लिखता है।"[२]

गुप्त जी ने मेहता जी के इस विवाद को स्वीकार किया और उनको 'शेष' शब्द का अर्थ बताने के लिये ३० जुलाई सन् १९०० के 'भारत मित्र' में 'शेष का अर्थ' नामक एक लेख प्रकाशित किया। उक्त लेख में आपने 'शेष' शब्द का प्रयोग अभिलषित अर्थ में प्रमाणित करने के लिये विविध प्रान्तों में प्रचलित प्रयोगों से उदाहरण दिये। आपने लिखा था—'शेष' शब्द सारे उत्तर भारत में 'अन्त' के अर्थ में बोला जाता है। काशी वाले बोलते हैं, कलकत्ते वाले बोलते हैं और हिन्दी जानने वाले मात्र बोलते हैं। जब सब बोलते हैं तो 'भारत-मित्र' के बोलने में क्या दोष ? बंगाली लोग शेष शब्द का अबसे अधिक प्रयोग अन्त के अर्थ में ही करते हैं। ब्राह्म समाज के नेता कितनी ही भाषाओं के पंडित राजा राममोहन राय गा गये हैं—'मने कर शेषेर से दिन भयंकर।' यह गीत बंगाल भर में गाया जाता है।"[३]

राजा राममोहन राय के गीत का अन्त उद्धृत करके गुप्त जी ने प्रमाणित कर दिया कि बंगाल की सारी जनता 'शेष' शब्द का प्रयोग उनके वांछित अर्थ में ही करती है। इस उदाहरण के पश्चात् आपने और भी लिखा था--"हम भगवान् शेष और बलदेव जी के सिवाय शेष के तीन अर्थ और समझ रहे थे—अन्त, अनन्त और अवशेष।"[४] इतना लिखने और आश्वासन देने पर भी मेहता जी संतुष्ट नहीं हुए और अनवरत प्रश्न करते रहे। तब

१—गुप्त स्मारक ग्रन्थ, पृ० ७९, शनिवार ता० १२ जून १८८७ की डायरी से।

२— वही , पृ० ११४।

३—भारत-मित्र, ३० जुलाई सन् १९०० ई०।

४— वही वही , पृ० अप्राप्य।

गुप्त जी ने अधिक प्रमाण खोजने का कार्य प्रारम्भ किया और भाषा के विद्वानों का अभिमत माँगा। प्रमाण प्रस्तुत करने के लिये सबसे प्रथम गुप्त जी ने सन् १८९३ की लखनऊ से छपी 'रायल डिक्शनरी' देखी। उक्त डिक्शनरी के पृष्ठ ५२५ पर 'शेष' शब्द के अर्थ—बाकी, बचा, दूसरा, नतीजा, तासीर, अखीर, खातिमा और मौत दिये हुए थे। उन्हें देखकर गुप्त जी ने लिखा—"अब इसमें हमारे सहयोगी साहब देखें कि केवल नतीजा, अखीर, खातिमा (अन्त) ही शेष का अर्थ नहीं है वरंच मौत भी है। और यह हमारे अर्थ का अन्तिम सबूत देती है।"[१]

गुप्त जी ने इतने से ही सन्तोष नहीं किया, आपने अनुसन्धान जारी रखा और एक रद्दी खाने से सन् १८६२ की छपी एक हिन्दी इंगलिश डिक्शनरी खोज निकाली। उक्त डिक्शनरी को जे० टी टामसन साहब ने सरकारी अफसरों के प्रयोग के लिए बनाया था। इस डिक्शनरी से उद्धृत करते हुए गुप्त जी ने लिखा था—"इसमें शेष काल का अर्थ The last term, the time of death लिखा है। इसी तरह शेष रात्रि का The last watch of the night, शेषावस्था का The last state or condition लिखा है"[२]

गुप्त जी ने तीसरा प्रमाण अपने ईप्सित अर्थ में सुप्रसिद्ध पंडित रामकमल विद्यालंकार जी द्वारा निर्मित 'सचित्र प्रकतिदाद अभिधान' से दिया। आपने लिखा था—"यह अभिधान शेष का अर्थ बताने में आरम्भ ही से अन्त की दुहाई देता है। वह कहता है—शेष शिष् धातु से निकला है जिसका अर्थ है बध करना। इसी प्रकार सर्पराज, अनन्तदेव, बलराम, बासुकी, भगवान की दूसरी मूर्ति आदि अर्थ बता कर विनाशध्वंस, निष्पत्ति और फिर 'अन्त' अर्थ बताता है। पीछे और भी दो-चार अर्थ लिखे हैं। जो हमारा सहयोगी उक्त अभिधान के १५१२ पृष्ठ में देख सकता है।"[३]

अपने इच्छित अर्थ में 'शेष' का प्रयोग प्रमाणित करने के लिए गुप्त जी ने उपर्युक्त तीन प्रमाण प्रस्तुत किए थे। इतने से ही वे आश्वस्त नहीं हुए; विद्वानों का भी अभिमत आपने प्रकाशित किया। कलकत्ता संस्कृत कालिज के संस्कृत के प्रोफेसर महामहोपाध्याय पं० गोविन्द नारायण शास्त्री ने 'वेणी

१—भारतमित्र, ३० जुलाई सन् १९०० ई०, पृ० अप्राप्य।
२— वही वही , पृ० ,, ।
३— वही वही , पृ० ,, ।

संहार' नाटक, 'नैषध चरित' एवं 'परिभाषेन्दु शेखर' की अपनी 'जटाजूट' नाम की व्याख्या से 'शेष' शब्द का अर्थ 'अन्त' या 'समाप्ति' के अर्थ में लिख कर गुप्त जी के पास भेजा था। गुप्त जी ने उनके मत को उक्त तिथि के भारत मित्र में उद्धृत करते हुए लिखा था—'वेणी संहार नाटक में लिखा है—अश्वत्थामा हत इति पृथा सूनुना स्पष्ट मुक्त्वा, स्वैरंग शेष गज इति किल व्यहृतं सत्यवाचा'॥ टीकाकार इनकी टीका करता है—'शेषे वाक्यस्या-वसाने'।[1] इसी प्रकार पं० गोविन्द नारायण शास्त्री द्वारा उद्धृत 'नैषधचरित' के ३ सर्ग के २४ श्लोक के चौथे चरण को गुप्त जी ने प्रमाण स्वरूप प्रस्तुत किया। वह इस प्रकार है—"पूर्व्वत्व हो शेष महेष मन्त्येमू।"[२] उक्त चरण की व्याख्या भी गुप्त जी ने उद्धृत की थी, जिसके द्वारा 'शेष' शब्द का अर्थ 'अन्त' या 'समाप्ति' सिद्ध होता है।

'जटाजूट' नाम की व्याख्या का अंश भी आपने उद्धृत करते हुए लिखा था—'इसके शेष में लिखते हैं—भूमिभूताङ्ग भूनाने वर्ष चैत्र सिते गतः शेष-भंशो जटाजूटे तन्त्र शेषामिधः शिवम्॥ इस श्लोक में महामहोपाध्याय जी महाराज ने ग्रन्थ के अवसान के अर्थ में शेष शब्द का प्रयोग किया है।[3]

उक्त प्रमाणों के अतिरिक्त गुप्त जी ने पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी जी द्वारा प्रेषित "संस्कृत अंग्रेजी डिक्शनरी" तथा पण्डित राज जगन्नाथ कृत "रस गंगाधर" से पं० श्रीधर पाठक जी द्वारा प्रेषित प्रचलित प्रयोगों से, पं० माधवप्रसाद मिश्र जी द्वारा प्रेषित मीमांसा दर्शन, नैषध चरित की मल्लिनाथी टीका, नारायण काव्य और मेदनी कोष से 'शेष' शब्द के सारे प्रयोग उद्धृत किये थे। इन प्रमाणों का प्रभाव इतना व्यापक और गम्भीर पड़ा कि मेहता जी का पक्ष बहुत निर्बल और तर्कहीन हो गया था यद्यपि उनके पक्ष में काव्य-व्याकरण तीर्थ पं० सकलनारायण पाण्डेय ने कई पुस्तकों से श्री बेंकटेश्वर समाचार के पक्ष में तर्क उपस्थित किये, जिसका सम्यक् उत्तर 'भारत मित्र' में पं० देवकीनन्दन तिवारी मिरजापुरी ने दिया था। गुप्त जी ने अपने पक्ष में विविध पुस्तकों से प्रमाण देकर अपने लेख के अन्त में लिखा था—"यदि यह प्रमाण यथेष्ठ हों तो खैर, नहीं तो और भी प्रमाण देंगे, कृपा कर बेंकटेश्वर

१—भारतमित्र, ३० जुलाई सन् १६०० ई०, पृ० अप्राप्य।
२— वही वही
३— वही वही

समाचार जी यह प्रमाण दें कि 'शेष' शब्द का अर्थ 'अन्त' नही हो सकता। और हमसे जब उनकी जो कुछ इच्छा हुआ करे पूछा करें।[१]

यह साहित्यिक वाग्विलास कुछ दिनों तक बड़ी उग्रता के साथ चलता रहा। फलतः साहित्य जगत् में खूब सरगर्मी रही। अन्त में लज्जाराम जी मेहता का पक्ष निर्बल पड़ा। उनको अपनी पराजय स्वीकार करनी पड़ी और गुप्त जी ने जिस अर्थ में 'शेष' शब्द का प्रयोग किया था, वे सब अर्थ भी उन्होंने स्वीकर कर लिये। मेहता जी की स्वीकृति हो जाने के उपरान्त गुप्त जी ने 'शेष का शेष' नामक एक लेख और लिखा था। इस लेख में गुप्त जी ने अपने प्रतिद्वन्दी 'श्री वेंकटेश्वर समाचार' द्वारा उपस्थित तर्कों की प्रशंसा करते हुए ऐसे वाद-विवाद को साहित्य के लिये मंगल सूचक लिखा। आपने लिखा था—"नवीन सहयोगी श्री वेंकटेश्वर समाचार की तर्कनाओं की परिपाटी से हम वास्तव ही में प्रसन्न हुए हैं। अक्सर समाचार-पत्र वाले हाकिम न होकर वकील होते हैं। वेंकटेश्वर समाचार ने अपने चुने हुए आसामी 'शेष' की वकालत अच्छी की। किन्तु सहयोगी को बड़ा ही कमजोर मुकदमा लेकर वकालत आरम्भ करनी पड़ी थी, इससे परिणाम जो होना था सो होने पर भी सब लोगों को उस वकालत की प्रशंसा करनी होगी।"[२]

इस प्रकार के वाद-विवादों से शब्दों के वास्तविक अर्थ स्पष्ट होते हैं, भाषा का स्वरूप निर्मित होता है और गद्य-शैली-निर्माण में अभूतपूर्व सहायता मिलती है। 'शेष' शब्द के विवाद पर विचार प्रकट करते हुए गुप्त जी ने लिखा था—"पहले के अनेक प्रसिद्ध हिन्दी लेखक चाहे बंगालियों की नकल अथवा संस्कृत भाषा के अवलम्बन से 'शेष' शब्द को अवशिष्ट के अतिरिक्त 'अन्त' तथा 'अन्तिम' अर्थ में भी प्रयोग कर गये हैं। ऐसा जानकर भी शायद भाषा के उपकारार्थ ही सहयोगी ने 'अन्त' अर्थ के विरुद्ध वकालत की। फल यही हुआ कि लोग भलीभाँति 'शेष' शब्द के सब अर्थों की मर्यादा जान गये। नैषध, रसगंगाधर प्रभृति के उठाये हुए श्लोकों का प्रसिद्ध अर्थ छोड़कर कष्टकल्पित अर्थ सहयोगी ने जिस बुद्धिमत्ता से समझाने की चेष्टा की है, वह भी प्रशंसनीय है।"[३]

१—भारतमित्र, ३० जुलाई सन् १९०० ।

२—वही, सन् १९०० ई० ।

३—वही ,, ।

इस वाद विवाद का अन्त करते हुए उपसंहार रूप में गुप्त जी ने लिखा था—"गत सप्ताह उसने (श्री वेंकटेश्वर समाचार) स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि शेष अन्त अर्थ को गौण समझने में उसको कोई उज्र नहीं है। भारत-मित्र उसके मुँह से इससे अधिक स्वीकार कराना नहीं चाहता था। सहयोगी ने इतना स्वीकार कर केवल वकालत की प्रशंसा ही हासिल नहीं की, हाकिम का न्याय भी उसने प्रकट किया है। अपने उठाये हुए झगड़े की आप ही ने मीमांसा करदी है। शेष का अन्त अर्थ नये लेखकों के लेख में देखने से उसे संतोष नहीं होता।"[1] इसीलिये गुप्त जी ने एक पत्र में दूसरे स्थान पर प्रकाशित कर यह दिखाया कि भारतेन्दु जी ने भी शेष शब्द का अन्त के अर्थ में प्रयोग किया है। इस प्रकार प्राचीन और अर्वाचीन लेखकों की रचनाओं से सभी प्रकार के उदाहरण देकर गुप्त जी ने ईप्सित अर्थ में शेष का अर्थ प्रमाणित कर दिया था। विजय गुप्त जी के साथ रही। पर उन्होंने इस साहित्यिक-संग्राम में विजय लाभ करके भी अपने प्रतिद्वन्दी को अपमानित करने का लेशमात्र भी प्रयास नहीं किया। प्रत्युत प्रतिद्वन्द्वी के प्रयास, उसके तर्क और उसकी बुद्धिमत्ता की प्रशंसा की। यह गुप्त जी के साहित्यिक हृदय की स्पष्ट अभिव्यक्ति थी। मेहता जी भी यथार्थ में प्रशंसा के पात्र हैं; उन्होंने अपमान न समझकर सत्य को स्वीकार कर लिया और असत्य की वकालत न की। आपने अपनी 'आप बीती' में इस विवाद की प्रशंसा की है और इसको साहित्य के उत्कृष्ट विवाद में एक माना है। इसी विवाद के समय श्री वेंकटेश्वर समाचार ने गुप्त जी द्वारा प्रयुक्त 'छलनी' और 'चलनी' आदि शब्दों के प्रयोग पर भी आपत्ति प्रकट की थी। इसी प्रकार 'अदालत के लिये वकील साहब बड़े लम्बे थे', गुप्त जी द्वारा लिखित वाक्य और लार्ड कर्जन के साथ प्रयुक्त 'भिक्षा' शब्द पर उक्त पत्र ने सन्देह किया और उन्हें गलत बताया था। गुप्त जी ने तीनों प्रयोगों के प्रमाण देकर अपने प्रयोग की विशुद्धता प्रमाणित की थी।[2]

व्याकरण और गद्य-शैली के सम्बन्ध में गुप्त जी की धारणायें—

गुप्त जी व्याकरण के विरोधी न थे। भाषा को संस्कृत एवं परिमार्जित रूप देने के लिये व्याकरण की वे अपेक्षा समझते थे, पर व्याकरण को भाषा के पैरों की शृंखला बना देने के पक्षपाती न थे। उनका मत था कि व्याकरण

१—भारत मित्र, सन १९०० ई०।

२— वही , आँखों के आगे नाक, १७ सितम्बर सन १९०० ई०।

से भाषा की परिवर्तन शीलता पर आघात होता है। उसकी स्वच्छन्द तथा स्वतन्त्र गतिशीलता पंगु बनती है और अन्ततोगत्वा भाषा में एकांगिता एवं स्थिरता का समावेश होता है। लिंग एवं वचन आदि की अशुद्धता निवारणार्थ व्याकरण के नियमों का स्वागत एवं समर्थन उन्होंने सदैव किया था। भाषा शुद्ध लिखी जाय; उसमें चिन्त्य प्रयोगों का अभाव हो तथा कारक एवं विभक्ति आदि की त्रुटियाँ न हों—यह आवश्यक मानते थे। कभी-कभी भाषा-परिशोधन के लिये व्याकरण को परम आवश्यक भी न मानते थे। उनका अभिमत था कि कोई-कोई प्रयोग व्याकरण-सम्मत होने पर भी प्रवाहप्राप्त न होने के कारण भाषा का सुन्दर निदर्शन नहीं माना जा सकता। आप भाषा में प्रवाह, सरसता और प्रभावोत्पादकता के समर्थक थे। व्याकरण की शुद्धता लेकर नीरस एवं कर्णकटु पदावली के पक्षपाती नहीं। आप प्रवाह को भाषा का प्राण स्वीकार करते थे। प्रवाह प्राप्त शब्दों का प्रयोग न करने पर उन्होंने पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी तक की आलोचना की थी। 'भाषा और व्याकरण'[१] नामक लेख में 'स्यात', 'कालसह' और 'अनस्थिरता' आदि शब्दों का प्रयोग करने पर गुप्त जी ने उनको टोका था, और भाषा में रवानगी लाने पर बल दिया था। वे मानते थे कि व्याकरण की बेड़ियाँ पड़ते ही भाषा शिथिल और संकीर्ण बनकर शनैः शनैः ह्रास की ओर उन्मुख होती है और एक दिन अपने मूल रूप का परित्याग कर विभिन्न रूपों में दृष्टिगोचर होती है, अतः भाषा को जीवनदायिनी शक्ति प्रदान करने के लिये आप व्याकरण की नहीं, अपितु भाषाविज्ञों के सत्संग, भाषा-ग्रन्थों के अध्ययन और बोलचाल की भाषा का अनुकरण करने की अपेक्षा समझते थे। कुछ विद्वान् प्रायः बोलचाल और काव्य की भाषा में अन्तर किया करते हैं। इस विचारधारा के अनुयायी काव्य की भाषा को व्याकरण-विशुद्ध, परिमार्जित और परिष्कृत रूप में ग्रहण करते हैं, किंतु सामान्य बोलचाल की भाषा के लिए व्याकरण के जटिल नियमों की अपेक्षा वे नहीं समझते। गुप्त जी के सामयिक लेखक पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी उन विद्वानों में से थे, जो प्रारम्भ में लिखने और बोल-चाल की भाषा में भेद मानते थे; लिखने की भाषा को अस्वाभाविक, प्रयत्न-प्राप्त तथा परिश्रम-सिद्ध स्वीकार करते थे और बोलचाल की भाषा को स्वाभाविक तथा प्रयत्न रहित।[२] गुप्त जी इस सिद्धान्त के पूर्णतः विरोधी थे। उनका मत

१—सरस्वती, भाग ६, संख्या ११, पृ० ६०।

२—सरस्वती, भाग ६, संख्या ११, पृ० ४२५।

था, लिखने की भाषा भी वही उत्कृष्ट है जो बोल चाल की हो, मनघड़न्त नहीं। जिस भाषा में बोल-चाल के मुहावरे तथा प्रयोग होंगे वह अधिक काल तक स्थायी और बोधगम्य रहेगी। इसी आधार पर वे सूरदास की भाषा का समर्थन करते थे। उनके मत से तीन-सौ वर्ष व्यतीत होने पर भी सूर की भाषा इसलिए जीवित है कि वह ब्रज-प्रान्त की बोल-चाल की भाषा है।[1] गुप्त जी ने स्पष्ट रूप से बोल-चाल की भाषा का समर्थन किया है। जो भाषा अधिक से अधिक जन-संख्या द्वारा बोली जाती है उसी में साहित्य का सृजन हो, ऐसा उनका मत था। उनकी निश्चित धारणा थी कि जब बोल-चाल की भाषा ही काव्य की भाषा स्वीकार की जायगी तभी सच्चे यथार्थवादी साहित्य का सृजन होगा। अन्यथा साहित्य अधिकतम व्यक्तियों का प्रतिनिधि न होकर वर्ग विशेष की सैद्धान्तिक अभिव्यक्ति और प्रचार का साधन होगा। उसके मत से बोलचाल की भाषा को ही गद्य और पद्य की भाषा मानना वास्तव में जन-साहित्य का उन्नयन करना था। उनकी आकांक्षा थी कि उपन्यास, काव्य, नाटक, कहानी, वक्तृतायें, रिपोर्ट, विज्ञान, अदालतों के फैसले, दर्शन शास्त्र की समस्यायें, कलाकौशल से सम्बन्ध रखने वाले महान् ग्रंथ, सामयिक समाचार, अफसरों के दौरों की रिपोर्ट कृषि तथा ज्योतिष सम्बन्धी सम्पूर्ण साहित्य सभी बोल-चाल की भाषा में लिखा जाय। उनके मत से काव्य की एक और बोलने चालने की दूसरी भाषा होना साहित्य और समाज के लिये अहितकर है। गुप्त जी भाषा-विषयक इस द्वैयवता के महान् विरोधी थे।

वैयाकरणों का मत है कि प्राचीन भाषा और साहित्य को सुरक्षित एवं जीवित रखने के लिये भाषा को व्याकरण के नियमों का परिधान पहना देना परम अनिवार्य है। गुप्त जी इस प्रभाव को अनुपयुक्त एवं अनुपादेय मानते थे। उनका मत था कि भाषा स्वछन्दता के साथ संचरण करे और नव सभ्यता, नव-संस्कृति, नवजाति और देश के अनुकूल भाषा का निर्माण हो। भाषा में अवसरोपयोगी परिवर्तन शीलता एवं परिस्थितियों के अनुकूल अनुरूपता नहीं, तो वह जीवित एवं स्थायी नहीं रह सकती। अतः स्थायित्व एवं सार्वभौम शक्ति सृजनार्थ भाषा को स्वतः बनने देना ही अधिक अपेक्षित है।

व्याकरण के नाम पर जो लोग हाय-तोबा मचाते हैं उनके प्रति गुप्त जी का व्यंग्य अवलोकनीय है—"वह चाहते हैं कि लोगों में कोई बात व्याकरण

१—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, भाषा की अनस्थिरता, पृ० ४४२–४४३।

विरुद्ध न हो। चाहे छींके, चाहे खाँसे, चाहे खायें, चाहे पीयें, रोयें या हँसें, व्याकरण का सदा ध्यान रखें।[1]

गुप्त जी की इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि भाषा के पैरों में व्याकरण की शृङ्खला बाँध देने वालों के प्रति उनके क्या भाव थे। वाक्य और शैली-गत अर्थबोध की क्लिष्टता एवं शिथिलता निवारणार्थ वह व्याकरण के नियम नहीं खोजते थे, प्रत्युत भाषा के प्रवाह को ठीक करके प्रभावोत्पादकता उत्पन्न कर दिया करते थे। उनके अतिरिक्त वाक्य-शोधन के समय शब्द जोड़कर परिमार्जन का समर्थन आप न करते थे। यह बात उनके द्वारा द्विवेदी जी तथा अयोध्या-सिंह उपाध्याय की भाषा में किए सुधारों से प्रमाणित हो जाती है। एतदर्थ गुप्त जी को अच्छा वैयाकरण कहना भी समीचीन होगा। वे शिथिल एवं व्याकरण विरुद्ध वाक्यों से अनावश्यक एवं अनपेक्षित शब्दों को पृथक् करके अर्थ-बोध में स्पष्टता ला दिया करते थे। यही नहीं, वाक्यों में कर्त्ता, क्रिया और कर्म का परित्याग साधारणतः व्याकरण विरुद्ध माना जायगा, पर गुप्त जी ऐसा करना व्याकरण विरुद्ध न मानते थे। उनकी धारणा थी कि बा-मुहावरा भाषा लिखते समय प्रायः कर्त्ता, क्रिया या कर्म का लोप हो जाता है और ऐसा होने से भाषा में एक विशिष्ट सौंदर्य का परिपाक होता है। आपकी मान्यता थी कि व्याकरण शब्दों के लिंग, रूप आदि पर शासन करता अवश्य है, पर उसमें मुहावरे की भाषा को ठीक करने की शक्ति का अभाव होता है। कभी-कभी देखा जाता है कि कोई वाक्य व्याकरण से शुद्ध होने पर शिथिल बना रहता है, यथा—"इस तरह की सारी त्रुटियों को हम मुहाविरा नहीं समझते।" ऐसे वाक्यों की शिथिलता मुहावरेदार भाषा लिखने से हो जाती है। जैसे—"इस तरह की सारी त्रुटियों को हम मुहावरे में नहीं गिन सकते।" इस प्रकार की भूल-सुधार के सम्बन्ध में गुप्त जी का मत है कि व्याकरण में शक्ति नहीं है जो भाषा के जोड़-तोड़ की इस प्रकार की भूलों को बता सके।

गुप्त जी विदेशी भाषा के शब्दों को विशुद्ध रूप में अपनाने के पक्ष में थे। उनके उच्चारण और प्रयोग के अनुरूप ही उन्हें हिन्दी में लाया जाय। यथा—उर्दू के 'मरज' और 'जिक्र' इसी प्रकार हिन्दी में लिखे जाँय 'मर्ज' और 'जिकर' नहीं। इसी प्रकार 'फोटोग्राफी' शब्द लिखने पर 'फ' के नीचे बिंदी रखकर लिखना—जैसा कि नागरी प्रचारिणी सभा का निर्णय था—अनुचित

१—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग- पृ० ४५५।

समझते थे। आप स्वयं शब्दों के नीचे बिन्दी नहीं लगाया करते थे। 'सिफारिश की बाजार गर्म हुई' आदि प्रयोगों को वे घृणा की दृष्टि से देखते थे।

इस प्रकार निश्चित है कि व्याकरण और भाषा के सम्बन्ध में गुप्त जी की अपनी विशेष मान्यताएँ थीं। पर व्याकरण के सर्वमान्य नियमों के विरोध में वह कभी न आते थे। उनकी यह निश्चित मान्यता थी कि प्रथम भाषा का निर्माण होता है, तत्पश्चात् व्याकरण का। व्याकरण के अनुसार भाषा का रूप बनाकर उसे सदैव जीवित नहीं रखा जा सकता।

गद्य की भाषा और शैली के विषय में गुप्त जी का दृष्टिकोण क्या था? यह जानने के लिए उस मार्ग का अध्ययन अपेक्षित है जिसका अनुसरण उन्होंने गद्य लिखते समय किया था। वह मार्ग भारतेन्दु द्वारा अपनाए गए पथ का अनुसरण था। उनके सामने राजा शिवप्रसाद द्वारा समर्थित उर्दू-फारसी शब्द-बहुला हिन्दी, राजा लक्ष्मणसिंह द्वारा प्रतिपादित संस्कृत गर्भित भाषा का रूप, गोविन्द नारायण मिश्र द्वारा प्रवर्तित तत्सम शब्द पूर्ण तथा समास-बहुला भाषा और भारतेन्दु जी द्वारा प्रवर्तित भाषा का नया एवं सामान्य रूप वर्तमान था। गुप्त जी ने केवल अन्तिम रूप को स्वीकार किया था। भारतेन्दु की भाषा पर व्यक्त किए गए उनके विचारों से उनकी भाषा विषयक धारणाएँ अधिक स्पष्ट हो जाती हैं। आपका विचार था—"हरिश्चन्द्र ने हिंदी को फिर से प्राण दान किया। उन्होंने हिन्दी में अच्छे-अच्छे समाचार पत्र, मासिक पत्र आदि निकाले और उत्तम-उत्तम लेखों, नाटकों और पुस्तकों से उसका गौरव बढ़ाना आरम्भ किया।······आज उन्हीं की चलाई हिन्दी सब जगह फैल रही है। उन्हीं की हिन्दी में आजकल के सामयिक पत्र निकलते हैं और पुस्तकें बनती हैं।"[१] गुप्त जी के इन शब्दों से स्पष्ट है कि वे भारतेन्दु की भाषा और शैली के अतिरिक्त किसी अन्य की भाषा और शैली के उपासक न थे। उनकी धारणा थी कि स्वर्गीय बाबू हरिश्चन्द्र की अमृतमयी लेखनी कुछ अन्य भाषाओं के ग्रन्थों का अनुवाद प्रस्तुत नहीं करती, तो सम्भवतः हिन्दी गद्य साहित्य का नाम सुनने में नहीं आता।[२]

भारतेन्दु जी के अतिरिक्त गुप्त जी पं० प्रतापनारायण मिश्र को भी अच्छा गद्य लिखने वालों में मानते थे, किन्तु गुप्त जी ने दोनों में से किसी की भाषा का अंधानुकरण नहीं किया। भाषा को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए वे

१—बालमुकुन्द गुप्त, हिन्दी भाषा-भूमिका, पृ० ङ।

२—भारत मित्र, हिन्दी की उन्नति, ६ अप्रैल सन् १९०१।

सभी भाषाओं के प्रचलित शब्दों को मिलाने के पक्षपाती थे। दूसरी भाषाओं के शब्दों का अनुवाद करके हिन्दी में प्रयोग करना आप अनुपयुक्त समझते थे। इस विषय में उनका निश्चित मत था—"भिन्न भाषाओं के बहुत शब्द ऐसे होते हैं कि यदि उनका अपनी भाषा में अनुवाद किया जावे तो मतलब एक वाक्य में पूरा हो और फिर भी ठीक आनन्द प्राप्त न हो। ऐसी दशा में वह शब्द ज्यों का त्यों बोलना पड़ता है।"[१] इससे प्रकट है कि भाव-व्यंजकता और अभिव्यक्ति के उत्कर्ष के लिए वे विदेशी भाषाओं के शब्दों को शुद्ध रूप में अपनाने के पक्षपाती थे। इसी आधार पर 'मशाल', 'शेख', 'सुलतान', 'याकूब' आदि अरबी के; 'शक्कर', 'कमान', 'रुख', 'शाह', 'खानजादे', 'कुशादा' 'तेग', 'तेज' आदि फारसी के और 'लोकल' 'पोलिटिकल-लिबरल', 'टोरी' आदि अंग्रेजी के शब्द हिन्दी में स्वतन्त्रता पूर्वक व्यवहृत हुये हैं।

हिन्दी-भाषा को सर्वदेशीय और बहुसंख्यकों की भाषा बनाने के लिए उनका मत था कि उसे सार्वजनिक प्रयोग की भाषा बनाया जाय। जो लेखक भाषा के इस रूप का परिहार कर व्याकरण-दानी से अधिक काम लेते हैं उनकी भाषा उन्हीं तक रह जाती है। कोई उसका समर्थन नहीं करता। आप बामुहावरा, प्रवाह पूर्ण और देश-व्यापी आवश्यकताओं की पूर्ति के योग्य भाषा के प्रबल समर्थक होते हुए भी हिन्दुस्तानी के विरोधी थे। इस प्रकार भाषा का विरोध करते हुये आपने लिखा था—"अंग्रेज लोग जिस भाषा को हिन्दुस्तानी कहते हैं हमारी समझ में युक्त प्रदेश की गवर्नमेन्ट वही भाषा जारी करना चाहती है। वह न हिन्दी है और न उर्दू और हिन्दी भी है और उर्दू भी है। पर यह भली भाँति जान लेना चाहिये कि वह बेमुहावरा भाषा है।"[२]

यथार्थ में गुप्त जी ऐसी भाषा के समर्थक थे जिसमें उर्दू वाले अरबी-फारसी के अवांछनीय प्रेम का परित्याग कर हिन्दी की ओर झुके हों और हिन्दी वाले संस्कृत की तत्समता का मोह छोड़कर कुछ उर्दू की ओर प्रवृत्त हुए हों। दोनों वर्गों की इस समन्वयात्मक प्रवृत्ति से जिस भाषा का प्रणयन होता है, वही देश की प्रसिद्ध, सर्वप्रिय और प्रवाह प्राप्त भाषा हो सकती है। गुप्त जी ने इसी भाषा की वकालत की है। पं० अयोध्यासिंह की भाषा की आलोचना लिखते समय आपने भाषा के निम्नांकित रूप को उपयोगी बताया

१—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, पृ० ११३।

२—भारतमित्र-हिन्दी उर्दू का मेल, सन् १९०३।

था। आपने लिखा था—"हमारे लिए इस समय वही हिन्दी अधिक उपकारी है, जिसे हिन्दी बोलने वाले तो समझ ही सकें उनके सिवा उन प्रान्तों के लोग भी उसे कुछ-न-कुछ समझ सकें जिनमें वह नहीं बोली जाती। हिन्दी में संस्कृत के सरल-सरल शब्द अवश्य अधिक होने चाहियें, इससे हमारी मूल भाषा संस्कृत का उपकार होगा और गुजराती, बंगाली, मराठे आदि भी हमारी भाषा को समझने योग्य होंगे। किसी देश की भाषा उस तक काम की नहीं होती, जब तक उसमें उस देश की मूल भाषा के शब्द बहुतायत के साथ शामिल नहीं होते।"[१]

उक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि गुप्त जी गद्य की ऐसी भाषा के समर्थक थे जिसमें संस्कृत, उर्दू, अरबी, फ़ारसी और यथा सम्भव अंग्रेजी आदि भाषाओं के प्रवाह प्राप्त शब्द सम्मिलित हों। जिसे हरिश्चन्द्री हिन्दी भी कहा जाय तो उचित ही है।

उपसंहार—

सन् १९०० ई० से लेकर सन् १९०६ तक गुप्त जी को दो प्रमुख साहित्यिक विवादों में भाग लेना पड़ा था। इन दोनों में प्रमुख था, अनस्थिरता विषयक विवाद जिसके प्रतिपक्षी हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी थे। शैली-निर्माण और भाषा-परिष्कार की दृष्टि से इस विवाद का उच्च स्थान है। साथ ही, विवाद स्वरूप लिखे गए इन लेखों से गुप्त जी का भाषा-सुधारक और शैली-विधायक का रूप निश्चित होता है और आप व्यंग्य की एक विशिष्ट शैली के उन्नायक प्रमाणित होते हैं। दूसरा विवाद 'शेष' शब्द पर पं० लज्जाराम मेहता के साथ हुआ था। इस विवाद से गुप्त जी की ख्याति अधिक बढ़ गयी थी और उसी काल से वे शब्दों की आत्मा का ज्ञान रखने वाले विद्वान लेखक माने गये थे। व्याकरण और गद्य-शैली के विषय में गुप्त जी की मान्यताएँ अपूर्व थीं। व्याकरण का उपयोग वे केवल भाषा को प्रवाह पूर्ण बनाने के लिए मानते थे। गद्य का रूप कैसा हो और उसकी शैली किस प्रकार की हो, इस प्रश्न का उत्तर व्याकरण और गद्य-शैली के विषय में व्यक्त उनके विचारों से मिल जाता है। वे भारतेन्दु और प्रतापनारायण मिश्र की गद्य-शैली को आदर्श मानते थे।

१—गुप्त निबन्धावली प्रथम भाग, पृ० ५७०।

अध्याय ५

आलोचक बालमुकुन्द गुप्त

बालमुकुन्द गुप्त ने साहित्यिक जीवन के आदि से लेकर अन्त तक हिन्दी के प्रसिद्ध पत्रों का सम्पादन किया था। अतः इसी माध्यम से आपने हिन्दी भाषा तथा साहित्य-प्रचार एवं सृजन के पावन यज्ञ में बहुमूल्य आहुतियाँ अर्पित की थीं। वह काल हिन्दी-साहित्य के निर्माण और प्रसार का युग था, वाङ्मय के सभी अंग भारतेन्दु-काल में प्राण-प्रतिष्ठा पाकर पल्लवित और संवर्द्धित होते जा रहे थे। पर उनमें अभी परिपक्वता और प्रौढ़ता नहीं आ पाई थी। हिन्दी-आलोचना का श्रीगणेश भी उस-युग में हो चुका था। विविध पत्रों का प्रकाशन भारतेन्दु-काल की विशेषता थी, इन्हीं पत्रों में तत्कालीन लेखकों के नाटक, उपन्यास तथा निबन्ध आदि प्रकाशित होकर गद्य-साहित्य के अभाव की पूर्ति कर रहे थे। आलोचनात्मक साहित्य का श्री गणेश भी इन्हीं पत्र-पत्रिकाओं की देन है। तत्कालीन हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में अंग्रेजी के 'बुक-रिव्यू' के अनुसरण पर 'पुस्तक--परिचय' नामक स्तम्भ की उद्‌भावना की गई थी। इस स्तम्भ में पुस्तक परिचय के साथ-साथ कभी-कभी आधुनिक आलोचना का वर्तमान रूप भी दिखलाई पड़ जाता था। कवि वचन सुधा (१८६८), हरिश्चन्द्र मैगज़ीन, बाद में हरिश्चन्द्र चन्द्रिका (१८७३), बाला-बोधिनी (१८७४), ब्राह्मण (१८८३), हिन्दी प्रदीप (१८७६) और आनन्दकादम्बिनी (१८८१) आदि पत्र नवीन पुस्तकों की परिचयात्मक आलोचना प्रकाशित किया करते थे, जिसमें यदा-कदा आलोचना का उत्कृष्ट रूप भी प्रकट हो जाया करता था। इसके अतिरिक्त भारतेन्दु जी ने आलोचनात्मक भूमिकाएँ लिखकर साहित्य की इस विधा को अधिक स्पष्ट एवं परिपक्व बनाने की चेष्टाएँ कीं। किन्तु उनके स्वर्गवास के उपरान्त बालकृष्ण भट्ट और बद्री-नारायण 'प्रेमघन' ने लाला श्री निवासदास के 'संयोगिता-स्वयंवर' की आलोचना करके उसी से मिलता-जुलता आलोचना का एक नवीन मार्ग प्रस्तुत किया। संयोगवश उस काल के सभी साहित्यकार पत्रकार भी थे। पत्रकारिता के व्यस्त एवं दारिद्रयमय जीवन में जो भी अवकाश इन कर्मठ साहित्यकारों

को मिलता, उसका उपभोग वे समाज और राष्ट्र-हित-साधक साहित्य की सृष्टि करने में व्यतीत करते थे। इस प्रकार साहित्य के अन्य अङ्ग काव्य, नाटक, कहानी, उपन्यास तथा निबन्ध आदि के साथ-साथ आलोचना का भी प्रसार होने लगा था।

यहाँ यह बात स्मरणीय है कि भारतेन्दु-काल में सामाजिक एवं राजनीतिक जागृति के कारण साहित्य के भाव, विषय और आदर्श पूर्णतः बदल चुके थे। इनका पूर्ववर्ती रीतिकाल सामाजिक क्षेत्र में विलासिता और बुद्धि शैथिल्य का युग था। फलतः तत्कालीन साहित्य भी शृङ्गार की चहारदीवारी से बाहर न निकल सका था। वह नायक-नायिका-भेद अथवा सांमतों के गुण गान में संलग्न था। अस्तु, विलासिता और प्रमाद के उस युग में समीक्षा की कोई प्रौढ़ और सूक्ष्म तर्क-प्रधान शैली के विकास की सम्भावना कल्पनातीत थी। समीक्षा के नाम पर परम्पराभुक्त निरूपण मात्र ही उसका विषय रहा था। भारतेन्दु युग सभी अर्थों में प्रगतिशील युग था। साहित्य के नवीन आदर्शों के साथ समीक्षा की आधुनिक पद्धतियों के बीज भी उस युग में प्रस्फुटित हुए थे। पुस्तक-परिचय की सामान्य समीक्षा से लेकर कला-कृति के काव्य-सौष्ठव, कलाकार के व्यक्तित्व तथा उसकी परिस्थितियों के गम्भीर विवेचन वाली समीक्षा-पद्धति का आभास भी उस युग में मिल जाता है। उस-युग के लेखकों का ध्यान प्राचीन कवियों और आचार्यों के जीवन-वृत्त प्रकाशित करने की ओर आकृष्ट हुआ था जिनमें उनके जीवन सम्बन्धी तथ्यों की अभिव्यक्ति और साहित्यिक उत्कर्ष का उल्लेख प्रायः पाया जाता है। इस युग की आलोचना में निर्णयात्मक तत्व की प्रधानता के साथ-साथ मंगल की भावना भी स्पष्ट परिलक्षित होती है। समाजवादी जीवन दर्शन के विकास के साथ साहित्य भी अब केवल मनोविनोद की वस्तु न रह गया था। उसका उद्देश्य जीवन का यथार्थवादी चित्रण तथा उसको मंगल-भाव की ओर अग्रसर करना हो गया था।

बालमुकुन्द गुप्त इस अर्थ में भारतेंदु-युग के सच्चे प्रतिनिधि थे। यह भी निश्चित सत्य है कि उनकी प्रेरणा के स्त्रोत भारतेंदु और पं० प्रतापनारायण मिश्र दोनों ही थे। अतः उनके साहित्य में युग की प्रधान विचार-धारा का समावेश होना स्वाभाविक था। इसके अतिरिक्त गुप्त जी पत्रकार थे, अतः देश की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक उथल-पुथल के साथ साहित्य की गतिविधि पर भी समान दृष्टि रखते थे। ये ही दोनों क्षेत्र उनकी आलोचना तथा प्रत्यालोचना के विषय बने हैं।

आलोचना की वैज्ञानिक पद्धति के अभाव में उस काल के आलोचक कवि अथवा लेखक पर युग-प्रभाव, उसके जीवन और जीवन सम्बन्धी परिस्थितियों का सूक्ष्म एवं निष्पक्ष अध्ययन करके उसकी अन्तः प्रवृत्तियों का विश्लेषण न कर पाते थे। रचनागत विशेषताओं और रचनाकार की विचार-धारा में प्रविष्ट होकर उसकी अन्तर्वृत्तियों का निरूपण करना साहित्यिक दृष्टि से आलोचना का विशिष्ट गुण है। इस प्रकार की आलोचना का उस काल में अभाव ही था। उस युग के लेखक तो रचनागत और यदा-कदा रचनाकार के गुण और दोषों का निरूपण किया करते थे। कभी-कभी तो इस प्रकार की एकांगी और विश्लेषणात्मक आलोचना अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाया करती थी। पर धीरे-धीरे इस क्षेत्र में भी विकास और नवचेतना का आगमन होना प्रारम्भ हुआ। सामाजिक एवं सांस्कृतिक जागृति के परिणाम स्वरूप प्राचीनता के प्रति प्रेम और भक्ति का जन्म होता जा रहा था। अस्तु, प्राचीन लेखकों के जीवन-वृत्तों का प्रकाशन और प्राचीन साहित्य का अध्ययन एवं लेखन प्रारम्भ हुआ। उसी समय सरयूप्रसाद मिश्र ने बंगला से 'भारत वर्षीय-संस्कृत-कवियों का समय निरूपण' नामक ग्रन्थ का अनुवाद तथा गंगाप्रसाद अग्निहोत्री ने मराठी से 'संस्कृत-कवि-पंचक' का अनुवाद किया और पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'नैषध चरित्र चर्चा' आदि पुस्तकें लिखीं। एक ओर तो लेखकों द्वारा स्वतन्त्र रूप से संस्कृत-कवियों पर लिखा जा रहा था तो, दूसरी ओर नागरी प्रचारिणी सभा, काशी से प्रकाशित 'पत्रिका' और जयपुर के पत्र 'समालोचक' में खोजपूर्ण और गवेषणात्मक निबन्ध प्रकाशित करा रही थी। परिणामस्वरूप शनैः शनैः हिन्दी के उन साहित्यकारों के जीवन-चरित्र और रचनाएँ प्रकाश में आने लगी थीं, जो काल के प्रभाव से विस्मृत होती जा रही थीं।

बालमुकुन्द गुप्त का कार्य इस दिशा में एक नवीन मार्ग प्रस्तुत करने वाला है। उन्होंने न केवल हिन्दी के, अपितु उर्दू भाषा के उन साहित्यकारों के जीवनवृत्त आलोचनात्मक शैली में प्रस्तुत किए, जो हिन्दी-उर्दू दोनों भाषाओं की निधियाँ कहे जा सकते हैं। हिन्दी के क्षेत्र में उनका यह एक महत्त्वपूर्ण प्रारम्भ तथा दोनों भाषाओं के साहित्यकारों को एक स्थान पर बिठाने का सुन्दरतम प्रयास था। किन्तु गुप्त जी द्वारा प्रवर्तित आलोचना की वह धारा उनके साथ ही समाप्त हो गई। यदि इस परम्परा का अनुवर्त्तन सफलता पूर्वक किया गया होता, तो भारतीयों के सम्मुख उर्दू और हिन्दी की यह समस्या इस रूप में उपस्थित न होती।

बालमुकुन्द गुप्त में आधुनिक-युग की वैज्ञानिक आलोचना शैली की खोज तो निश्चय ही व्यर्थ होगी, उनके युग की सीमाएँ उनके सम्मुख वर्तमान थीं। उस काल के आलोचक रचनागत गुण-दोषों का निरूपण करना भली प्रकार जानते थे ; उनका यह निरूपण पक्षपातहीन और 'नीर क्षीर विवेक' वाली उक्ति को चरितार्थ करने वाला होता था, जिसका एक मात्र उद्देश्य साहित्यान्तर्गत केन्द्रीभूत कुत्सा और कल्मष का उन्मूलन होता था। गुप्त जी के आलोचनात्मक साहित्य पर युग की इस विशिष्टता का प्रभाव स्पष्ट है। उनकी आलोचना को आज की वैज्ञानिक आलोचना की कोटि में चाहे स्थान न दिया जाय, पर उसमें निश्चित ही आज की समालोचना पद्धति को जन्म देने वाले तत्व विद्यमान थे।

उनकी आलोचना का क्षेत्र साहित्य और समाज दोनों ही थे। वे कला को उपयोगिता की तुला पर तोलने वाले साहित्यकार थे। भारतीय सभ्यता, संस्कृति तथा स्वातन्त्र्य के समर्थक साहित्य के आविर्भावक थे। यदि उन्हें किसी रचना से भारतीय सभ्यता और संस्कृति पर आघात होता हुआ प्रतीत होता था, तो उनकी लौह-लेखनी शीघ्र लेखक के विरुद्ध उठ जाया करती थी।

इस दृष्टि से उनकी आलोचना के दो क्षेत्र ठहरते हैं—एक शुद्ध साहित्यिक आलोचना का क्षेत्र—जिसके अन्तर्गत समकालीन लेखकों और साहित्यकारों की रचनाओं पर लिखीं आलोचना आती हैं और दूसरा राजनैतिक क्षेत्र, जिसके अन्तर्गत उनकी दृष्टि साहित्य से हटकर समाज और राष्ट्र पर पड़ती है।

गुप्त जी की आलोचना पद्धति के प्रथम प्रकार के अन्तर्गत वे जीवन-चरित अथवा चरित-चर्चाएँ आती हैं जिनकी शैली इतिवृत्तात्मक कम और आलोचनात्मक अधिक है और जो देशी-विदेशी साहित्यकारों पर लिखीं गई हैं। गुप्त जी हिन्दी-भाषा और साहित्य के विकास एवं उत्थान के लिये हिन्दी-साहित्यकारों के जीवन और साहित्याध्ययन को जितना अनिवार्य समझते थे ; उतना ही उर्दू और अँग्रेजी के उन प्रणेताओं के अध्ययन को आवश्यक समझते थे, जिनका हमारे साहित्य से परोक्ष और अपरोक्ष किसी भी प्रकार का सम्बन्ध रहा है। इस प्रकार उनकी आलोचनात्मक चरित-चर्चाओं के विषय हिन्दी, उर्दू और अँग्रेजी तीनों भाषाओं के साहित्यकार रहे हैं।

हिन्दी-साहित्य के जिन रत्नों की चरित-चर्चा करके उनके व्यावहारिक और साहित्यिक गुणों का परिज्ञान गुप्त जी ने कराया है, वे हैं पं० प्रतापनारायण मिश्र, पं० देवकीनन्दन तिवारी, साहित्याचार्य पं० अम्बिकादत्त व्यास,

पं० देवीसहाय, पं० प्रभुदयाल पांडे, बाबू रामदीनसिंह, पं० गौरीदत्त, पं० माधवप्रसाद मिश्र और मुन्शी देवीप्रसाद ; और उर्दू के जिन प्रसिद्ध लेखकों का परिचय आपने हिन्दी-साहित्य को दिया है, वे हैं—मौलवी मुहम्मद हुसेन आजाद और सर सैयद अहमद खाँ । हरबर्ट स्पेन्सर और मैक्समूलर अँग्रेजी के वे विद्वान हैं, जिनके गुणों का ज्ञान आप हिन्दी-जगत को करा सके हैं । उक्त तीनों भाषाओं के विद्वानों के अतिरिक्त उन्होंने भारतवर्षीय मुगल-इतिहास के सम्राट बादशाह अकबर, टोडरमल और शाइस्ता खाँ पर भी ऐतिहासिक आलोचनात्मक निबन्ध लिखे हैं ।

जीवन-चरित लिखने की गुप्त जी की यह एक अनूठी पद्धति थी । इस शैली में इतिहास की नीरस इतिवृत्तात्मकता नहीं, अपितु साहित्यिक लेखनी से प्रसूत काव्यात्मक सरसता के दर्शन होते हैं । आपने आलोच्य-व्यक्ति के जीवन की सामान्य घटनाओं को प्रसाद और माधुर्य से वेष्टित करके उन्हें काव्यात्मक प्रबन्ध के अधिक निकट पहुँचा दिया है । इन आलोचनात्मक निबन्धों की विशेषता यह है कि इनमें केवल चरित्र-नायक की साहित्यिक कृतियों का विश्लेषण मात्र ही नहीं किया गया, प्रत्युत आलोच्य व्यक्ति की व्यावहारिक और साहित्यिक विशिष्टताओं की समीक्षा प्रस्तुत की गई है ।

गुप्त जी के आलोचनात्मक निबन्धों पर विचार करने से पूर्व युग की सामान्य मान्यताओं और आलोचना की उस पद्धति को समझना आवश्यक है, जिसका प्रभाव उन पर पड़ा था । इसके अतिरिक्त साहित्यिक-सृजन की पृष्ठ-भूमि में सन्निहित उस भावना को भी हृदयंगम कराना है जो साहित्यकारों के लिये प्रेरणा का एक मात्र स्त्रोत थी । जब इस प्रश्न पर विचार करते हैं, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उस युग के साहित्यकार की प्रवृत्ति समाजोन्मुखी थी ; लोक-मंगल, समाज-हित, सामाजिक-समता और उपयोगितावाद के सैद्धान्तिक पक्ष का समर्थन करते हुए साहित्यिक मध्यवर्गीय संस्कारोच्छेदन, प्राचीन अन्ध विश्वास और रूढ़िवादिता पर बने भवन को समूल विनष्ट कर देने के लिए कटिबद्ध थे । उनकी कविता, नाटक, प्रहसन, निबन्धादि सभी विधाओं में सामाजिक क्रान्ति और विप्लव के गीत भरे रहते थे । आलोचना के क्षेत्र में भी इस स्वर की प्रधानता थी । आलोचकों का ध्यान रचना के भावों और मनोविकारों की सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक विवेचना की ओर कम और रचनान्तर्गत लोग-मंगल के भाव की अभिव्यंजना की ओर अधिक होता था । युग की ये सभी विशेषताएँ बालमुकुन्द गुप्त में वर्तमान हैं । वे साहित्य के विशुद्धतावाद और शाश्वतवाद के अन्ध समर्थक न थे, आप उसे

समाज कल्याण और जन-हित-साधना का एक अंग मानते थे। वे भली प्रकार जानते थे कि आलोचना सामाजिक और साहित्यिक प्रगति का एक सबल साधन है। इस साधन को अपने मनोनीत साध्य की प्राप्ति के लिए उपयोग करने में उन्होंने पूर्ण प्रयास किया था। आलोचना में उनका दृष्टिकोण विशुद्ध उपयोगितावादी था। उनकी आलोचना का रूप सदैव लोकप्रिय और विषय समाज-हितैषी रहा था। गुप्त जी द्वारा लिखे इन आलोचनात्मक जीवन-चरित्रों की एक विशेषता यह है कि इन में द्विवेदी-युगीन आलोचना पद्धति की दोषोद्भावना वाली प्रवृत्ति के दर्शन नहीं होते ; प्रत्युत चरित्र नायक की प्रतिभा, जीवन घटनाओं का उल्लेख और साहित्यान्तर्गत उसके स्थान के मूल्यांकन की प्रवृत्ति पाई जाती है। अस्तु, उनके साहित्य में रस-मीमांसा, भाव-निदर्शन तथा मनोवैज्ञानिक-विवेचन के सिद्धान्तों की खोज न करके साहित्य द्वारा समाज-हित-साधना की खोज करना अधिक समीचीन होगा।

हिन्दी-लेखकों में सर्व प्रथम पं० प्रतापनारायण मिश्र का हिन्दी साहित्य के इतिहास में स्थान निर्धारित करते हुए गुप्त जी ने लिखा था—"हिन्दी-साहित्य के आकाश में हरिश्चन्द्र के उदय होने के थोड़े ही दिन पश्चात् एक ऐसा चमकता हुआ तारा उदय हुआ था, जिसकी चमक दमक को देखकर लोग उसे दूसरा चन्द्र कहने लगे थे। उस चन्द्र के अस्त हो जाने के पश्चात् इस तारे की ज्योति और भी बढ़ी। बड़े हर्ष के साथ कितनों ही के मुख से यह ध्वनि निकलने लगी कि यही उस चन्द्र की जगह लेगा। पर दुःख की बात है कि वैसा होने से पहले ही कुछ दिन बाद यह उज्ज्वल नक्षत्र भी अस्त हो गया। इसका नाम पण्डित प्रताप नारायण मिश्र था।"[१] गुप्त जी की इन पंक्तियों से मिश्र जी विषयक अन्य लोगों के विचारों का प्रकाशन, उनके महत्व का प्रतिपादन और उनकी वास्तविक शक्ति का उद्घाटन हो जाता है। यही, नहीं भारतेन्दु के साथ उनकी तुलना करते हुए गुप्त जी ने गद्य-लेखक तथा कवि मिश्र जी का साहित्य में स्थान भी निर्धारित किया था। आपकी मान्यता थी—"पं० प्रतापनारायण मिश्र में बहुत बातें बाबू हरिश्चन्द्र की सी थीं। कितनी ही बातों में यह उनके बराबर और कितनी ही में कम थे; पर एक आध में बढ़कर भी थे। यह सब बातें आगे चलकर स्वयं पाठकों की समझ में आजायेंगी। जिस गुण में कितनी ही बार वे हरिश्चन्द्र के बराबर हो जाते

१—गुप्त निबंधावली, प्रथम भाग, पृ० ७ :

थे, वह उनकी कविता-शक्ति और सुन्दर भाषा लिखने की शैली था। हिन्दी गद्य और पद्य के लिखने में हरिश्चन्द्र जैसे तेज, तीखे और बेधड़क थे, प्रताप नारायण भी वैसे ही थे। दूसरे लोग बहुत सोच-सोच कर और बड़ी चेष्टा से जो खूबियाँ अपने गद्य और पद्य में पैदा करते थे, यह प्रतापनारायण मिश्र को सामने पड़ी मिल जाती थीं—वह बातें करते-करते कविता करते थे, चलते-चलते गीत बना डालते थे। सीधी-सीधी बातों में दिल्लगी पैदा कर देते थे। तब से कितने ही विद्वानों, पण्डितों, कवियों से मेल-जोल हुआ है, बातें हुई हैं और कितनों ही में उनका-सा एक आध गुण भी देखने में आया है। पर उतने गुणों से युक्त और हिन्दी साहित्य-सेवी देखने में न आया।[1]

इससे प्रकट है कि गुप्त जी ने मिश्र जी की आशु काव्य-शक्ति, सुन्दर भाषा लिखने की क्षमता एवं प्रतिभा का विवेचन करके युग-नायक भारतेन्दु जी से तथा हास्य एवं व्यंग्य प्रवृत्ति का उल्लेख करके व्यंग्यकार भारन्तेदु जी से उनकी तुलना की है। इस प्रकार भारतेन्दु की परम्परा का सबल लेखक प्रमाणित करते हुए गुप्त जी ने साहित्य में उनका यथार्थ मूल्यांकन किया है। इन विशेषताओं के मूल्यांकन के अतिरिक्त आपने उनके वार्तालाप कौशल के प्रकाशन की ओर भी संकेत किया है—"उनके कहने का ढंग बड़ा बाँका था, बात करते समय सबका ध्यान अपनी ओर खींच लेने की शक्ति उनमें विलक्षण थी।"[2]

एक कुशल जीवन-चरित लेखक की भाँति आपने उनके वंश-परिचय, बाल्य-कालीन मनोवृत्ति, विद्याध्ययन की रीति, शिक्षा उपार्जन की ओर से उदासीनता और मनमौजी स्वभाव का भी ज्ञान पाठकों को कराया है। गुप्त जी की इस रचना में मिश्र जी विषयक सब बातें बता देने का प्रयास है। यही कारण है कि जीवन और शिक्षा के विविध अङ्गों पर प्रकाश डाला गया है और उनके बहुभाषा ज्ञान को भी स्पष्ट किया गया है। आपने लिखा था—"उर्दू में भी बन्द न थे, उर्दू में उनकी बहुत सी कविता मौजूद है। गजलें लिखते, लावनियाँ लिखते, मसनबी लिखते थे। उर्दू में उनका छोटा सा दीवान मौजूद है।—फारसी की कई कविताओं का उन्होंने हिन्दी अनुवाद किया।"[3] उर्दू फारसी के अतिरिक्त गुप्त जी ने मिश्र जी के अंग्रेजी और संस्कृत भाषा के ज्ञान पर भी प्रकाश डाला है। इनके मतानुसार मिश्र जी का अध्ययन अधूरा रहा पर

१—गुप्त निबंधावली, प्रथम भाग, पृ० २।
२— वही , पृ० १०।
३— वही , पृ० १२-१३।

अँग्रेजी का उन्हें अच्छा ज्ञान था। आधे-आधे घंटे तक अँग्रेजी में बोलने की क्षमता उनमें थी। संस्कृत भाषा के ज्ञान के विषय में भी उनका यही हाल था। गुप्त जी स्वीकार करते हैं कि जो छात्र वर्षों में जिस कार्य को पूरा कर पाते थे मिश्र जी उसे शीघ्र कर लिया करते थे। मिश्र जी के हिन्दी-प्रेम का भी गुप्त जी ने यथास्थान उल्लेख किया है। उनकी धारणा थी—हिन्दी का प्रतापनारायण को बड़ा शौक था। हिन्दी किताबें और हिन्दी अखबार वह दिन रात पढ़ा करते थे।"[१]

मिश्र जी की साहित्यिक एवं चारित्रिक सभी विशेषताओं का दिग्दर्शन कराते हुए आप उनके अक्षरों की बनावट और लिखावट के विषय में भी कह गए हैं। आपका विचार था—"इनके अक्षर एक विशेष सूरत शक्ल के थे। पंक्तियाँ सीधी नहीं लिख सकते थे। टेढ़ी भी यहाँ तक लिखते थे कि दो-दो अढ़ाई-अढ़ाई अंगुल का फासिला पड़ता था।"[२]

मिश्र जी पर लिखे गुप्त जी के प्रस्तुत लेख का अध्ययन करने के उपरांत यह अधिक स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने एक सफल आलोचक तथा सत्यनिष्ठ अनुसन्धान कर्त्ता की भाँति उनके विषय में खोज-खोज कर सामग्री उपस्थित की है और उनके सभी विशिष्ट गुणों पर सम्यक् प्रकाश डाला है। उनकी काव्य-प्रतिभा और लेखन-शक्ति से लेकर उनके स्वाभाव की प्रत्येक बात का उल्लेख करके गुप्त जी ने उनका यथार्थ मूल्यांकन किया है। इस प्रकार हिंदी के साथ-साथ अन्य भाषाओं के साहित्य में उनकी क्षमता का प्रदर्शन करके गुप्त जी उनका सही-सही रूप अंकित करने में सफल हुए हैं।

गुप्त जी के इस कार्य का यथार्थ मूल्यांकन उसी अवस्था में सम्भव है, जब उनके कार्य की तुलना मिश्र जी पर लिखी अन्य आलोचकों की रचनाओं के साथ की जाय। इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि मिश्र जी पर लिखने वाले गुप्त जी के परवर्ती आलोचकों में पं० रामचन्द्र शुक्ल, बाबू श्यामसुन्दरदास, पं० यदुनन्दन मिश्र, श्री कृष्ण शङ्कर शुक्ल, श्री प्रेमनारायण टण्डन, रामनरेश त्रिपाठी, श्री कमलाकांत, श्री रामकुमार वर्मा, श्री त्रिलोकी नारायण दीक्षित, सुधाकर पांडेय और डा० रामविलास शर्मा हैं। इनमें से अधिकांश की रचनाओं में प्रायः उन्हीं बातों का उल्लेख है जिनका वर्णन गुप्त जी अपने लेख में कर गए हैं। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने मिश्र जी के बचपन, मनमौजी

१—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, पृ० १३।

२— वही , पृ० १४।

स्वभाव, लावनीबाजों की टोलियों में सम्मिलित होने की प्रवृत्ति तथा उनकी व्यंग्यपूर्ण वक्रताप्रधान शैली का उल्लेख किया है और भारतेन्दु को उनका आदर्श बताया है। तत्पश्चात् उनके निबंधों की विषय सम्बन्धी विविधता और उनके हास्य विनोदमयी शैली तथा गंभीर विषयों पर लिखे संयत और साधु शैली के उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। अन्त में उनके नाट्य-रचना-कौशल पर भी विचार किया है।[१] शुक्ल जी की इस आलोचना से ज्ञात होता है कि उन्होंने मिश्र जी के बहुभाषा ज्ञान, उनकी आशु कविता-शक्ति और प्रतिभा की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया, जिसका सम्यक् विवेचन गुप्त जी में वर्त्तमान है। बाबू श्यामसुन्दर दास की मान्यता है कि मिश्र जी 'ललित कवि' के पास जाते थे। "परिणाम यह हुआ कि भृङ्गी के कीट की तरह उक्त कवि महाशय और लावनी बाजों की आशु कविता सुनते-सुनते ये स्वयं एक अच्छे कवि हो गए।"[२] इसके प्रतिकूल गुप्त जी उन्हें प्रतिभाशाली कवि मानते थे और काव्य-रचना-कौशल में भारतेन्दु के समान स्वीकार करते थे। बाबू श्यामसुन्दर दास ने मिश्र जी के विषय में अन्य वे ही बातें लिखीं हैं जो गुप्त जी पहले लिख चुके थे। श्यामसुन्दर दास जी मिश्र जी को भट्ट जी, ठाकुर जगमोहनसिंह तथा पं० बदरीनारायण चौधरी के साथ निबन्ध लेखक भी मानते हैं।[३] श्री यदुनन्दन मिश्र ने भी सामान्यतः गुप्त जी और आचार्य शुक्ल द्वारा लिखी बातों का उल्लेख किया है। उनकी रचना में कोई नवीनता नहीं पाई जाती, केवल पिष्टपेषण मात्र उपलब्ध होता है।[४]

पं० कृष्णशंकर शुक्ल ने मिश्र जी के गद्य-साहित्य और भाषा शैली पर आधुनिक आलोचक की भाँति गम्भीरता एवं सूक्ष्मता के साथ विचार किया है। निस्संदेह गुप्त जी ने इतनी सूक्ष्मता के साथ उनकी शैली की उत्कृष्टता प्रदर्शित नहीं की। पर मिश्र जी की कविता-शक्ति के विषय में वह शुक्ल जी की अपेक्षा अधिक कह गए हैं। शुक्ल जी इस विषय में मौन ही रहे हैं।[५] श्री प्रेमनारायण टंडन ने भी विशेषतः मिश्र जी के गद्य-साहित्य और भाषा-

---

१—रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ४६४–४६६।

२—श्यामसुन्दर दास, हिन्दी कोविद रत्नमाला, पहला भाग, पृ० ५९।

३—श्यामसुन्दर दास, हिन्दी भाषा और साहित्य, पृ० ३७८।

४—यदुनन्दन मिश्र, हिन्दी साहित्य का सरल इतिहास, पृ० ३३१।

५—कृष्ण शंकर शुक्ल, आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १४९–१५०।

शैली को लेकर लिखा है। उनका आधार विशेषतः शुक्ल जी का इतिहास ही रहा है। वे भी शुक्ल जी की भाँति मिश्र जी के अन्य गुणों की ओर से तटस्थ रहे हैं। टंडन जी मिश्र जी को हास्य और व्यंग्य का उच्च लेखक मानते हैं। उनका मत है—"—वैसे लेख हिन्दी में, उनके पहले ही नहीं उनके बाद भी कम लिखे गये हैं।"[1] टण्डन जी द्वारा की गई समीक्षा को देखने से विदित होता है कि उनकी मान्यताएँ भी मिश्र जी के विषय में प्रायः वे ही हैं, जिनका संकेत गुप्त जी ने किया था। युग के प्रभावानुकूल टंडन जी के विवेचन में गुप्त जी की अपेक्षा कुछ वैज्ञानिकता अवश्य पाई जाती है।

पं० रामनरेश त्रिपाठी मिश्र जी को धर्मपरायण, स्वतन्त्रता प्रेमी और कांग्रेस के कट्टर पक्षपाती घोषित करते हैं।[2] गुप्त जी ने भी उन्हें काँग्रेस समर्थक घोषित किया हैं। इसके अतिरिक्त उनकी मान्यताएँ भी गुप्त जी के समान हैं। श्री कमलाकांत और डा० रामकुमार वर्मा ने भी मिश्र जी के साहित्य के एक ही अंग गद्य और उसकी शैली पर विचार किया है और उन्हें भारतेन्दु का अनुयायी माना है। श्री कमलाकांत जी मिश्र जी की विचार धारा को न तो गम्भीर मानते हैं और न उन्हें अध्ययन-शील स्वीकार करते हैं।[3] डा० रामकुमार वर्मा उन्हें हिन्दी का बड़ा प्रेमी, राजनैतिक, धार्मिक और सामाजिक विचारों में पूर्ण स्वतन्त्र तथा सरल मुहावरेदार भाषा का जनक स्वीकार करते हैं।[4] श्री त्रिलोकी नारायण दीक्षित ने मिश्र जी के केवल नाटक साहित्य पर "पं० प्रतापनारायण मिश्र एक नाटककार तथा अभिनेता"[5] नामक लेख में विचार किया है और "पं० प्रतापनारायण मिश्र कवि और नाटककार"[6] नामक लेख में उनकी कविता और निबंध साहित्य की विशेषता पर सूक्ष्मता के साथ विचार किया है। निस्संदेह दीक्षित जी का विवेचन गुप्त जी की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म, प्रौढ़ और वैज्ञानिक है। गुप्त जी ने तो मिश्र जी के विषय में कुछ सूक्तियाँ सी कहदीं हैं, जिनमें उनकी सर्वाङ्गीण विशेषताओं का उल्लेख हो गया है। डा० रामविलास शर्मा मिश्र

१—प्रेमनारायन टंडन, हमारें गद्य निर्माता, पृ० ७९।
२—रामनरेश त्रिपाठी, कविता कौमुदी, भाग २, पृ० ५५।
३—सम्मेलन-पत्रिका, भाग २४, संख्या ६–७, पृ० १५।
४— वही , भाग २५, संख्या ३–४, पृ० १३।
५— वही , भाग ३३, संख्या ६–७, पृ० ३३।
६— वही , भाग ३४, संख्या ४–६, पृ० ९३।

जी को गुप्त जी के अनुरूप हास्य और व्यंग्य का प्रसिद्ध लेखक स्वीकार करते हैं। पर शर्मा जी ने गुप्त जी की अपेक्षा मिश्र जी के कवि रूप को अधिक उत्तमत्ता के साथ आँका है। मिश्र जी ने 'ब्रेडला स्वागत' और 'तृप्यन्ताम्' नामक कविताओं में देश एवं समाज की जिन दशाओं का अंकन किया है शर्मा जी ने उनको स्पष्ट कर दिया है और उन्हें जन-कवि ठहराया है। इसके अतिरिक्त गद्य-शैली और सभ्यता एवं सजीवता की दृष्टि से अँग्रेजी लेखक फील्डिंग के साथ उनकी तुलना करते हुए शर्मा जी ने उनका यथार्थ मूल्यांकन किया है।[१] यह निर्विवाद सत्य है कि गुप्त जी का दृष्टिकोण इतना व्यापक नहीं है, किन्तु उनके युग की सीमाओं और आलोचना पद्धति को देखते हुए यह कहना असमीचीन न होगा कि उन्होंने मिश्र जी के विषय में जो बातें आधार रूप से कह दीं है, उनको परवर्ती आलोचक आदर्श मानकर चले हैं। शर्मा जी ने मिश्र जी की धार्मिकता पर प्रकाश नही डाला, गुप्त जी से यह गुण भी छिपा न रह सका था।

इनके अतिरिक्त मिश्र जी की साहित्यिक विशेषताओं का उल्लेख और उनके पत्र 'ब्राह्मण' की प्रशंसा बाबू शिवनन्दन सहाय ने भी की है। आप लिखते हैं—"ब्राह्मण की समता करने वाला अपने समय में भारतवर्ष में कोई विरला ही मासिक पत्र था।"[२] सम्मेलन-पत्रिका ने भी मिश्र जी की हिन्दी सेवा का उल्लेख करते हुए गुप्त जी के कथन का पिष्टपेषण किया है।[३] इसी प्रकार 'कानपुर जिले के कवि' नामक लेख में साहित्य शिरोमणि श्री हीरालाल शर्मा ने मिश्र जी को हिन्दी-प्रेमी, विशेष न पढ़ा-लिखा, जातीयता का पोषक और हास्य लेखक स्वीकार किया है।[४] इस विवेचन के आधार पर कहना अप्रासंगिक न होगा कि मिश्र जी विषयक गुप्त जी की मान्यताएँ मौलिक, पूर्ण और प्रामाणिक हैं। इन्हीं धारणाओं का प्रभाव परवर्ती आलोचकों पर स्पष्ट रूपेण लक्षित होता है। इतना अवश्य है कि गुप्त जी और आधुनिक आलोचक

१—रामविलास शर्मा, भारतेन्दु-युग, प्रतापनारायण मिश्र तथा अन्य निबन्धकार, पृ० १०८।

२—चतुर्थ हिन्दी साहित्य सम्मेलन, भागलपुरी कार्य्य-विवरण, दूसरा भाग लेखमाला, पृ० १३७।

३—सम्मेलन पत्रिका, भाग २, अंक १, पृ० ४।

४—१३वां हिन्दी साहित्य सम्मेलन कानपुर, कार्य विवरण, दूसरा भाग, लेख माला, पृ० ३८।

के विवेचन में उतना ही अन्तर है जितना १६वीं सदी के अन्तिम चरण तथा बीसवीं सदी के वैज्ञानिक युग में। किन्तु गुप्त जी में आलोचना की वैज्ञानिक प्रणाली के अभाव में, इस मान्यता को ठेस नहीं लगती कि वे अच्छे आलोचक और अनुसंधान कर्त्ता थे।

जीवन-चरित लेखक के रूप में आलोचक गुप्त जी की कुछ अन्य विशेषताएँ भी सम्मुख आती हैं—वे सचेष्ट एवं कुशल अनुसन्धानकर्ता थे, विस्मृति के गर्त से प्राचीन साहित्यकारों का उद्धार करने में उन्हें विशेष रुचि थी और चरित-चर्चा की एक अभूतपूर्व शैली का उन्होंने विकास किया था। 'प्रयाग–समाचार' के जन्मदाता, पं० देवकीनन्दन तिवारी[१], साहित्याचार्य पं० अम्बिका दत्त व्यास,[२] पं० देवीसहाय,[३] पांडे प्रभुदयाल,[४] बाबू रामदीन सिंह[५], पं० गौरीदत्त,[६] पं० माधव प्रसाद मिश्र,[७] और मुंशी देवी प्रसाद[८] प्रभृत्ति हिन्दी के वे लेखक थे, जिनके जीवन-चरित गुप्त जी ने भारतमित्र में प्रकाशित करके उनको पुनर्जीवित किया था। इस कार्य की सम्पन्नता में उनकी दक्षता तथा श्रमसाध्यता परम स्तुत्य है। पं० देवकी नन्दन तिवारी की साहित्यिक सेवाओं को हिन्दी-समाज प्रायः विस्मृत कर चुका था, यही कारण था कि गुप्त जी को उनके विषय में लिखते समय एक अनुसंधान कर्ता की भाँति श्रम और धैर्य के साथ कार्य लेना पड़ा था। पण्डित जी के जीवन तथा साहित्य–साधना के विषय में गुप्त जी को पूर्ण ज्ञान न था। अस्तु, आपने तत्कालीन साहित्यकारों एवं पत्र सम्पादकों को पत्र लिखकर पण्डित जी विषयक अपने ज्ञान को विकसित करने के लिए भगीरथ प्रयास किया था। उन्हें उत्तर मिला था 'हिन्दी प्रदीप' के बृद्ध सम्पादक पं० बालकृष्ण भट्ट से, जिसको आपने आलोचकीय टिप्पणी के साथ भारतमित्र में प्रकाशित कर दिया था। शेष महानुभावों के जीवन-चरित लिखने में गुप्त जी स्वयं समर्थ थे।

जहाँ तक चरित-चर्चाओं में वर्णित आलोच्य व्यक्ति के स्वभाव, वेषभूषा, रहन-सहन तथा गुण-वर्णन का प्रश्न है, गुप्त जी ने कुशल चरित-लेखक के समान उनका श्रेष्ठ दिग्दर्शन कराया है, जिससे उनकी शैली की चित्रात्मकता एवं इतिवृत्त वर्णन की दक्षता भली प्रकार ज्ञात हो जाती है।

१—भारत मित्र, सन् १६०५। २—भारत मित्र, सन् १६००।
३— वही, सन् १६०३। ४— वही, सन् १६०३।
५— वही, सन् १६०३। ६— वही, सन् १६००।
७— वही, सन् १६०७। ८— वही, सन् १६००।

किन्तु जब उनकी रचनाओं की वैज्ञानिक आलोचना का प्रश्न उठता है तो, गुप्त जी की अपूर्णता का आभास होता है। पर एतदर्थ गुप्त जी को दोषी ठहराना, उनके साथ अन्याय करना होगा क्योंकि उनके युग की सीमाएँ उनके सम्मुख वर्तमान थीं। अस्तु, वे अपने चरित-नायकों के साहित्यिक जीवन की झाँकियाँ तथा उनकी रचनाओं की परिचयात्मक आलोचना प्रस्तुत करने में समर्थ हो सकें। तिवारी जी की वेषभूषा का चित्रण गुप्त जी ने बड़ी कलात्मकता के साथ किया है—"लम्बे पतले आदमी थे, रंग सांवला और उमर ढलती हुई × × × × एक मोटी कमरी पहने हुए थे, सिर पर एक गोल बड़ी भद्दी टोपी थी, जो उस प्रान्त के पुरानी चाल के ब्राह्मण प्रायः पहना करते हैं। उनके वेश आदि से उनकी गरीबी जाहिर होती थी, पर बड़े तेजस्वी थे।"[१] इसी प्रकार बड़ी कुशलता के साथ आपने अम्बिकादत्त व्यास की प्रतिभा और कवित्व शक्ति का ज्ञान कराया है। आपने लिखा था—"लिखने पढ़ने में बड़े तेज थे कि १० साल की उमर में आपने भाषा कविता बनाने तक का अभ्यास कर लिया था। और उस तरह याद तो कितनी ही चीजें कर लीं। ११ साल की उमर में व्यास जी ने जो समस्यापूर्ति की थी, उसे देखकर लोग दंग रह गये थे।"[२] एक और स्थान पर व्यास जी के बहुभाषा ज्ञान का परिचय देते हुए आपने लिखा था—"व्यास जी एक विलक्षण योग्यता के पुरुष थे। कितनी ही भाषाएँ जानते थे। बंग भाषा में वक्तृता तक कर सकते थे। अंग्रेजी भी जानते थे। काव्य के सिवा दर्शन-शास्त्र में भी वह बन्द न थे। न्याय, वेदान्त सब में दखल था।"[३]

चरित-लेखक, गुप्त जी ने बड़ी निष्पक्षता तथा सिद्धान्तवादिता के साथ अपने चरित-नायकों की विशिष्टिताओं का परिचय कराया है। पं० प्रभुदयाल पाँडे के विषय में लिखीं पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं, "उन्होंने आरम्भ ही में संस्कृत की एक ज्योतिष की पुस्तक का हिन्दी में अनुवाद किया। हिन्दी में उनकी कहाँ तक पहुँच थी, यह उनकी बनाई हुई बिहारी की सतसई टीका से भली भाँति विदित होती है। अवश्य ही उसमें वह कई भूलें हैं, पर अब तक बिहारी सतसई पर जो टीकाएँ हुई हैं, प्रभुदयाल की टीका ही उनमें सबसे उत्तम और अपने ढङ्ग की निराली है। हिन्दी के व्याकरण विषय में उनकी पहुँच

१—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, पृ० १७।
२— वही' पृ० २०।
३— वही, पृ० २२।

बहुत बढ़-चढ़ कर थी।"[१] यही नहीं, पाण्डे जी की अन्य विशेषताएँ भी गुप्त जी को अज्ञात न थीं। लेखक ने उनके स्वभाव का उल्लेख कुशलता पूर्वक किया है—"वह सरल सीधे और मस्त आदमी थे। बड़े दिल्लगीबाज़ थे। विशेषकर हँसने हँसाने और कविता में दिल्लगी करने की आदत उनकी बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। किसी किसी दिन कविता ही में बातें करते थे, एक शब्द भी गद्य नहीं बोलते थे। मस्त ऐसे थे कि कभी-कभी चुपचाप जंगल को निकल जाते और कई दिन तक गायब रहते थे।"[२] चरित-नायक की कवित्व शक्ति और व्यावहारिक विशिष्टिताओं का परिचय लेखक की इन पंक्तियों से भली-भाँति हो जाता है। हिन्दी भाषा और नागरी लिपि के प्रबल समर्थक मेरठ निवासी पं० गौरीदत्त की कार्यदक्षता और एतद्विषयक उनकी तन्मयता का उल्लेख लेखक ने बड़ी सतर्कता के साथ किया है। लिखा है—"किसी चीज के पीछे लगे, तो इन पण्डित जी की भाँति लगे। यह नागरी ही लिखते हैं, नागरी ही पढ़ते हैं तथा नागरी ही में गीत गाते हैं, भजन गाते हैं, गजल बनाते हैं। नागरी ही में स्वांग तमाशे करते हैं, नाटक खेलते हैं। जब सारा मेरठ शहर नौचन्दी की सैर करता है, तो यह वहाँ देवनागरी का झण्डा उड़ाते हैं। साराँश यह है कि सोते जागते, उठते, बैठते, चलते, फिरते आपको नागरी ही का ध्यान है। नागरी के लिए आपने मेमोरियल भेजने में बड़ा परिश्रम किया है।"[३] चरित-नायक के जीवन का एक रेखा चित्र इस प्रकार अंकित किया था—"अच्छे गृहस्थ हैं। युवावस्था में पण्डिताई, मास्टरी, कमसरियट की नौकरी आदि कर चुके हैं। कुटुम्बी हैं, लड़की-लड़के वाले हैं। गृहस्थ का काम अच्छी तरह चला चुके हैं। पुत्र पुत्रियों के विवाह का खर्च अपनी कमाई से चला चुके हैं।"[४]

अन्य चरित-नायकों के गुणवर्णन की भाँति ही लेखक ने पं० माधवप्रसाद मिश्र की कवित्वशक्ति, तर्कशीलता, निष्पक्ष समालोचकीय-दृष्टिकोण तथा तीव्र व्यंग्य आदि का ज्ञान अपने पाठकों को कराया था। गुप्त जी ने लिखा था—"यह उत्तम पुस्तकें लिख सकते हैं, सुन्दर कविता बना सकते हैं और अच्छे-अच्छे युक्तिपूर्ण लेख लिख सकते हैं। कड़ी आलोचना लिखने में वह बड़े ही कुशल थे। अति तीव्र और जहर में बुझे लेख लिखने पर भी वह हँसी

१—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, पृ० २७। ३—वही, पृ० ३३।
२— वही, पृ० २८। ४—वही पृ० ३२।

के लेख लिखकर पाठकों के चेहरे पर खुशी ला सकते थे।"[1] सुतरां आलोचक गुप्त जी को विविध लेखकों के स्वाभाविक तथा व्यवहारिक वैशिष्टय, कवित्व शक्ति, बहुभाषाज्ञान, हिन्दी प्रेम एवं साहित्यिक गति विधि का चित्रण करने में पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है।

जीवन-चरित लेखक के रूप में आलोचक गुप्त जी का दूसरा पक्ष है—चरित-नायक की साहित्यिक कृतियों का परिचयात्मक मूल्यांकन। 'प्रयाग समाचार' के सर्वेसर्वा पं० देवकीनन्दन तिवारी प्रणीत 'जयनारसिंह की' नामक प्रहसन के विषय में आपने लिखा था—"जयनारसिंह की एक प्रहसन है। प्रान्तीय ही उसकी भाषा रखी गई है। झाड़-फूँक करने वाले और उनके मूर्ख लालची और ठग कैसे-कैसे बोलते हैं, देहात की भले घर की स्त्रियों की कैसी बोली है, देहात की दाई और मजदूरियाँ कैसे बोलती हैं, उसका इस प्रहसन में बड़ा ध्यान रखा गया है। भाषा, भाव और प्लाट, तीनों के लिहाज से यह प्रहसन इतना सुन्दर हुआ है कि हिन्दी में उसका सानी मिलना कठिन है।"[2] एक अन्य स्थान पर इसी रचना के विषय में लिखा था—"हिन्दी लिखने वालों पर कुछ लोग इलजाम लगाते हैं कि यह अधिकतर बंगभाषा से चोरी और तरजमा करते हैं, पर जो लोग तिवारी जी के इस प्रहसन को ध्यान से देखेंगे वह कहेंगे कि वह अछूता है और बंगभाषा में कोई उस ढंग का उतना सुन्दर प्रहसन नहीं है।"[3] ठीक इसी प्रकार गुप्त जी ने पं० देवी सहाय जी के सम्पादकत्व में प्रकाशित होने वाले पत्र, 'धर्म दिवाकर' के विषय में लिखा था—"वह कोई पाँच साल तक चलाया। उसमें जैसे सुन्दर और सारगर्भित लेख उक्त पंडित जी लिखते थे, उनसे उनकी विद्वता का भली भाँति परिचय मिलता है। कह सकते हैं कि फिर हिन्दी भाषा में शास्त्रों का तत्व समझने वाला वैसा मासिक-पत्र नहीं निकला।"[4] गुप्त जी की उक्त पंक्तियों से तत्कालीन परिचयात्मक आलोचना के रूप का ज्ञान हो जाता है। यही नहीं, मुंशी देवीप्रसाद विषयक लेख में आपने मुंशी जी की साहित्य-साधना पर यथेष्ट प्रकाश डाला है। आलोच्य लेख से ज्ञात होता है कि मुंशी जी ने शोध-कार्य में नागरी प्रचारिणी सभा काशी को महान सहायता प्रदान की थी और लगभग एक हजार हस्तलिखित पुस्तकों का पता बताया था। प्राचीन शिलालेख, सिक्के और पत्रों के अनुसंधान में मुन्शी जी ने महान् योग दिया था। गुप्त

१—गुप्त निबन्धावली, पृ० ३२। २— वही , पृष्ठ १८।
३— वही , वही। ४— वही , पृ० २४।

जी ने एक अनुसन्धान कर्त्ता की भाँति मुंशी जी की साधना को पुनः पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया था। मुंशी जी द्वारा प्रणीत रचनाओं का उल्लेख, उनका विषय एवं भाषानुरूप वर्गीकरण, उनके ऐतिहासिक ज्ञान का विवेचन एवं कवित्त्व शक्ति आदि का परिज्ञान गुप्त जी के उक्त लेख से भली प्रकार हो जाता है।

आलोचक गुप्त जी ने हिन्दी लेखकों के अतिरिक्त बंगला के योगेन्द्र चन्द्र वसु तथा अंग्रेजी के हरबर्ट स्पेन्सर एवं मैक्समूलर आदि पर भी आलोचनाएँ लिखीं थीं। इन आलोचनाओं में भी गुप्त जी की शैली एवं दृष्टिकोण मूलतः वही था, जो हिन्दी लेखकों की आलोचनाओं में उपलब्ध होता है। इन आलोचनाओं में आपने योगेन्द्र बाबू का बंगला तथा अँग्रेजी में अल्प मूल्य के पत्रों का प्रकाशन तथा पत्रों के स्थायी ग्राहकों को उपहार स्वरूप पुस्तक भेंट करने की परम्परा के प्रवर्तन आदि, विशिष्ट गुणों का परिचय दिया है। इस प्रकार उच्च कोटि के पत्रकार के रूप में योगेन्द्र बाबू का मूल्यांकन उक्त आलोचना से भली प्रकार हो जाता है। हरबर्ट स्पेन्सर विषयक आलोचना में लेखक ने उनकी प्रवृत्ति, साहित्यिक गाम्भीर्य, दार्शनिक महत्ता तथा उनके आकर्षक व्यक्तित्व पर प्रकाश डाला है। स्पेन्सर के बाल्यकालीन स्वभाव तथा उनके जीवन की साहित्यिक महत्व की घटनाओं के उल्लेख की दिशा में गुप्त जी सचेष्ट रहे हैं। इसी प्रकार मेक्समूलर का मूल्यांकन भी गुप्त जी के लेख से होता है। आपने जहाँ मेक्समूलर द्वारा वेदों के अनुवाद की प्रशंसा की है, वहीं उनके अभावों की ओर भी संकेत किया हैं। मेक्समूलर से गुप्त जी कहीं-कहीं असहमत भी हैं। किन्तु गुप्त जी के लेख से मेक्समूलर की महत्ता का प्रतिपादन होता है। आपने लिखा था—"उनके प्रताप से इस संस्कृत के देश में संस्कृत की कुछ अधिक चर्चा हुई तथा इस देश के असंस्कृत लोगों के हृदय में संस्कृत ने कुछ जगह पाई। इस देश के अँग्रेजी पढ़े हुए बाबू, जो केवल अँग्रेजी को ही लेकर मस्त थे, प्रोफेसर मैक्समूलर की बदौलत कुछ-कुछ संस्कृत की तरफ झुके। वह संस्कृत के तलस्पर्शी पण्डित नहीं थे, तो भी भारतवासियों के सन्मानार्ह थे, क्योंकि देवनागरी, और संस्कृत में उनकी प्रगाढ़ अनुरक्ति थी।"[१] उक्त पंक्तियों ने मेक्समूलर के संस्कृत ज्ञान, भारत वासियों पर उनके प्रभाव तथा उनके देवनागरी प्रेम पर प्रकाश पड़ता है और उनका सही मूल्यांकन होता है।

१—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, पृ० ५३।

आलोचक गुप्त जी की बहुज्ञता तथा उनके ऐतिहासिक ज्ञान की उपलब्धि अकबर बादशाह[1] तथा टोडरमल[2] आदि लेखों से होती है। प्रथम लेख में आपने अकबर द्वारा सत्ता प्राप्ति का इतिवृत्त, शासकीय व्यवस्था, उसके साहित्य एवं संस्कृति-प्रेम, धार्मिक सहिष्णुता, न्याय प्रियता, प्रजावत्सलता तथा गुण-ग्राहकता आदि गुणों का दिग्दर्शन कराया है और दूसरे लेख में राजा टोडरमल की राजस्व विभागीय दक्षता, एतद्‌विषयक नवीन नियम निर्धारण तथा सिद्धांत प्रचलन, जिनमें हुण्डी, सराफ, चौधरी, व्यापारी, साहूकार आदि के लक्षण तथा बहीखाता आदि लेखन के नियम उल्लिखित हैं, का विवेचन पाया जाता है। इस प्रकार दोनों ऐतिहासिक व्यक्तियों के मूल्यांकन करने में लेखक पूर्णतः सफल हुआ है। अकबर के समय-निर्धारण हेतु प्रस्तुत तर्कों एवं ऐतिहासिक तथ्यों से गुप्त जी का इतिहास विषयक ज्ञान एवं शोध-प्रवृत्ति का अनुमान होता है। समय निर्धारण हेतु विविध भाषाओं के इतिहास ग्रंथों का सारतत्व प्रस्तुत करना गुप्त जी जैसे आलोचक के अनुरूप ही था। सुतरां, आलोचक गुप्त जी ने विविध भाषाओं के साहित्यकारों तथा ऐतिहासिक पुरुषों की चारित्रिक विशिष्टताओं तथा मानवोपयोगी गुणों का विवेचन किया है, जिसका सामाजिक तथा राष्ट्रीय उत्कर्ष की दृष्टि से शाश्वत मूल्य है। साथ ही उनके रेखा चित्रकार, कलाकार तथा समाज शास्त्री आदि रूपों का ज्ञान भी उनकी आलोच्य रचनाओं से उचित रूपेण मिल जाता है। उनके ऐतिहासिक ज्ञान की पुष्टता तथा जीवन चरितों की प्रामाणिकता इस बात से सिद्ध होती है कि जब सम्मेलन-पत्रिका ने मुंशी देवीप्रसाद मुंसिफ के निधन पर उनका जीवन चरित प्रकाशित किया था, तो वह गुप्त जी द्वारा प्रकाशित 'भारत मित्र' से उद्‌धृत किया गया था।[4]

गुप्त जी प्रख्यात जीवन चरित लेखक थे। इन जीवन चरितों की विशेषता यह थी कि इनमें वस्तु-वर्णन की नीरस तथा तथ्य आकलन की एकरसता व्यंजक शैली के दर्शन नहीं होते, प्रत्युत साहित्यिक लेखनी से प्रसूत काव्यात्मक सरसता सर्वत्र दृष्टिगत होती है। लेखक ने आलोच्य व्यक्ति के जीवन की सामान्य घटनाओं को प्रसाद एवं माधुर्य से वेष्टित करके, उन्हें काव्यात्मक प्रबन्ध के अधिक समीप पहुँचा दिया है। इन आलोचनात्मक जीवन वृत्तों की विशिष्टता यह है कि इनमें चरित नायक की केवल साहित्यिक

१—भारतमित्र, सन् १९०५। २— वही , सन् १९०४।

३—सम्मेलन पत्रिका, भाग १०, अंक ११-१२, पृष्ठ ५१६-१८।

प्रवृत्तियों का विश्लेषण मात्र ही नहीं, प्रत्युत उनकी व्यावहारिक विशेषताओं का भी विवेचन किया गया है। पं० प्रतापनारायण मिश्र विषयक आलोचनात्मक प्रबन्ध में गुप्त जी मिश्र जी की आशु काव्य-क्षमता एवं सुन्दर भाषा लिखने की प्रतिभा को स्पष्ट करते हुए उनकी तुलना युग प्रवर्तक भारतेन्दु तथा व्यंग्य-लेखन-कौशल की समता व्यंग्यकार भारतेन्दु से करते हैं। इस प्रकार चरित नायक का साहित्यिक मूल्यांकन करने में गुप्त जी पूर्ण सफल हुए हैं। उनके जीवन चरितों की यही विशेषता है।

समकालीन लेखकों की आलोचना—

आलोचक गुप्त जी की सबलतम आलोचना का निदर्शन समकालीन लेखकों पर लिखीं गईं आलोचनाएँ हैं। इस प्रकार की आलोचना में रचना का कलात्मक रूप गौण और रूप की लोक-प्रियता प्रमुख है। इस विद्या में आपका ध्यान विषय वस्तु के कलात्मक निरूपण की ओर अल्प और उसके समाज हितैषी पक्ष की ओर अधिक होता है। आलोचना उनके लिए साध्य न होकर साधन मात्र थी। इस साधन का उपयोग आपने लोकरुचि विधायक एवं लोक-कल्याणकारी रचनाओं के समर्थन में किया था। इस प्रकार की उनकी आलोचनाएँ हैं—'अश्रुमती नाटक' तथा 'तारा उपन्यास' पर लिखे लेख। इसके अतिरिक्त आलोचक गुप्त जी ने अपनी आलोचना द्वारा अतिशय शृङ्गारिकता के पुनरावर्तन का विरोध 'कामशास्त्र'[१] नामक पुस्तक तथा द्विवेदी जी की कविता 'प्रियंवदा'[२] की आलोचना द्वारा किया, कुरुचि उत्पादक भद्दी अनुकृति का प्रतिवाद सुशील कवि (पत्तनलाल) की 'उजाड़ गांव', 'साधु' तथा 'यात्री' नामक रचनाओं की समीक्षा[३] द्वारा और क्लिष्ट एवं दुर्बोध साहित्य का निरसन 'तुलसी-सुधारक'[४] की आलोचना द्वारा किया है। आपने व्यक्तिगत पत्रों द्वारा आलोचना में लोक-कल्याण एवं देश हितैषिता के भावों का स्थापन पं० श्रीधर पाठक[५] तथा मुन्शी दयानारायण निगम[६] को लिखे पत्रों द्वारा और

१—भारतमित्र, ५ फरवरी, सन् १९०५ ई०।

२—सरस्वती, भाग ७, सं० १२, पृ० ४८९।

३—भारतमित्र, २१ अगस्त सन् १८९९ ई०।

४—वही, सन् १९०२ ई०।

५—गुप्त जी का पाठक जी को लिखा २६–११–१९०० का पत्र।

६—जमाना, अक्टूबर-नवम्बर सन् १९०७, पृ० ३०३।

समीक्षा की वैज्ञानिक पद्धति का प्रवर्तन 'गुलशने हिन्द'[1] एवं 'अधखिला फूल'[2] की आलोचना द्वारा किया है। अन्ततः भारतेंदु द्वारा प्रवर्तित हिन्दी-आचोचना की जातीय परम्परा का उन्नयन करने में गुप्त जी को पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई थी।

'अश्रुमती नाटक' की आलोचना गुप्त जी की समीक्षा-शैली के दो पहलुओं को प्रकाश में लाती है—प्रथम, रचनान्तर्गत लोकरुचि विधायक तथा लोकप्रिय रूप का समर्थन तथा वैज्ञानिक आलोचना पद्धति का प्रवर्तन। 'अश्रुमती' बंगला का एक नाटक है, जिसकी कथावस्तु स्वन्त्रता प्रिय वीर शिरोमणि महाराणा प्रताप के चरित्र पर कलंक कालिमा का लेपन करती है। नाटककार ने ऐतिहासिक तथ्यों की अवहेलना करते हुए अश्रुमती को प्रताप की पुत्री माना है और उसे जहाँगीर तथा अकबर के दरबारी राजपूत पृथ्वीराज के प्रेम में व्यथित दिखाया है। कल्पना-सूत्र आगे तक चलता है। सलीम प्रति-द्वन्द्विता वश पृथ्वीराज को कत्ल कर देता है और अश्रुमती को घायल। तदनन्तर वह सलीम के प्रेम में इतनी व्यग्र प्रदर्शित की गई है कि मरणासन्न पिता के सम्मुख अपने प्रेम की व्याकुलता व्यक्त कर देती है। क्रुद्ध पिता उसे भैरवी बनने का आदेश देते हैं ; वह आज्ञा-पालन करती है, किन्तु श्मशान से सलीम के साथ भाग जाती है।

साहित्य में सुरुचि एवं आदर्श रक्षा के प्रबल समर्थक गुप्त जी की सांस्कृतिक उत्कर्ष की भावना इस अशोभनीय एवं अरुचिकर कल्पना को सहन न कर सकी थी। दूसरे, नाटक में प्रमोद्गारों और वस्तु की घटना योजना में नग्नकामुकता तथा अतिशय श्रृङ्गारिकता ने उन पर अधिक आघात किया था। फलतः उन्होंने आलोच्य रचना के अनुवादक मुन्शी उदितनारायण (गाजीपुर) को ऐसे नाटक का अनुवाद करने पर कड़ी फटकार लगाई।[3] मुन्शी जी पर गुप्त जी की आलोचना का अनुकूल प्रभाव पड़ा। उन्होंने अपनी भूल स्वीकार करली और गुप्त जी की आज्ञापालनार्थ सभी अनुवादित पुस्तकों को गंगा जी में प्रवाहित करके कलंक-कालिमा का प्रक्षालन कर लिया। गुप्त जी इतने से संतुष्ट न हुए। उन्होंने मूल नाटक का बड़ी अरुचिपूर्वक अध्ययन किया और

१—भारतमित्र, सन् १९०७ ई०।

२—वही, सन् १९०५ ई०।

३—यह आलोचना 'हिन्दी बंगवासी' में प्रकाशित हुई थी जो अब अप्राप्य है।

पुनः उसकी आलोचना लिखी।[1] प्रस्तुत आलोचना में गुप्त जी का उद्देश्य परिष्कृत रुचि एवं संस्कृत मन का प्रोत्साहन और भारतीय सभ्यता, संस्कृति तथा परम्पराओं के गौरव-संरक्षण का भाव है। भारतीय गौरव के प्रतीक, ऐतिहासिक महान् आत्माओं के चरित्र को गिराने वाली रचना, चाहे हिन्दी में हो, चाहे बंगला में ; उनके लिए यह असह्य था। उनकी धारणा थी—"ऐसी पुस्तक के जारी रहने से केवल बंग-भाषा के साहित्य में ही कलंक नहीं लगता, वरञ्च बंग देश के पढ़े-लिखे लोगों पर भी कलंक लगता है।"[2] प्रस्तुत रचना विषयक गुप्त जी के हृदयस्थ क्षोभ की व्यंजना तथा उनके साहित्यिक उद्देश्य की अभिव्यक्ति, इन पंक्तियों से हो जाएगी—"हमारी समझ में नहीं आया कि इसके बनाने वाले ने क्यों इस पुस्तक को बनाया है ? बनाने में उसका उद्देश्य क्या था ? देश की भलाई, समाज की भलाई, साहित्य की भलाई—तीनों में कौन सी बात इस पुस्तक के बनाने में सोची गई ? यह वीररस, शृङ्गार रस, हास्य रस या करुणरस—किस रस की पोथी है ?"[3] उक्त पंक्तियों से गुप्त जी की आलोचना का लोकरंजनकारी स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। आदर्शवादिता उनकी आलोचना का प्राण है। वे साहित्य को आदर्शमूलक ही मानते हैं और आलोचना को इस साध्य का सबलतम साधन। राष्ट्रीयता के अतिरिक्त जातीय गौरव एवं संस्कृति-संरक्षण की भावना उनकी आलोचना के मूल में सर्वत्र वर्तमान है। इन्हीं विशिष्ट गुण एवं आदर्शों की रक्षा के लिए आप रचनाओं की आलोचनाएँ लिखा करते थे। युवक पाठक समाज पर अश्रुमती के पठन-पाठन अथवा अभिनय का क्या प्रभाव होगा ? इस बात की कल्पना करके लिखी गई गुप्त जी की पंक्तियाँ उनके आलोचकीय सिद्धान्त की परिचायक हैं। आपने लिखा था—"इस पुस्तक को पढ़कर बंग देश की लड़कियों को क्या शिक्षा मिलेगी ? और आप सब बंगाली लोग न्याय से कहें कि आप ही को उनसे क्या उपदेश मिला ? इस पुस्तक के पढ़ने से आपकी गर्दन नीची होती है या ऊँची ?"[4] आलोचक के इन प्रश्नों की पृष्ठभूमि में निश्चय ही यह भावना अन्तर्हित है कि आदर्श अनुकार्य के पतन की अवस्था में अनुकारक का पतन अवश्यंभावी है अर्थात् जब पृथ्वीराज तथा प्रताप जैसे आदर्श पात्रों का कलंकित

१—भारतमित्र, २८ सितम्बर, सन् १९०१ ई०।

२— वही।

३—गुप्त निबंधावली, प्रथम भाग, पृ० ५४३।

४—वही, पृ० ५४६।

चरित्र जनता के सम्मुख उपस्थित होगा, तो उसका दुष्प्रभाव अवश्य पड़ेगा। अस्तु, आदर्शों की अवहेलना करने वाली तथा अतिशय श्रृङ्गारिकतापूर्ण रचना का गुप्त जी ने सदैव विरोध किया था। विरोध का यही रूप 'तारा' उपन्यास की आलोचना के मूल में वर्तमान है। आलोच्य रचना में किशोरीलाल गोस्वामी ने दारा शिकोह तथा जहाँनारा के मध्य इतने कुत्सित तथा अरुचिपूर्ण कथोपकथनों की आयोजना की है कि माता-पिता की औरस सन्तान, चाहे वे यवन हों अथवा हिन्दू, कभी इस प्रकार की बातें नहीं कर सकते। गुप्त जी की आदर्शप्रिय प्रवृत्ति दाराशिकोह तथा जहाँनारा के निर्लज्ज एवं अव्यावहारिक कथोपकथनों को सहन न कर सकी थी। उन्होंने अपनी आलोचना में उन चित्य कथोपकथनों को उद्धृत करते हुए लिखा था—"भाई बहन की कैसी कुरुचि पूर्ण बातें हैं। हमारे गोस्वामी के सिवा ऐसी रुचिसम्पन्न बातें और कौन लिख सकता है?"[1] तारा उपन्यास की आलोचना में गुप्त जी नवीन स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण का प्रबल विरोध करते हुए उपस्थित हुए हैं। वे इस दृष्टिकोण को साहित्य और समाज के लिए घातक मानते थे। इसी भावना से अनुप्रेरित आपने पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा प्रणीत 'प्रियम्वदा' नामक कविता की कठोर आलोचना लिखी थी। यह कविता एक पारसी नारी की साजसज्जा, रूप-यौवन, कायिक सौष्ठव, श्रृङ्गारिक हावभाव तथा चित्रदर्शकों पर पड़े वासनात्मक प्रभाव का वर्णन करती है। कविता की स्त्री का चित्र भी सरस्वती में प्रकाशित हुआ था।[2] गुप्त जी की मान्यता थी कि द्विवेदी जी जैसे युगविधायक सम्पादक के गौरवानुकूल ऐसी श्रृङ्गारिक रचना करना उचित नहीं है। इस रीतिकालीन परम्परा के पुनरावर्तन एवं तत्कालीन साहित्यिक तथा नैतिक मानों की अवहेलना के विरुद्ध गुप्त जी की धारणा थी कि राष्ट्रीय जागरण एवं सांस्कृतिक नवचेतना के प्रसारकाल में उद्‌बोधन के गीत न गाकर नख-शिख वर्णन अथवा नायिका भेद की शैली पर श्रृङ्गारिक कविता लिखना आत्महनन है। आपका मत था—"नायिका भेद, बागबगीचा, चन्दन चाँदनी तथा खसखासे आदि के वर्णन में शक्ति का अपहार न करके पेट का धन्धा करने, बालबच्चों को पालने तथा कुछ अर्जित कर जाने का कार्य करना चाहिए।"[3]

१—गुप्त निबंधावली, प्रथम भाग, पृ० ५६३।

२—देखिए, सरस्वती, भाग ७, सं० १२, पृ० ४८६।

३—भारतमित्र, २० जौलाई, सन् १६०१ ई०।

इस आदर्श की परिपूर्णता हेतु गुप्त जी भारतेंदु की ही भाँति साहित्य को विलासिता एवं कामुकता परक रचनाओं की अपेक्षा नव-चेतना तथा सांस्कृतिक जागरण की उन्नायक रचनाओं से भरना चाहते थे। 'कामशास्त्र' पुस्तक के लेखक लाला शालिग्राम को लगाई गई गुप्त जी की फटकार इसी भाव का द्योतन करती है।[1] वे ऐसी रचनाओं का सृजन साहित्य और समाज से लिए अपकारक मानते थे। उक्त चारों आलोचनाएँ इस बात की द्योतक हैं कि गुप्त जी की आलोचना में रचना का कलात्मक मूल्यांकन गौण और रूप की लोकप्रियता का अंकन प्रमुख है। उन्होंने रचना की विषय वस्तु के कलात्मक निरूपण की ओर से पीठ फेर ली थी और उसके समाज हितैषी पक्ष को उभारा था। न तो आपने 'अश्रुमती' एवं 'तारा' के नाटकीय तथा औपन्यासिक तत्त्वों के सफल एवं असफल निरूपण की शास्त्रीय शैली का अनुसरण किया और न आधुनिक आलोचक की भाँति सन्धि, अर्थ प्रकृति, कार्यावस्था तथा अभिनेयता आदि का विवेचन किया। इसके विपरीत सामाजिकों तथा पाठकों के दिल-दिमाग पर पड़ने वाले रचना के सम्भाव्य प्रभाव की विवेचना की है। इस आदर्श का परिपालन वे स्वयं ही नहीं, प्रत्युत समकालीन लेखकों तथा पत्र-सम्पादकों द्वारा भी कराना चाहते थे। जो सम्पादक अथवा आलोचक उक्त दृष्टिकोण की अवहेलना करके किसी रचना पर सम्मत्ति व्यक्त कर दिया करता था, तो वह गुप्त जी के व्यंग्य से नहीं बच पाता था। गुप्त जी द्वारा विवेचित 'तारा' उपन्यास के कुप्रभाव की अवहेलना करके बम्बई के पत्र, 'श्री बैंकटेश्वर समाचार' ने उपन्यास की एक साधारण त्रुटि पर लेखक के साथ वाद-विवाद प्रारम्भ कर दिया था और लेखक द्वारा उस त्रुटि को स्वीकार कर लेने पर रचना की प्रशंसात्मक आलोचना लिख दी थी। गुप्त जी ने 'श्री बैंकटेश्वर समाचार' को 'तारा' की अतिशय शृङ्गारिकता एवं वासनात्मक प्रभाव की आलोचना न करने पर फटकारा था और नागरी प्रचारिणी सभा को भी ललकारा था, क्योंकि उसने अपने एक सदस्य को इस प्रकार की असंस्कृत रचना करने से रोका न था। यह गुप्त जी की आलोचना का आदर्शात्मक समाज हितैषी एवं लोकप्रिय स्वरूप है।

'अश्रुमती' नाटक की आलोचना में कुछ तत्त्व ऐसे भी वर्तमान हैं जो गुप्त जी को आलोचना को बैज्ञानिक शैली के निकट पहुँचाते हैं। यद्यपि

१—भारतमित्र, ५ फरवरी, सन् १९०५ ई०।

उनकी संख्या अति अल्प है और वे विकास के पूर्वरूप मात्र कहे जा सकते हैं। ये तत्व हैं—नाटक के आवरण पृष्ठ पर टॉड के 'राजस्थान' से उद्धृत एक 'मोटो' पर परामर्श, अनैतिहासिक तथा असामंजस्यपूर्ण कल्पना की समीक्षा एवं भौगोलिक त्रुटि-संस्कार।

नाटक के मुख पृष्ठ पर 'टॉड' के 'राजस्थान' से जो 'मोटो' (आदर्श वाक्य) उद्धृत किया गया है, उसका नाटकीय कथावस्तु के साथ कोई सामंजस्य नहीं है। इस आदर्श वाक्य से पाठक के मानस पर दो विभिन्न प्रक्रियाएँ होती हैं—'मोटो से राणा की प्रशंसा और कथावस्तु के अध्ययन से उनके चरित्र पर कलंक। इस असावधानी और अनियमता के लिए आलोचक ने नाटककार की कठोर आलोचना की हैं। उनकी दृष्टि में आलोच्य रचना पर इस आदर्श वाक्य की आवश्यकता न थी। यदि रचना-सृजन का उद्देश्य प्रताप के चरित्र का उन्नयन अथवा उचित मूल्यांकन होता, तब तो यह आदर्श-वाक्य औचित्य पूर्ण था, अन्यथा नहीं। उनके मतानुसार यदि बाबू राधाकृष्ण दास ने यह 'मोटो' स्वप्रणीत 'महाराणा प्रतापसिंह' पर उद्धृत किया होता, तो उसका उचित मूल्य था। गुप्त जी की धारणा थी कि रचना का कोई वाक्य, कोई अनुच्छेद तथा कोई उद्धरण ऐसा न होना चाहिए, जो रचनागत सिद्धान्त तथा वर्णित विषय की मूलप्रवृत्ति के प्रतिकूल हो अथवा उसके साथ पूर्ण सामंजस्य न स्थापित करता हो। गुप्त जी की यह प्रवृत्ति कलात्मक मूल्यांकन की परिचायक है।

'अश्रुमती' नाटक की आलोचना में गुप्त जी की कलात्मक रुचि की द्योतक दूसरी बात है, अनैतिहासिक तथा अतिरंजित कल्पना की समीक्षा। गुप्त जी का मत था कि ऐतिहासिक रचना में कल्पना का योग उस मात्रा में ही औचित्यपूर्ण होता है, जिसमें कि वह ऐतिहासिक तथ्यों की अवहेलना न करता हो। अश्रुमतीकार की कल्पना केवल ऐतिहासिक तथ्यों का विलोपन ही नहीं, प्रत्युत भारत रत्नों पर कलंक एवं लोक रुचि के प्रतिकूल थी। अतः आलोचक गुप्त जी ने पुष्ट एवं प्रामाणिक ऐतिहासिक तथ्य तथा तर्कों के आधार पर अश्रुमतीकार की कल्पना को अनौचित्यपूर्ण घोषित किया था। अश्रुमतीकार के प्रतिकूल गुप्त जी ने 'टॉड' के मत से यह प्रमाणित कर दिया था कि प्रताप की अश्रुमती नाम की कोई पुत्री न थी और हल्दी घाटी के अभियान के समय उनकी बेटी बहुत छोटी तथा प्रेम करने के अनुपयुक्त थी। टॉड अश्रुमती के विलोप की बात भी नहीं लिखता। टॉड के अतिरिक्त मुस्लिम इतिहासकारों के आधार पर गुप्त जी ने लिखा था—"हल्दी घाटी की लड़ाई के समय

शाहज़ादे सलीम की उमर कुल सात बरस थी। इतने छोटे सलीम के साथ किसका प्रेम हो सकता है ? और यह छोटा-सा बच्चा सलीम किससे प्रेम कर सकता था।''[१] अतः ऐतिहासिक रचना के अनुपयुक्त तथ्यहीन एवं अतिरंजित कल्पना का आलोचक गुप्त जी ने सबल खंडन करके अपनी कलात्मक अभिरुचि का परिचय दिया है। तीसरे, आलोचक गुप्त जी ने नाटककार की भौगोलिक त्रुटि का परिहार भी किया है। आपने लिखा था— "मेवाड़ के बन-पर्वत-जंगल-झीलों के विषय में उक्त ग्रंथकार कुछ भी नहीं जानता। इसीसे उसने बड़ी ऊट-पटाँग बातें लिखी हैं। पिछौला तालाब को उसने पेशला नदी लिखा है।''[२] स्पष्ट है कि अपनी आलोचना द्वारा गुप्त जी यह बता देने के इच्छुक थे कि किसी विषय पर लेखनी उठाने से पूर्व उस विषय का पूर्णज्ञान लेखक को प्राप्त कर लेना अनिवार्य है। अन्यथा इसके अभाव में रचना उपहास तथा रचनाकार अपमान का विषय बनता है। 'अश्रुमती' नाटक की आलोचना से विदित होता है कि गुप्त जी कलात्मक अभिरुचि के भी पारखी थे।

समकालीन लेखकों पर लिखी आलोचना की दूसरी प्रवृत्ति है, कुरुचि उत्पादक भद्दी अनुकृत्ति का खंडन। सुशील कवि द्वारा पं० श्रीधर पाठक की रचनाओं के भद्दे अनुवाद करने पर गुप्त जी ने इस प्रकार की आलोचना लिखी थी। इस सम्बन्ध में विस्तार पूर्वक विचार प्रस्तुत अध्याय के 'नए लेखकों को प्रोत्साहन' नामक शीर्षक में किया गया है।

एतद्विषयक गुप्त जी की आलोचना की तीसरी विशेषता है, क्लिष्ट एवं दुर्बोध साहित्य सृजन का निरसन। इस प्रकार की आलोचना-प्रवृत्ति का निदर्शन 'तुलसी-सुधाकर' की आलोचना है। पं० सुधाकर द्विवेदी ने 'तुलसी-सतसई' के दोहों पर कुण्डलियाँ लिखीं थीं। गुप्त जी की धारणा थी कि कुण्डलियाँ सतसई के दोहों के अनुवाद का कार्य करेंगी, उनके अर्थगाम्भीर्य को सुबोध एवं सरल भाषा में प्रस्तुत करेंगी, किन्तु ऐसा हुआ नहीं। 'तुलसी सुधाकर' की कुण्डलियाँ मूल दोहों से अधिक क्लिष्ट एवं दुर्बोध प्रमाणित हुईं। अस्तु, साहित्य में प्रसाद एवं सरलता के समर्थक गुप्त जी को पांडित्य प्रदर्शन की इस प्रवृत्ति का विरोध करना पड़ा। वे सरल सुबोध एवं सरस कृतियों को साहित्य की अमर निधि मानते थे, इसके प्रतिकूल पांडित्य प्रदर्शनार्थ प्रणीत रचनाओं को निरर्थक एवं अनुपयोगी। गुप्त जी की

१—गुप्त निबंधावली, प्रथम भाग, पृ० ५४९।
२— वही , पृ० ५५३।

उनकी संख्या अति अल्प है और वे विकास के पूर्वरूप मात्र कहे जा सकते हैं। ये तत्व हैं—नाटक के आवरण पृष्ठ पर टॉड के 'राजस्थान' से उद्धृत एक 'मोटो' पर परामर्श, अनैतिहासिक तथा असामंजस्यपूर्ण कल्पना की समीक्षा एवं भौगोलिक त्रुटि-संस्कार।

नाटक के मुख पृष्ठ पर 'टॉड' के 'राजस्थान' से जो 'मोटो' (आदर्श वाक्य) उद्धृत किया गया है, उसका नाटकीय कथावस्तु के साथ कोई सामंजस्य नहीं है। इस आदर्श वाक्य से पाठक के मानस पर दो विभिन्न प्रक्रियाएँ होती हैं—'मोटो से राणा की प्रशंसा और कथावस्तु के अध्ययन से उनके चरित्र पर कलंक। इस असावधानी और अनियमता के लिए आलोचक ने नाटककार की कठोर आलोचना की हैं। उनकी दृष्टि में आलोच्य रचना पर इस आदर्श वाक्य की आवश्यकता न थी। यदि रचना-सृजन का उद्देश्य प्रताप के चरित्र का उन्नयन अथवा उचित मूल्यांकन होता, तब तो यह आदर्श-वाक्य औचित्य पूर्ण था, अन्यथा नहीं। उनके मतानुसार यदि बाबू राधाकृष्ण दास ने यह 'मोटो' स्वप्रणीत 'महाराणा प्रतापसिंह' पर उद्धृत किया होता, तो उसका उचित मूल्य था। गुप्त जी की धारणा थी कि रचना का कोई वाक्य, कोई अनुच्छेद तथा कोई उद्धरण ऐसा न होना चाहिए, जो रचनागत सिद्धान्त तथा वर्णित विषय की मूलप्रवृत्ति के प्रतिकूल हो अथवा उसके साथ पूर्ण सामंजस्य न स्थापित करता हो। गुप्त जी की यह प्रवृत्ति कलात्मक मूल्यांकन की परिचायक है।

'अश्रुमती' नाटक की आलोचना में गुप्त जी की कलात्मक रुचि की द्योतक दूसरी बात है, अनैतिहासिक तथा अतिरंजित कल्पना की समीक्षा। गुप्त जी का मत था कि ऐतिहासिक रचना में कल्पना का योग उस मात्रा में ही औचित्यपूर्ण होता है, जिसमें कि वह ऐतिहासिक तथ्यों की अवहेलना न करता हो। अश्रुमतीकार की कल्पना केवल ऐतिहासिक तथ्यों का विलोपन ही नहीं, प्रत्युत भारत रत्नों पर कलंक एवं लोक रुचि के प्रतिकूल थी। अतः आलोचक गुप्त जी ने पुष्ट एवं प्रामाणिक ऐतिहासिक तथ्य तथा तर्कों के आधार पर अश्रुमतीकार की कल्पना को अनौचित्यपूर्ण घोषित किया था। अश्रुमतीकार के प्रतिकूल गुप्त जी ने 'टॉड' के मत से यह प्रमाणित कर दिया था कि प्रताप की अश्रुमती नाम की कोई पुत्री न थी और हल्दी घाटी के अभियान के समय उनकी बेटी बहुत छोटी तथा प्रेम करने के अनुपयुक्त थी। टॉड अश्रुमती के विलोप की बात भी नहीं लिखता। टॉड के अतिरिक्त मुस्लिम इतिहासकारों के आधार पर गुप्त जी ने लिखा था—"हल्दी घाटी की लड़ाई के समय

शाहज़ादे सलीम की उमर कुल सात बरस थी। इतने छोटे सलीम के साथ किसका प्रेम हो सकता है? और यह छोटा-सा बच्चा सलीम किससे प्रेम कर सकता था।"[१] अतः ऐतिहासिक रचना के अनुपयुक्त तथ्यहीन एवं अतिरंजित कल्पना का आलोचक गुप्त जी ने सबल खंडन करके अपनी कलात्मक अभिरुचि का परिचय दिया है। तीसरे, आलोचक गुप्त जी ने नाटककार की भौगोलिक त्रुटि का परिहार भी किया है। आपने लिखा था— "मेवाड़ के बन-पर्वत-जंगल-झीलों के विषय में उक्त ग्रंथकार कुछ भी नहीं जानता। इसीसे उसने बड़ी ऊट-पटाँग बातें लिखी हैं। पिछौला तालाब को उसने पेशला नदी लिखा है।"[२] स्पष्ट है कि अपनी आलोचना द्वारा गुप्त जी यह बता देने के इच्छुक थे कि किसी विषय पर लेखनी उठाने से पूर्व उस विषय का पूर्णज्ञान लेखक को प्राप्त कर लेना अनिवार्य है। अन्यथा इसके अभाव में रचना उपहास तथा रचनाकार अपमान का विषय बनता है। 'अश्रुमती' नाटक की आलोचना से विदित होता है कि गुप्त जी कलात्मक अभिरुचि के भी पारखी थे।

समकालीन लेखकों पर लिखी आलोचना की दूसरी प्रवृत्ति है, कुरुचि उत्पादक भद्दी अनुकृत्ति का खंडन। सुशील कवि द्वारा पं० श्रीधर पाठक की रचनाओं के भद्दे अनुवाद करने पर गुप्त जी ने इस प्रकार की आलोचना लिखी थी। इस सम्बन्ध में विस्तार पूर्वक विचार प्रस्तुत अध्याय के 'नए लेखकों को प्रोत्साहन' नामक शीर्षक में किया गया है।

एतद्विषयक गुप्त जी की आलोचना की तीसरी विशेषता है, क्लिष्ट एवं दुर्बोध साहित्य सृजन का निरसन। इस प्रकार की आलोचना-प्रवृत्ति का निदर्शन 'तुलसी-सुधाकर' की आलोचना है। पं० सुधाकर द्विवेदी ने 'तुलसी-सतसई' के दोहों पर कुण्डलियाँ लिखीं थीं। गुप्त जी की धारणा थी कि कुण्डलियाँ सतसई के दोहों के अनुवाद का कार्य करेंगी, उनके अर्थगाम्भीर्य को सुबोध एवं सरल भाषा में प्रस्तुत करेंगी, किन्तु ऐसा हुआ नहीं। 'तुलसी सुधाकर' की कुण्डलियाँ मूल दोहों से अधिक क्लिष्ट एवं दुर्बोध प्रमाणित हुईं। अस्तु, साहित्य में प्रसाद एवं सरलता के समर्थक गुप्त जी को पांडित्य प्रदर्शन की इस प्रवृत्ति का विरोध करना पड़ा। वे सरल सुबोध एवं सरस कृतियों को साहित्य की अमर निधि मानते थे, इसके प्रतिकूल पांडित्य प्रदर्शनार्थ प्रणीत रचनाओं को निरर्थक एवं अनुपयोगी। गुप्त जी की

१—गुप्त निबंधावली, प्रथम भाग, पृ० ५४९।
२— वही , पृ० ५५३।

मान्यता थी कि तुलसी के दोहे के अर्थ-गाम्भीर्य को समझकर सुधाकर जी ने सामान्य पाठकों को समझाने का प्रयास नहीं किया, यदि ऐसा करते तो उनका श्रम सफल और साहित्य का परम कल्याण होता। 'तुलसी-सुधाकर' की आलोचना आलोचक गुप्त जी के इस गुण की परिचायक है कि उन्होंने सदैव सरल, स्वाभाविक और बोधगम्य भाषा का प्रयोग किया तथा अपने समकालीन लेखकों को भी इसी शैली को स्वीकार करने के लिए प्रलोभित किया। 'तुलसी सुधाकर' की भाषा के विषय में उनकी सम्मति थी—"हम दुख से प्रकाश करते हैं कि उनकी कुण्डलियों से 'तुलसी-सतसई' पर एक ताला और लग गया, तुलसी सुधाकर के पढ़ने वालों को पहले तुलसी के दोहे समझने के लिये सिर खपाना पड़ेगा और पीछे सुधाकर जी महाराज की कुण्डलियों का अर्थ लगाने में पहाड़ से टकराना पड़ेगा।"[1]

आलोचक की ये पंक्तियाँ द्योतन करती हैं कि वह भाषा के सरलतम स्वरूप के समर्थक हैं। उन्होंने सुधाकर जी के पांडित्य का सम्मान और 'तुलसी-सुधाकर' भूमिका की प्रशंसा की है। उसे कई दृष्टियों से उपादेय घोषित किया है। किन्तु भाषा की अनधिगम्यता एवं भाव-क्लिष्टता की दृष्टि से रचना को अनुपादेय बताया है। आपने सुधाकर जी द्वारा रामचरित मानस के कुछ अंश को संस्कृत में रूपान्तरित करने के कार्य को भी अनुपादेय बतलाया था। वे साहित्य को बहुसंख्यक जनता की अमर निधि बनाने के पक्षपाती थे, उसे कतिपय बुद्धिजीवी वर्ग के मानसिक व्यायाम का विषय नहीं। भाषा में प्रसाद, प्रवाह और स्वाभाविकता उत्पन्न करने के उद्देश्य से वे पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी जी से भी वाद-विवाद कर बैठे थे।

गुप्त जी की आलोचकीय विचार धारा की चौथी विशेषता थी, अन्य पत्र सम्पादकों एवं लेखकों को व्यक्तिगत पत्र लिखकर अपने दृष्टिकोण से अवगत कराना। सुशील कवि और उनके मित्रों द्वारा की गई आलोचना से निरुत्साहित पं० श्रीधर पाठक को अकाल ग्रस्त जनता के उद्धार के लिए बच्चों की ओर से प्रार्थना करते हुए एक कविता लिखने का परामर्श दिया था, जिसमें मेघों से शीघ्र वर्षा कर देने की विनय की जाए।[2] इस पत्र के विचार इस बात का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं कि गुप्त जी कोरे कल्पना

१—गुप्त निबंधावली, प्रथम भाग, पृ० ५५३।

२—गुप्त जी का पं० श्रीधर पाठक को लिखा, २६–११–१६०० ई० का पत्र।

जीवी लेखक तथा आलोचक न थे, बल्कि लोक-कल्याण तथा देश-हितैषिता के भाव ही उनकी रचना के प्रेरणा स्त्रोत थे। गुप्त जी की जागरूकता एवं राष्ट्रभक्ति पूर्ण प्रगतिशीलता का ज्ञान 'ज़माना' सम्पादक मुन्शी दयानारायण निगम को लिखे पत्र से होता है, जिसमें उन्हें होश में आने, ज़माना द्वारा देश की खिदमत करने तथा स्वाधीनता परक रचना करने का परामर्श दिया था।[1] इनकी आलोचना का यही उद्देश्य था। साहित्य उनके लिए आज के अधिकांश आलोचकों की भांति व्यसन नहीं, एक मिशन था; साध्य नहीं, एक मनोनीत साधन था; मनोविनोद एवं मनोरंजन का माध्यम नहीं, सामाजिक एवं राजनीतिक क्रान्ति का प्रथम अस्त्र था। यही कारण है कि आपकी आलोचना का स्वरूप सर्वथैव लोकप्रिय रहा और विषय समाज उपकारक। उन्होंने आलोचना को सामाजिक और साहित्यिक प्रगति के एक समर्थ साधन के रूप में स्वीकार किया था। यही कारण है कि गुप्त जी भारतेन्दु द्वारा प्रवर्तित हिन्दी आलोचना की जातीय परम्परा के प्रबल समर्थक के रूप में प्रतिष्ठित होते हैं। गुप्त जी द्वारा प्रवर्तित एवं पल्लवित हिंदी-आलोचना की लोकमंगल की साधना वाली यह पद्धति बाद में आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल द्वारा पूर्ण विकसित की गई। हिन्दी की वर्तमान प्रगतिशील आलोचना पद्धति में भी वही भावना, दृष्टिकोण एवं जागरूकता कुछ अंशों में वर्तमान है।

गुप्त जी के आलोचकीय दृष्टिकोण की पाँचवीं विशेषता है, मौलिकता संरक्षण का भाव एवं हिन्दी-पत्र तथा आचार्यों पर लगाए गए आरोपों का उत्तर देने की क्षमता। एक बार प्रयाग के पत्र 'प्रवासी' ने जयपुर के पत्र 'समालोचक' तथा 'जासूस' पर आरोप लगाया था कि ये पत्र मूल लेखक एवं पुस्तक का नाम दिए बिना ही बँगला-ग्रंथों का अनुवाद प्रकाशित कर दिया करते हैं। 'प्रवासी' का आक्षेप हिन्दी के कुछ आचार्यों की ओर भी था।[1] गुप्त जी ने अपनी आलोचना द्वारा साहित्यिक चोरी के विरुद्ध सबल वातावरण की सृष्टि की और 'प्रवासी' की आत्मश्लाघा का परिहार किया, साथ ही, अंग्रेजी ग्रंथ एवं लेखकों की अनुकृति करके मौलिकता का आवरण पहनने वाले बँगला-लेखकों का भंडाफोड़ करते हुए बंगला साहित्य की मौलिकता-संरक्षण की भी आवाज उठाई। साहित्यिक चोरी के दोषी लेखकों को ललकारते हुए आपने लिखा था—"बंगालियों के उच्छिष्ट पर हिंदी

१—भारत मित्र, सन् १९०३ ई० में प्रकाशित 'प्रवासी की आलोचना' तथा 'बंगला साहित्य' नामक लेख।

वाले गिरते हैं, यह परम लज्जा की बात है। फिर जिसकी रकाबी चाटते हैं, उसका नाम नहीं लेते, कृतज्ञता प्रकाश नहीं करते, यह और भी निंदा की बात है।"[१] इसके अतिरिक्त गुप्त जी ने बंगला लेखकों की पुस्तकों के नाम अंग्रेजी की उन पुस्तकों के साथ उद्धृत कर दिए, जिनसे कि उनमें सहायता ली गई थी। बंगला भाषा की कृतियों तथा अंग्रेजी की सहायक पुस्तकों को खोजना उनके गहन एवं विस्तृत अध्ययन तथा शोधप्रवृत्ति का परिचायक है। इस सम्बन्ध में गुप्त जी द्वारा उल्लिखित 'दुर्गेश नन्दिनी', 'वसुमती' सम्पादक दीनेन्द्रकुमार की 'अजय सिहो कुठी', 'वसुमती' आफिस के उपेन्द्र मुखर्जी की 'सन्तप्त शैतान', 'प्रियनाथ मुखर्जी की 'कृपणेरधन' तथा 'प्रणये संशय' एवं वसुमती वालों द्वारा 'मिस्ट्रीज आफ पेरिस' का अनूदित ग्रन्थ 'ठाकुर वाडीर दफ्तर' आदि हैं। इनके अतिरिक्त आपने उपेन्द्र मुखर्जी तथा भुवनचन्द्र चटर्जी द्वारा 'अमेरिकन डिटेक्टिव' से 'मारकिन गोइन्दा' तथा 'फ्रेंच डिटेक्टिव' से अनूदित 'फारसी गोइन्दा' आदि का उल्लेख किया था। 'वसुमती' वालों द्वारा 'अमेरिकन डिटेक्टिव' की पुस्तकों को 'पुलिस कमिश्नर' मासिक पत्र के नाम से प्रकाशित करने की बात का भी वर्णन किया था। इस सबसे गुप्त जी की अध्ययन शीलता, बहुज्ञता, आलोचकीय निर्भीकता एवं शोध प्रकृति का ज्ञान होता है।

गुप्त जी की सैद्धान्तिक आलोचना का स्वरूप पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी की भाषा-सुधार विषयक लेखमाला की आलोचना, अयोध्यासिंह उपाध्याय के 'अधखिला फूल' तथा 'गुलशने हिन्द' की आलोचना से व्यक्त होता है। भाषा-सुधार विषयक आलोचनात्मक लेखों में द्विवेदी जी की भाषा सम्बन्धी कुछ भूलों—शब्दों के अशुद्ध प्रयोग, मुहावरों का गलत प्रयोग, अप्रचलित एवं क्लिष्ट शब्दों का व्यवहार, लिंग एवं वचन विषयक अशुद्धियाँ तथा विराम चिन्हों की अवहेलना आदि का उल्लेख बड़ी स्पष्टतापूर्वक किया है। इसी प्रकार अयोध्यासिंह उपाध्याय द्वारा प्रयुक्त अशुद्ध तद्भवों एवं मुहावरों की कठोर आलोचना की है। भाषा पारखी गुप्त जी ने प्रारम्भ में ही भाषा की साधारण भूलों का परिष्कार करके उसमें प्रवाह एवं स्वाभाविकता उत्पन्न करने का भगीरथ प्रयास किया था। आलोचक गुप्त जी भाषा के कुशल शिल्पी और सुन्दर शैली के प्रबल समर्थक थे। फलतः भाषा के रूप-निर्माण एवं शैली विधान में उन्हें पूर्ण सफलता प्राप्त हुई।

१—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, पृ० ५५८।

जहाँ तक 'गुलशने हिन्द' की आलोचना से तात्पर्य है, आपने इस आलोचना में पुस्तक प्राप्ति की आश्चर्यजनक घटना का उल्लेख, मौलवी अब्दुल हक द्वारा लिखित भूमिका के आधार पर पुस्तक का काल निरूपण तथा सृजन काल की परिस्थितियों का अध्ययन करके उर्दू के रूप परिवर्तन का विवेचन किया है। आलोच्य भूमिका के आधार पर गुप्त जी के निष्कर्षों का सारतत्व है कि दिल्ली के अपकर्ष पर लखनऊ का उत्कर्ष हुआ था; वहीं अधिकाँश दिल्ली निवासी उर्दू-लेखकों ने आश्रय पाया था। उस समय उनकी भाषा नीति में परिवर्तन समाविष्ट हुआ। वे लोग बोलचाल के तद्भव शब्दों के स्थान पर अरबी-फारसी के तत्सम शब्दों का व्यवहार करने लगे थे। अतः एक भाषा के दो रूप—उर्दू और हिन्दी निरन्तर विकसित होते गए। इसके अतिरिक्त जान गिल क्राइस्ट के संरक्षण में फोर्ट विलियम द्वारा सम्पन्न हिन्दी-उर्दू विकास-कार्य का श्रेष्ठ आलोचनात्मक इतिवृत्त गुप्त जी ने उपस्थित किया है। इन दोनों आलोचनाओं से अवगत होता है कि गुप्त जी ने इन समीक्षाओं में हृदयस्थ आदर्श भावना को तटस्थ रखकर रचना की सैद्धांतिक समीक्षा का पक्ष ग्रहण किया था। अतः यहाँ तक आकर उनका प्रभाववादी आलोचक का रूप कुछ प्रच्छन्न होने लगा था।

समकालीन लेखकों पर लिखीं आलोचनाएँ इस बात का प्रमाण हैं कि गुप्त जी निर्भीक, निष्पक्ष तथा आलोचकीय गौरव की रक्षा करने वाले आलोचक थे। रचना के गुणदोष विवेचन की पद्धति का परित्याग करके जो आलोचक रचनाकार के गुण एवं दोषों की उद्भावना करने लग जाते हैं गुप्त जी उनके अपवाद थे। हिन्दी में नवीन पत्रों के प्रकाशन और अभिनव साहित्य सृजन पर आप हर्ष व्यक्त करते थे तथा ईर्ष्या अथवा व्यक्तिगत विद्वेषवश अच्छी रचनाओं को निकृष्ट बताने वाले आलोचकों की वे खबर लेते थे। जयपुर से 'समालोचक' के प्रकाशन पर सरस्वती संपादक बाबू श्यामसुन्दर दास ने उसे किसी अन्य भाषा का अनुवाद बताया था और सम्पादक बाबू गोपालराम की योग्यता पर संदेह व्यक्त किया था। उनके बंगला तथा अँग्रेजी ज्ञान के विषय में शंका व्यक्त की थी और समालोचक की विशिष्टताओं एवं अभावों पर विचार विमर्श न करके सम्पादक पर कीचड़ उछालना प्रारम्भ कर दिया था।[1]

१—**भारतमित्र, सामयिक साहित्य, समालोचक पर सरस्वती, सन् १९०२ ई०।**

ऐसे अवसर पर गुप्त जी भी आलोचकीय गम्भीरता का परित्याग करके तीखी चोट करते थे। आपने श्यामसुन्दरदास जी को लक्ष्य करके लिखा था—"सरस्वती को चाहिए कि हवशियों का काला रंग दिखाने की जगह अपने सम्पादक का छिछोरापन मिटाये, क्योंकि किसी पुस्तक की आलोचना करते-करते उसके सम्पादक की आलोचना करने लग जाना निरा छिछोरापन है।"[1] यद्यपि बात बड़ी कटुता के साथ कही गई है पर आलोचना के एक सिद्धान्त का उद्घाटन करती है। स्वयं गुप्त जी आचार्य द्विवेदी की भाषा और व्याकरण सम्बन्धी मान्यताओं के कठोर आलोचक होते हुए भी सरस्वती के प्रकाशन, सुन्दर छपाई तथा 'गेटअप' आदि के प्रशंसक थे।[2]

गुप्त जी की आलोचना की अन्तिम एवं युगान्तरकारी विशेषता है, तुलनात्मक समीक्षा-पद्धति का बीजारोपण। यद्यपि भारतेंदु युग में आलोचना का मूलरूप विकसित हो चुका था, पर तुलनात्मक समीक्षा की ओर प्रयास न हो पाया था। गुप्त जी ने इस ओर अद्भुत प्रयास किया। प्रतापनारायण मिश्र की प्रतिभा एवं काव्य शक्ति की समता भारतेंदु जी के साथ करते हुए आपने लिखा था—"पण्डित प्रतापनारायण मिश्र में बहुत बातें बाबू हरिश्चन्द्र की सी थीं। कितनी ही बातों में वह उनके बराबर और कितनी ही में कम थे; पर एक आध में बढ़कर भी थे। ये सब बातें आगे चलकर स्वयं पाठकों की समझ में आजायेंगी। जिस गुण में वह कितनी बार हरिश्चद्र के बराबर हो जाते थे, वह उनकी कवित्व शक्ति और सुन्दर भाषा लिखने की शैली था। हिन्दी गद्य और पद्य के लिखने में हरिश्चन्द्र जैसे तेज, तीखे और बेधड़क थे, प्रतापनारायण भी वैसे ही थे।"[3] ये पंक्तियाँ इस तथ्य की द्योतक हैं कि गुप्त जी की लेखनी में शनैः शनैः तुलनात्मक समीक्षा का स्वरूप निर्धारित होता जा रहा था। एक अन्य स्थान पर खड्ग विलास प्रेस के स्वामी बाबू रामदीन के प्रकाशन कार्य की गरिमा प्रकटित करने के लिए भारतेंदु के साथ तुलना करते हुए लिखा था—"जिस प्रकार कहा जाता है, कि काशी में हरिश्चन्द्र का जन्म न होता तो आज हिन्दी भाषा की यह उन्नति न होती, उसी प्रकार यह

१—भारतमित्र, सामयिक साहित्य, समालोचक पर सरस्वती, सन् १६०२ ई०।

२—भारतमित्र—सरस्वती की नाराजी, सन् १६०२ ई०।

३—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, पृ० १–२।

भी कहा जा सकता है, कि यदि बाबू रामदीन सिंह न होते तो हरिश्चन्द्र की ग्रंथावली ऐसी उत्तम रीति से प्रकाशित न होती ।"[१]

कहीं-कहीं दो व्यक्तियों के समान गुणों की अभिव्यंजना द्वारा तुलनात्मक समीक्षा का रूप उपस्थित किया गया है । जैसे—"साहित्य-सम्बन्ध में राज्य-स्थान को इस समय दो उज्ज्वल रत्न प्राप्त हैं, एक मुन्शी देवी प्रसाद जौधपुर में और दूसरे पण्डित गौरीशंकर ओझा उदयपुर में । पहले ने मुसलमानी समय के भारत-इतिहास को खोजा है और दूसरे ने संस्कृत और अँग्रेजी के विद्वान होने से हिन्दुओं के प्राचीन इतिहास को ।" यहाँ मुन्शी देवी प्रसाद और ओझा जी के गुणों का सापेक्ष मूल्य निर्धारित किया गया है । एक अन्य स्थान पर समान अवस्था वाले दो विभिन्न देशों के वर्णन द्वारा भी इसी उद्देश्य की पूर्ति का प्रयास दीख पड़ता है । उदाहरण स्वरूप—"विलायत भी भारत की भाँति विद्वानों से खाली होती जाती है । बहुत काल से भारत, उन विद्या की ज्योति फैलाने वाले ऋषि महर्षियों को खो चुका है, जो बनों में एकान्त निवास करके विद्या और ज्ञान की आलोचना करते थे । अब विलायत में भी यही दशा जारी है । वहाँ सरस्वती कुमार भी एक-एक करके उठते जाते हैं ।"[२] इन पंक्तियों में विद्वान रहित भारत और इंगलैंड का तुलनात्मक वर्णन किया गया है ।

उपर्युक्त उद्धरणों के आधार पर यह कहना असमीचीन न होगा कि गुप्त जी ने हिन्दी-आलोचना में तुलनात्मक समीक्षा पद्धति का प्रवर्तन किया था यद्यपि इसका स्वरूप विकासक्रम का पूर्वाभास मात्र था। इसमें न तो परिपक्वता थी और स्पष्टता । यह एक प्रारम्भ मात्र था, जिसका अपना साहित्यिक एवं ऐतिहासिक महत्व है ।

गुप्त जी की इसी तुलनात्मक समीक्षा शैली का यथोचित विकास मिश्र बन्धु, पं० पद्मसिंह शर्मा तथा लाला भगवानदीन आदि की बिहारी तथा देव की तुलनात्मक समीक्षा में सम्मुख आया था । तदनन्तर पं० रामचन्द्र शुक्ल द्वारा तुलनात्मक-समीक्षा-पद्धति का कलात्मक विकास सूर, तुलसी और जायसी पर लिखी आलोचनाओं से प्रकटित हुआ । आज तो यह समीक्षा-शैली आलोचना का प्रमुख अङ्ग बन गई है। सूक्तियों के रूप में तुलनात्मक आलोचना का स्वरूप भारतीय साहित्य में प्राचीनकाल से उपलब्ध है, किन्तु इसमें किसी एक कवि के गुणों का अङ्कन ऊपर की अपेक्षा अधिक बढ़ा-चढ़ाकर करने की

१—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, पृ० ३० ।

२—वही, पृ० ४७ ।

प्रवृत्ति प्रमुख थी। हिन्दी एवं संस्कृत दोनों भाषाओं में ऐसी अनेक सूक्तियाँ प्राप्य हैं जो किसी कवि के गुणों का उद्‌घोष करती हैं और किसी के दोषों की उद्‌भावना। इन सूक्तियों का आधार तुलनात्मक अवश्य है। किन्तु यह सत्य है कि तुलनात्मक आलोचना का सही स्वरूप भारतेंदु-युग की अपनी देन है और उसमें प्राञ्जलता एवं प्रौढ़ता का समावेश आधुनिक युग में हुआ। समीक्षा की इस शैली के विकास एवं प्रसार में गुप्त जी ने भी योग दिया है।

गुप्त जी के आलोचनात्मक लेखों का अनुशीलन इस बात का साक्षी है कि उन्होंने अपनी आलोचना द्वारा देश के सांस्कृतिक पुनर्जागरण की लगभग सभी प्रवृत्तियों का सम्यक् समर्थन किया था और साहित्यिक गतिविधि की एक निश्चित दिशा निर्धारण का प्रयास। अपनी इसी विशिष्टता के फलस्वरूप गुप्त जी तत्कालीन युग के गण्यमान आलोचक बन गए थे। उनकी सम्मति का विशेष स्थान था। पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने स्वलिखित "रघुवंश भाषा की समालोचना" पर उनके विचार जानने के उद्देश्य से उसे उनके पास भेजते हुए लिखा था—"उसे आप देखिएगा और कहीं भी हमने अनुचित भूल दिखाई हो तो उसको फौरन काट दीजियेगा और यही नहीं निरर्थक आक्षेप के लिए हमें सजा भी दीजिएगा।"[१] यह घटना इस बात की द्योतक है कि अपनी आलोचकीय मान्यताओं, विशिष्ट दृष्टिकोण और समालोचकीय गौरव के लिए गुप्त जी विख्यात हो चुके थे। उनकी सम्मति का साहित्यिक जगत में मान था।

नये लेखकों को प्रोत्साहन—

पण्डित प्रतापनारायण मिश्र के शिष्यत्व से गुप्त जी ने "जपौ निरन्तर एक जवान ; हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान" का दीक्षा मन्त्र ग्रहण किया था और इसी मन्त्र के भाव को क्रियात्मक रूप देने में गुप्त जी का जीवन-साफल्य अन्तर्निहित था। उन्हें रचनात्मक शक्ति प्राप्त थी। कल्पना लोक में स्वप्नों का संसार बसा कर जीवित रहने वाले कल्पना जीवी वे न थे। साहित्यिक जीवन के अथ से इति तक वे दूसरों के लिए जीवित रहे। उन्होंने सर्वथा अपनी शक्ति का प्रयोग साहित्य-सृजन और प्रतिभाशाली व्यक्तियों को उभारने में लगाया। उन्होंने खोज-खोज कर हिन्दी-प्रेमियों को लेखक बनाया था।

१—पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी का गुप्त जी को लिखा पत्र, १३ सितम्बर सन् १८९९ ई०।

आपने एक ओर तो अशोभनीय कार्य करने वालों को दबाया, तो दूसरी ओर हिन्दी-सेवा का व्रत लेकर आने वाले को प्रोत्साहित किया था। वे ऐसे साहित्यिक थे जो स्वयं दीपवत् जल-जलकर दूसरों के लिये प्रकाश-स्तम्भ बने रहते हैं। जीवन के निश्चित दिनों में कितने ही व्यक्ति उनका आशीर्वाद और मार्ग-दर्शन पाकर उच्च कोटि के साहित्यिक बन गये थे। प्राचीन लेखकों और साहित्यिक-रत्नों की कीर्ति-रक्षार्थ वे जितने सर्तक रहते थे, उतने ही नवीन लेखकों को प्रोत्साहित करने के लिए तत्पर।

नये लेखकों को उत्साहित करने में गुप्त जी को एक विशेष आनन्द की प्राप्ति होती थी। मुस्लिम-कालीन भारतीय इतिहास के विद्वान् मुन्शी देवी प्रसाद जी मुन्सिफ को गुप्त जी ने हिन्दी लिखने के लिये प्रेरित किया और उनसे हिन्दी में 'हुमायूँ नामा', 'जहाँगीर' तथा 'खान नामा' आदि परमोपयोगी पुस्तकों का प्रणयन कराके भारत-मित्र के ग्राहकों को उपहार में दिया। मुन्शी देवी प्रसाद जी मुन्सिफ ने 'मैं और मेरी हिन्दी सेवा' शीर्षक लेख में अपनी हिन्दी-सेवा का श्रेय दो महानुभावों को दिया है, जिनमें "एक थे बाबू बाल मुकुन्द गुप्त और दूसरे थे, काशी नागरी प्रचारिणी सभा के बाबू श्यामसुन्दर दास जी बी० ए०।"[१]

मुन्शी जी को ही नहीं उनके सुयोग्य पुत्र श्री पीताम्बर प्रसाद को भी गुप्त जी ने प्रोत्साहित किया था। उनकी रचनाओं की प्रशंसा करके उनका मन बढ़ाया और साहित्य साधना के पथ पर अनुप्रेरित किया। गुप्त जी ने 'भारत मित्र' सन् १९०६ ई० में श्री पीताम्बर प्रसाद जी की प्रशंसा में लिखा था—"मुन्शी पीताम्बर प्रसाद जोधपुरी, मुन्शी देवीप्रसाद जी के पुत्र हैं। हिन्दी में 'प्रीतम' और उर्दू-फारसी में 'अख़तर' आपका उपनाम है। हमने आपकी उर्दू कविता देखी है। बहुत अच्छी कविता करते हैं और उसमें विशेषता यह है कि अधिक ध्यान आपका नीति की ओर है। किसी मौके से आप की उर्दू-फारसी की कविता का परिचय भी दिया जायगा। यह हर्ष की बात है कि आपका ध्यान हिन्दी की ओर भी हुआ है। आपके दादा भी एक अच्छे कवि थे, वह केवल फारसी में कविता करते थे। फारसी में उनकी एक भक्तमाल और दूसरी कई किताबें हैं और इनके पिता मुन्शी देवी प्रसाद जी का तो कहना ही क्या है, वह उर्दू-फारसी के एक बड़े कवि और सुलेखक हैं। इस देश का इतिहास जानने में वह अपने ढङ्ग के एक ही पुरुष हैं। आजकल

१—गुप्त स्मारक ग्रंथ, पृ० १९८।

उनका ध्यान हिन्दी की ओर विशेष हुआ है। इस प्रकार मुन्शी पीताम्बर प्रसाद पुश्तैनी कवि हैं। हमें भरोसा है कि वह हिन्दी में खूब अभ्यास बढ़ायेंगे और अपने पूज्य पिता की भाँति हिन्दी में अच्छी-अच्छी पुस्तकें लिखेंगे।"[1] इसके उपरान्त उनकी कविता से दो सवैया—एक जोधपुर में वर्षा न होने के अवसर पर लिखा और दूसरा सवैया पं० देवराज पंचानन शास्त्री की समस्या पर लिखा—उद्धृत करके उनको प्रोत्साहित किया था।

पं० सत्यनारायण 'कविरत्न' को भी प्रोत्साहित करने में गुप्त जी का हाथ है। सत्यनारायण जी पं० श्रीधर पाठक के स्नेह भाजन थे। एक बार पाठक जी ने कविरत्न जी की एक कविता को गुप्त जी के पास प्रकाशनार्थ भेजा। गुप्त जी ने उस कविता को अपने पत्र में प्रकाशित कर दिया और उस पर अपनी एक टिप्पणी भी लिख दी। इस टिप्पणी में उन्होंने कविरत्न जी को प्रोत्साहित भी किया और एक परामर्श भी दिया था। आपने लिखा था—"यह एक बालक की कविता श्रीयुत पं० श्रीधर पाठक की मारफत हमारे पास पहुँची है। बालक तबियतदार है, यदि अभ्यास करेगा तो भविष्य में अच्छी कविता कर सकेगा। अपनी तरफ से हम इतना ही कह सकते हैं कि भाषा जरा वह और साफ करे, कुछ नये ढङ्ग की कविता में अभ्यास बढ़ावे, क्योंकि जिस ढङ्ग की यह कविता है, वैसी हिन्दी में बहुत अधिक और उत्तम से उत्तम हो चुकी है।"[2] नये लेखक की कोमल भावनाओं पर आलोचकीय-क्रूरता की गोली न दाग कर गुप्त जी ने बड़े धैर्य एवं माधुर्य के साथ उन्हें मार्ग परिवर्तन का परामर्श दिया है। निस्संदेह इस प्रोत्साहन को पाकर सत्यनारायण जी कविरत्न बन गये थे।

बाबू महावीर प्रसाद जी गहमरी को भी पारंगत और श्रेष्ठ लेखक बनाने का श्रेय गुप्त जी को है। गहमरी जी गुप्त जी के साथ सहायक के रूप में काम करते थे। गुप्त जी बोलते थे और गहमरी जी उसे लिखते जाते थे। इस प्रकार एक उत्तम लेखक का सतत सम्पर्क पाकर गहमरी जी की प्रतिभा दिनों-दिन निखरती गई और अन्ततः वे अच्छे लेखक बन गए।

'हिन्दी बंगवासी' के सम्पादक बाबू हरिकृष्ण जौहर के समर्थन से श्री चन्दूलाल भी गहमरी जी के साथ सहायक-सम्पादक के रूप में कार्य करने के लिए आए और गुप्त जी का शिष्यत्व पाकर सरस्वती का प्रसाद पा गए।

१—भारतमित्र, सन् १९०६ ई०।
२— वही २५ मई, सन् १९०३ ई०।

पं० रामानन्द शर्मा और बाबू नवजादिकलाल श्रीवास्तव को भी श्रेष्ठ सम्पादक के उत्तम स्थान तक पहुँचाने का श्रेय भी गुप्त जी की लेखनी को ही मिलता है। गुप्त जी द्वारा लिखे लेखों की प्रतियाँ पढ़कर उक्त दोनों सज्जन लेखक बन गए। पहले दोनों ही व्यक्ति कम्पोजीटर थे, फिर प्रूफरीडर बने और तत्पश्चात् सम्पादक बन गए। जब सन् १९०९ में बाबू प्राणतोष दत्त बी० ए० के तत्त्वावधान में 'वीर भारत' नाम का एक बड़े आकार का साप्ताहिक कलकत्ते से निकला तो उसका सम्पादक बाबू रामानन्द शर्मा और नवजादिकलाल श्रीवास्तव को ही नियुक्त किया गया। इसके पश्चात् पटने से प्रकाशित होने वाले 'पाटिल पुत्र' नामक पत्र का सम्पादन भार पं० रामानन्द जी ने संभाला और बाबू नवजादिकलाल ने 'मतवाला मंडल' में रहने के पश्चात् 'चाँद' द्वारा हिन्दी की सेवा की।[1]

पं० श्रीधर पाठक श्रेष्ठ कवि के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके थे, किन्तु बीच में आकर उनका उत्साह भङ्ग हो गया था। कारण यह था कि पत्तन लाल (सुसील कवि) ने पाठक जी के 'एकान्तवासी योगी' और 'उजाड़-ग्राम' का भद्दा अनुकरण करके दो पुस्तकें—'ऊजड़ गाँव' और 'साधु' लिखीं थीं। इस सम्बन्ध में लिखा पढ़ी इस सीमा तक पहुँची कि पाठक जी हतोत्साह हो गये थे। उस समय गुप्त जी ने पाठक जी का साहस बढ़ाया और सुसील कवि को साहित्यिक चोरी तथा अनियमता के लिये फटकार लगाई। दूसरी ओर पाठक जी को साहस देते हुए लिखा था—"आपके अनुत्साह का कारण है कि आपकी कविता की चोरी हुई। अनुत्साह ने आपको गुमनाम कर दिया। गुमनाम का माल हर कोई चुरा सकता है। जरा मैदान में आइये, देखें फिर कोई कैसे आपका माल चुराता है। यदि पत्तन का मित्र या पुत्र वैसा करेंगे तो क्या आपके पुत्र मित्र न रहेंगे जो उनके दाँत तोड़ दें। वास्तव में बड़ा ही गन्दा काम पत्तन ने किया। परन्तु हम लोग पीछा थोड़े ही छोड़ेंगे।"[2]

इस प्रकार अनुत्साहित पाठक जी को आश्वस्त करके गुप्त जी ने उन्हें पुनः साहित्य-साधना में अनुरक्त किया और यही नहीं, सामयिक महत्त्व का विषय बताते हुए कविता लिखने का परामर्श दिया। पाठक जी से अनुरोध करते हुए गुप्त जी ने लिखा था—"कृपा करके एक कविता यदि बालकों को सम्बोधित करके वर्षा के लिए लिखी जावे तो उत्तम हो। अकाल पड़ गया है, मेघ से

१—गुप्त स्मारक ग्रन्थ, पृ० २०२।

२—गुप्त जी का श्रीधर पाठक को पत्र, ७–९–१९००।

प्रार्थना की जावे कि तुम रक्षा करो।"[१] इतना प्रोत्साहन पाने पर भी पाठक जी का अनुत्साह तथा नैराश्य जब भंग न हुआ, तब गुप्त जी ने उन्हें दूसरा पत्र लिखा। इस पत्र में आपने लिखा था—"मैं समझता हूँ कि आपमें एक उत्तम कविता-शक्ति है, और वह ऐसी है कि जिससे आगे को हमारी कविता का भला हो सकता है।......क्या ही अच्छा होता, यदि आप केवल कविता लिखते और आलोचना करने वालों की बात का बुरा भला न मानते। आपको उत्तर देने की क्या जरूरत, जब कि आपकी उत्तम कविता आप-से-आप लोगों को मोहित कर लेती है।"[२]

गुप्त जी के इन शब्दों ने पाठक जी में समुचित उत्साह का संचार कर दिया था। अत: उन्होंने पुन: सरस्वती के मन्दिर में साधना प्रारम्भ की और उत्तम साहित्य को जन्म दिया। पाठक जी को खेद हुआ था कि इंगलैंड की भांति उनके साहित्य का मूल्यांकन भारत में नहीं होता और भारतीय अंग्रेजों की भाँति अपने साहित्यकों को गौरवान्वित नहीं करते। ऐसी अवस्था पर भी गुप्त जी ने उन्हें उत्साहित किया था। उन्हें भारतीयों की प्रकृति का परिचय दिया था। गुप्त जी का आशय था कि भारतवासी बहुत कम अपने साहित्यिकों का सम्मान करते हैं। उनकी इस उदासीनता की चिन्ता करके आपको अपनी शक्ति का विस्मरण करना समीचीन नहीं। प्रतिभा के विकास और काव्य साधना के प्रयत्न में निरन्तर लग जाना ही अधिक श्रेयस्कर है। भविष्य में सम्मान और गौरववर्धन का आश्वासन देते हुए गुप्त जी ने लिखा था—"यदि आप कुछ लिख जावेंगे, तो सौ-दो-सौ वर्ष बाद शायद आपके नाम की पूजा हो सकती है।"[३]

प्रेरणा और उत्साह के साथ यह थी आलोचक की भविष्यवाणी जिसने पाठक जी को नवशक्ति प्रदान की थी। इस प्रकार गुप्त जी की लेखनी को अनुत्साह तथा नैराश्य से आक्रान्त प्राचीन एवं प्रतिष्ठित कवि को साहित्य-साधना के पथ पर आसीन कर देने का श्रेय भी उपलब्ध है।

गुप्त जी जिस समय कालाकांकर के पत्र 'हिन्दोस्थान' के सम्पादकीय विभाग में कार्य कर रहे थे, उस समय पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी जी की 'गंगालहरी' को आपने प्रकाशित किया था। इसी प्रकार 'हिन्दी बंगवासी'

१—गुप्त जी का श्रीधर पाठक को पत्र, ७–६–१६००।

२— वही कलकत्ता, २६–११–१६००।

३— वही पत्र ।

और 'भारत-मित्र' सम्पादन काल के कुछ वर्षों तक गुप्त जी ने द्विवेदी जी की रचनाओं को प्रकाशित करके उन्हें प्रोत्साहित किया था।

पं० ब्रजनाथ गोस्वामी जी को भी गुप्त जी के आशीर्वाद से साहित्यिक तथा लेखक बनने का श्रेय प्राप्त है। जब ब्रजनाथ जी की अवस्था १७ वर्ष की थी, तभी वे 'भारत मित्र' के विशेषरूपेण पाठक थे और गुप्त जी की भाषा शैली के बहुत बड़े प्रशंसक भी थे। उस समय आपकी इच्छा हिन्दी लिखने की हुई और गुप्त जी को उचित परामर्श के लिये लिखा। गुप्त जी ने शीघ्र पत्र का उत्तर दिया और उनसे अपने शहर के समाचार लिख कर भेजने के लिए कहा तथा उनका परिमार्जन करके प्रकाशित कर देने का आश्वासन भी दिया।[1] इस प्रकार समाचार लिखकर भेजने का अभ्यास करते-करते वे अच्छे लेखक बन गए। इसी अभ्यास और अनवरत साधना के फलस्वरूप ब्रजनाथ जी 'भारत मित्र' में स्वतन्त्र रूप से लेख लिखने लग गये थे। द्विवेदी जी के 'भाषा और व्याकरण' वाले विवाद पर भी ब्रजनाथ जी ने 'अभ्युदय' में लिखा था। उनको लेखक बनाने का श्रेय गुप्त जी को ही है।

कलकत्ते के साहित्यिक बाबू रामकुमार गोयनका को भी सुलेखक बनाने का श्रेय गुप्त जी को ही प्राप्त है। गुप्त जी उन दिनों 'भारत-मित्र' के सम्पादक थे और रामकुमार जी गोयनका हिन्दी-लेखक बनने के अभिलाषी। गुप्त जी ने उनकी रचनाओं को भाषा और व्याकरण की दृष्टि से परिमार्जित करके प्रकाशित किया और कालान्तर में गोयनका जी हिन्दी-लेखक के रूप में प्रकटित हुए। गोयनका जी ने गुप्त जी के प्रति श्रद्धांजलियाँ अर्पित करते हुए लिखा है—"मेरा व्यक्तिगत रूप से स्वर्गीय गुप्त जी द्वारा बहुत उपकार हुआ। मैंने हिन्दी लिखना बहुत कुछ उनकी सहायता से सीखा। म्यूनिसिपलैटी के कार्यों के प्रति युवावस्था से मेरी दिलचस्पी है। सन् १९०३ में 'म्यूनिसपल महिमा' शीर्षक से मैंने 'भारत-मित्र' में कई लेख बिना अपना नाम दिये लिखे थे। गुप्त जी मेरे लेखों को इतना अच्छा सुधार देते थे कि लेख असर करने वाले बन जाते और मुझे उनके संशोधनों से शिक्षा मिलती।[2]

श्री गोयनका जी ने सन् १९१८ में अपनी पुस्तक 'सचित्र ऐतिहासिक लेख' प्रकाशित होने पर समर्पित गुप्त जी को की थी। इस समर्पण की

१—गुप्त स्मारक ग्रंथ, स्मृति के दो शब्द, पृ० ४१५।

२—गुप्त स्मारक ग्रंथ, गोयनका जी का संस्मरण, पृ० ४२८।

स्वीकृति पं० दीन दयालु शर्मा—गुप्त जी के अभिन्न मित्र—ने अपने पत्र ११-८-१९१८ द्वारा गोयनका जी को दी थी।

बाबू भगवती प्रसाद जी दारूका गुप्त जी के स्नेह-भाजन थे। उनको हिन्दी-लेखन की ओर प्रवृत्त करना गुप्त जी का ही कार्य था। गुप्त जी की प्रवाहपूर्ण गद्य-शैली ने दारूका जी को विमोहित किया था। अतः वे हिन्दी की ओर आकर्षित हुए। उनके लेखों का परिमार्जन करके गुप्त जी ने उन्हें हिन्दी लेखन-कला में दीक्षित किया। गुप्त जी के चरणों में श्रद्धा के दो पुष्प अर्पित करते हुए दारूका जी ने लिखा है—"मुझे हिन्दी लिखने में गुप्त जी ने ही प्रवृत्त किया था। उनकी सदैव यही इच्छा रहती थी कि अधिक से अधिक नवयुवक हिन्दी लेखक तैयार हों। जब मैं लेख ले जाता था तो वे उसकी गलतियाँ सुधार कर मेरा उत्साह बढ़ाने के लिए प्रकाशित कर दिया करते थे।[1]

इस प्रोत्साहन और प्रेम-भाव को पाकर दारुका जी साहित्य-सृजन की ओर उन्मुख हुए और उन्होंने 'वृद्ध-विवाह-नाटक' मारवाड़ी बोली में लिखा। गुप्तजी ने उक्त नाटक की प्रशंसा की थी और दारुका जी को प्रोत्साहित किया था।

साहित्य वाचस्पति पं० लोचन प्रसाद जी पाण्डेय भी गुप्त जी की भाषा और कविता शैली से प्रभावित हुए थे। उन्होंने अपनी श्रद्धा को इस प्रकार प्रकट किया है—"मैंने उनके स्फुट-कविता के बीसियों पद्यों को अनेकों बार पढ़ा और उनसे भाषा, भाव एवं पद्य-रचना का सबक सीखा है। उनका 'बसन्तोत्सव' और 'सर सैयद का बुढ़ापा' मुझे बड़ा प्रिय था। इन दोनों को न जाने मैंने कितनी बार प्रेम से पढ़ा और अन्यों को पढ़कर सुनाया है।"[2]

पाण्डेय जी के निर्माण में भी गुप्त जी की रचना और शैली को कुछ श्रेय प्राप्त है। पाण्डेय जी ने 'वसन्तोत्सव' की बीस पंक्तियाँ 'कविता कुसुम-माला'[3] में संग्रहीत की थीं।

'भारत-मित्र' में सामयिक-विषयों पर आलोचना-प्रत्यालोचना इतनी सुन्दर और श्रेष्ठ निकलती थीं कि अनेक लेखकों ने उसे पढ़ने के लिये हिन्दी पढ़ी। इस प्रकार अनेक नवीन युवक उत्साहित होकर साहित्य में दीक्षित हुए। महा महोपाध्याय पण्डित गिरधर शर्मा के शब्द इस विषय में अवलोकनीय हैं।

१—गुप्त स्मारक ग्रंथ, श्रद्धेय गुप्त जी, पृ० ४२९।

२— वही , पृ० ३४८।

३—इण्डियन प्रेस प्रयाग से सन् १९१० में प्रकाशित।

आपने लिखा था—"जिन दिनों में छात्रावास में था, समाचार पत्र पढ़ने की कुछ रुचि होने लगी थी, उन दिनों प्रथमतः स्वर्गीय बाबू बालमुकुन्द गुप्त जी की लेखनी ने ही चित्त पर विशेष प्रभाव डाला था। यह भी कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी कि श्री गुप्त जी की लेखनी ने ही समाचार-पत्र और हिन्दी के सामयिक निबंध पढ़ने की प्रवृत्ति को उत्साह दिया। इसी से मैं अनुमान करता हूँ कि मेरी भाँति शतशः सहस्त्रतः विद्या-प्रेमी उनके कारण हिन्दी के अनुरागी बने होंगे।"[१]

पण्डित जी के इन शब्दों में सत्य का अधिक स्फुरण हुआ है। बीसियों व्यक्ति गुप्त जी से प्रेरणा पाकर लेखक बन गए थे, यह सत्य है। इस विषय में अधोलिखित सज्जनों के नाम भी उल्लेखनीय हैं। हास्य और व्यंग्य के अवतार पं० जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी गुप्त के अन्तरंगों में से थे, उनके लिये 'भारत-मित्र' के कालम प्रत्येक समय खुले रहते थे; 'भारत-मित्र' में लिखकर ही वह हास्य के अवतार माने गए थे। पं० ज्वाला प्रसाद जी के कनिष्ठ सहोदर पं० बलदेव प्रसाद मिश्र को भी गुप्त जी ने प्रोत्साहित करके लेखक बना दिया था। इनके अतिरिक्त पण्डित उमादत्त शर्मा बी० ए०, पण्डित अक्षयवट मिश्र काव्य तीर्थ, बाबू राधाकृष्ण टीबड़े वाले तथा पं० कालीप्रसाद तिवारी जी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

'राजस्थान' पत्र के सम्पादक श्री गंगाप्रसाद जी को भी गुप्त जी बहुत समय तक उत्साहित करते रहे थे। एक बार मध्य-प्रदेश के किसी सज्जन ने गंगाप्रसाद जी की लिखी पुस्तकों की मौलिकता पर सन्देह व्यक्त किया था और 'भारत-मित्र' में प्रकाशनार्थ उन पुस्तकों की सूची भेजी थी, जिनकी नकल गंगाप्रसाद जी की पुस्तकें थीं। गुप्त जी सिद्धान्तः साहित्यिक चोरी के विरुद्ध थे, किन्तु फिर भी उन्होंने नव-युवक लेखक का उत्साह भंग नहीं होने दिया। उन्हें इस दूषित कार्य से पृथक् रहने का परामर्श देते हुए कुछ आदेशों के साथ वह सूची उनके पास भेज दी थी।[२]

इससे स्पष्ट है कि गुप्त जी जीवन के अन्तिम दिनों तक नवीन उत्साही युवकों को लेखक बनाने के लिये प्रयत्न करते रहे थे। वे अन्य सम्पादक बन्धुओं की भाँति नवीन लेखकों की प्रारम्भिक त्रुटियों को लक्ष्य करके आलोचना

१—गुप्त स्मारक ग्रंथ, पृ० ३१८।

२—भारत मित्र, आपका उत्साह, सन् १९०६ ई०।

के कठोर तीरों से मर्मान्तिक आघात नहीं पहुँचाते थे, वरन् प्रेरक वाक्यावली द्वारा प्रोत्साहित करके उन्हें कुशल लेखक बनाते थे। त्रुटियों का संशोधन कर, नये-नये विषय बताकर और लेख छाप कर वे उदीयमान व्यक्तियों को सर्वदा साहस प्रदान किया करते थे।

उपसंहार—

आलोचक गुप्त जी के विषय में सारांश में यह कहा जा सकता है कि वे भारतेन्दु-युग के एक शक्तिशाली प्रतिनिधि थे। उस युग के लेखकों में साधारण छात्र की भाँति वे सम्मिलित हुए थे, पर अपनी प्रतिभा और विशिष्ट गुणों के कारण उच्चकोटि के लेखक बन गए थे। उनमें अपने युग की सम्पूर्ण विचार-धारा मूर्तिमान हो उठी थी। उन्होंने आलोचना की पुस्तक परिचय वाली पद्धति से लेकर कलाकृति के काव्य-सौष्ठव तथा कलाकार के व्यक्तित्व तथा उसकी विशिष्टताओं के निरूपण वाली गम्भीर विवेचना शैली तक को अपनाया था। पं० प्रतापनारायण मिश्र पर लिखा निबंध उनकी इसी शैली का सुन्दर निदर्शन है जिसमें मिश्र जी के व्यक्तित्व और प्रतिभा का सुन्दर विवेचन हुआ है।

प्राचीन साहित्यकारों के जीवन-वृत्त तथा आलोचनात्मक परिचय प्रकाशित करके उन्होंने अपने युग की सामान्य प्रवृत्ति का अनुगमन किया था। एक बात में गुप्त जी अपने युग के अपवाद भी थे। वे अन्य आलोचकों की भाँति आलोच्य व्यक्ति के हिन्दी या संस्कृत-ज्ञान तक सीमित ही नहीं रहे, उन्होंने आलोच्य व्यक्ति के अन्य भाषा-ज्ञान का परिचय भी कराया था। प्रताप-नारायण मिश्र, पं० देवकीनन्दन तिवारी तथा पण्डित देवीसहाय आदि के अरबी-फारसी, बंगला तथा उर्दू-ज्ञान का विवेचन भी गुप्त जी ने किया था। इसके अतिरिक्त एक गुण में गुप्त जी अन्य लोगों से अधिक आगे बढ़ गये थे और वह यह कि उन्होंने हिन्दी, उर्दू, बंगला, अरबी, फ़ारसी और अंग्रेजी आदि भाषाओं के लेखकों की एक ही लेखनी से आलोचना प्रस्तुत करके भाषा के पृथकत्व और वैषम्य को मिटाने का प्रयास किया था। वे साहित्य के अन्तर्गत आज के आलोचक की भाँति सभी भाषाओं के ज्ञाताओं को समान दृष्टि से देखने की परम्परा की स्थापना कर रहे थे। यह उनका अत्यन्त लाभ-दायक एवं क्रान्तिकारी प्रयास था।

आलोचक गुप्त जी का अन्य गुण था, तुलनात्मक आलोचना-पद्धति को जन्म देना। उन्होंने इस पद्धति को उन्नत किया और उसे आगे बढ़ाया।

गुप्त जी आलोचक के साथ-साथ इतिहासज्ञ भी ठहरते हैं। ऐतिहासिक व्यक्तियों पर खोज और अनुसंधान करके विवेचना प्रस्तुत करना उनकी अपनी विशेषता थी, जिसके लिए वह सर्वदा स्मरणीय रहेंगे। वे समाज शास्त्री थे। अतः आलोचना करते समय उन्होंने युग की सही पृष्ठ भूमि अंकित की थी। उन्होंने युग की भावना को अपनी आलोचना द्वारा स्वीकार करा लेने के लिए अथक प्रयास किए थे। 'अश्रुमती नाटक' तथा 'तारा उपन्यास' को युग की विचार धारा के प्रतिकूल देखकर आपने उनके विरोध में लेखनी उठाई थी। उनकी कला और साहित्य के आदर्श भारतेन्दु जी थे। अतः उन्होंने उनकी विचारधारा का सच्चे एवं निर्भीक ढंग से परिपालन किया था। गुप्त जी की आलोचना का रूप सर्वदा लोक-प्रिय और विषय-वस्तु समाज हितैषी रहती थी। इस सिद्धान्त का उन्होंने सफलता पूर्वक निर्वाह किया तथा आलोचना को सामाजिक और साहित्यिक प्रगति के सफलतम साधन के रूप में अधिष्ठित किया। यही कारण है कि साहित्य से कुरुचि, कुत्सा, वासनात्मक उत्तेजक भाव एवं अतिशय शृङ्गारिकता का उच्छेदन करने में उन्हें अधिकांश सफलता प्राप्त हुई। साहित्य को आपने मनोविनोद का साधन न मानकर सामाजिक एवं राजनीतिक क्रान्ति का अग्रदूत घोषित किया था तथा इस आदर्श का परिपालन करने वाले साहित्य का सृजन भी किया था। सारांश यह है कि हिन्दी-आलोचना की जिस जातीय परम्परा का प्रवर्तन भारतेन्दु जी ने किया था, उसको अधिक उन्नत करने में गुप्त जी समर्थ हुए थे। आज का आलोचक उसी परम्परा गत शृङ्खला की कड़ी मात्र है। शुक्ल जी ने गुप्त जी द्वारा प्रतिपादित 'लोकमंगल की साधना' तथा तुलनात्मक समीक्षा पद्धति की वैज्ञानिक परम्परा को विकसित एवं सम्बर्द्धित किया। कला को उपयोगिता की तुला पर तोलने वाला आलोचक, जो साहित्य द्वारा सामाजिक उत्कर्ष का प्रबल समर्थक है, आज आलोचना की इसी परम्परागत शैली का अनुकर्त्ता बना है। इस प्रकार गुप्त जी आलोचना के क्षेत्र में तत्व चिंतक, विकासशील, एवं प्रगतिशील आलोचक के रूप में प्रतिष्ठित होते हैं। वे बहुश्रुत, सहानुभूति पूर्ण प्रोत्साहनदाता और बहुपठित आलोचक थे।

अध्याय ६

गद्य में गुप्त जी की व्यंग्यपूर्ण रचनाएँ

बाबू बालमुकुन्द गुप्त एक उच्चकोटि के व्यंग्यकार थे। व्यंग्यात्मकता एवं विनोद-प्रियता उनकी शैली के प्रधानगुण थे। उनकी भाषा पूर्ण परिमार्जित, मुहावरेदार, चुटीली, संगठित, शब्दाडम्बर-विहीन तथा चलती हुई होती थी। उसमें व्यंग्य एवं कटाक्ष की तीव्रता का समुचित पुट होता था और व्यंग्योक्तियाँ तीव्र प्रभाव करने वाली होती थीं। उनके स्वभाव की हास्य और विनोद-प्रियता शैली में मूर्तिमान हो उठी थी।

व्यंग्य-प्रधान शैली लेखक के पास एक ऐसा सुलभ साधन है जिसके द्वारा वह अपने हृदय को भली प्रकार स्वच्छ कर सकता है। जब कभी गुप्त जी बड़ी कड़वी और तीखी बात कहना चाहते थे, तो वे इसी शैली का प्रयोग करते थे। यह शैली उन्हें स्वयं भारतेन्दु, उस युग के अन्य लेखक पं० प्रतापनारायण मिश्र से प्राप्त हुई थी, जिसका सम्यक सम्बर्द्धन और समीचीन प्रस्फुटन उनकी लेखनी द्वारा हुआ है।

गुप्त जी की इस व्यंग्यात्मक गद्य-शैली का रूप हमें प्रथम उनके 'शिवशम्भु के चिट्ठों' में मिलता है। इसके अतिरिक्त प्रायः सभी लेख व्यंग्य प्रधान शैली में लिखे गये हैं। इस गुण के अभाव में उनकी शैली पंगु ही रह जाती। पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी के साथ होने वाले 'भाषा व्याकरण' अथवा 'भाषा की अनस्थिरता' वाले साहित्यिक वाद-विवाद में यही शैली पाई जाती है। 'भारत-मित्र' में प्रकाशित 'सामयिक-साहित्य' नामक लेखों की शैली भी व्यंग्यात्मक है। होली के अवसर पर लिखे गये उनके सारे लेख हास्य, विनोद और व्यंग्य से भरे हैं। 'हिन्दी-बंगवासी' पत्र के साथ चलने वाले 'धर्म-भवन' सम्बन्धी विवाद में व्यंग्य का पुट है। इस सब के अतिरिक्त समय-समय पर मारवाड़ी समाज को लक्ष्य करके लिखे गये लेख भी इस शैली के उत्तम निदर्शन हैं। बम्बई के 'श्री बेंकटेश्वर समाचार' के सम्पादक श्री लज्जाराम मेहता के साथ 'शेष' शब्द पर होने वाले विवाद स्वरूप लिखे गये गुप्त जी के लेख व्यंग्यपूर्ण हैं। सर सैयद अहमद खाँ, पूर्वी बंगाल के तत्कालीन गवर्नर बामाई फुलर जंग के नाम शाइस्ता खाँ के पत्र, लार्ड मिन्टो और भारत

सचिव मार्ली साहब के नाम लिखे पत्रों की भाषा व्यंग्य और विनोद से भरी हुई है। गुप्त जी ने इस व्यंग्य प्रधान शैली द्वारा ही हृदयस्थ देश प्रेम एवं बिदेशी शासन के विरोध की अभिव्यक्ति की है।

गुप्त जी के इन व्यंग्य प्रधान लेखों और खुले पत्रों पर अलग से स्वतंत्रता पूर्वक विचार किया गया है। यहाँ शिवशम्भु शर्मा के चिट्ठों के ऐतिहासिक महत्व पर विचार किया जारहा है।

शिवशम्भु के चिट्ठों का ऐतिहासिक महत्व—

भारत में अंग्रेजी साम्राज्य का इतिहास विनाश और शोषण की करुण कहानी है। ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सरकार भ्रष्ट और रिश्वत खोर थी। स्वयं सर जार्ज कार्नवालिस जैसे व्यक्ति ने कम्पनी सरकार के भ्रष्टाचार की ओर संकेत किया है।[१] देशी राज्यों को अंग्रेजी साम्राज्य का अंग बनाकर लार्ड डलहौजी ने भारत पर ब्रुटिश शोषण के पंजे को और भी कड़ा कस दिया था। देशी राज्यों का अंग्रेजी साम्राज्य में विलयन का उद्देश्य पूर्णतः साम्राज्यवादी था,[२] राज्यों में प्रशासकीय कौशल का समावेश करना नहीं। कम्पनी की सरकार द्वारा किये गए सुधारों की पृष्ठ भूमि में भी भारत के शोषण और इंगलैण्ड के पोषण का उद्देश्य अन्तर्निहित था। डलहौजी द्वारा बिछवाई गई रेलवे लाइनों का मूल्य भारत को देना पड़ा था, जबकि हित सम्पन्न हुआ था अंग्रेज व्यवसायियों का।[३] यही नहीं, भारत विजय और शासन सूत्र संचालन का खर्च; मिश्र, जावा, वर्मा, अफगानिस्तान, चीन और ईरान आदि के साथ हुए युद्धों का व्यय; सन् १८५७ की क्रान्ति दमन में नियोजित अंग्रेजी सेवाओं का समूचा खर्च[४]; कम्पनी की पूँजी का १२० लाख पौंड और इगण्लैंड से भारत तक लगाये गए पनडुब्बा तार का व्यय[५]

१—देखिए–गुरुमुख निहालसिंह' लैंडमार्क्स इन इण्डियन कान्स्टीट्यूशनल एण्ड नेशनल डेवलेपमेंट, भाग १, १६००–१६१६, पृ० ६८।

२—आर० एस० मजूमदार आदि, एन एडवांस हिस्ट्री आव इण्डिया, भाग तीन, पृ० ७६८।

३—देखिये ईश्वरी प्रसाद आदि, ए हिस्ट्री ऑव मॉडर्न इण्डिया, १७४०-१६५०, पृ० २२६।

४—देखिये जयचन्द विद्यालंकार, इतिहास प्रवेश, पृ० ७००।

५— वही वही, पृ० ७७२।

भारत को देना पड़ा था। एक ओर तो अंग्रेज भारत का असंख्य धन विलायत को लेते चले जा रहे थे, दूसरी ओर यहाँ के उद्योग एवं व्यवसाय के उन्मूलन की नीति अपनाये हुए थे। इसी नीति के परिणाम स्वरूप लखनऊ, अहमदाबाद, नागपुर और मथुरा का कपास का व्यापार तथा बनारस, पूना, नासिक और अहमदाबाद का पीतल का व्यवसाय समाप्त हो गया था जहाज निर्माण का कार्य इङ्गलैंड की अपेक्षा भारत में अधिक होता था, किन्तु वैधानिक रूप से उसकी प्रगति अंग्रेजों ने रोक दी थी।[१] देश के असीम धन के निर्यात, सरकार के भ्रष्टाचार और व्यवसाय के ह्रास का परिणाम दारिद्र्य का उत्तरोत्तर विकास और भुखमरी का उन्नयन के रूप में हुआ था।

देश के दारिद्र्य विकास में उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त अंग्रेजी सरकार की भूमि विषयक अस्थायी व्यवस्था प्रणाली, करों का निर्धारण एवं विकास और अन्यायपूर्ण अर्थनीति थी। सन् १८५७ की असफल राजक्रान्ति के उपरान्त हुआ भूमि का बन्दोवस्त भी संतोषजनक न था। बम्बई प्रान्त तथा वाइसराय की सभा में सर आकलैंड काल्विन और विलियम हन्टर ने इस बन्दोवस्त की कटु आलोचना की थी। अंग्रेजी राज्य ने देश की गरीबी के निवारण की योजना तैयार न करके उल्टे दमन और कठोरता से काम लिया था। १८५७ के क्रान्तिकारियों तथा बाद के देशभक्तों के दमन की कथा अंग्रेज जाति की बर्बरता और अमानवीयता की कहानी है।

दारिद्र्य, दमन और कठोरता की चक्की में पिसती हुई भारतीय जनता का भाग्याकाश आधिदैविक आपत्तियों के काले मेघों से आच्छादित हो उठा था। सन् १८६६ ई० के भयंकर अकाल ने देश के लगभग बीस लाख व्यक्तियों को काल का ग्रास बना दिया था। किन्तु सरकार जरा भी चिन्तित न हुई। यथार्थ में इस विपत्ति का उत्तरदायित्व लार्ड लारेंस तथा बंगाल के लेफ्टीनेंट गवर्नर सेसिल बीडन पर है।[२] अकाल के उपरान्त बाढ़ का प्रकोप हुआ। उड़ीसा के निचले भागों के लोग बाढ़ में बह गए। लारेंस ने लिखा था— "जो अनावृष्टि से बच गए थे, उनको अतिवृष्टि ने जल मग्न कर दिया।"[३]

१—देखिए-आर० एस० मजूमदार आदि, एन एडवांस हिस्ट्री आव इण्डिया, भाग तीन, पृ० ८१०।

२—श्री नेत्रपांडे, भारत का बृहत इतिहास, पृ० १०।

३—श्री राम शर्मा, भारतीय इतिहास की रूपरेखा, द्वितीय भाग, १५२६ ई० से वर्तमान काल तक, पृ० ३५८।

सन् १८६७ में हैजा का प्रकोप हुआ। १८६८-६६ के दुर्भिक्ष ने बुन्देलखण्ड और राजपूताने की कमर तोड़ दी और १८७४ में बंगाल की। सन् १८७७ से लेकर १६०० तक अकाल पड़ते रहे, परिणाम स्वरूप गरीबी और भुखमरी बढ़ती गई। इसी बीच में प्लेग का प्रकोप हुआ। बम्बई प्रेसीडेंसी में प्लेग से मृतकों की संख्या सरकारी आंकड़ों के अनुसार १,७३,००० थी। इस प्रकार गरीबी, दमन, प्लेग, हैजा, अतिवृष्टि और अनावृष्टि से दुखित भारतीय अंग्रेजी शासन से ऊब गए थे। उनको विश्वास हो गया था कि उनकी विपत्ति के मुख्य कारण अंग्रेज हैं। अतः अंग्रेजी शासन के जूए को शीघ्र उतार फेंकने की भावना उत्पन्न होकर दृढ़ होती जा रही थी।

स्वामी दयानन्द सरस्वती, राजा राममोहन राय और ऐनीबीसेंट द्वारा उद्बुद्ध धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक चेतना, बाल, लाल और पाल द्वारा जाग्रत राष्ट्रीयता के साथ मिलकर बृटिश-शासन के विरोध के रूप में प्रस्फुटित हुई। जिसका लिटन (१८७६-१८८०), डफरिंग (१८८४-१८८८), लैंसडाउन (१८८८-६३), एलगिन (१८६४-६६) और कर्जन (१८६६-०४) आदि अनुदार तथा कठोरतावादी वायसरायों के शासन काल में विविधरूपेण दमन किया गया था। इस दमन काल में कभी-कभी रिपन (१८८०–८४) जैसे सुधारवादी और उदारता प्रिय वाइसराय का शांतिमय शासन भी आया। पर यह शांति तूफान से पूर्व की निस्तब्ध वेला के समान थी, जिससे स्वाधीनता आन्दोलन का तूफान फूट निकला था।

अंग्रेजी सरकार द्वारा समय-समय पर किये गए सुधार भारतीयों को अधिक समय तक मोहपाश में बाँधकर न रख सके। फ्रांस, अमेरिका, इटली, जर्मनी और इंगलैंड द्वारा अपनी स्वाधीनता प्राप्ति के लिए अपनाये गए साधनों ने भारत को क्रान्ति का मार्ग ग्रहण करने के लिए अनुप्रेरित किया तथा गोरी सरकार द्वारा किये गए दमन को सहन करने का नैतिक बल दिया। बम्बई प्रान्त में तिलक ने 'केसरी' द्वारा क्रान्ति का बिगुल बजाया और 'काल', विभाग', 'मोदवृत्त' तथा 'प्रतोद' आदि पत्रों ने उनका समर्थन किया; पंजाब में लाला लाजपत राय के विचारों को 'पंजाबी' ने फैलाया और 'न्यू इण्डिया,' 'वन्देमातरम्', 'सन्ध्या' तथा 'युगान्तर' आदि ने बंगाल में क्रांति के गीत गाए। फलस्वरूप 'वन्देमातरम्' के सम्पादक अरबिन्द घोष,' 'सन्ध्या के सम्पादक ब्रह्मबान्धव उपाध्याय और युगान्तर के सम्पादक भूपेन्द्र नाथ दत्त पर मुकद्दमा चला और वर्नाक्यूलर पत्रों की स्वाधीनता का गला घोंट दिया गया। यही कारण था कि स्वाधीनता संग्राम के समर्थन में लिखते हुए पत्रों

को भय लगता था। इसी स्थिति का द्योतन राधाचरण गोस्वामी ने—'तुम्हें क्या' नामक लेख में किया है।[1]

दासता और घोर दमन की इन परिस्थितियों में अंग्रेजों के वैभव और विलास तथा भारतीयों के दीन एवं दारिद्रय-ग्रस्त जीवन का अंकन करने, बृटिश-साम्राज्य द्वारा भारतीय एकता का उन्मूलन करके जातीय भेद-भाव-उत्पादक षडयन्त्रों का भंडाफोड़ करने, शोषित और उत्पीड़ित भारतीय समाज को देशभक्ति के सूत्र में पिरोने तथा अंग्रेज वायसराय और गवर्नरों के अपव्यय एवं भारत-विरोधी कार्यों की स्पष्ट रूप-रेखा जनता के सामने उपस्थित करने की जटिल समस्या हिन्दी-पत्रकारों के सम्मुख वर्तमान थी। सम्पादक-गण स्पष्ट एवं निर्भीकता पूर्वक शासन का विरोध करने का साहस न रखते थे। भारतेन्दु जी के साथ किए गए सरकारी व्यवहार से सब लोग परिचित थे; पं० बालकृष्ण भट्ट का दण्डित होना सबके स्मृति पटल पर अंकित था; बालमुकुन्द गुप्त का 'हिन्दोस्थान' (कालाकांकर) से पृथक् किया जाना अभी सबको स्मरण था; 'इण्डिया' पत्र के सम्पादक पिण्डीदास का पाँच वर्ष को जेल जाना भी सबको ज्ञात था और 'हिन्दुस्तान' के सम्पादक को यह कह कर दमन का शिकार बनाना कि 'इण्डिया' का सिडीशन वाला अंक उसी के प्रेस में छपा था, भी सबको याद था। ऐसी अवस्था में दमन, अन्याय, अत्याचार और प्रपीड़न की करुण गाथाएं किस प्रकार जनता तक पहुँचाई जाएँ यह समस्या सबके सम्मुख वर्तमान थी। अधिकांश सम्पादक राजद्रोह के भय से मौन थे, स्वार्थी और व्यवसायी पत्रकार कला और संस्कृति-विकास के नाम पर जनता के साथ छल कर रहे थे। 'जैसी बहै बयारि पीठि ताही को दीजै' वाले सिद्धान्त के पोषक अवसर वादी पत्रकार अपने भोजन और वस्त्र अर्जन करने में दक्षता का परिचय दे रहे थे, किंतु अपने को जनता का वकील समझने वाले कर्त्तव्य की ओर सचेत और सचेष्ट थे। बाबू बालमुकुन्द गुप्त ऐसे ही पत्रकारों में से एक थे। निर्भीकता और स्पष्टवादिता उनकी पत्रकारिता के प्रधान गुण थे। कर्त्तव्यनिष्ठा और आदर्श-परिपालन की भावना उनमें असीम थी और वह सच्चे अर्थ में जनता के वकील थे। उन्होंने बृटिश साम्राज्य विरोध का झंडा उठाया था। भारतेन्दु और उनके मण्डल के अन्य लेखक भी पूर्ण देशभक्त तथा भारतीय स्वातंत्र्य के प्रबल समर्थक थे। किन्तु उन्होंने उदारतावादी एवं सुधारवादी अंग्रेजों की प्रशंसाएँ भी पर्याप्त मात्र में की थीं,

---

१—डा० रामविलास शर्मा, भारतेन्दु युग, पृ० ३१।

वे अधिक समय तक सुधारवादी मोहावरण को सहते रहे थे। दूसरी ओर गुप्त जी अँग्रेजी शासन के घोर विरोधी थे। लार्ड रिपन और विक्टोरिया-घोषणा पत्र को उन्होंने भी श्रद्धा और सम्मान की दृष्टि से देखा था, किन्तु उनका भाव-परिवर्तन शीघ्र हो गया था। निःसन्देह वे अन्य लेखकों की अपेक्षा अधिक क्रान्तिकारी थे। उनकी आलोचना की शैली भी अभूतपूर्व थी। उन्होंने स्पष्ट निबन्ध न लिखकर एक दूसरी शैली का अनुगमन किया, जो पत्रों की शैली थी। उन्होंने ये पत्र 'शिवशम्भु शर्मा' के नाम से लार्ड कर्ज़न को लिखे थे। इनमें लार्ड कर्ज़न की नीति, उसके कार्य तथा उसकी भारत की एकता-विरोधी-भावना की कटु आलोचना की गई है। प्रश्न उठ सकता है कि गुप्त जी को इस प्रकार के पत्र लिखने की प्रेरणा कहाँ से प्राप्त हुई? इतिहास के छात्रों से यह बात गोपनीय नहीं कि लाला लाजपतराय ने कुछ खुले पत्र सर सैयद अहमद के नाम लिखे थे। इन पत्रों में लाला लाजपतराय ने सैयद अहमद की हिन्दू-मुस्लिम-एकता विरोधी तथा देश-हित-विरोधी और अँग्रेजी शासन की समर्थिका नीति का घोर विरोध किया था। "राधाकृष्ण" के नाम से उन पत्रों का अनुवाद उर्दू साप्ताहिक 'कोहेनूर' (लुधियाना) में प्रकाशित हुआ था। अँग्रेजी पत्र में २७ अक्टूबर, १८८८, हिसार की तारीख वाले सबसे पहले पत्र में लिखने वाले का नाम दिया गया था—'आपके एक पुराने अनुयायी का पत्र।'[1]

जिन दिनों लाला लाजपतराय के ये खुले पत्र 'राधाकृष्ण' के नाम से 'कोहेनूर' उर्दू-साप्ताहिक में छप रहे थे, उन्हीं दिनों स्वर्गीय बालमुकुन्द गुप्त 'कोहेनूर' के सम्पादक थे। अतः निश्चित है कि गुप्त जी ने कर्ज़नशाही का नग्न चित्र जनता के सम्मुख अंकित करने के लिये उसी मार्ग का अनुसरण किया था। पर भाषा और शैली उनकी अपनी और मौलिक है, जिसने उन पत्रों को साहित्य की अमर निधि बना दिया है। इन चिट्ठों का प्रभाव इतना व्यापक एवं गहन हुआ कि प्रथम छः चिट्ठों का अँग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित किया गया था।[2] यही नहीं, अन्य लेखक भी शिवशम्भु बनने का लोभ संवरण नहीं कर सके थे। उनका उल्लेख इसी अध्याय के अगले पृष्ठों पर किया गया है। गुप्त जी ने अपने इन चिट्ठों में विशेषतः लार्ड कर्ज़न के शासन-काल की

१—फीरोजचन्द-जीवनी, पंजाब केसरी लाला लाजपतराय, साप्ताहिक हिन्दुस्तान, १३ दिसम्बर १९५३, पृ० ११।

२—बालमुकुन्द गुप्त, शिवशम्भु के चिट्ठे की पहली बार की भूमिका।

कुछ ऐसी घटनाओं पर जिनका प्रभाव भारतीय-हित के प्रतिकूल था, बड़ी मार्मिकता, देशभक्ति और उत्कृष्ट भारतीयता के साथ विचार किया है। जब देश प्लेग और दुर्भिक्ष के झंझावत से आक्रान्त दम तोड़ रहा था, तब लार्ड कर्ज़न ने सन् १९०२ ई० में १,८०,००० पौंड व्यय करके दिल्ली दरबार किया था और कलकत्ते में ७२,२१,८७५ रुपये के मूल्य का विक्टोरिया-स्मारक निर्मित कराया था। उसके शासन-काल की ये दो प्रमुख रचनाएं थीं।

गुप्त जी ने अपने प्रथम पत्र में ही इतिहास की इन दो प्रमुख घटनाओं का, जिन्हें कर्ज़न के जीवन की महत्त्वपूर्ण रचनाएँ स्वीकार किया जाता है, बालक शिवशम्भू शर्मा के बुलबुल उड़ाने के स्वप्न की भाँति अस्थायी एवं सारहीन कह कर मजाक उड़ाया है। आपने लिखा था—"आप बारम्बार अपने दो अति तुमतराक से भरे कामों का वर्णन करते हैं। एक विक्टोरिया मेमोरियल हाल और दूसरा दिल्ली-दरबार। पर जरा विचारिये तो यह दोनों काम "शो" हुए या "ड्यूटी?" विक्टोरिया-मेमोरियल हाल चन्द पेट भरे अमीरों के एक-दो बार देख आने की चीज़ होगी। उससे दरिद्रों का कुछ दुःख घट जावेगा या भारतीय प्रजा की कुछ दशा उन्नत हो जावेगी, ऐसा तो आप भी न समझते होंगे।"[1] गरीब जनता को भोजन और वस्त्र विहीन करके उनके रक्त-मांस से शहीदों की कब्र पर बनी हुई आलीशान इमारत के प्रति गुप्त जी की धारणा एक सच्चे देश-भक्त के अनुरूप ही है। लार्ड कर्ज़न के इन दोनों कार्यों को आप व्यक्तिगत अहम्मन्यता और यश-लालसा का परिणाम तथा बुलबुल उड़ाने के खेल से अधिक मूल्यवान नहीं मानते। उन्होंने स्पष्ट लिखा है—"आपने माई लार्ड! जबसे भारत में पधारे हैं, बुलबुलों का स्वप्न ही देखा है या सचमुच कोई करने योग्य कार्य भी किया है? खाली अपना खयाल ही पूरा किया है या यहाँ की प्रजा के लिये कुछ कर्त्तव्य पालन भी किया।"[2] लार्ड कर्ज़न को प्रजा के प्रति कर्त्तव्य का ध्यान दिलाने वाला अन्य साहसी पत्रकार हिन्दी-जगत में वर्त्तमान न था। विक्टोरिया स्मारक के समीप कुछ अन्य मूर्तियाँ भी बनाई गई थीं, जिनमें कुछ अंग्रेजों की प्रतिमायें तथा अन्य अकाल पीड़ितों की मूर्तियाँ हैं। इनके सम्बन्ध में गुप्त जी ने लिखा है—"यह मूर्तियाँ किस प्रकार के स्मृति चिह्न हैं? इस दरिद्र देश के धन की एक ढेरी है, जो किसी काम नहीं आ सकती।—वह कुछ विशेष पक्षियों के कुछ

१—बालमुकुन्द गुप्त, शिवशम्भु के चिट्ठे, बनाम लार्ड कर्जन, पृ० ८।
२— वही पृ० ७।

देर विश्राम लेने के अड्डे से बढ़कर और कुछ नहीं है।"[१] व्यंग्य के पर्दे के पीछे कितना कठोर सत्य इन पंक्तियों में अन्तर्निहित है। भूखे और नंगे भारतीयों के लिये यह हॉल और मूर्तियाँ किस काम की? न तो इनसे पेट पालन होता था और न शान ही बढ़ती थी। हाँ! पेट भरे अंग्रेज सपत्नीक वहाँ आकर दो चार घंटे विश्राम करते हुए अपने शासन की प्रशंसा कर लेते थे। कर्ज़न के अन्य कार्यों की भी कटु आलोचना गुप्त जी ने अन्य चिट्ठों में की है।

गुप्त जी मानते थे कि देश की जनता के सुख और धन के ढेर पर भव्य भवन तथा मूर्तियाँ बनाने से तो अच्छा उनके हृदय पर सद्व्यहार और सुशासन की मूर्ति-अंकन करना था। इसी विचार-धारा से प्रवाहित होकर उन्होंने ब्रैडले, ग्लैडस्टोन, जान ब्राइट तथा लार्ड केनिंग और रिपन की प्रशंसा की थी। किले की मूर्तियों का, जिनमें कर्ज़न की भी मूर्ति सम्मिलित थी, प्रतिवाद करते हुए आपने लिखा था—"माई लार्ड! आपकी मूर्ति की वहाँ क्या शोभा होगी? आइये मूर्तियाँ दिखावें। वह देखिये एक मूर्ति है, जो किले के मैदान में नहीं है, पर भारतवासियों के हृदय में बनी हुई है। पहचानिये, इसी वीर पुरुष ने मैदान की मूर्ति से इस देश के करोड़ों गरीबों के हृदय में मूर्ति बनवाना अच्छा समझा। यह लार्ड रिपन की मूर्ति है।"[२]

सुधारतावादी एवं भारत-हितैषी नीति के कारण लार्ड रिपन गुप्त जी के पूर्ववर्ती साहित्यिकों के भी प्रशंसापात्र बने थे। सन् १८८१ में वर्नाक्यूलर एक्ट को भंग करना, मैसूर राज्य को उसके प्राचीन वंशज को पुनः लौटाना, अफगान युद्ध की इतिश्री करना, तथा भारतीयों को स्वायत्त-शासन में प्रशिक्षित करने के उद्देश्य से स्थानीय-स्वराज्य की नींव डालना आदि उनके ऐसे कार्य थे, जिन्होंने भारतीयों को प्रभावित किया था। अतः स्वयं भारतेन्दु जी ने 'रिपनाष्टक' लिखकर अपनी श्रद्धांजलियाँ उन्हें समर्पित की थीं। रिपन को प्रयागराज के समान बताते हुए आपने लिखा था—

"जय तीरथ पति रिपन प्रजा अघ-शोक विनाशक।
गंग-जमुन-सम मिलित तदपि जल्हवि मरजादक॥
अक्षय वट सम अचल कीर्त्ति थापक मन पावन।
गुप्त सरस्वती प्रकट कमीशन मिस दरसावन॥

१—बालमुकुन्द गुप्त, शिवशम्भु के चिट्ठे, बनाम लार्ड कर्ज़न, पृ० १०।
२—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, पृ० १८१।

कलि कलुष प्रजागन-भीति को सब बिधि मेटन नाम रट ।
जय तारन-तरन प्रयाग-सम जस चहुँ दिशि सब पै प्रगट ।।"[१]

और आपने उनकी महान् सेवाओं को स्वीकार करके उन्हें आश्वासन दिया था—

"सब प्रजा पुञ्ज-सिर आपकौ रिन रहिहै यह सर्व छन ।
तुम नाम देव सम नित जपत रहिहैं हे हम श्री रिपन ।।"[२]

भारतेन्दु जी के परम प्रशंसक पं० प्रतापनारायण मिश्र ने उदार अँग्रेज बैडला का स्वागत करते 'बैडला-स्वागत' लिखा था । कुछ सीमा तक गुप्त जी पर भी यही प्रभाव स्पष्ट है । ये कवि जनता के हितैषी को अपना मित्र और विरोधी को अपना शत्रु मानते थे । उनकी यही भावना सर्वत्र परिलक्षित होती है ।

शिवशम्भु का दूसरा चिट्ठा 'श्रीमान् का स्वागत', २६ नवम्बर सन् १६०४ ई० को 'भारत-मित्र' में प्रकाशित हुआ था । लार्ड कर्जन पाँच साल की अवधि पूरी करके इङ्गलैण्ड वापिस जा चुके थे और उनका कार्य मद्रास के गवर्नर ने संभाल लिया था, पर इङ्गलैंड की सरकार ने पुनः उन्हें दो वर्ष के लिये वायसराय नियुक्त कर भेज दिया । कर्जन का पुनः भारत आना भारतीयों को भला न लगा, उनके शासन में प्रजा ने अनेक कष्ट सहे थे । पर वह विवश थी, करती क्या ? सब कुछ सहने के लिये तैयार हो गई । उसी अवसर पर व्यंग्य-माला से स्वागत करते हुए—'श्रीमान् का स्वागत' नामक चिट्ठा लेकर गुप्त जी आए । भारतीयों की सहनशीलता का परिचय देते हुये आपने लिखा था—"उन्होंने (भारतीयों ने) पृथ्वीराज, जयचंद की तबाही देखी, मुसलमानों की बादशाही देखी । अकबर, बीरवल, खानखाना और तानसेन देखे, शाहजहानी तख्तेताऊस और शाही जलूस देखे । फिर वही तख्त नादिर को उठाकर ले जाते देखा । शिवाजी और औरंगजेब देखे । क्लाइव और हेस्टिंग्स से वीर देखे । देखते-देखते बड़े शौक से लार्ड कर्जन का हाथियों का जलूस और दिल्ली दरबार देखा ।"[३] बात यथार्थ है, भारतीय इस गुण में सर्वोपरि हैं । ये आदि से विविध सभ्यताओं एवं संस्कृतियों के विकास और

१—ब्रजरत्नदास, भारतेन्दु ग्रन्थावली, द्वितीय खंड, पृ० ८१६ ।
२— वही पृ० ८१७ ।
३—बालमुकुन्द गुप्त, शिवशम्भु के चिट्ठे, श्रीमान् का स्वागत, पृ० १२ ।

अवसान, अनेक जातियों के उत्थान-पतन एवं देशों के निर्माण और संहार का दृश्य देखते आये हैं। उन्होंने नवाबों की नवाबी देखी, कर्ज़न का घोर कष्टप्रद शासन देखा, जीवन और मृत्यु के खेल देखे और फिर भी कर्ज़न का भावी शासन देखने के लिये तैयार हो गये। बस इसी भाव की अभिव्यक्ति गुप्त जी ने इन पंक्तियों में की है।

लार्ड कर्ज़न की महत्वाकांक्षा असीम थी। अपने गौरव और यश के उत्कर्ष से उसे संतोष नहीं होता था। वह निरन्तर उसकी वृद्धि चाहता था। दिल्ली-दरबार (१९०२ ई०) से उसकी इच्छा पूर्ण न हुई थी। अतः उसके अभावों की पूर्ति के लिये कर्ज़न ने कलकत्ते में एक शानदार जलूस का आयोजन कराया था। उसकी इस महत्वाकांक्षा पर चोट करते हुए गुप्त जी ने लिखा था—"दिल्ली में हाथियों की सवारी हो चुकने पर भी कलकत्ते में रोशनी और घोड़ा गाड़ी का तार जमा था, कुछ लोग कहते हैं कि जिस काम को लार्ड कर्ज़न पकड़ते हैं, पूरा करके छोड़ते हैं। दिल्ली दरबार में कुछ बातों की कसर रह गयी थी। उदयपुर के महाराणा न तो हाथियों के जलूस में साथ चल सके न दरबार में हाजिर होकर सलामी देने का मौका उनको मिला। इसी प्रकार बड़ौदा नरेश भी हाथियों के जलूस में शामिल न थे।"[१] मानो इन्हीं सब कामों को पूरा करने लिये राजकीय वैभव का प्रदर्शन किया गया था। पर इस प्रदर्शन से न तो अकिंचन भारतीय जनता के कष्ट मिटे और न सम्मान की वृद्धि हुई। यही अभिव्यक्ति गुप्त जी का अभिप्रेत है। इस कार्य के अतिरिक्त लार्ड कर्ज़न ने भारतीय विश्वविद्यालयों की उच्च शिक्षा को मिटाने के लिये भी अपना कुठारात्मक हाथ फेरा था, सीमाप्रांत में सुदृढ़ मोर्चा-बन्दी की थी। काबुल और काश्मीर की ओर भी नजर दौड़ाई थी। इन सारे कार्यों का परिणाम व्यय और भारत की तबाही के रूप में निकला था। इन कार्यों की कठोर आलोचना इस चिट्ठे में की गई है जिनका उल्लेख 'वैसराय का कर्त्तव्य', 'एक दुराशा' और 'आशा का अन्त' नामक चिट्ठों में किया जायगा।

शिवशम्भु शर्मा का तीसरा चिट्ठा 'वैसराय के कर्त्तव्य', १७ दिसम्बर सन् १९०४ ई० को 'भारत-मित्र' में प्रकाशित हुआ था। इस चिट्ठे के प्रारम्भिक शब्द इस प्रकार हैं—"भगवान आपका मंगल करे और इस पतित देश के

१—बालमुकुन्द गुप्त, शिवशम्भु के चिट्ठे, श्रीमान का स्वागत, पृ० १४।

मंगल की इच्छा आपके हृदय में उत्पन्न हो।"[१] यह है वह शुभ संदेश और कर्त्तव्यनिष्ठा जाग्रत करने का परामर्श जो गूँगी प्रजा का वकील भारत के शासक को दे रहा है। लार्ड लर्ज़न ने इंगलैंड में दिए गए अपने भाषणों में कहा था, उनके पूर्ववर्ती शासक भारत को भली प्रकार न समझ पाए थे। उन्होंने उसको भली प्रकार समझ लिया है। गुप्त जी ने प्रस्तुत चिट्ठे में उनके इस आशय के कथन का प्रतिवाद करते हुए लिखा था—"पर सच जानिये आपने इस देश को कुछ नहीं समझा। खाली समझने की शैली में रहे और आशा नहीं कि अगले महिनों में भी कुछ समझें।"[२] कर्ज़न कभी भी भारत को न समझ पाया था। उसने अनेक तथाकथित सुधार किये जिनका परिणाम भारत के लिये अहितकर तथा कर्ज़न के लिए अपयशदायक हुआ था। देश के कोने-कोने से कर्ज़न का विरोध हुआ। अन्त में उसे त्याग-पत्र देकर स्वदेश वापिस जाना ही पड़ा था।

लार्ड कर्ज़न और किचनर ने अँग्रेजी साम्राज्य की सुरक्षा और दृढ़ता की दृष्टि से सीमाप्रान्त पर फौजी दीवार बनाने की आयोजना ऐसे समय पर की थी जब भारतीय जनता अकाल और प्लेग से तड़प-तड़प कर जान दे रही थी। सेना-सुधार के नाम पर भारत का अतुल धन बरबाद किया गया था, फिर भी भारतीय सिपाहियों के स्तर में किसी प्रकार का अन्तर न आ सका था। इस सुधार के विषय में गुरुमुख निहाल सिंह का मत है—"इस सुधार ने भारतीयों की अवस्था में किसी प्रकार का सुधार नहीं किया, प्रत्युत मार्शल एवं नानमार्शल जातियों में भेद की भावना का अधिक प्रसार होगया और प्राचीन जातिवादी परम्परा स्थायी रखी गई।"[३] लार्ड कर्ज़न और किचनर के इस भारत-ऐक्य विरोधी कार्य की गुप्त जी कितने ही वर्ष पूर्व कटु आलोचना कर चुके थे। उन्होंने लिखा था—"आप और लार्ड किचनर मिलकर फौलादी दीवार बनाते हैं, तुमसे एक बहुत मज़बूत दीवार लार्ड केनिंग बना गये हैं······आज ४६

१—बालमुकुन्द गुप्त, वैसराय के कर्त्तव्य, पृ० १७।

२— वही , पृ० २०।

3—"......The reforms did not mean any improvement in the position of Indians in the army. On the otherhand, the distinction between martial and nonmartial races was pushed still further and the old class basis was maintained."

गुरुमुख निहालसिंह लेंड, मार्क्स ऑफ इंडियन कांस्टीटयूसनल एण्ड नेशनल डेवलपमेंट, भाग १, १८००–१९५९ ई०, पृ० १३१।

वर्ष हो गये, वह दीवार अटल अचल खड़ी है। वह स्वर्गीया महारानी का घोषणा पत्र है,······वही भारतवर्ष के लिये फौलादी दीवार है।"[१]

गुप्त जी मानते थे, शासन सहानुभूति और प्रेम के साथ अधिक व्यवस्थित और स्थायी रहता है। दमन और शोषण पर आधारित शासन की लौह-भित्तियाँ भी प्रजा के प्रकोप से भस्म हो जाती हैं। युग के अपर लेखकों के समान गुप्त जी भी विक्टोरिया घोषणा-पत्र का महत्व स्वीकार करते थे। क्योंकि इस पत्र ने दुखी भारतीयों को अनेक आश्वासन और सान्त्वनाएँ दीं थीं। लार्ड कर्ज़न और किचनर के इस सुधार और कार्य से विक्टोरिया-घोषणा पत्र यथार्थ में शान्ति और सहानुभूति का संदेश वाहक था। कम्पनी की सरकार मि० चैनी और स्मिम के शब्दों में भ्रष्ट और रिश्वत खोर थी।[२] जिसके अन्यायपूर्ण व्यवहार से भारतीय तंग आगए थे। इसके अतिरिक्त विद्रोह के दमन में अपनाए गए क्रूरतापूर्ण तथा अमानवीय साधनों के सम्मुख भारतीयों के प्राणों का कोई मूल्य न था। असम्मान, अनुत्साह और अशान्ति के युग में सरकारी उत्पीड़न का अवसान करने वाला घोषणा-पत्र तथा उसके सन्देश-वाहक लार्ड केनिंग दोनों ही भारतीयों को प्रिय लगे थे।

शिवशम्भु शर्मा का चौथा चिट्ठा, 'पीछे मत फेंकिये', २१ जनवरी सन् १९०५ ई० को 'भारत मित्र' में प्रकाशित हुआ था। इस समय भारतीय इतिहास में एक विशेष परिवर्तन हुआ था। कर्ज़न पुनः वायसराय होकर आगया था। बम्बई में शानदार स्वागत हुआ था, भारतीय राजे महाराजे उसे सलाम करने पहुँचे, फ़ौजी सलामी दी गई थीं, तोपें चलाई गईं और अनवरत बाजे बजते रहे थे। ठीक इसी प्रकार १०० वर्ष पूर्व जुलाई सन् १८०५ में लार्ड कार्नवालिस भी दूसरी बार भारत में वायसराय बन कर आया था। इतिहास की इन दो एकसी घटनाओं का उल्लेख करते हुए गुप्त जी ने कर्ज़न को चेतावनी दी थी कि कार्नवालिस वैज्ञानिक साधनों के अभाव में, तत्कालीन अव्यवस्था एवं त्रुटियों के कारण भारत का हित न कर सका था। किन्तु समय बदल चुका था। परिस्थितियाँ कर्ज़न के अनुकूल बन गई थीं। ऐसी अवस्था में वह भारतीयों का अधिक से अधिक हित कर सकता था, किन्तु लार्ड कर्ज़न ने बात बिल्कुल उल्टी की। इंगलैंड की सरकार का सहयोग कर्ज़न

१—बालमुकुन्द गुप्त, शिवशम्भु के चिट्ठे, वैसराय के कर्त्तव्य, पृ० २१।

२—गुरुमुख निहालसिंह, दि लेंड मार्क्स इन इंडियन कांस्टीट्यूशनल एण्ड नेशनल डेवलपमेंट, भाग १, १८००–१९१९, पृ० ३८।

को प्राप्त था। सरकार पर धन की कमी भी न थी। उदार दल पूर्णतः निर्जीव था, अतः कर्ज़न सब कुछ करने में स्वतन्त्र था। जान ब्राइट ग्लाडस्टोन, बाडला जैसे लोगों से विलायत शून्य थी; इण्डिया हाउस उसके हाथ की कठपुतली था। विलायत के प्रधान मंत्री उसके मित्र थे। ये सारी परिस्थितियाँ लार्ड कार्नवालिस के विपरीत थीं। फिर भी कर्ज़न ने भारत का कुछ हित न किया, उल्टे भारतीयों को ऊँचे-पदों के अयोग्य और झूँठा कह कर सारे उच्च पद अँग्रेजों को दे दिये थे। इस अवस्था को लक्ष्य करके गुप्त जी ने भारतीय-समाज एवं जाति का गौरव बताते हुए लार्ड कर्ज़न से अनुरोध किया था—"······जिसकी पुरानी सभ्यता और विद्या की आलोचना करके विद्वान् और बुद्धिमान लोग आज भी मुग्ध होते हैं, जिसने सदियों इस पृथ्वी पर अखण्ड शासन करके सभ्यता और मनुषत्व का प्रचार किया, वह जाति क्या पीछे हटा देने और धूल में मिला देने योग्य है।"[१] गुप्त जी के ये शब्द उनके देश प्रेम एवं जातीय-अभिमान के परिचायक हैं। भारतीय पत्रकार द्वारा इतना अनुनय-विनय करने पर भी एक कुशल राजनीतिज्ञ और विज्ञ होने का दावा करने वाले कर्ज़न जब अपने जातीय अवगुणों का परित्याग नहीं कर सके और उल्टे भारतीयों की योग्यता और बुद्धिमत्ता को सन्देह की दृष्टि से देखने लगे तब गुप्त जी ने चुनौती दी थी—"आप परीक्षा कर देखिये कि भारत-वासी सचमुच उन ऊँचे से ऊँचे कामों को कर सकते हैं या नहीं, जिनको आपके सजातीय कर सकते हैं? श्रम में, बुद्धि में, विद्या में, काम में, वक्तृता में, सहिष्णुता में किसी भी काम में इस देश के निवासी संसार में किसी भी जाति के आदमियों से पीछे रहने वाले नहीं हैं।"[२] उन्होंने यहाँ तक कहा कि कुछ गुणों में तो वे सर्वोपरि हैं। फारसी पढ़ के फारस वालों की भाँति बोल सकते हैं, अँग्रेजों की भाँति अँग्रेजी बोलना भी उनको आता है और अँग्रेज इस कमाल के साथ हिन्दी नहीं बोल सकते। गुप्त जी ने लार्ड कर्ज़न द्वारा इंगलैंड तथा भारत में दिए गए व्याख्यानों की आलोचना की है। यद्यपि इन वक्तृताओं में लार्ड कर्ज़न ने भारत सम्बन्धी अपने प्रेम और मोह की अभिव्यक्ति की थी और भारत के शासन के विषय में विचार प्रकट किए थे, किन्तु भारतीयों को ये बातें घाव पर नमक छिड़कने के समान लगती थीं। भारतीय कर्ज़न को बातें बनाने में तेज और कार्य करने में पिछड़ा हुआ समझते थे। गुप्त जी की इन पंक्तियों

१—बालमुकुन्द गुप्त, शिवशम्भु के चिट्ठे, पीछे मत फेंकिये, पृ० २७।
२—बालमुकुन्द गुप्त, शिवशम्भु के चिट्ठे, पीछे मत फेंकिये, पृ० २७।

से इस भाव की अभिव्यक्ति होती है। आपने लिखा था—"यहाँ तक कि बातें बनाने का उन्होंने विशेष ज्ञान कर लिया है। पहले लोग उनकी बातों पर मुग्ध होते रहे पर पीछे समझने लगे कि ये खाली बातें हैं। लेने देने को कुछ नहीं। लार्ड लिटन ने प्रेस एक्ट बनाकर देशी अखबारों की गर्दन नापी थी लार्ड कर्ज़न ने सरकारी खबरों को गुप्त रखने का कानून बनाकर अखबारों के हांथ पांव काट दिए। लार्ड लिटन ने हथियारों को छीन लेने का कानून बनाकर इस देश के पुरुषों को स्त्रियों के तुल्य बना दिया। लार्ड कर्ज़न ने कलम को भी हथियार समझा इससे यूनीवर्सिटी एक्ट बनाया। जिससे आप से आप लोगों के हाथों से कलमें छूट पड़ेंगी।"[१] लार्ड कर्ज़न ने 'आफिसल सीकरेट' एक्ट तथा 'यूनिवर्सिटी एक्ट' पास करके भारतीयों का महान् अहित किया था। उसके इन दो कार्यों के विषय में जनमत की अभिव्यंजना गुप्त जी के शब्दों से हो जाती है। गुप्त जी उस समय बड़ी निर्भीकता, स्पष्टता और देशभक्ति के साथ कार्य कर रहे थे।

लार्ड कर्ज़न के दूसरी बार वायसराय होकर आने पर तो भारतीयों के शोक, क्षोभ और उसके प्रति कटुता की सीमा न रही थी। उसके कार्यों से भारतीय क्षुब्ध हो उठे थे। वे नहीं चाहते थे कि कर्ज़न पुनः आये पर विवश थे। गुप्त जी के शब्दों में भारतीयों की इसी क्षुब्धता और कटुता की अभिव्यक्ति हुई है। आपने लिखा था—"अभी गत मङ्गलवार को नाग पंचमी थी। हमारे श्रीमान् लार्ड कर्ज़न होते तो देखते क्यों कर हिन्दू स्त्रियाँ नाग की पूजा करने उसकी बांवी पर जाती हैं और कैसे उसे दूध चढ़ाती हैं।······जो देश साँप को भी ईश्वर मान कर पूजता है और उससे कल्याण की कामना करता है वह लार्ड कर्ज़न जैसे वायसराय से क्या कुछ आशा नहीं कर सकता? इससे उसका स्वागत करते हैं।"[२] नाग पूजा की बात कहकर गुप्त जी बता गए हैं कि भारतीयों के लिए लार्ड कर्ज़न विषैले नाग से भी कम नहीं, किन्तु वे अपनी परम्परानुसार उसकी पूजा करते हैं। गुप्त जी ने इस रूपक द्वारा एक ओर तो भारतीयों की परम्परा परिपालन की दृढ़ता एवं उनकी संस्कृति के विशिष्ट गुण तथा दूसरी ओर साम्राज्यवादी कर्ज़न के शोषणकारी गुण को स्पष्ट कर दिया है।

१—भारत मित्र, लार्ड कर्जन और लिटन, सन् १९०४ ई०।

२—भारत मित्र, लार्ड कर्जन आते हैं, सन् १९०५ ई०।

गुप्त जी का पाँचवाँ चिट्ठा 'आशा का अन्त' २५ फरवरी सन् १६०५ को 'भारत-मित्र' में प्रकाशित हुआ था। भारतीयों ने कर्जन के शासनांतर्गत उन्नति और विकाश की जो लालसाएँ रखीं थीं उनका प्रायः अन्त हो चुका था। भारतीय समझ गये थे कि अंग्रेजी शासन में भारत का हित कदापि नहीं हो सकता। इस चिट्ठे के प्रारम्भ में भारतीय जलवायु का प्रभाव दिखाया गया है। जो बाहर से भारत का हित करने की लालसा लेकर आता है, वह भी यहाँ के जलवायु के प्रभाव से देश-हित-विरोधी कार्य करने लग जाता है, यहाँ पदार्पण करते ही, यहाँ का नमक खाते ही साधारण नियम के विपरीत यहाँ वालों के शोषण, प्रपीड़न और दोहन पर कमर कस लेता है। कर्ज़न पर आते ही यह प्रभाव पड़ा। सबसे प्रथम उसने कलकत्ता म्युनिसिपल कारपोरेशन की स्वाधीनता भंग की। लार्ड रिपन ने भारतीयों को स्वायत्त-शासन की शिक्षा देने के उद्देश्य से स्थानीय-स्वराज्य की नीव डाली थी, उसी को कर्ज़न ने समाप्त किया।

गुप्त जी ने इस चिट्ठे में इतिहास की इस प्रसिद्ध घटना पर विरोध प्रकट किया है तथा व्यंग्य और हास्य के सहारे कर्ज़न का अधिक उपहास किया है। उस समय बङ्गाल के सभी देश-हितैषी नेता सरकार का विरोध कर रहे थे और भारत-हितैषी बंगाली तथा अंग्रेजी-पत्र उनका इस कार्य में सहयोग दे रहे थे। हिन्दी-जनता का प्रतिनिधि बने गुप्त जी उसकी सहानुभूति बंगाल के इस आन्दोलन के साथ व्यक्त कर रहे थे। उनके इस कार्य से ऐसा आभासित होता था मानो कह रहे हों कि भारतीय अंग्रेजी शासन के अत्याचारों को अब तक मौन बनकर सहते आये हैं, पर आगे अब न सहा जायगा। जब लगभग सभी हिन्दी-पत्रकार प्रायः मौन थे, तब गुप्त जी हिन्दी पाठकों का बंगाल के इस आन्दोलन से परिचय करा रहे थे। कर्ज़न पर पड़े भारतीय जलवायु के प्रभाव का उल्लेख करते हुए वे एक दो ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन करते हैं—"कलकत्ते में पदार्पण करते ही आपने यहाँ के म्यूनिसिबल कारपोरेशन की स्वाधीनता की समाप्ति की। जब यह प्रभाव कुछ और बढ़ा, तो अकाल पीड़ितों की सहायता करते समय आपकी समझ में आने लगा कि इस देश के कितने ही अभागे सचमुच अभागे नहीं, वरंच अच्छी मजदूरी के लालच से जबरदस्ती अकाल पीड़ितों में मिलकर दयालु सरकार को हैरान करते हैं। इससे मजदूरी कड़ी की गई।"[१] यह था अंग्रेजी सरकार का न्याय एवं अकाल

१—बालमुकुन्द गुप्त, शिवशम्भु, के चिट्ठे, आशा का अन्त, पृ० ३२।

पीड़ितों के प्रति दृष्टिकोण, जिसकी आलोचना समय-समय पर गुप्त जी करते रहे थे। उन्होंने सरकार की इस जन-विरोधी नीति का सदैव अनावरण किया। सरकार को अपेक्षित था कि अधिकाधिक सहायता देकर उनके कष्टों का निवारण करती पर उल्टे मज़दूरी घटाकर एवं उनकी सत्यता पर संदेह करके उन्हें अपमानित किया। गुप्त जी ने सरकार की इस प्रतिक्रियावादी नीति की आलोचना की थी। कर्ज़न पर उसी प्रभाव का उल्लेख करते हुए लिखा था—"इसी प्रकार जब प्रभाव तेज हुआ, तो आपने अकाल की तरफ से आँखों पर पट्टी बाँधकर दिल्ली-दरबार किया। अन्त को गत वर्ष आपने यह भी साफ कह दिया कि बहुत से पद ऐसे हैं, जिनको पैदायशी तौर से अंगरेज़ ही पाने के योग्य हैं।"[1] स्वार्थ, जातीयता और साम्प्रदायिकतावादी नीति का इससे अधिक सुन्दर उदाहरण अन्यत्र मिलना सम्भव नहीं है। लेखनी के धनी और राष्ट्रीय स्वाधीनता के प्रबल समर्थक गुप्त जी यह सुनकर चुप कैसे रह सकते थे। उन्होंने इसी पत्र में लिखा—"इतने दिन आप सरकारी भेदों के जानने से, अच्छे पद पाने से, उन्नति की बातें सोचने से, सुगमता से शिक्षा लाभ करने से, अपने स्वत्वों के लिए पार्लियामेन्ट आदि में पुकारने से इस देश के लोगों को रोकते रहे। आपकी शक्ति में जो कुछ था वह करते रहे।"[2] गुप्त जी की लार्ड कर्ज़न को यह चुनौती थी। अब तक जो हुआ हो गया, यहाँ से आगे भारतीय निर्भीक हो स्वदेश और उसके शासन के सम्बन्ध में सारी जानकारी प्राप्त करेंगे और राष्ट्रीय विकास के मार्ग में व्यवधान-स्वरूप आने वाली शक्ति का ऐक्य और सहयोग के साथ संहार कर देंगे। अंग्रेजी शासन की इस निर्भीकता पूर्ण आलोचना ने राष्ट्रीयता के विकास में अभूत पूर्व सहयोग दिया था, यह निस्संदेह सत्य है।

लार्ड कर्ज़न ने कलकत्ता विश्व-विद्यालय के दीक्षान्त समारोह पर जनवरी १९०५ ई० वाले अपने भाषण में सत्य का उपासक पश्चिम अर्थात् इङ्गलैंड को बताया था और भारत को असत्यवादी घोषित किया था। उसके कौंसिल में दिए भाषणों तथा इस भाषण का देश में सर्वत्र विरोध हुआ था। गुप्त जी ने हिन्दी-जनता का प्रतिनिधित्व करते हुए दीक्षान्त समारोह वाले भाषण के प्रतिवाद स्वरूप लिखा था—"सत्यप्रियता इस देश को सृष्टि के आदि से मिली है, जिस देश का ईश्वर 'सत्यंज्ञानमनन्तम् ब्रह्म' है, वहाँ के लोगों को सभा

१—बालमुकुन्द गुप्त, शिवशम्भु के चिट्ठे, आशा का अन्त, पृ० ३२।
२— वही पृ० ३४।

में बुला के ज्ञानी और विद्वान् का चोला पहन कर उनके मुँह पर झूँठा और मक्कार कहने लगे। विचारिये तो यह कैसे अधः पतन की बात है। जिस स्वदेश को श्रीमान् ने आदर्श सत्य का देश और वहाँ के लोगों को सत्यवादी कहा है, उसका आला नमूना क्या श्रीमान् ही हैं ?"[१] कितना तीव्र व्यंग्य है, अंग्रेज जाति के प्रति। कर्ज़न स्वयं प्रथम कोटि का असत्यवादी था। उसने विक्टोरिया की घोषणा को असत्य प्रमाणित किया था, और स्वयं अपने कथनों के प्रतिकूल आचरण किया था। वायसराय के पद पर नियुक्त होने के पश्चात् 'ओल्ड एटोनियन्स' द्वारा दिए गये डिनर के अवसर पर आपने अपने भाषण में कहा था—"मैं भारत को प्रेम करता हूँ, इसके इतिहास, इसकी जनता, इसकी सरकार और इसकी सभ्यता की रहस्यमयता को प्रेम करता हूँ।"[२] ये थे कर्ज़न के शब्द और उनके कार्य। दोनों में जमीन और आकाश का अन्तर है। उसके कार्यों और शब्दों को देखने से प्रतीत होता है कि कर्ज़न स्वयं असत्य का प्रतिरूप था। ऐसे असत्यवादी शासक के प्रति सत्यवादी भारतीय के ये शब्द उचित ही हैं—"इस देश की प्रजा को आप नहीं चाहते और यह प्रजा आपको नहीं चाहती, फिर भी आप इस देश के शासक हैं और एक बार नहीं दूसरी बार हुए हैं, यही विचार कर इस अध बूढ़े भंगड़ ब्राह्मण का नशा किर-किरा हो ही जाता है।"[३]

लेखक का उत्कट देश प्रेम और भारतीयों का हृदयस्थ सत्य इन पंक्तियों में अभिव्यक्त हुआ है। आप इस अपमान और घोर निरादर का कारण परतंत्रता मानते थे; दासता ही सम्पूर्ण बेइज्जती का कारण है। उन्होंने लिखा था—"यह देश भी यदि विलायत की भाँति स्वाधीन होता और यहाँ के लोग ही यहाँ के राजा होते तब यदि अपने देश के लोगों को यहाँ के लोगों से अधिक सच्चा साबित कर सकते तो आपकी अवश्य कुछ बहादुरी होती"[४] भारत को दमन और अत्याचार के बल पर पराधीन रखने वाले तथा अपनी

१—बालमुकुन्द गुप्त, शिवशम्भु के चिट्ठे, आशा का अन्त, पृ० ३४।

2—"I love India, its people, its history, its government, the absorbing mystery of its civilisation and its life."

—डा० ईश्वरी प्रसाद और एस० के० सूबेदार, ए हिस्ट्री ऑव मॉर्डन इण्डिया, १७४०-१९५०, पृ० ३१६।

३—बालमुकुन्द गुप्त, शिवशम्भु के चिट्ठे, आशा का अन्त, पृ० ३६।

४—बालमुकुन्द गुप्त, शिवशम्भु के चिट्ठे, आशा का अन्त, पृ० ३५।

स्वाधीनता के उपासक अंग्रेज साम्राज्य वादियों को ललकारते हुए गुप्त जी ने लिखा था—"भारतवासी अपने देश में स्वाधीन न रहें-सहें और स्वाधीनता का अधिकार न प्राप्त करें यह क्यों ?······क्या स्वाधीनता इसका नाम है कि अपने लिए स्वाधीनता पसन्द की जाय और दूसरों के लिए गुलामी ? यह तो स्वाधीनता नहीं संकीर्णता और स्वार्थपरता है।"[1] हिन्दी साहित्य के इतिहास में गुप्त जी द्वारा नियोजित यह साम्राज्य विरोधी क्रान्तिकारी भूमिका है, जो शिवशम्भु के चिट्ठे तथा उनके अन्य राजनीतिक निबन्धों द्वारा तैयार हुई थी।

लार्ड कर्ज़न के शासन पर टिप्पणियाँ करने वाला गुप्त जी का छठा चिट्ठा 'एक दुराशा' नामक है।[2] इस चिट्ठे का उद्देश्य भारतीयों की उस भावना का उन्मूलन करना है, जो यह समझते थे कि वैधानिक सुधारों तथा शांति पूर्ण साधनों द्वारा भारत को अंग्रेजों से स्वाधीनता मिल जायेगी और उनकी दासता की शृंखलाएँ विच्छिन्न हो जाएँगी। गुप्त जी ने इस चिट्ठे द्वारा स्पष्ट कर दिया है कि अंग्रेजों से भारत-हित की कामना करना बालू की दीवार बनाना है। इसके अतिरिक्त इस चिट्ठे में भारतीय प्रजा और अंग्रेजी शासक के भेद को भी स्पष्ट किया गया है। राजा दूर विलायत में निवास करता है और उसकी प्रजा भारत में, यहाँ उसका एक प्रतिनिधि भी है पर प्रजा को उसके दर्शन भी नहीं होते। और उनमें ज़मीन आकाश का अन्तर है। भारत के दो प्राचीन शासक—श्री कृष्ण और मुगल-सम्राट जहाँगीर का अपनी प्रजा के साथ घनिष्ठ सम्पर्क तथा मेल का उदाहरण देकर गुप्त जी ने यह प्रमाणित किया था कि—राजा और प्रजा का ऐक्य तथा अभेदता सुशासन के सम्यक् संचालन का प्रतीक है और अनैक्य तथा पार्थक्य शोषण और प्रपीड़न का। राजा की कृपा और सहानुभूति शासित वर्ग के साथ और प्रजा का सहयोग राजा के साथ हो, तभी देश एवं समाज का साधारण स्तर उन्नत हो सकता है। होली का रूपक देकर गुप्त जी ने अंग्रेजों के सम्बन्ध में इस भाव को असामयिक, कुतर्क पूर्ण और बेतुका कहा है। बसन्त में बादल घिरे देखकर किसी गायक का मल्हार गाना जैसे सामयिक नहीं, उसी प्रकार यह विचार भी असामयिक, अनुपयुक्त, अनुपपन्न और अप्रासांगिक है।

शिवशम्भु शर्मा भंग पीकर चारपाई पर आराम से लेटे हुए हैं, पड़ौस से

१—भारत मित्र, गीदड़ भबकी, सन् १९०७ ई०।

२—भारत मित्र, १८ मार्च सन् १९०५ में प्रकाशित हुआ था।

होली का भाव सुनकर स्मरण होता है कि "—क्या भारत में ऐसा समय भी था, जब प्रजा के लोग राजा के घर जाकर होली खेलते थे और राजा-प्रजा मिलकर आनन्द मनाते थे ? क्या इसी भारत में राजा लोग प्रजा के आनन्द को अपना आनन्द समझते थे ?"[१] देश-हितैषी के हृदय में प्राचीन गौरव का स्मरण तथा राजा एवं प्रजा के निकट सम्बन्धों का स्मरण हो आना जितना स्वाभाविक है, उतना ही वर्तमान परिस्थितियों से उनकी तुलना करके क्षोभ और दुःख का होना भी स्वाभाविक है। अंग्रेज स्वयं को उच्च और गौरवशाली मानकर भारतीयों से दूर रहते थे। इसी पर गुप्त जी की यह चोट है। राजा अथवा उसके ऐसे प्रतिनिधि से जो सर्वदा प्रजा से दूर रहता है, जिसने कभी यह जानने का प्रयास भी नहीं किया कि प्रजा किस आपत्ति में है ? जो प्रजा को मक्कार तथा झूठा कहता रहता है, जो सर्वदा स्वार्थ और भोग-लिप्सा में संलग्न रहा है, जिसने छः साल के बीच में अनेक-जन विरोधी कार्य किये हैं, जिसने अपना सारा समय "—हालवेल के स्मारक में लाठ बनवाने, ब्लैक हाल का पता लगाने, अख्तर लोदी की लाठ को मैदान से उठवाकर, वहाँ विक्टोरिया मेमोरियल हाल बनवाने, गवर्नमेन्ट हाउस के आस-पास अच्छी रोशनी, अच्छे फुटपाथ और अच्छी सड़कों का प्रबन्ध कराने में बीत गये—"[२] हों फिर ऐसे आदमी से जनता का हित, देश की भलाई, सभ्यता एवं संस्कृति के विकास की आशा करना यथार्थ में एक दुराशा मात्र है। यह भाव इन चिट्ठों द्वारा शिवशम्भु ने स्पष्ट कर दिया है।

एक ओर तो कर्ज़न साहब अंग्रेज बस्तियों में सुन्दर सड़कों, विद्युत-प्रकाश और उच्च कोटि के पार्क आदि की व्यवस्था कर रहे थे, दूसरी ओर उसी नगर में भारतीय बेघर बार, फुटपाथों पर पड़े मौत की घड़ियाँ गिना करते थे और मृत्यु के उपरान्त पुलिस के सिपाही उन्हें उठा कर फेंक आते थे। सैकड़ों गलियों और सड़कों पर घूमते प्राण विसर्जित कर देते थे। अनेक व्यक्ति भेड़ और सूअरों की भाँति सड़े गले झोंपड़ों में पड़ रहते थे, जिनके पास से गन्दे और दुर्गन्धि पूर्ण नाले बहा करते थे। इस सब की ओर वायसराय का ध्यान कभी नहीं जाता था। उसने सर्वधैव अंग्रेज बस्तियों की सज-धज में व्यय किया। फिर भला ऐसे प्रतिक्रियावादी राज्य के प्रति सद्भावनायें कैसे बनाई जा सकती थीं, इसी का उत्तर पूछते हुए बड़े व्यंग्य के साथ गुप्त

१—बालमुकुन्द गुप्त, शिवशम्भु के चिट्ठे, एक दुराशा, पृ० ३८।

२—बालमुकुन्द गुप्त, शिवशम्भु के चिट्ठे, एक दुराशा, पृ० ४१।

जी ने लिखा था—"क्या यों कहें कि जिस ब्रिटिश राज्य में हम अपनी जन्म भूमि में एक अंगुल भूमि के अधिकारी नहीं, जिसमें हमारे शरीर को फटे चिथड़े भी न जुड़े और न कभी पापी पेट को पूरा अन्न मिला, उस राज्य की जय हो।"[१] भारतीय जनता को इस हीनावस्था तक पहुँचाकर भी शासक उससे राजभक्त होने की आशा करते थे और यदा-कदा उसके द्वारा राष्ट्रभक्ति प्रदर्शन पर राजद्रोह अथवा आतङ्कवादिता का दोषारोपण करके अपमानित तथा दण्डित करते थे। स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील भारतीयों से विदेशी शासन के प्रति राज्यभक्ति की कामना करना एक प्रकार से मति विपर्यय ही था। कर्जन एवं मार्ली के भारत हित विरोधी कार्यों का पर्दाफास करते हुए आपने चेतावनी दी थी—"जिस प्रजा के साथ शासकों का ऐसा बर्ताव हो कहिये वह क्या राजभक्ति दिखा सकती है? गुरु नानक कह गए हैं कि हे भगवान भूखे भक्ति नहीं होती यह अपनी माला लो। यही उत्तर यहाँ की प्रजा की ओर से इस देश के शासकों के लिए है कि आप तो हमें पीसते चले जाएँगे और हम आपको राजभक्ति दिखायेंगे यह कैसे हो सकता है?"[२]

अंग्रेज शासकों को गुप्त जी की यह स्पष्ट चुनौती थी, राजभक्ति को ठोकर लगा कर वे विदेशी शासन के भार को उतार कर फेंक देने के लिए जनता को आमन्त्रित कर रहे थे। उन्होंने 'राजभक्ति' नामक लेख में उन भारतीयों की भी भत्सर्ना की है, जो गदर से लेकर आज तक अंग्रेजों की चाटुकारिता करने और ब्रिटिश साम्राज्य की जड़ें दृढ़ करने में कार्यरत थे। आप स्वयं को 'गूँगी प्रजा का वकील' मानते थे। उनकी यह धारणा सत्य थी। उन्होंने यह वकालत जितनी उत्तमता के साथ की थी, यह अनुपमेय है। आपने वकालत किसी विदेशी जज की अदालत में न करके, जनता जनार्दन के न्यायालय में की थी।

शिवशम्भु शर्मा का सातवाँ चिट्ठा, 'विदाई-सम्भाषण' २ सितम्बर सन् १६०५ ई० को 'भारत मित्र' में प्रकाशित हुआ था। यह चिट्ठा कर्जन की अवधि के अवसान पर लिखा गया था। इस चिट्ठे में भारतीयों के एक विशिष्ट गुण और अंग्रेजों की कृतघ्नता का अच्छा प्रकाशन किया गया है। कर्जन के शासन की छः सालों में भारतीय कभी भी सुख और शान्ति की

१—बालमुकुन्द गुप्त, शिवशम्भु के चिट्ठे, एक दुराशा, पृ० ४३।

२—भारत मित्र, राजभक्ति, सन् १६०७ ई०।

श्वास न ले पाये थे, किन्तु फिर भी उनके भारत छोड़ने पर दुखी हुये थे और अपनी सहानुभूति प्रकट की थी। भारतीयों का यह विशिष्ट गुण है, यहाँ के पशु, पक्षी से लेकर मनुष्य तक सभी में यह गुण पाया जाता है। अपनी दो गायों का उदाहरण देकर गुप्त जी ने इस गुण को अधिक स्पष्ट कर दिया था। दूसरी ओर कर्ज़न ने चलते समय भारतीयों के प्रति एक शब्द भी सहानुभूति का नहीं कहा था। अंग्रेजों के इस दुर्गुण की अभिव्यक्ति नरवरगढ़ से विपत्ति का समय व्यतीत करके हार्दिक विदाई लेते हुए राजकुमार का एक चुटकुला देने से, भली प्रकार हो गई थी।

कर्ज़न पक्का अंग्रेज था, घमण्ड और जिद्द दो उसके प्रमुख दुर्गुण थे। उसने कभी भारतीयों को आश्वस्त और शान्त रखने का प्रयास न किया था यद्यपि उसकी ख्याति का कारण भारत था। कर्ज़न की भारत में वह शान थी, जो किसी अन्य चक्रवती की भी न रही होगी। यहाँ के उच्च पदाधिकारी सब उसकी आज्ञा पर नाचते थे। सारे राजे महाराजे उसके हाथ की कठ-पुतलियाँ थे। कितने ही शासकों को उसने अपदस्थ किया था। भारतीय सर्विस का योरोपीकरण करके कितने ही मिट्टी के बुतों को उच्च पदाधिकरी नियुक्त किया था। उसके जरा से संकेत द्वारा भारत की यूनिवर्सिटी एज्यूकेशन के गले पर छुरी फेरदी गई, नागरिकों के स्वायत्त-शासन का गला घोंट दिया गया, लार्ड केनिंग की उदार नीति उसकी प्रतिक्रियावादिता की शिकार बन गई और इस सबके ऊपर उसे बंगाल का विभाजन करने का श्रेय मिला। कर्ज़न के इन भारत-विरोधी काले कारनामों का परिणाम भारत के लिए तो विनाशात्मक और संहारात्मक हुआ ही पर कर्ज़न के लिये भी अपमान और निरादर का कारण हुआ। वह ऊँचे से नीचा गिरा, उसकी बात का कोई मूल्य न रहा, उसके मित्र अमित्र बन गए। स्वयं इङ्गलैंड में उसके विरोधी पैदा हो गए। लार्ड किचनर के मुकाबिले में उसे नीचा देखना पड़ा; बात यहाँ तक बढ़ी कि उसे त्यागपत्र देना पड़ा। उसकी हठ और अहम्मान्यता के इस दुष्परि-णाम की ओर संकेत करते हुए गुप्त जी ने उसके घमण्ड का व्यंग्य के साथ उल्लेख किया था और उसके पतन पर करारी चोटें की थीं—"विचारिये तो सही क्या शान आपकी इस देश में थी और अब क्या हो गई। कितने ऊँचे होकर आप अब कितने नीचे गिरे। अलिफ लैला के अलहदीन ने चिराग रगड़ कर और अबुलहसन ने बगदाद के खलीफा की गद्दी पर आँख खोल कर वह शान न देखी, जो दिल्ली दरबार में आपने देखी। आपकी और आपकी लेडी की कुर्सी सोने की थी और आपके प्रभु महाराज के छोटे भाई

और उनकी पत्नी की चाँदी की। आप दहने थे, वह बायें, आप प्रथम थे, वह दूसरे। इस देश के सब राजा-रईसों ने आपको सलाम पहले किया और बादशाह के भाई को पीछे। जुलूस में आपका हाथी सबसे आगे और सबसे ऊँचा था।"[१] इन पंक्तियों में देश के शोषक के प्रति सच्चे भारतीय हृदय के प्रतिशोध और उसके पतन पर हर्ष की भावना का प्रदर्शन हुआ।

सेनाधिपति किचनर से कर्ज़न का संघर्ष हुआ। उसकी बात न रह सकी, अतः हठ और मान में आकर त्याग पत्र दे दिया गया; वह भी स्वीकार कर लिया गया। बात इस प्रकार थी। वायसराय की कौन्सिल में सेना का प्रतिनिधित्व दो आदमी करते थे। एक कमाण्डर इन-चीफ जो असाधारण सदस्य (Extra ordinary member) और दूसरा साधारण सदस्य (Ordinary member in charge of Military affairs) कहलाता था। यह एक सैनिक होता था। पर सदस्यता की अवधि तक फ़ौज में कोई पद नहीं ग्रहण कर सकता था। सेना के सम्बन्ध में उसका निश्चय पूर्णतः मान्य और अन्तिम होता था। लार्ड किचनर ने भारत आते ही सेना पर इस दुहरे शासन के सम्बन्ध में होम-सरकार से लिखा पढ़ी की थी। कर्ज़न इससे सहमत न था। पर बाद में एक समझौता हो गया कि कमान्डर-इन-चीफ के अतिरिक्त एक और आदमी भी सेना के भण्डार और रसद की व्यवस्था के लिये मिलिट्री-सप्लाई-मेम्बर के नाम से नियुक्त किया जाय। इस पद पर कर्ज़न जनरल बैरो को नियुक्त कराना चाहता था, किंतु भारत-मंत्री ने इस प्रस्ताव को अस्वीकृत कर दिया।[२] इस पर कर्ज़न को बड़ा क्षोभ हुआ और अपनी बात मनवा लेने के लिये उसने त्याग पत्र दे दिया। बृटिश पार्लियामेन्ट समझ चुकी थी कि कर्ज़न का भारत में रहना अँग्रेजी राज्य के लिये अहित-कर है। अतः उसका त्याग-पत्र स्वीकार कर लिया गया था।

कर्ज़न के इस अपमान, निरादर और अवहेलना की ओर संकेत करते हुए इतिहास की एक घटना पर गुप्त जी ने लिखा था—"अब देखते हैं कि जंगी-लाट के मुकाबिले में आपने पटखनी खाई, सिर के बल नीचे आ रहे। आपके स्वदेश में वही ऊँचे माने गये, आपको साफ नीचा देखना पड़ा। पद

१—बालमुकुन्द गुप्त, शिवशम्भु के चिट्ठे, विदाई सम्भाषण, पृ० ४८।

२—डा० ईश्वरीप्रसाद आदि, ए हिस्ट्री ऑव मॉडर्न इण्डिया, १७४०–१९५० ई० पृ० ३३८।

त्याग की धमकी से भी ऊँचे न हो सके।"[1] और भी, "इतने बड़े माई लार्ड का यह दरजा हुआ कि एक फौजी अफसर उनके इच्छित पद पर नियत न हो सका। और उनको उसी गुस्से के मारे इस्तीफा दाखिल करना पड़ा, वह भी मंजूर हो गया। उनका रखाया एक आदमी नौकर न रखा गया, उल्टा उन्हीं को निकल जाने का हुकम मिला।"[2] इस प्रकार गुप्त जी ने कर्जन की अशक्तता और अधिकार-हीनता की ओर संकेत करके भारतीय क्षोभ और कर्जन के पतन पर हर्ष की अभिव्यक्ति की है। लार्ड कर्जन ने अपनी अहम्मान्यता संकीर्णता, बृटिश-साम्राज्य-दृढ़ता और जातीय-भाव का परिचय भारत में नए सुधारों के रूप में दिया था जो यथार्थ में सुधार नहीं, प्रत्युत भारतीय एकता, राष्ट्रीय आन्दोलन की दृढ़ता तथा नव विकसित स्वाधीन चेतना के विनाशक कार्य थे। गुप्त जी ने संसार की क्षणभंगुरता और परिवर्तनशीलता का ज्ञान कराके उसे भारत की जनता का कुछ हित कर जाने का परामर्श दिया था—"इस संसार के आरम्भ में बड़ा भारी पार्थक्य होने पर भी अंत में बड़ी भारी एकता है। समय अंत में सबको अपने मार्ग पर ले आता है। देशपति राजा और भिक्षा मांग कर पेट भरने वाले कंगाल का परिणाम एक ही होता है। मिट्टी-मिट्टी में मिल जाती है और यह जीते जी लुभाने वाली दुनियाँ यहीं रह जाती है। कितने ही शासक और नरेश इस पृथ्वी पर हो गये आज उनका कहीं पता निशान नहीं है। थोड़े-थोड़े दिन अपनी-अपनी नौबत बजा चले गये—आप में शक्ति नहीं हैं कि पिछले छः वर्षों को लौटा सकें, या उनमें जो कुछ हुआ है, उसे अन्यथा कर सकें। दो साल आपके हाथ में अवश्य हैं। इनमें जो चाहें अवश्य कर सकते हैं। चाहें तो इस देश की ३० करोड़ प्रजा को अपना अनुरक्त बना सकते हैं और इस देश के इतिहास में अच्छे वैसरायों में अपना नाम छोड़ जा सकते हैं। नहीं तो यह समय भी बीत जावेगा और फिर आपका करने धरने का अधिकार ही कुछ न रहेगा।"[3] यह थी, भारत में दूसरी बार वायसराय के रूप में आने पर लार्ड कर्जन को जनता के वकील द्वारा दी गई समयोचित चेतावनी। जिसमें भारत हित सम्पन्न एवं सुयश अर्जन का सुन्दर परामर्श दिया गया था। इन पंक्तियों में भारत के देशी राजाओं और नवाबों की ओर भी तीव्र

१—बालमुकुन्द गुप्त, शिवशम्भु के चिट्ठे, विदाई सम्भाषण, पृ० ४८।
२— वही , , पृ० ४८–४९।
३—बालमुकुन्द गुप्त, शिवशम्भु के चिट्ठे, पीछे मत फेंकिये पृ० २७-२८।

व्यंग्य है जो अपने को नित्य और स्थायी शासक समझ कर जनता पर अगणित अत्याचार कर रहे थे तथा देश-विरोधी कार्यों में अँग्रेजों को सहयोग दे रहे थे।

गुप्त जी द्वारा लाया गया हिंदी-पत्रकारिता में यह एक नवीन मोड़ था, जिसकी आत्मा के मूल में अँग्रेज विरोधी मोर्चा तैयार करने का उग्रभाव वर्तमान था।

शिवशम्भु का आठवाँ चिट्ठा 'बंगविच्छेद' 'भारत-मित्र' में २१ अक्टूबर सन् १९०५ ई० को प्रकाशित हुआ था। यह काल भारतीय इतिहास में राष्ट्रीय-आंदोलन और नव-जागरण के आविर्भाव का था। सारा बंगाल स्वदेशी-आन्दोलन की गूँज से आपूरित था। देश के अन्य प्रान्तों पर भी उसका प्रभाव यथेष्ठ रूप में पड़ रहा था। गुप्त जी ने हिन्दी-पाठकों को बंगाल में होने वाली घटनाओं से सदैव परिचित बनाये रखा और उनकी सहानुभूति राष्ट्रीय आन्दोलनों के साथ बनाये रखी। यह काल कर्ज़न के पराभव का था। किचनर के विवाद स्वरूप उसे हार देखनी पड़ी, अपमानित होना पड़ा और अंत में भारत छोड़ना भी पड़ा था। लेकिन चलती बार भारतीयों को अपनी शक्ति और क्षोभ का परिणाम दिखाने के लिए उसने बंगाल का विभाजन कर दिया था। क्योंकि बंगाल के प्रश्न पर कर्ज़न भारतीयों से क्षुब्ध हुआ बैठा था। योग्य और राष्ट्र-भक्त बंगाली कर्ज़न का पहले से विरोध करते आए थे। इसलिये विभाजन का समर्थन उसने बड़ी उग्रता के साथ किया था। बंग-भंग की नींव तो भारत में कर्ज़न के आविर्भाव के पूर्व ही पड़ चुकी थी, किन्तु परिवर्तित योजना को क्रियात्मक रूप देने का कार्य कर्ज़न द्वारा ही सम्पन्न हुआ।

बंग-भंग का संक्षिप्त इतिहास इस प्रकार है—बंगाल के शासक समझते थे कि बंगाल की सीमा विस्तृत है और एक शासक के अन्तर्गत रहने पर शासन-व्यवस्था में कुछ बाधाएँ उपस्थित होती हैं। ऐसा विचार कर शासन विषयक असुविधाएँ निवारणार्थ सन् १८७४ ई० में आसाम को बंगाल से अलग कर दिया गया था। इस नए प्रान्त में सिलहट, कचर और गोलपारा नामक तीन बंगला भाषा-भाषी प्रान्त भी सम्मलित थे। जनता ने शासन की इस आयोजना का कुछ भी विरोध न किया और सारा कार्य शान्ति पूर्वक हो गया था। थोड़े दिन पश्चात् शासक-वर्ग ने आसाम को कुछ विस्तृत प्रान्त बनाने के उद्देश्य से बंगाल प्रान्त से चितोगेंग डिवीजन को चितोगेंग जिले, नोआखाली और त्रिपुरा के साथ अलग करके आसाम से मिला देने का विचार किया। पर

सरकार की इस योजना का चितोगेंग की जनता ने घोर विरोध किया, बंगाल की जनता का भी सामूहिक सहयोग उनके साथ था। जनता का विरोध उग्र रूप धारण करता चला गया, उसकी उन्नत आवाज में शक्ति का चिह्न देखकर सरकारी योजना स्थगित कर दी गई थी, पर उस के बीज सरकारी अफसरों के दिमागों में पनपते रहे। कर्ज़न का उपयुक्त शासन पाकर वे अंकुर धीरे-धीरे प्रस्फुटित हुए। लार्ड कर्ज़न ने शक्ति भर उन्हें भारतीय रक्त से सींचा भी। सीमा-निर्धारण का प्रश्न कर्ज़न के ध्यान को आकर्षित कर रहा था। उसी समय बरार को मध्य-प्रदेश में मिलाये जाने का भी प्रश्न समुपस्थित था। ऐसे समय बंगाल का प्रश्न भी सामने आ जाना प्राय: सम्भव था। अत: योजना बनाई गई कि सम्पूर्ण चितोगेंग डिवीजन को आसाम के साथ मिला दिया जाय, किन्तु बंगाल के गवर्नर सर अन्ड्रज फ्रेचर ने परामर्श दिया कि केवल चितोगेंग डिवीजन ही नहीं, वरन् ढाका और मैमनसिंह के जिले भी बंगाल से पृथक् करके आसाम में मिला दिए जाँय। इस प्रस्ताव का समर्थन कर्ज़न ने किया। जब यह योजना जनता के सम्मुख आई तो इसका पहले की अपेक्षा तीव्र विरोध हुआ। जगह-जगह सभा, जलसे तथा कान्फ्रेंस विरोध प्रदर्शनार्थ होने लगीं थीं। विरोध की इस तीव्रावस्था में योजना का कार्यान्वित किया जाना सम्भव न देख कर्ज़न ने पूर्वी बंगाल का दौरा किया। उसको विश्वास था कि दौरे के कारण विरोध शांत हो जायेगा पर ऐसा हुआ नहीं, दौरे के समय मैमनसिंह में वह महाराजा सूर्यकान्तसिंह का अतिथि रहा था। महाराजा साहब स्वयं विभाजन के विरोधी थे। इस प्रकार एक साधारण कृषक और मजदूर से लेकर राजा, महाराजा तक विभाजन का विरोध कर रहे थे। विरोध की तीव्रावस्था और अतीत के अनुभव के आधार पर जनता द्वारा समझा गया था कि विभाजन की योजना स्थगित कर दी गई है, किन्तु विभाजन की योजना गोपनीय रूप में चल रही थी और लार्ड कर्ज़न विशेष रूपेण गुप्त रूप से इस ओर क्रियाशील था। उसका यह आचरण, उसके आश्वासन के प्रतिकूल था। लार्ड कर्ज़न ने भारतीयों को एक बार आश्वासन दिया था—"कि जब से वह भारत में वर्तमान है तबसे उसकी नीति रहस्य-मय नहीं रही।"[1] किन्तु बंग-भंग की योजना से उसका यह कथन असत्य

1—"Concealment had been no part of my policy since I have been in India."

—**सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, ए नेशन इन मेकिंग, पृ० १७५।**

प्रमाणित हुआ। दूसरों पर असत्य का आरोप करने वाला कर्ज़न स्वयं इस दुर्गुण का निदर्शन निकला। कार्य और कथन में इतना पार्थक्य एवं वैषम्य अन्यत्र दुर्लभ है। कर्ज़न ने सारी योजना रहस्यमयी रखी और साधारण परिवर्तन के साथ सम्पूर्ण उत्तरी बंगाल, फरीदपुर तथा बारीसाल के जिलों को मिलाकर पूर्वी-बंगाल नामक एक अलग प्रान्त बना दिया। इसकी सूचना २० जुलाई सन् १९०५ ई० को दी गई। १६ अक्टूबर योजना के कार्यान्वित होने का दिन था। कर्ज़न की असत्यवादिता एवं चालाकी का प्रमाण प्रस्तुत करते हुए सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने लिखा है—"बंग विच्छेद की दुहराई हुई योजना का चिंतन-मनन, तर्क-वितर्क और निर्णय सभी कुछ एकान्त और रहस्य में हुआ था। यहाँ तक कि जनता को उसका संकेत मात्र भी न था। उस योजना को प्रतिनिधि-सभा में भेजने के विचार पर किंचित मात्र भी ध्यान न दिया गया था।"[१]

शिवशम्भु का यह आठवाँ चिट्ठा इतिहास की इस प्रसिद्ध घटना पर प्रकाश डालता है। इस चिट्ठे में कर्ज़न की झूठ, आत्म-प्रशंसा और अहम्मान्यता पर करारी चोटें की गईं हैं। जनता के तीव्र विरोध प्रदर्शनोपरान्त किए गए भारत-विरोधी कार्य को इंगलैंड के राज प्रतिनिधि का तुग़लकाबाद कहा है। भारतीय प्रजा की कष्ट-सहिष्णुता, क्षमाशीलता और विनम्रता आदि गुणों के प्रदर्शन के अतिरिक्त इस चिट्ठे में अंग्रेजों की हठ, अज्ञानता और अदूरदर्शिता का भी सुन्दर उद्घाटन किया गया है। आपने लिखा था—"जो प्रजा तुगलक जैसे शासकों का ख़याल बरदाश्त कर गई, वह क्या आज कल के माई लार्ड का ख़याल बरदाश्त नहीं कर सकती है।"[२] बंग-विभाजन की सम्पूर्ण योजना को तुगलकी खयाल, खाली ख़याली लड़ाई और बुलबुल उड़ाने का खेल बताते हुए आपने लिखा था—"सब ज्यों का त्यों है। बंगदेश की भूमि जहाँ थी, वहीं है, और उसका हरेक नगर और गाँव जहाँ था, वहीं है। कलकत्ता उठाकर चेरापूँजी के पहाड़ पर नहीं रख दिया गया और शिलांग उड़कर हुगली के पुल पर नहीं आ बैठा। पूर्व और पश्चिम बंगाल के बीच में कोई नहर नहीं

1—"The revised scheme was conceived in secret, discussed in secret and settled in secret without the slightest hint to the public. The idea of submitting it to a representative conference was no longer followed."

—सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी—ए नेशन इन मेकिंग, पृ० १८६।

२—बालमुकुन्द गुप्त—शिवशम्भु के चिट्ठे—बंग विच्छेद, पृ० ५४।

खुद गई और दोनों को अलग-अलग करने के लिए बीच में कोई चीन की दीवार नहीं बन गई है......किसी बात में कोई फर्क़ नहीं पड़ा। खाली ख़याली लड़ाई है।"[१] और गुप्त जी यहाँ तक कह गये कि "इस्तीफा देकर भी एक खयाल पूरा किया और इस्तीफा मंजूर हो जाने पर इस देश में पड़े रहकर भी श्रीमान् का प्रिन्स आफ वेल्स के स्वागत तक ठहरना एक खयाल-मात्र है।"[२] स्पष्ट है कि कर्ज़न के भारत-विरोधी कार्यों की गुप्त जी ने कितनी निर्ममता के साथ आलोचना की है।

बंग-विभाजन की योजना, जिस पर कर्ज़न को अच्छे शासक होने का अभिमान था और जो गहन चिंतन एवं गम्भीर अध्ययन के बाद कार्यान्वित की गई थी, गुप्त जी द्वारा स्वाभाविक व्यंग्य के सहारे उड़ा दी गई।

चिट्ठे के अन्त में बंग-भंग की निस्सारता और कर्ज़न की योजना का उपहास करते हुए राष्ट्रीय आन्दोलन के सत्य का रहस्योद्घाटन गुप्त जी ने किया था। पतित और हीनावस्था के समय साहस और प्रोत्साहन देने की शैली कोई उनसे सीखे। आपने लिखा था—"यह बंग बिच्छेद बंग का विच्छेद नहीं है। बंग-निवासी इससे विच्छिन्न नहीं हुए, वरंच और युक्त होगए—बंगाल के टुकड़े नहीं हुए, वरंच भारत के अन्यान्य टुकड़े भी बंग देश से आकर चिपट जाते हैं।"[३] गुप्त जी ने इतिहास की इस चिर-नवीन घटना को दो पंक्तियों में सजीव कर दिया है। बंगाल-विभाजन का दिन राष्ट्र के विभिन्न प्रान्तों के एकीकरण का दिन था। उस दिन पार्थक्य और पृथकत्व में भी अभेद-रूपता और ऐक्य की भावना अधिक प्रखर थी। वही दिवस भारत में संगठित राष्ट्रीय आन्दोलन का जन्म दिवस कहा जा सकता है। यह दिन बंगाल भर में शोक और संताप का दिन था। सारा बंगाल प्रेम, एकता, बलिदान तथा देशभक्ति के पावन धागों में बंध गया था। सारे बंगालियों ने प्रेम और बन्धुत्व का प्रतीक राखी बाँध कर पारस्परिक-प्रेम और देशभक्ति की शपथ ग्रहण की थी और भागीरथी गंगा में स्नान करके स्वदेशी आन्दोलन छेड़ने की प्रतिज्ञा की थी। भारत के शेष प्रान्तों की सहानुभूति और नैतिक-समर्थन बंगाल तथा त्रस्त बंगालियों के साथ था, गुप्त जी की उपर्युक्त पंक्तियों में इसी राष्ट्रीय एकता की स्पष्ट अभिव्यंजना मिलती है। बंग-विच्छेद अंग्रेजी शासन

१—बालमुकुन्द गुप्त—शिवशम्भु के चिट्ठे—बंग विच्छेद, पृ० ५५।
२— वही, वही।
३— वही, पृ० ५७।

की प्रथम राजनीतिक त्रुटि थी। इसी घटना ने भारतीयों में स्वदेशी वस्तुओं के प्रति प्रेम, भारतीय व्यापार तथा उद्योग, भारतीय बैंक तथा भारतीय मिल प्रारम्भ करने की प्रेरणा दी थी। स्वदेशी धोती उत्पादन के लिये 'बंग-लक्ष्मी मिल'; आर्थिक सहायता के लिये, 'बंगाल नेशनल बैंक' तथा अन्य सहायता के लिये 'नेशनल एण्ड दि हिन्दुस्तान कोअपारेटिव एन्श्योरेन्स कम्पनीज़' की स्थापना हुई थी। स्वदेशी आंदोलन का श्रीगणेश सात अगस्त सन् १६०६ को हुआ था। कालिज स्क्वायर से श्री जे० चौधरी की अध्यक्षता में एक जलूस टाउन हाल तक गया था। तीन सभाएँ हुईं और उसी दिन स्वदेशी-आंदोलन की प्रतिज्ञा ग्रहण की गई। इस आंदोलन की पृष्ठभूमि में एक विश्वास था कि अंग्रेज और अंग्रेजी शासन से भारतीयों का हित होना सम्भव नहीं। इसी भाव की अभिव्यक्ति गुप्त जी के इन शब्दों द्वारा होती है—"भारत वासियों के जी में यह बात जम गई कि अँगरेजों से भक्ति-भाव करना वृथा है, प्रार्थना करना वृथा है और उनके आगे रोना-गाना वृथा है। दुर्बल की वह नहीं सुनते।"[1] यह बात थी जिसे बाद के राष्ट्रीय नेता समझते हुए भी टाल रहे थे, जिसे राष्ट्रीय कांग्रेस ने भी बहुत दिनों तक टाला था। गुप्त जी ने उसी का उद्‌घाटन सन् १६०५ ई० में कर दिया था।

कर्ज़न की क्रूरता, एकाधिकारवादिता और प्रजा-हित-शून्यता की ओर संकेत करते हुए आपने उससे पूछा था—"आप किस कार्य को आये थे और क्या कर चले? शासक का प्रजा के प्रति कुछ तो कर्त्तव्य होता है, यह बात आप निश्चय मानते होंगे। सो कृपा करके बतलाइये, क्या कर्त्तव्य इस देश की प्रजा के साथ पालन कर चले? क्या आँख बन्द कर मनमाने हुक्म चलाना और किसी की कुछ न सुनने का नाम ही शासन है?"[2] कैसर और जार भी घेरने-घोटने से प्रजा की बात सुन लिया करते थे—"पर आठ करोड़ जनता के गिड़ गिड़ाकर बंग विच्छेद न करने की प्रार्थना पर आपने जरा भी ध्यान न दिया।"[3] कर्ज़न ने एक कार्य भी ऐसा न किया था जिससे उसकी जिद्द का परिहार और जनता का हित हुआ हो। उसने कभी प्रजा का अनुरोध अथवा प्रार्थना सुनाने के लिये उसके प्रतिनिधियों को अपने समीप तक नहीं आने दिया। उसके सम्पूर्ण कार्यों से निरकुंश शासन तथा मनमानी करने की

१—बालमुकुन्द गुप्त, शिवशम्भु के चिट्ठे, बंग विच्छेद, पृ० ५८।

२—बालमुकुन्द गुप्त, शिवशम्भु के चिट्ठे, विदाई सम्भाषण, पृ० ४६।

३—गुप्त निबन्धावली प्रथम भाग, पृ० २१४।

मनोवृत्ति प्रकट होती है। क्योंकि भारतीय जनता द्वारा अनेक प्रकार से विरोध करने पर भी लार्ड कर्ज़न और उसकी साम्राज्यवादी सरकार ने साम्राज्य-हित-पोषक वैधानिक नियम बना लिए थे। इस पर विरोधात्मक टिप्पणी करते हुए गुप्त जी ने अन्य स्थान पर लिखा था—"सरकार जैसा चाहती है वैसा कानून पास कर लेती है, जो चाहती है करती है। प्रजा की बात सुनने की उसने एक प्रकार से कसम खा रखी है। कितने ही काम प्रजा की आशा और इच्छा के विरुद्ध हुए चले जाते हैं।"[1] गुप्त जी की इन पंक्तियों का महत्व लार्ड कर्ज़न के बम्बई कारपोरेशन वाले सन् १६०० ई० के भाषण को देखते हुए और अधिक बढ़ जाता है, जिसमें उसने शासक वर्ग की जनमत से लाभान्वित होने की बात कही थी। यथार्थ में उसके कथन और कार्य में महान् अन्तर था। फरवरी सन् १६०३ में कामर्स-चेम्बर में भाषण देते हुए उसने भारत के भविष्य में विश्वास रखने तथा भारत को उसके ध्येय प्राप्ति तक अँग्रेजों द्वारा मार्ग-दर्शन कराने की बात का उल्लेख भी किया था। लार्ड कर्जन की इस गर्वोक्ति का गोखले तक ने विरोध किया था। गुप्त जी ने बृटिश-हित-पोषक नौकर शाही तथा लार्ड कर्जन की मनोवृत्ति की कलई खोल दी है। आपने लार्ड कर्ज़न की अहम्मन्यता तथा मिथ्याभिमान का उल्लेख करते हुए 'कर्ज़न शाही' नामक लेख में लार्ड लिटन के साथ उसकी तुलना की थी। आपने लिखा था—"......अहंकार, आत्मश्लाघा, जिद्द और गाल बजाई में लार्ड कर्ज़न अपने सानी आप निकले। जब से अँग्रेजी राज्य आरम्भ हुआ है, तब से इन गुणों में इनकी बराबरी करने वाला एक भी बड़ा लाट इस देश में नहीं आया। पिछले बड़े लाटों में लार्ड लिटन के हाथ से इस देश के लोग बहुत तंग हुए थे। लार्ड कर्ज़न ने लिटन की सब बदनामी धो दी। अपने से सब लाटों को उन्होंने भला कहला दिया।"[2]

इसके अतिरिक्त लार्ड कर्ज़न की आत्मश्लाघा पर करारा व्यंग्य करते हुए आपने लिखा था—"भारत वर्ष की बहुत सी प्रजा के मन में धारणा है कि जिस देश में जल न बरसता हो लार्ड कर्ज़न पदार्पण करें तो वर्षा होने लगती है और जहाँ के लोग अतिवर्षा और तूफान से तंग हों वहाँ जाने से स्वच्छ सूर्य निकल आता है। आपने यह भी कह डाला जब ये भारत से इंगलैंड पहुँच कर अपने पिता के घर केडलस्टन में पहुँचा तो अनावृष्टि से चारों ओर तृणवृक्ष

१—भारत मित्र, राजभक्ति सन् १६०७ ई०।
२—गुप्त स्मारक ग्रन्थ, पृ० १३७।

सूखे दिखाई देते थे। पर पहुँचते ही आकाश बादलों से छागया और वर्षा होने लगी।"[१] इस प्रकार गुप्त जी ने लार्ड कर्ज़न के कार्य और उसकी वक्तृताओं पर सूक्ष्म दृष्टि रखकर उसकी नीति का भण्डा-फोड़ किया था। और जब वह इंगलैंड जाने लगा था, तब गुप्त जी ने निर्भीकता पूर्वक कहा था—"इस देश की भलाई की ओर तो आपने उस समय भी दृष्टि नहीं की, जब कुछ भला करने की शक्ति आप में थी। पर अब कुछ बुरा करने की शक्ति भी आप में नहीं रही।"[२]

लार्ड कर्ज़न ने अपने शासन-काल (१८९९–१९०५ ई०) में भारत में अनेक सुधार करने की योजना तैयार की थी, किन्तु उसकी सम्पूर्ण आयोजनाओं की पृष्ठभूमि में प्रथम तो अपने हाथ में सर्व-शासन-सत्ता प्राप्त कर लेने की भावना प्रबल थी। दूसरे अँग्रेज जाति और बृटिश साम्राज्य पोषण का भाव था। उसने अपने सुधारों का उद्देश्य सितम्बर सन् १९०५ में दिए गए शिमला वाले अपने वक्तव्य में शासन-तन्त्र में कार्य-दक्षता तथा कुशलता लाना घोषित किया था। वास्तव में सत्य कुछ और ही था; भारतीय पुलिस के सुधार द्वारा उसने भारतीय जनता का हित नहीं, प्रत्युत अँग्रेज-जाति का हित किया। सन् १९०२ ई० में सर एन्ड्रू फ्रेजर की अध्यक्षता में नियुक्त किए गए पुलिस-आयोग की रिपोर्ट के आधार पर उसने भारतीय पुलिस का योरोपीय करण कर दिया था। शिक्षा के क्षेत्र में किए गए उसके सुधार को लाँवट फ्रेजर उसकी चार बड़ी सफलताओं में से एक स्वीकार करता है, किन्तु भारत के लिए यह सुधार अहितकर था; जिसका एक मात्र उद्देश्य शिक्षा-संस्थाओं को शासन का अङ्ग बनाना था और जिसका सम्बन्ध विश्व-विद्यालयों की व्यवस्था से था, शिक्षा-प्रसार या उसके उत्कर्ष से नहीं। उसके इस सुधार का भारत में तीव्रता के साथ विरोध हुआ था। लार्ड कर्ज़न का स्थानीय स्वराज्य विषयक सुधार उसकी नीति का परिचायक था जिसका विरोध सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने किया था। उसका चौथा कार्य था बंग-विभाजन जिसके कारण भारत में उसे विरोध, अपमान तथा अनेक आलोचनाएँ सहनी पड़ी थीं। बंग-विभाजन का बाह्य उद्देश्य तो शासन में दक्षता लाना था किन्तु यथार्थ में कर्ज़न बंगाली, हिन्दू तथा मुसलमानों की एकता नष्ट करके बंगाल में स्फुरित

१—भारत मित्र, लार्ड कर्ज़न आते हैं, सन् १९०५ ई०।

२—बालमुकुन्द गुप्त, शिवशम्भु के चिट्ठे, बंग-विच्छेद, पृ० ५३।

राष्ट्रीय-नव-चेतना तथा स्वराज्य-आन्दोलन का उन्मूलन करना चाहता था। गुप्त जी ने उसके इन सभी सुधारों की पोल-खोली है। जो कार्य देश के विविध प्रान्तों में राजनीतिक नेता-गण कर रहे थे, वही कार्य गुप्त जी हिन्दी-भाषी व्यक्तियों के मध्य राष्ट्रीय जागरण के प्रति उन्हें सजग बनाकर कर रहे थे। कर्जन के कार्यों का पर्यवेक्षण करते हुए आपने लिखा था—"उनका अकाल पीड़ित प्रजा के सिर पर दिल्ली दरबार करना, शिक्षा का नाश करना, कलकत्ते की म्यूनिसिपल क्षमता को धूल में मिलाना और कमीशन पर कमीशन बिठाकर लोगों को हैरान कर डालना मामूली कड़ाई और बेपरवाही के काम न थे।"[1]

गुप्त जी अपने युग के स्पष्टवादी देशभक्त पत्रकार थे। उन्होंने अपनी लेखनी द्वारा शासक और शासित के मध्य चौड़ी होने वाली खाई की ओर स्पष्ट संकेत किया है। देश-वासी जनता की अभाव-अभियोग-मूलक गाथाओं, उसके स्वाधिकारों की माँगों, उसकी महत्वाकांक्षाओं तथा शासन के प्रति उसके उग्र विरोधों को गुप्त जी ने वाणी दी है। भारतीय जनता के अभावों की अँग्रेज अधिकारी-वर्ग के वैभव के साथ तुलना करके गुप्त जी ने साम्राज्य-वादी-शक्ति की मनोवृत्ति का स्पष्टीकरण किया है। इस प्रकार शिवशम्भु के चिट्ठे राष्ट्रीय आन्दोलन के विकास-क्रम के इतिहास का काम करते हैं। इन चिट्ठों के द्वारा गुप्त जी को शासन की निर्भीक आलोचना के बन्द द्वार उन्मुक्त कर देने का श्रेय उपलब्ध होता है। उनकी इस लेख माला में सौन्दर्य-बोध एवं वासना तृप्ति कराने वाला मधुर संगीत नहीं पाया जाता, वरंच उस हला-हल की अभिव्यक्ति हुई है, जिसे भारतीय अमृत का चषक समझ कर होठों से लगाये हुए थे। गुप्त जी की प्रत्येक पंक्ति भारतीयों को उस विष को पान कर जाने के लिये प्रोत्साहित करती रही।

गुप्त जी जिस समय कर्जन के नाम ये पत्र लिख रहे थे वह दमन-काल था। सारा बंगाल स्वदेशी-आन्दोलन से प्रभावित था, नेताओं को अँग्रेजी सरकार कारागृह में भेज रही थी, प्रेस-एक्ट को संशोधित करके पत्रों की स्वाधीनता पर व्यवधान पहले ही लगाया जा चुका था। 'सन्ध्या' के सम्पादक ब्रह्मबान्धव उपाध्याय विशेष रूप से अपने तीन लेखों के कारण कैद किये जा चुके थे, स्वामी विवेकानन्द के भ्राता भूपेन्द्रनाथ दत्त को उनके 'युगान्तर' के लेख के लिये दोषी ठहराया जा चुका था और अरविन्द घोष को

१—भारत मित्र, राजभक्ति, सन् १९०७ ई०।

'वन्देमातरम्'—अँग्रेजी का दैनिक पत्र, जिसका श्री गणेश सी० आर० दास द्वारा हुआ था, में प्रकाशित लेख के लिये अभियुक्त माना गया था ; पर उन पर अभियोग प्रमाणित न हो सका था। 'काव्य विशारद' जी, जिनके गीतों को सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने बंग-भंग के आन्दोलन में प्राण प्रतिष्ठा करने वाला कहा है—को बुरी तरह अपमानित एवं दण्डित किया गया था। कलकत्ते का वातावरण दमन से आक्रान्त था। ऐसी परिस्थितियों में गुप्त जी ने बड़ी निर्भीकता पूर्वक पत्रकारिता के कर्म का निर्वाह किया। उन्होंने न कैद की चिन्ता की और न जुर्माने की। 'भारत मित्र' कार्यालय में बैठे वे स्वतन्त्रता-संग्राम की प्रमुख घटनाओं को अपनी लेखनी से अमर बनाते रहे। यह वह समय था, जब दूसरे पत्रकार भाषा-परिमार्जन तथा साहित्य शृङ्गार में व्यस्त थे। किन्तु गुप्त जी युग-चेतना को वाणी देकर स्वाधीनता आन्दोलन को अग्रसरित कर रहे थे। उनके सम्मुख ध्वस्त एवं त्रसित देश था और थी, उसकी तीस करोड़ शोषित जनता। उनकी इस निर्भीक और स्पष्ट आलोचना शैली का प्रभाव इतना व्यापक और स्थायी पड़ा कि देश-हितैषिता की दृढ़ प्रतिज्ञा लेकर कितने ही निर्भीक हिन्दी-पत्रकार उत्पन्न हुए। स्वर्गीय प्रेमचंद और गणेश शंकर विद्यार्थी उसी परम्परा के उज्ज्वल रत्न थे।

शिवशम्भु के चिट्ठों का प्रभाव इतना व्यापक पड़ा कि कितने ही लेखक शिवशम्भु बनने का लोभ संवरण न कर सके। थोड़े ही दिनों में अन्य पत्रों में शिवशम्भु के चिट्ठों की बाढ़ सी आगई। उनमें से अधिकांश चिट्ठे गुप्त जी की लेखनी से प्रसूत न हुये थे। इस प्रकार की रचनाओं में से 'काला कुत्ता', 'मोलड़ का मन', 'भारत-मित्र सम्पादक', 'कृस्तान बनो' और 'स्त्री का रूप' है। इन चिट्ठों में राजनैतिक व्यंग्य के साथ-साथ सामाजिक अवस्था पर भी व्यंग्य किया गया है। इन चिट्ठों की भाषा और शैली के अध्ययन के उपरान्त स्पष्ट हो जाता है कि ये चिट्ठे भारत-मित्र-सम्पादक की लेखनी द्वारा प्रणीत न थे। शिवशम्भु के यथार्थ चिट्ठे पहले उर्दू में लिखे गए थे और मुन्शी दयानारायण निगम द्वारा सम्पादित कानपुर के उर्दू मासिक पत्र 'ज़माना' में छपे थे। श्री निगम ने गुप्त जी के संस्मरण में लिखा है—"ज़माना के लिये यह बड़ी इज्जत की बात है कि शिवशम्भु के बाज मज़ामिन पहले 'ज़माना' में आ गये और बाद में हिन्दी में भारत-मित्र के लिये लिखे गये।"[१]

इन चिट्ठों का प्रभाव इतना व्यापक और अधिक पड़ा था कि दूसरे पत्रों

१—ज़माना—अक्टूबर-नवम्बर सन् १९०७, पृ० ३००।

ने उनकी नकलें बिना गुप्त जी की आज्ञा के अपने पत्रों में छाप दीं। इस साहित्यिक चोरी का उद्देश्य बिना श्रम के शीघ्र यश उपार्जन करना था। निगम साहब ने अपने इसी संस्मरण में लिखा है—"एक दफा और लोगों ने उर्दू में पहले ही भद्दे तर्ज़ में छाप दिये, मगर ज़माना पर आपकी इनायते खास थी और मज़ामीन औरीजीनल हैसियत से इसे मिलते थे।"[1] पंजाब के पत्रों ने भी इन चिट्ठों की नकलें छाप दी थीं। लाहौर के पत्र 'हिन्दोस्तान' ने भी ऐसा ही किया था। मुन्शी दयानारायण निगम ने लिखा है—'जिन दिनों मुल्क में हर तरफ इनके चिट्ठों की शुहरत फैल रही थी, बाज़ पंजाबी अखबारों ने शिवशम्भु के नाम से नकली चिट्ठे गढ़ना शुरू किये। बाज़ ने बिला नाम और हवाला असल चिट्ठे खास मजामीन की हैसियत से छाप दिये। अखबार हिन्दुस्तान लाहौर में भी किसी तरह इस किस्म की कुछ बद अनुवानी हो गई थी।"[2]

दूसरे पत्रों की इस साहित्यिक चोरी से गुप्त जी को बड़ा दुख हुआ था। इस विषय में उन्होंने अपने इष्ट मित्र 'ज़माना' सम्पादक को लिखा था—"हिन्तोस्तान ने नया ढंग निकाला है। पहले तो कई चिट्ठे नकल किये, अब खुद शिवशम्भु के नाम से दो चिट्ठे गढ़ कर 'शहीद' बना है। क्या बबालेहबिस है, आप भी नोट करें......।"[3]

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि शिवशम्भु के इन चिट्ठों का प्रभाव देश के पत्र और पत्रकारों पर बड़ा व्यापक पड़ रहा था। निस्संदेह ये चिट्ठे लेखक की राजनीतिक चेतना, देश-प्रेम निर्भयता, आत्म-त्याग, स्वाभाविकता, वाक्-पटुता, परिश्रमशीलता और हास्य-प्रियता के अत्युत्तम निदर्शन हैं। गुप्त जी के कुछ खत और चिट्ठे पुस्तकाकार अलग से प्रकाशित हुए थे, जिनमें 'मेले का ऊँट', 'मनुष्य गणना', 'अधिमास-निर्णय', 'मेम्बर बुलाने की तरकीब', 'मारवाड़ी महाशयों के नाम', 'लार्ड मिन्टो का स्वागत', 'निश्चित विषय', और 'आशीर्वाद' नामक चिट्ठे तथा 'शाइस्ता खां का खत फुलर साहब के नाम', प्रथम और दूसरा तथा 'सर सैयद अहमद का खत' अलीगढ़ कालिज के लड़कों के नाम संगृहीत किए गए हैं। इनमें प्रथम पाँच चिट्ठे ऐसे हैं जिन

१—जमाना—अक्टूबर-नवम्बर सन् १९०७, पृ० ३००।

२— वही पृ० ३०२।

३— वही पृ० वही।

पर यहाँ भी विचार नहीं किया गया है, शेष चिट्ठों और खतों पर आगे विचार किया गया है।

'मेले के ऊँट'[१] नामक चिट्ठे में शिवशम्भु ने उन मारवाड़ी वैश्यों पर व्यंग्य की बौछारें की हैं, जो अपने प्राचीन रीति-रिवाज, सभ्यता एवं संस्कृति का परित्याग करके अर्वाचीन पाश्चात्य सभ्यता से आपादमस्तक प्रभावित हैं। मेले में आए ऊंट के मुख से मारवाड़ी-समाज के पूर्वजों को रीत-रिवाज-रहन-सहन और आचार-व्यवहार का वर्णन एक विचित्र कल्पना है। यह कल्पना उतनी उत्कृष्ट तो नहीं, जितनी बुलबुलस्तान वाली कल्पना थी। किंतु मारवाड़ी समाज पर व्यंग्य अच्छा बन पड़ा है। विशेषत: मारवाड़ी 'ऐसोसीयेशन' व्यंग्य का लक्ष्य है। दूसरा चिट्ठा है, 'मनुष्य गणना'।[२] इस चिट्ठे में भारत सरकार द्वारा जनगणना के अवसर पर अपनाई गई बेगार लेने की नीति को व्यंग्य का लक्ष्य बनाया गया है, साथ ही हिजड़ों को पुरुषों की श्रेणी में गिने जाने के सरकारी आदेश को लेकर भारत के वर्तमान तथा कथित मर्दों पर करारा व्यंग्य भी किया गया है। जैसे—"जिनके बाप दादा भेड़ की आवाज सुनकर डर जाते थे, जिनको स्वयं चाकू से कलम का डंक काटते भय लगता है उन्हें सरकार ने राय बहादुर बनाया है।"[३] यहाँ सरकार की नीति पर भी व्यंग्य किया गया है। तीसरा चिट्ठा,—'अधिमास-निर्णय' है।[४] इसमें ज्योतिषियों की दुरंगी चाल तथा मत-विपर्यय को लेकर हास्य और व्यंग्य का लक्ष्य बनाया गया है पर इस चिट्ठे का व्यंग्य उच्चकोटि का नहीं है। चौथा चिट्ठा है—'मेम्बर बुलाने की तरकीब'।[५] इस चिट्ठे में मारवाड़ी ऐसोसियेशन के सदस्यों की ऐसोसियेशन की ओर से उदासीनता देखकर सात तरकीबें ऐसी बताई गई हैं जिनसे आकर्षित होकर सदस्यगण ऐसोसियेशन की बैठक में पधार सकें। ये सातों तरकीबें इतनी व्यंग्यात्मक हैं कि उनसे मारवाड़ी लोगों की प्रवृत्ति का अच्छा ज्ञान होता है। यह चिट्ठा सामाजिक है, और विशेषत: कलकत्ता के बड़ा बाजार के मारवाड़ी समाज को लक्ष्य करके लिखा गया है।

१—भारतमित्र, १२ जून सन् १६०१ ई०।

२— वही , ८ मार्च सन् १६०१ ई०।

३—बालमुकुन्द गुप्त, चिट्ठे और खत, पृ० १०–११।

४—भारतमित्र, १५ जून सन् १६०१ ई०।

५— वही , ६ जुलाई सन् १६०१ ई०।

पाँचवा चिट्ठा है—'मारवाड़ी महाशयों के नाम'।[1] इस चिट्ठे में मारवाड़ी समाज की धन-लोलुपता और विद्योपार्जन की ओर से उपेक्षा देखकर उन्हें खरी-खोटी सुनाई गई हैं, और उसके द्वारा विद्यालय की स्थापना की जाने पर दबे व्यंग्य के साथ आश्चर्य की अभिव्यक्ति की गई है। कहीं-कहीं चोट बड़ी तीव्र हो गई है। यथा—"विद्या किस काम की चीज है। वह न ओढ़ने की है न बिछाने की और न खाने की। यदि तुम्हारे पास रुपया होगा तो सैकड़ों विद्वान तुम्हारे पास आकर टक्कर मारेंगे। तुम्हारे गण्ड मूर्ख होने पर भी तुम्हें झुक कर सात-सात सलाम करेंगे, तुम्हारी भद्दी मुहर्रमी शकल को भी अच्छा बतावेंगे। कितने ही पढ़े लिखे दस-दस-बीस-बीस रुपये की नौकरी के लिये तुम्हारे दरवाजे पर ठोकरें खाते फिरते हैं……तुम उनको दरबान और कहारों से भी बदतर समझते ही नहीं हो उनके मुँह पर कह भी देते हो। विद्या होने से यह सब बातें कहाँ होंगी।"[2] इस प्रकार प्रतीत होता है कि ये चिट्ठे सामाजिक समस्याओं को लेकर लिखे गए हैं, जिनमें मारवाड़ी समाज विशेषतः व्यंग्य का लक्ष्य है। शिवशम्भु शर्मा के ये चिट्ठे अभूतपूर्व शैली, उच्चकोटि के व्यंग्य तथा सुन्दर भावभूमि के फलस्वरूप सभी शिक्षितों और साहित्यिकों में सम्मान के पात्र हुए हैं।

शिवशम्भु के ये चिट्ठे उच्च कोटि की विचार-शीलता, उत्कट देश-प्रेम, अभूत पूर्व ऐतिहासिक ज्ञान, पर-दुख-कातरता, निर्भीकता और गुप्त जी की आत्म बलिदान की भावना के द्योतक हैं। इनका प्रभाव देशव्यापी था। गुप्त जी आयोजन कर रहे थे कि इन चिट्ठों का अंग्रेजी में अनुवाद कराके एक अच्छी सी पुस्तक लार्ड कर्जन को समर्पित कर दी जाय। इस अनुवाद के कार्य का भार उन्होंने श्री दयानारायण निगम 'ज़माना' सम्पादक को सौंप दिया था। वे अनुवाद की व्यवस्था में ही थे कि गुप्त जी के एक मित्र श्री ज्योत्येन्द्र नाथ बनर्जी ने पुस्तक पर किसी प्रकाशन-संस्था का नाम न देकर इनका अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित कर दिया था।[3] प्रकाशित होते ही यह पुस्तक हाथों

१—भारतमित्र, २७ फरवरी सन् १९०४ ई०।

२—बालमुकुन्द गुप्त, चिट्ठे और खत, पृ० २४।

३—गुप्त जी के ज्येष्ठ पुत्र का मत है कि पुस्तक पर प्रकाशन संस्था का नाम दिया गया था किन्तु जो पुस्तक इस समय प्राप्य है उस पर प्रकाशक का नाम नहीं है। केवल चोखानी पुस्तकालय कलकत्ता नं० २७ बर्नोसी घोष स्ट्रीट की मुहर लगी है।

हाथ विक गई। कहा जाता है कि अंग्रेजों ने पाँच-पाँच प्रतियाँ खरीद कर पढ़ीं और मित्रों में वितरत कीं थीं। शिवशम्भु के इन चिट्ठों ने भारत-मित्र और गुप्त जी दोनों को ही अमर कर दिया है। आज भी ये चिट्ठे उतनी ही उमंग और उत्सुकता के साथ पढ़े जाते हैं।

बंगाल के गवर्नर के नाम गुप्त जी के पत्र—

बंग विच्छेद (१६ अक्टूबर सन् १६०५) के उपरान्त नये प्रान्त पूर्वी बंगाल का गवर्नर सर वाम्पाई फुलर को नियुक्त किया गया था। फुलर अपनी दुरंगी छद्म नीति के लिए विख्यात, हिन्दू-मुस्लिम-एकता के लिए महान् भय, जन-शोषण में परम प्रवीण और भारत-विरोधी कार्य करने में दृढ़ प्रतिज्ञ था। स्वदेशी आन्दोलन और राष्ट्रीय-जागरण की भावना को कुचलने के लिए वह भगीरथ प्रयत्न कर रहा था। उक्त आन्दोलन में भाग लेने वाले भारतीयों के साथ उसने पाशविक व्यवहार कराया था और उन्हें अपमानित एवं दण्डित कराने के लिए भरसक प्रयत्न किए थे। उसके इन भारत-हित-विरोधी कुकृत्यों को देखकर गुप्त जी ने जो लिखा था, उससे उनकी उत्कट देश-भक्ति के अतिरिक्त बंगाली जनता के साथ किए गए दुर्व्यवहारों के क्रमिक इतिहास का संक्षिप्त इतिवृत्त भी मिलता है। आपने लिखा था—"वन्देमातरम कहने के कारण फुलर साहब ने प्रान्त के स्कूलों के बालकों पर जो अत्याचार कराए, अंगरेजी राज्य के इतिहास में उसकी कोई नजीर नहीं मिलती। लड़कों पर जुर्माना हुआ, वह पिटवाये गए। जेल भिजवाये गए, बजीफे बन्द किए गए। यहाँ तक कि वह स्कूल से भी निकाले गए। जिन मास्टरों ने उनका पक्ष लिया उनको भी निकलना पड़ा और किसी-किसी को जेल जुरमाने का भी सामना करना पड़ा। कितने ही स्कूल सरकारी अनुग्रह से वंचित हुए।"[1]

पूर्वी-बंगाल के स्थान-स्थान से दमन, लूट, अत्याचार, भीषण और क्रूर पाशविक कुकृत्यों की सूचनायें प्रति दिन आया करती थीं। त्राहि-त्राहि मची हुई थी, इस पर भी फुलर साहब ने सान्त्वना और आश्वासना का प्रदर्शन नहीं किया; उलटे हिन्दू जनता को धमकी दी कि उनके लिए अभी तो शाइस्ता खाँ के युग की पुनरावृत्ति की जायगी। गुप्त जी ने अपने प्रथम पत्र में[2] फुलर साहब के ऐतिहासिक ज्ञान की शून्यता दिखाते हुए, शाइस्ता खाँ से कहलवाया

१—गुप्त स्मारक ग्रन्थ, पृ० १३८।

२—भारत मित्र, २५ नवम्बर सन् १६०५।

है कि मेरा ज़माना हिन्दुओं के लिये ही नहीं अंग्रेजों के लिए और भी अधिक कष्टप्रद था। आपने लिखा था—"जब हम लोगों को मालूम हुआ कि तुम्हारी नीयत साफ नहीं—तब तुम लोगों को यहाँ से मार कर भगाना पड़ा और सिर्फ बंगाल से ही नहीं सारे हिन्दोस्तान से निकालने का भी हमारे बादशाह ने बन्दोबस्त किया था।"[१]

ये पंक्तियाँ उनके ऐतिहासिक ज्ञान की परिचायक हैं। यथार्थ में शाइस्ता खाँ ने सन् १६८८ ई० में अंग्रेजों को बंगाल से निकाल दिया था। उन पर अनेक अत्याचार भी किए थे। अंग्रेजी राज्य के दुर्गुण और अनाचारों का अंकन करते हुए गुप्त जी लिख गये हैं कि अंग्रेजी राज्य की अपेक्षा शाइस्ता खाँ का शासन कुछ अच्छा था। साम्प्रदायिक उपद्रवों और अमानवीय दृश्यों का सृजन तो दोनों ही राज्यों में हुआ, किन्तु शाइस्ता खाँ के शासन में जनता भूखों नहीं मरती थी। उसे खाने और लज्जा निवारण के लिए पर्याप्त मात्रा में अन्न और वस्त्र-प्राप्त था। शाइस्ता खाँ के मुँह से कहलवाया है—"मैंने बंगाल के दारुलसलतनत ढाके में एक रुपये के ८ मन चावल बिकवाये थे।"[२]

अंग्रेजी शासन में ऐसा कभी न हो सका था। गुप्त जी ने इस पर टिप्पणी की थी। "जहाँ तुम्हारी हुकूमत जाती है, वहाँ खाने पीने की चीजों को एक दम आग लग जाती है।"[३] कितनी स्पष्टता है इस कथन में। अँग्रेजों ने सदैव यहाँ के धन को विदेश पहुँचाया था, व्यापार को चौपट किया था, और उत्पादन के साधन एवं सामग्री को हड़प किया था। उनकी नीति सर्वथैव लूट-खसोट के साथ अपना तथा अपने देश का भण्डार भरना ही रही थी। गुरुमुख निहालसिंह द्वारा उद्धृत अंग्रेज लेखक लैकी के शब्दों में—"भारतीयों ने पहले कभी इतनी चतुरता पूर्ण, सूक्ष्म और दृढ़ नृशंसता का अनुभव नहीं किया था—विकास शील तथा घनी आबादी वाले सभी जिले उजड़ गए थे और प्राय: यह देखा जाता था कि अंग्रेज व्यापारियों के समूह को देखकर ग्राम रिक्त और दूकानें बन्द हो जाती थीं तथा सड़कें दुखी और भागने वाले जन-समूह से भर

१—बा० बालमुकुन्द गुप्त, चिट्ठे और खत, शाइस्ता खाँ का खत, पृ० ४८।

२— वही वही , पृ० ४६।

३— वही वही , पृ० ४६।

जाती थीं।"[१] गुप्त जी ने इस ऐतिहासिक तथ्य को देश के सम्मुख स्पष्ट रखा था और इस प्रकार अंग्रेजी राज्य के शोषणकारी रूप की विज्ञप्ति की थी।

शाइस्ता खाँ ने हिन्दुओं पर यदि जजिया लगाया तो अंग्रेजों ने नमक आदि पर टैक्स लगाए थे; लगान में वृद्धि की और व्यापार पर रोक लगादी थी। परिणाम स्वरूप दैन्य और दारिद्रय की अभिवृद्धि हुई है और हुआ जनता के कष्टों में परिवर्धन। गुप्त जी ने शाइस्ता खाँ को उसके भारत-विरोधी कार्यों पर पश्चाताप करते हुए अंकित किया है और फुलर साहब को परामर्श दिलाया है कि वह उन कार्यों की पुनरावृत्ति न करें अन्यथा अंग्रेजी राज्य का भी भाग्य वही होगा जो यवन-राज्य का हुआ था। शाइस्ता खाँ को दुःख है कि उसने—"हुकूमत के नशे में उस वक्त बुरा भला कुछ न सोचा। मगर अंजाम जो कुछ हुआ वह सारे जमाने ने देख लिया। यानी हमारी कौम को बहुत जल्द हुकूमत से छुट्टी मिल गई और जिस बादशाह का नायब बनकर मैं बंगाले का नाजिम हुआ था, उसने मरने से पहले अपनी हुकूमत का जवाल अपनी आँखों से देखा। बंगाल में मेरे बाद किसी को नाजिम न होना पड़ा।"[२] यहाँ गुप्त जी नृशंस शासकों को चुनौती देते हुए प्रकट हुए हैं। देशवासियों को उनका यह अमर संदेश था कि शोषण, प्रपीड़न और अत्याचार पर आधारित बृटिश-साम्राज्य का भविष्य भी यवन-साम्राज्य की भाँति अंधकार में है। अपनी रचनाओं द्वारा उन्होंने त्रसित भारतीयों को साहस और प्रोत्साहन भी दिया है। लेखक की भविष्यवाणी के अनुकूल ही फुलर साहब के अत्याचारों का अन्त भी उनके अधिकार के अवसान के साथ हुआ। उसे त्याग-पत्र देना पड़ा। जिस दिन से उसकी नौकरी गई, उसी दिन से अंग्रेजी साम्राज्य के पराभव का मुहूर्त भी लग गया था।

गुप्त जी की अंग्रेजों के विषय में जो धारणा थी, शाइस्ता खाँ के शब्दों में अवलोकनीय है—"तुम लोगों को मैं सदा कमीने, झगड़ालू लोग और बेईमान

1—"......Whole districts which had been populous and flourishing were atlast utterly depopulated, and it was noticed that on the appearance of a party of English merchants the villages were atonce deserted and the shops shut, and the roads thronged with panic strickan fugitivies.

—गुरुमुख निहालसिंह, लेंड मार्क्स इन इण्डियन कान्स्टीट्यूशनल एण्ड नेशनल डवलपमेंट भाग १, १६००–१९१९, पृ० १३।

२—बालमुकुन्द गुप्त, चिट्ठे और खत, पृ० ४८-४९।

बक्काल कहा करता था।"[1] उनको प्रजा हितैषी और अच्छा शासक बनने का परामर्श भी गुप्त जी देते गये—"रैयत के दिल में इन्साफ का सिक्का बैठता है, जुल्म का नहीं—अपने कामों से साबित करदो तुम इनसान हो, खुदातर्स हो, यहाँ की रैयत को पालने आये हो, लोगों को गिरी हालत से उठाने आये हो।"[2]

स्वर्ग से शाइस्ता खाँ द्वारा पत्र लिखा कर, भारतीयों की दुर्दशा को अंकित करते हुए अंग्रेजों को दुष्कर्म एवं शोषण-प्रथा त्यागने का परामर्श देने की कल्पना अभूतपूर्व है। इससे उनकी उद्भावना-शक्ति का ज्ञान होता है।

शाइस्ता खाँ का दूसरा पत्र 'भारत-मित्र' में १८ अगस्त, सन १९०६ ई० को प्रकाशित हुआ था। यह काल बंगाल के स्वदेशी आन्दोलन का था। इस आन्दोलन की सफलता का श्रेय प्रधानतः छात्र वर्ग पर था। वे विदेशी कागज की कापी पर परीक्षा में लिखते न थे। विदेशी कपड़े का प्रयोग न करते थे। रिपन कालिज के छात्र इस बात का प्रमाण थे। उन्होंने विदेशी जूता, स्याही, कपड़ा, दवाई आदि सभी वस्तुयें छोड़ रखी थीं। पुजारी उन शादियों में वैवाहिक क्रिया सम्पन्न नहीं करते थे, जहाँ विदेशी वस्तुओं का उपयोग होता था। अतिथि लोग उस दावत में सम्मिलित न होते जिसमें विदेशी चीनी और नमक का प्रयोग होता था। विदेशी साड़ियाँ और धोतियाँ कम कीमत की होने पर भी न बिकतीं थीं। छात्रगण दुकानों पर पिकेटिंग करते थे। सारा बंगाल स्वदेशी आन्दोलन से पूर्णतः प्रभावित था। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने लिखा है "स्वदेशी आन्दोलन का प्रभाव हमारे घरों पर अधिक पड़ा था, उसने हमारे सम्पूर्ण स्त्री समुदाय के हृदय पर प्रभाव कर लिया था। वे मनुष्यों से अधिक उत्साह शील थीं। मेरी एक प्रपौत्री ने अपने विदेशी जूते को लौटा दिया था जो उसे किसी सम्बन्धी ने भेजा था। उस समय का वातावरण स्वदेशी भावना से आक्रान्त था।"[3]

१—बामुलकुन्द गुप्त—चिट्ठे और खत, शाइस्ता खाँ का खत, पृ० ५१।

२— वही वही।

3—"The Swadeshi movement invaded our houses and captured the heart of our women folk, who were even more enthusiastic than the man. A grand daughter of mine, then only five years old returned a pair of shoes that had been sent to her by a relative, becaues they were of foreign make. The air was surcharged with the Swadeshi spirit."

—सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, ए नेशन इन मेकिंग, पृ० १९७।

स्वदेशी आन्दोलन की इन उग्र लहरों, राष्ट्रभक्ति और देश प्रेम के इस अदम्य उत्साह और नव-जागरण को समूल नष्ट करने के लिए पूर्वी-बंगाल की सरकार उन्मत्त हो उठी थी। उसके सामने इस नव-चेतना को समूल विनष्ट करने का प्रश्न था। इसके लिए दमन का आश्रय लिया गया। स्वदेशी-आन्दोलन का राष्ट्रीय गीत फुलर की सरकार ने अवैधानिक करार दिया। एक शिलिंग दो पेंस की विदेशी चीनी के बाजार में फेंक देने पर एक छात्र को चार मास की सजा दी गई। आन्दोलन के प्रचारार्थ निकले पर्चों के वितरण पर रोक लगा दी गई; अश्वनीकुमार दत्त को रोका गया और तंग किया गया; आन्दोलन के प्राण और अपने मधुर गीतों से सरलता और उत्तेजना लाने वाले 'हितबन्दी' के सम्पादक काव्य विशारद जी को अपमानित किया गया, बंगाल के यशस्वी नेता सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी को बरीसाल के मजिस्ट्रेट एमरसन के सम्मुख कुर्सी पर बैठते समय रोक कर अपमानित और दण्डित किया गया और इस सबके ऊपर बरीसाल कान्फ्रेंस के युवक प्रत्यायुक्त (delegate) पर पुलिस द्वारा लाठी-चार्ज कराके पूर्वी-बंगाल की सरकार पाशविक दमन का परिचय दे चुकी थी। इतना होने पर भी स्वदेशी आन्दोलन को रोका न जा सका। उस समय गुप्त जी ने फुलर की अज्ञानता और अदूरदर्शिता का उद्घाटन करते हुए लिखा था—"बरादरम् फुलर जंग! तुम्हारी जंग खत्म हो गई। यह लड़ाई तुम साफ हारे। तुमने अपनी शमशीर भी म्यान में कर ली। इससे अब तुम्हारे अलकाब में 'जंग' जोड़ने की जरूरत नहीं है।"[1] स्वदेशी आन्दोलन को रोकना समुद्र के ज्वार को रोकने के समान था, दूसरे इस ज्वार को अमानवीय साधनों द्वारा रोकना महान् अदूरदर्शिता थी। गुप्त जी ने इसी ओर संकेत किया था"—जो जोश तुम्हारे अफसरे आला की सख्ती से पैदा हुआ है वह सख्ती और जबरदस्ती से कैसे दब सकता है? शायद तुमने समझा कि यह पूरी शक्ति से दबाया नहीं गया इसी से फैला है; तुम्हारी सख्ती इसे दबा देगी और जो काम तुम्हारे खुदाबन्द से न हुआ उसे कर डालने की बहादुरी तुम हासिल कर लोगे।"[2]

बंगाल की सरकार की यह राजनीतिक त्रुटि थी। तूफान दबाने से नहीं रुकता, वरंच फैलता है। इस विषय में कलकत्ता के 'स्टेट्स मैन' का मत सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने उद्धृत किया था—"सरकार ने अज्ञान तथा निस्सारता

१—बालमुकुन्द गुप्त—चिट्ठे और खत, शाइस्ता खाँ का खत, पृ० ५२।
२—बालमुकुन्द गुप्त—चिट्ठे और खत, शाइस्ता खाँ का खत, पृ० ५३।

की नीति अपनाने की स्पष्ट त्रुटि की है जिसका प्रभाव शहीदों की एक सेना उत्पन्न करने में सहायक होगा।"[१]

इस आन्दोलन का प्रचार गुप्त जी अपने पत्र 'भारत-मित्र' द्वारा कर रहे थे। उनके कार्य में किसी प्रकार की शिथिलता न थी। उस समय इस आंदोलन को दबाने के लिये मजिस्ट्रेट ने एक आज्ञा जारी की थी कि आंदोलन में भाग लेने वाले छात्रों की संस्थाओं को विश्वविद्यालयों से पृथक् कर दिया जायेगा, उनकी सरकारी सहायता स्थगित करदी जायगी और छात्र-वृत्तियों के लिये होने वाली परीक्षाओं में सम्मिलित होने के अधिकार से भी च्युत कर दी जायेंगी। यथार्थ में हुआ भी ऐसा ही। दो कालिजों को, जिनके छात्रों ने आंदोलन में सक्रिय भाग लिया था, फुलर की सरकार ने विश्वविद्यालय से पृथक् करने की आज्ञा प्रसारित करदी थी। भारत की केन्द्रीय सरकार ने इस आज्ञा का विरोध किया था, किंतु फुलर केन्द्रीय सरकार से असहमत था। उसने क्षोभ में आकर लार्ड मिन्टो को निम्नलिखित आशय का पत्र लिखा था—"या तो मुझे ऐसे विद्यालयों को विश्व-विद्यालय से पृथक करने के मामले को बढ़ाने की आज्ञा प्रदान कीजिये अथवा मेरा त्याग पत्र स्वीकार कीजिये।"[२]

इतनी सख्ती और कड़ाई के साथ फुलर की सरकार ने बंगाल के कालिजों और स्कूल के छात्रों के साथ व्यवहार किया था, जिसके फल-स्वरूप शिक्षा की कल्पनातीत हानि हुई थी। इसी को लक्ष्य कर शाइस्ता खाँ द्वारा फुलर की अदूरदर्शिता की अभिव्यक्ति गुप्त जी ने कराई थी—"हिन्द में मेरा जमाना लाने के लिये तुम्हें रेल-तार तोड़ने दुखानी जहाज गारत करने, डाक उठवा देने, गैस, बिजली बगैरह को जहन्नम रसीद कर देने की जरूरत है। नहरें पटवा देने और सड़कें उठवा देने की जरूरत है। साथ ही तालीम को

1—'The Government has blundered apparantly into a childish and futile policy which can only have the effect of manufacturing an army of martyrs."

—सुरेन्द्र नाथ बनर्जी, ए नेशन इन मेकिंग, पृ० २०६।

2—"……Either to allow him to proceed with the matter of disaffiliation or to accept his resignation."

—गुरुमुख निहालसिंह, लैंड मार्क्स एण्ड कान्स्टीट्यूशनल एण्ड नेशनल डवलपमेंट इन इण्डिया, १६००-१६१६, पृ० १८२।

नेस्तोनाबूद कर देने की जरूरत है। तुम सबको छोड़कर एक तालीम को मिटाने की तरफ झुके थे।',[१]

छात्र और शिक्षा संस्थाओं के साथ संघर्ष करके फुलर ने अपनी गवर्नरी को खो दिया था। उसका महान् अपमान हुआ, तथापि वह अपनी दमन नीति दिखाता ही गया। उसकी सरकार द्वारा आम जलसों पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया था। कौमी नारा—'वन्दे मातरम्' अवैधानिक घोषित किया गया था। वन्दे मातरम् कहने वालों को लाठी और कैद की सजाएँ दी गईं थीं। छात्रों को पिटवाया और जेल भेजा गया था, फिर भी आंदोलन दब न सका। सबसे महत्वपूर्ण घटना है १४ अप्रैल, सन् १६०६ को बरीसाल में स्वदेशी आन्दोलन के प्रचारार्थ होने वाली एक कान्फ्रेंस की। सरकार ने आगन्तुकों के स्वागत में वन्देमातरम् के नारे लगाने गैर कानूनी निश्चित कर दिए थे। सारी अँग्रेज जाति उस समय सत्ता के मद में चूर थी। क्षोभ के कारण उसके मानसिक संतुलन में विकार आ गया था। एक अँग्रेज अधिकारी ने वन्देमातरम् की व्याख्या करते हुए कहा था—"यह बदला लेने के उद्देश्य से काली देवी का आह्वान करना है।"[२] सरकारी पदाधिकारियों के साथ बरीसाल के नेताओं द्वारा की गई सन्धि के अनुसार अतिथियों के आने पर नारे नहीं लगाये गये थे, पर बरीसाल की गलियाँ 'वन्देमातरम्' की ध्वनि से गूँज उठीं थीं। यह देख कर अधिकारी वर्ग क्षुब्ध था और दमन के अतिरिक्त उसे दूसरी बात न सूझती थी। दूसरे दिन जलूस के अवसर पर युवक-प्रत्यायुक्तों पर लाठी चार्ज हुआ, यद्यपि उस समय तक उन्होंने वन्देमारम् का उच्चारण भी न किया था। श्री चितरंजन गुहा को पानी के टेंक में फेंक दिया था और प्रतिष्ठित नेताओं को दण्डित एवं अपमानित किया गया था। अँग्रेजों के इस अमानुषिक व्यवहार और दमन का प्रतिवाद करते हुए गुप्त जी ने लिखा था—"रिआया और मदरसे के तुलबा से लड़ते-लड़ते तुमने नवाबी खत्म की। लोगों को आम जलसे करने और कौमी नारे मारने से रोका। लड़कों को अपनी मुल्की माल की तरफ़ मुतवज्जह देखकर तुमने उनको जेल भिजवाया, स्कूलों से निकलवाया और पिटवाया। तुम्हारे इलाके बरीसाल में तुम्हारे मातहतों ने इस मुल्क की

१—बालमुकुन्द गुप्त, चिट्ठे और खत, शाइस्ता खाँ का खत पृ० ५४–५५।

2—"Is an invocation to Goddess Kali for Vengence."

—सुरेन्द्र नाथ बनर्जी, ए नेशन इन मेंकिंग, पृ० २०५।

रिआया के सबसे आला इज्जतदार और तालीमयाफ्ता अशखास को बेइज्जत करने की निहायत खफीफ हरकत की।"[1]

इस प्रकार दमन पर कमर कसा हुआ पूर्वी बंगाल का गवर्नर, फुलर अपने उद्देश्य में सफल न हुआ और आंदोलन उग्रतम होता ही गया; तब दूसरी नीति अपनाई गई। यह नीति भेद-भाव-उत्पादक साम्प्रदायिकता वादी नीति थी। हिन्दू-मुस्लिम झगड़े कराने की आयोजना बनाई गई, दोनों जातियों को आपस में लड़ा कर स्थिति से लाभ उठाने की योजना तैयार हुई। इस कार्य के लिये ढाका के नवाब को १,००,००० रुपया दिया गया; मुसलमानों को अधिकांशत: नौकरी दीं गई। मुसलमान मौलवियों द्वारा प्रचार कराया गया था कि हिन्दुओं को लूटने, कत्ल करने और स्त्रियों को भ्रष्ट करने पर मुसलमानों को रोका न जायगा। श्रीमजूमदार का मत है—"हिन्दुओं के साथ हिंसात्मक कार्यों के लिये, उनकी दुकानें लूटने के लिये तथा हिन्दू स्त्रियों के अपहरण करने के लिये किसी भी प्रकार का दंड नहीं दिया जायगा। इस प्रकार के पाशविक सिद्धान्तों से भरे पर्चे प्रत्येक स्थान पर वितरित किए गए थे।"[2]

इस अमानवीय कृत्य, क्रूरता और बर्बरता का दुष्परिणाम श्री मजूमदार ने दिखाया है। उनके विचार से—"कामिला, जमालपुर और ढाका में लगातार तीन दिन और रात तक मुसलमान साम्प्रदायिओं ने शासन किया और इच्छा-नुसार मारवाड़ी जौहरियों को लूटा।"[3] इसी के समर्थन में एक अँग्रेज मजिस्ट्रेट ने एक अपहरण के मामले में फैसला देते हुए लिखा था—"ये बलात्कार इस घोषणा की प्रतिक्रिया मात्र थे कि सरकार ने मुसलमानों को हिन्दू विधवाओं के साथ निकाह रूप में शादी करने की आज्ञा प्रदान करदी है।"[4]

१—बालमुकुन्द गुप्त, चिट्ठे और खत, शाइस्ता खाँ का ख़त, पृ० ५५।

2—"No penality would be exacted for violence done to Hindus or to the loot of Hindus shops or for the abduction of Hindu widows. A red pamphlet was every where circulated maintaining the same wild doctrine."

—अम्बिकाचरन मजूमदार, इण्डियन नेशनल इवोलूशन, पृ० २३५।

३— वही पृ० २०४।

4—"The outrages were due to an announcement that the government had permitted the Mohammdans to marry Hindu widows in Nika form."

—अम्बिकाचरन मजूमदार, इण्डियन नेशनल इवोलूशन, पृ० २३५।

इन ऐतिहासिक उद्धरणों से स्पष्ट है कि फुलर के शासन ने किस प्रकार भेद-नीति द्वारा पूर्वी बंगाल के राष्ट्रीय आंदोलन को नष्ट करने की कुचेष्टाएँ कीं थीं। और उसने अपनी धमकी के अनुसार बंगालियों को ५०० वर्ष पूर्व की अवस्था में लाने का प्रयास किया था। तात्पर्य यह है कि उसने अपने अत्याचारों द्वारा शाइस्ता खाँ का युग लाना चाहा था, पर हुआ क्या ? उसी का उल्लेख गुप्त जी ने इस प्रकार किया है—"वह भारत वासियों को ५०० वर्ष पीछे नहीं फेंक सकें, न शाइस्ता खां का समय ही ला सके। बंगालियों का एक घटा नहीं और बढ़ गया। उनकी शिक्षा का द्वार बन्द न हुआ, और खुल गया। मि० फुलर ने हिन्दू मुसलमानों को लड़ाकर हिन्दुओं के कुछ पद मुसलमानों को देकर हिन्दुओं को गिराना और मुसलमानों को बढ़ाना चाहा, पर इससे न हिन्दू गिरे और न मुसलमान बढ़े जो लोग बढ़ेंगे वह शिक्षा से बढ़ेंगे, उत्साह से बढ़ेंगे।"[1] यह था समस्या का यथार्थ समाधान। उत्साह और शिक्षा प्रसार स्वाधीनता के प्रथम दो सोपान थे, यह बताना ही गुप्त का प्रथम उद्देश्य था।

शाइस्ता खाँ के शासन को अपने शासन के समान समझने की भ्रान्ति पर गुप्त जी ने फुलर साहब की शाइस्ता खाँ द्वारा अच्छी भर्त्सना करते हुये लिखा है—"तुम लोगों ने जो महसूल इस मुल्क पर लगाये हैं, वह क्या कभी इस मुल्क की खाने पीने की चीजों को सस्ता होने देंगे ? तुम्हारा नमक का महसूल जजिये से किस बात में कम है ? भाई फुलर जंग ! कितने इलजाम चाहे मुझ पर हों, एक बार मैंने इस मुल्क की रैयत को जरूर खुश किया था। मगर तुमने हुकूमत की बाग लेते ही गुरखों को अपने बहये पर मुकर्रर किया। बच्चों के मुँह से 'बन्देमातरम्' सुन कर तुम आपे से बाहर होते हो, इतने पर भी तुम मेरी या किसी दूसरे नबाव की हुकूमत से अपनी हुकूमत को अच्छा समझते हो।"[2] असम्भव कार्य को सम्भव कर देने की चेष्टा करने वाले फुलर साहब को उनकी वास्तविकता समझाते हुए गुप्त जी ने शाइस्ता खाँ द्वारा कहलाया था—"देखो भाई ! जो गुजर गया है उसे कोई लौटा नहीं सकता। बहकर दूर निकल गया हुआ नदी का पानी क्या कभी फिर लौटा है ? पाँच

१—भारतमित्र, मिस्टर फुलर चले, इस लेख की प्रकाशन तिथि ज्ञात नहीं हो सकी।

२—बालमुकुन्द गुप्त—चिट्ठे और खत, शाइस्ता खाँ का खत, पृ० ४९–५०।

सौ बरस का या मेरा दो सवा दो सौ साल का जमाना फिर लौटा लेना तो बहुत बड़ी बात है, तुम अपनी नबाबी के बीते हुए दस महिने लौटाने की ताकत नहीं रखते।—जरा पाँच सौ साल पहले की अपने मुल्क की तारीख पर निगाह डालो। उस वक्त तुम्हारी कौम क्या थी? अगर तुम किसी तरह उस जमाने तक पहुँच जाओ तो अपनी शक्ल पहचान न सकोगे। दुनिया तारीक दिखाई देने लगे और तुम खौफ से आँखें बन्द कर लो। दुनियाँ में तुम्हें कोई अपना मातहत मुल्क नजर न आये, बल्कि अपने ही मुल्क में अपने को बेगाना समझना पड़े।"[1]

फुलर की जन-विरोधी सरकार का जनता ने भी डट कर विरोध किया था। बंगाली, अंग्रेजी तथा हिन्दी के पत्र दृढ़ता पूर्वक विरोध कर रहे थे; उसकी सम्प्रदायिकतावादी नीति के कारण उत्पन्न हुए कुछ मामलों को हाई कोर्ट तक पहुँचाया गया, जिनके निर्णय का प्रभाव फुलर के व्यक्तित्व और सिद्धान्त पर कलंक-कालिमा पोतने वाला था। उसकी सगर्व मान्यता थी कि हाई कोर्ट उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकता। इस कथन की प्रतिक्रिया गुप्त जी के हृदय पर इस प्रकार हुई थी—"तुमने बड़ी शेखी से कहा था कि हाई कोर्ट मेरा कुछ नहीं कर सकती, पार्लियामेण्ट मेरे हुक्म को रोक नहीं सकती। मगर दोनों बातें गलत साबित हुईं। हाई-कोर्ट से तो तुमने मलामत सुनी ही पार्लियामेन्ट से भी वह सुनी कि सारी नबाबी भूल गये।"[2]

फुलर की शासन-सम्बन्धी असावधानी और अयोग्यता की ओर भी गुप्त जी ने संकेत किया था—"तुम्हारी होशियारी और लियाकत का इसी से पता लगता है कि तुम्हारे अफसर का हुक्म पहुँचने के पहले तुम्हारे सूबे में एक बन्दये खुदा को बेवक्त फाँसी होगई।"[3] बात यह थी कि वायसराय की आज्ञा की बिना प्रतीक्षा किए ही फुलर साहब की असावधानी से उसकी सरकार ने उदयपाटी को फाँसी दे दी थी। पीछे से उसकी मुक्ति का आदेश मि० फुलर को मिला था। स्वयं मार्ली साहब ने इस असावधानी और अनियमता के लिए पार्लियामेण्ट में फुलर की निन्दा की थी।

लार्ड कर्जन और फुलर के इस घोर प्रतिक्रियावादी और निरंकुश शासन का प्रभाव भारत के स्वतन्त्रता-आन्दोलन और भारत में अंग्रेजी राज्य पर

१—बालमुकुन्द गुप्त—चिट्ठे और खत, शाइस्ता खाँ का खत, पृ० ५४।
२— वही पृ० ५५।
३— वही वही।

क्या पड़ा ? उसका स्पष्ट एवं निर्भीक सिंहावलोकन इन पंक्तियों से हो जाता है—"डेढ़ सौ वर्ष के शासन में अंग्रेजों ने अपना जो कुछ विश्वास इस देश की प्रजा के हृदय पर जमाया था वह फुलर साहब के प्रभु और गुरु लार्ड कर्जन की पिछले दिन की हुकूमत ने धो बहाया। खैर इससे एक बात की परीक्षा हो गई कि हीन से हीन प्रजा भी यदि दृढ़ता से एक होकर काम करे तो चाहे कैसा ही कड़ा हाकिम क्यों न हो उसे पीस नहीं सकता और हाकिमों की जबरदस्ती अब नहीं चल सकती। अच्छे हाकिम प्रजा पर अच्छा असर डाल सकते हैं, पर जो जबरदस्ती करते हैं; उन्हें अन्त में खुद बिस्तर बाँधना पड़ता है।"[१] गुप्त जी के ये शब्द त्रस्त भारतीय जनता में दृढ़ आत्म-विश्वास, उत्कट देश-भक्ति तथा स्वतन्त्रता-प्राप्ति की अभिनव आकांक्षा उत्पन्न करने वाले हैं। पीछे उल्लेख किया जा चुका है कि बंगाल के स्वदेशी आन्दोलन का दमन करने के लिए अंग्रेजी सरकार ने हिन्दू-मुसलमानों को लड़ाने की नीति अपनाई थी। केवल फुलर साहब ही नहीं, उदारतावादी मि० मार्ली भी दोनों जातियों को विद्वेष के मार्ग पर ले जाकर अंग्रेजी शासन को दृढ़ बनाने की योजना बनाए हुए थे। स्वदेशी आन्दोलन का समर्थन करते हुए गुप्त जी ने साम्राज्य-रक्षा में अन्ध अंग्रेज शासकों के कार्य पर प्रकाश डाला है—"सब देशों के लिए स्वदेशी माल का पक्षपाती होना स्वाभाविक है। पर बंगाल के शासकों से वह न सहा गया। उसके मिटाने की चेष्टा करने लगे। फुलर साहब ने अपनी पूर्व बंगाल की नई लफ्टन्ट गवर्नरी के कई मास स्वदेशी अन्दोलन को दबाने में खोये। उनके बाद हेयर साहब ने बंगाल में वह दिन ला दिया कि मुसलमान लाठियाँ लेकर हिन्दुओं के घरों को लूटते जलाते हैं और देवताओं की मूर्तियाँ तोड़ते हैं। तिस पर भारत सचिव मार्ली साहब फरमाते हैं कि हिन्दुओं ने मुसलमानों पर विलायती माल को रोकने की इतनी कड़ाई की कि वह बिगड़ कर हिन्दुओं से लड़ बैठे।"[२] इन पंक्तियों से ज्ञात होता है कि निरंकुश शासक अपनी सुरक्षा के लिए किस प्रकार सत्य पर पर्दा डालते हैं और कितने अमानवीय कार्य करते हैं।

शाइस्ता खाँ के ये पत्र गुप्त जी की सजीव कल्पना और शैली के सुन्दर निदर्शन हैं। इन खतों में एक ओर तो बंगाल के राष्ट्रीय आन्दोलन की

१—भारत मित्र, मि० फुलर चले, तिथि तथा पृ० अज्ञात है।

२—भारत मित्र, राजभक्ति, सन् १९०७ ई०।

झाँकियाँ प्रस्तुत की गई हैं, दूसरी ओर अँग्रेजी सरकार द्वारा हिन्दू-मुसलमानों को लड़ाने वाली नीति को अनावृत्त किया गया है। यही नहीं, इन खतों के अध्ययन से एक ओर तो जहाँ अँग्रेजी सरकार के अत्याचार तथा शोषणकारी कार्यों का इतिहास मिलता है, तो दूसरी ओर सब कुछ सहकर देश को स्वतन्त्र कर देने का अभूतपूर्व साहस और प्रबल प्रेरणा मिलती है। यथार्थ में, गुप्त जी के ये चिट्ठे और खत सत्य और सुन्दर की भावना से युक्त होते हुए भी शिवत्व की ओर अधिक अनुप्रेरित करने वाले हैं।

मिन्टो सम्बन्धी रचनाएँ—

सेना में सप्लाई-मेम्बर के पद पर अपना व्यक्ति नियुक्त हुआ न देखकर असंतोष और क्षोभ के कारण लार्ड कर्जन ने त्याग पत्र दे दिया था। उसके स्वीकृत हो जाने पर वह इंगलैंड वापिस जा चुका था और उनका स्थान लार्ड मिन्टो ग्रहण कर चुके थे। आप नवम्बर सन् १९०५ में भारत पधारे। उस समय भारतीय जनता उनके पूर्ववर्ती शासक के अत्याचारों से दुखित थी, अतः नवीन शासक पाकर वह इस आशा में फूली न समा सकी कि नवीन शासक उसके दुखों का परिहार कर देगा। विशेषतः मिन्टो से भारतीयों को यह आशा अवश्य थी। उनकी नियुक्ति जनता के लिये डूबते को तिनके का सहारा थी। अत्याचारों से प्रताड़ित जनता का ऐसा सोचना प्रायः स्वाभाविक ही था। आशा मृत्यु शैय्या तक बनी ही रहती है। भारतीय सोचे बैठे थे कि सौ साल पूर्व के शासक प्रथम मिन्टो की भाँति मिन्टो द्वितीय भी उदार और प्रजा-भक्त होंगे। उनकी भाँति प्रजा हितैषी नीति का अनुगमन करके मिन्टो द्वितीय भी भारतीय जनता के घावों को सहृदयता से भर देंगे और भारतीय भी इनका सुशासन पाकर प्राचीन अपमान, अत्याचार और शोषण की अप्रिय गाथाएँ भूल जाएगें। इंगलैंड के लिवरल दल के प्रतिनिधि से भारतीयों को इस प्रकार आशा करना सर्वथैव उचित था।

जनता के इस विश्वास और विचार को लार्ड मिन्टो तक पहुँचाने के उद्देश्य से गुप्त जी ने यह चिट्ठा, 'लार्ड मिन्टो का स्वागत'[१] नाम से लिखा था। इस चिट्ठे में लार्ड मिन्टो को एक उत्तम शासक बनने का परामर्श, भारतीय वातावरण से परिचित कराने का प्रयास, तथा उनके विषय में भारतीयों की विचार-धारा को प्रकट करने का प्रयत्न किया है। मिन्टो के

१—भारत मित्र, २३ सितम्बर सन् १९०५ ई०।

कार्यों का पर्यवेक्षण करते हुए भारतीय-समाज के यथार्थ चित्र भी यत्र-तत्र कुशलता पूर्वक अंकित किए गए हैं।

लार्ड मिन्टों के आगमन पर उनके स्वागतार्थ जनता का अभिनन्दन पत्र गुप्त जी ने इन शब्दों में प्रस्तुत किया था—"मैं इस देश की मिट्टी से उत्पन्न होने वाला—मिल जाय तो कुछ भोजन करने वाला—जवानी बिताकर बुढ़ापे की ओर फुर्ती से कदम बढ़ाने वाला—शिवशम्भु शर्मा इस देश की प्रजा का अभिनन्दन पत्र लेकर श्रीमान की सेवा में उपस्थित हुआ हूँ।"[१] लेखक ने दो पंक्तियों में ही बता दिया है कि इस अभागे देश की अधिकाँश जनता शिवशम्भु की भाँति भूखी रहकर जबानी बिताती हुई वृद्धावस्था की ओर प्रधावित है। ऐसी जनता का शासन भार अब मिन्टो साहब पर है। अतः सौ साल पहले 'वैरन अर्ल आफ मिन्टो' प्रथम के अच्छे और उदार शासन का स्मरण दिला कर गुप्त जी मिन्टो द्वितीय से भी प्रजापालक बनने का स्नेहाग्रह करते हैं—"सौ साल पहले लार्ड मिन्टो बड़े प्रजा पालक थे। प्रजा को प्रसन्न रखकर शासन करना चाहते थे। यह कहकर वह (जनता) श्रीमान् से भी अच्छे शासन और प्रजा-रंजन की आशा जनाते हैं।"[२] प्रजा के कष्टों को देखकर गुप्त जी का हृदय काँप उठा था, अतः आपने लार्ड मिण्टो का स्वागत अच्छा और उदार शासक कहकर किया था। इसके पीछे निहित भावना को अधिक स्पष्ट करते हुए आपने लिखा था—"लोग जिस ढंग से श्रीमान की बड़ाई करते हैं वह एक शिष्टाचार की रीति पूरी कर रहे हैं; आपकी असली बड़ाई का मौका अभी नहीं आया।"[३] लेखक का आशय है कि उस अवसर की प्राप्ति उसी अवस्था में सम्भव है जब मिन्टो सच्चे हृदय से भारत का हित प्रतिपादन करेंगे, भारतीयों के दुःख का निवारण करेंगे, और पूर्ववर्ती शासक की दुर्नीति से उत्पन्न घावों को प्रेम और सहानुभूति के मरहम से भर देंगे। साथ ही यह भी सूचित कर दिया गया था—"वह मौका आपके हाथ में विलक्षण रूप से है।"[४] गुप्त जी ने यह भी डंके की चोट कह दिया कि उचित न्याय और सुशासन की कामना से भारतीय दौड़कर आपके द्वार पर जाते हैं, आपके किसी गुण पर मोहित होकर नहीं।

१—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, लार्ड मिन्टो का स्वागत, पृ० २२२।
२— वही पृ० २२३।
३— वही पृ० वही।
४— वही पृ० वही।

लार्ड मिन्टो को कर्त्तव्योचित परामर्श देते हुए गुप्त जी ने भारतीय चाटुकार एवं छद्मवेशी प्रशंसकों से भी सावधान कर दिया था, क्योंकि ये लोग बड़े-बड़े रईस और राजे अंग्रेज शासकों की झूठी प्रशंसा करके उन्हें कर्तव्य-परांगमुख बनाते थे और जनता के हित में व्यवधान समुपस्थित करते थे। जन-विरोधी इन साम्राज्यवादी तत्वों का मजाक उड़ाते हुए आपने यथार्थ अवस्था को मिन्टो के सम्मुख इस प्रकार प्रस्तुत किया था—"इस देश में पदार्पण करने के बाद जहाँ आपको जरा भी खड़ा होना पड़ा है, वहीं उन लोगों से घिरे हुए रहे······अब भी श्रीमान चारों ओर से उन्हीं लोगों के घेरे में हैं।"[1]

ऐसे लोग उनकी लम्बी चौड़ी अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा करते ही जाते थे, चाहे शासक प्रजा-पालक एवं देश हितैषी हो अथवा नहीं ? लार्ड कर्ज़न को भी दोनों बार आते जाते समय इस प्रकार के प्रशंसा-पत्र अर्पित किए गए थे। ऐसे चाटुकारों से शासक को परिचित करा देना जनता के वकील का प्रथम कर्त्तव्य था। उसी का परिपालन करते हुए आगे गुप्त जी ने लिखा था—"प्रशंसा करने वाले अब और चलते समय बराबर आपको घेरे रहेंगे। आप देखते ही रहे हैं कि कैसे सुन्दर कासकेटो में रखकर, लम्बी चौड़ी प्रशंसा भरे एड्रेस लेकर लोग आपकी सेवा में उपस्थित होते हैं। श्रीमान् उन्हें बुलाते भी नहीं, किसी भी प्रकार की आशा भी नहीं दिलाते, पर वे आते हैं। इसी प्रकार हुज़ूर जब इस देश को छोड़ जायँगे तो हुज़ूर वाला को बहुत से एड्रेस उन लोगों से मिलेंगे, जिनका हुज़ूर ने कभी कुछ भला नहीं किया। बहुत लोग हुज़ूर की मूर्ति को खनाखन रुपये गिन देंगे।"[2] इन पंक्तियों में शासन के चाटुकार भारतीयों की मनोवृत्ति पर तीव्र प्रहार किया गया है।

इन चाटुकारों की झूठी प्रशंसा पाकर बहुधा वायसरायों को 'फौल्स प्रेस्टीज' का अभिमान हो जाता था जो प्रायः उनके और जनता के बीच विरोध की खाई के रूप में प्रकट होता था। कहीं मिन्टो साहब भी इस 'फौल्सप्रेस्टीज' के शिकार न बन बैठें इसी से गुप्त जी ने एक शरीर लड़के और विमाता का लतीफा देकर उन्हें सचेत किया था और कर्त्तव्योन्मुख करने की चेष्टा की थी—"प्रजा और प्रेस्टीज दो खयालों में श्रीमान् फंसे हैं। प्रजा ताक का बालक है और प्रेस्टीज नवीन सुन्दर पत्नी—किसकी बात रखेंगे। यदि दया

१—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, लार्ड मिन्टो का स्वागत, पृ० २२४।
२— वही पृ० २२७।

और वात्सल्य भाव श्रीमान् के हृदय में प्रबल हो तो प्रजा की ओर ध्यान होगा, नहीं तो प्रेस्ट्रीज की ओर ढुलकना ही स्वाभाविक है।"[१] प्रजा उनसे क्या चाहती है, इसको भी उन्होंने स्पष्ट कर दिया था—"इस बालक की सी दशा इस समय इस देश की प्रजा की है। श्रीमान् से वह इस समय ताक से उतार लेने की प्रार्थना करती है, रोटी नहीं माँगती। जो अत्याचार उस पर श्रीमान् के पधारने के कुछ दिन पहले आरम्भ हुआ था, उसे दूर करने के लिये गिड़गिड़ाती है, रोटी नहीं माँगती।"[२]

गुप्त जी ने कभी मिन्टो साहब से अनुचित कार्य करने का अनुरोध नहीं किया। वे सदैव प्रजा-पालन और देश-उद्धार के लिये उनसे प्रार्थना करते रहे। भारतेन्दु जी ने इस परम्परा को पहले से ही स्थापित कर दिया था। उन्होंने भी प्रिंस-आफ-वेल्स के भारतागमन पर न्याय और सुशासन का अनुरोध किया था। इस परम्परा का सम्यक् पालन करते हुए गुप्त जी ने लार्ड मिन्टो को प्रजा-हितैषिता तथा प्रेस्ट्रीज्ञ दोनों को बनाए रखने का मार्ग बताया था—"यह भी हो सकता है कि उसकी विमाता को प्रसन्न कर उतरवा लिया जाय, उसमें प्रजा और प्रेस्ट्रीज दोनों की रक्षा है।"[३] गुप्त जी ने इस प्रकार वायसराय को भारत की दशा से अवगत कराके देश को लाभान्वित कराने की अथक चेष्टाएँ कीं थीं।

लार्ड मिन्टो के विषय में लिखा गया गुप्त जी का दूसरा पत्र 'आशीर्वाद' है।[४] इस चिट्ठे में गुप्त जी का रूप अपेक्षाकृत अधिक प्रगतिशील और क्रान्तिकारी रहा है। भारतीयों को लार्ड मिन्टो तथा उनके उदारतावादी दल से अनेक आशाएं थीं। उनकी धारणा थी कि इंगलैंड का उदार दल बंग-विच्छेद की अप्रिय घटना को सुधार देगा, दमन और उत्पीड़न से त्रसित भारतीयों के साथ सहानुभूति पूर्ण तथा मानवीय व्यवहार करेगा, किंतु ये सभी आशाएँ प्रातः कालीन तारा गणों के समान विलीन ही गईं। लार्ड मिन्टो भी प्रतिक्रियावादी लार्ड कर्जन और कठोरतावादी लार्ड लिटन तथा फुलर की नीति के अनुयायी रहे। उनका उदार रूप भारतीय न देख पाए थे। मिन्टो की नीति भी साम्राज्य पोषक रही, भारतीय उससे लाभान्वित

१—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, लार्ड मिन्टो का स्वागत, पृ० २२६।
२— वही पृ० २२५।
३— वही पृ० २२६।
४—भारत मित्र, ३० मार्च सन् १९०७ ई०।

न हो सके। पंजाब तथा बंगाल की घटनाओं और उनके लिए मिन्टो तथा उदारतावादी लार्ड मार्ली द्वारा अपनाई गई नीति से यह स्पष्ट हो गया था कि भारतीय शांतिपूर्ण साधनों द्वारा स्वाधीनता लाभ नहीं कर सकते, अतः आंदोलन द्वारा जेलें भर देने की नीति उस समय प्रभावशाली समझी गई थी। गुप्त जी ने इस चिट्ठे में अँग्रेज सरकार की नीति का भंडा-फोड़ करते हुए देशवासियों से जेलें भर देने का अनुरोध किया था। 'पंजाबी' पत्र के स्वामी और सम्पादक—सम्पादक अथावले, तिलक और सुरेन्द्रनाथ बनर्जी की जेल-यात्रा का स्वागत और समर्थन करते हुए गुप्त जी ने देशवासियों के सम्मुख रचनात्मक योजना प्रस्तुत की थी। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत चिट्ठे में शासक तथा शासितों की अवस्था का वैषम्य बड़ी उत्कृष्टता के साथ अंकित किया है। साम्राज्यवादी मनोवृत्ति तथा निरंकुश शासन के अभावों का चित्रण और भारतीय पराभव के दृश्य भी बड़ी कुशलता के साथ अंकित किए गए हैं। उच्चकोटि की काल्पनिक घटनाओं का आयोजन करके गुप्त जी ने भारतीयों की दुर्दशा और लार्ड मिन्टो की वास्तविकता की अभिव्यंजना की है। काल्पनिक घटना—नियोजन द्वारा गुप्त जी यह भाव स्पष्ट करने में सफल हुए हैं कि लार्ड मिन्टो को जितनी चिंता ब्रिटिश साम्राज्य रक्षा तथा अँग्रेज अफसरों की कीर्त्ति कौमुदी प्रसारित करने की है, उतनी भारतीय जनता के कष्ट निवारण की नहीं।

चिट्ठे के प्रारम्भ में कितनी ही घटनाओं का सृजन बड़े कौशल के साथ किया गया है। ये घटनायें देश की सामाजिक अवस्था का चित्र उपस्थित करती हैं। घटनाओं के इस आयोजन से कथन की प्रभावोत्पादकता बहुत बढ़ गई है। साथ ही व्यंग्य की तीव्र अभिव्यंजना हुई है। अन्ततः दीन दुखियों के साथ लेखक की गहन सहानुभूति है। एक साथ कई घटनायें होती हैं—शिवशम्भु अपने सिल बट्टे पर भंग रगड़ते हैं, उधर बादल छा जाते हैं, चीलें उड़तीं हैं, वर्षा और ओले पड़ते हैं, वह बम्ब बोलते हैं कि उधर लार्ड मिन्टो लाल डिग्गी पर बंगाल के गवर्नर की मूर्ति का उद्घाटन करते हैं। लार्ड मिन्टो तो ओलों और वर्षा में अपनी कोठी में घुस जाते हैं। शिवशम्भु अपनी चारपाई पर लम्बायमान होते हैं, पर उन्हें चीलों और वर्षा से प्रताड़ित पक्षियों तथा कलकत्ते के सहस्रों बे-घर-बार मनुष्यों की फिक्र हो आती है जिसकी ओर मिन्टो साहब का ध्यान कभी आकर्षित न हो सका। वे तो अपने भवन में चले जाते हैं, किन्तु शिवशम्भु वर्षा से प्रताड़ित प्राणी समाज के लिए चिंतित हैं, उसकी सहानुभूति अभूतपूर्व है—"हाँ शिवशम्भु को इन पक्षियों की चिंता है, पर यह

नहीं जानता कि इस अभ्रभेदी अट्टालिकाओं से परिपूरित महा नगर में सहस्त्रों अभागे रात बिताने को झोंपड़ी भी नहीं रखते।"[1] गुप्त जी आर्थिक वैषम्य से घृणा, धन के न्यायोचित वितरण में विश्वास और मानवीय गुणों के पोषक थे। उनका विश्वास था कि आवश्यकता वाला व्यक्ति किसी की फालतू वस्तु का उपभोग करले तो समाज के लिए हित ही है, पर धन के ठेकेदार ऐसा करने नहीं देते। इस भाव को लेकर आपने कलकत्ता की जनता के दुर्दशाग्रस्त चित्र उपस्थित किए थे और शासकों का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया था।

भारतवासियों की इस करुणोत्पादक परिस्थिति के उत्पादक तत्वों पर भी गुप्त जी ने प्रकाश डाला था और उन पर निर्भीकता पूर्वक प्रहार किये थे। यही नहीं, भारतीय जनता के वर्तमान आर्थिक वैषम्य की आधार-मूला पराधीनता को निर्मूल करने के लिए भी जनता को प्रोत्साहित किया था। देश हितार्थ जेल जाने वाले नेताओं का समर्थन और जेल-यात्रा को कृष्ण-मन्दिर तथा तीर्थराज बताकर उन्होंने जनता को अपनी शक्ति पर निर्भर रहने का संदेश दिया था। आपने लिखा था—"पंजाब के स्वामी लाला यशवंतराय ने जेल में जाकर जेल की प्रतिष्ठा बढ़ाई, भारतवासियों का सिर ऊँचा किया—उधर एडीटर अथावले ने स्थानीय ब्राह्मणों का मस्तक ऊँचा किया जो उनके गुरु तिलक को अपने मस्तक का तिलक समझते हैं। सुरेन्द्रनाथ ने बंगाल की जेल का और तिलक ने बम्बई की जेल का मान बढ़ाया।—लाहौरी जेल की भूमि पवित्र हुई। उसकी धूल देश के शुभचिन्तकों के आँख का अंजन हुई। जिन्हें इस देश से प्रेम है, वे इन दो युवकों की स्वाधीनता और साधुता पर अभिमान कर सकते हैं।"[2]

जेल की प्रशंसा और गौरव का गान करते हुए उन्होंने लिखा था—"वह कारागार भारत संतान के लिये तीर्थ हुआ। वहाँ की धूल मस्तक पर चढ़ाने योग्य हुई।"[3] गुप्त जी की मान्यता थी कि जो जेलें चोर, डकैतों, दुष्ट, हत्यारे तथा दोषी लोगों के लिए बनी थी जब उनमें साधु, सुशिक्षित, देशभक्त, स्वदेश-प्रेमी, समाज तथा जाति-उन्नायकों के चरण पड़ने लगे, तो वे पवित्र हो गईं। वह कारागृह न रह कर कृष्ण-मन्दिर बन गया। जेल-यात्रा की यह महत्ता बाद में सन् ३२-३३ में असहयोग आन्दोलन तथा ४२ के 'भारत छोड़ो'

१—गुप्त निबंधावली: प्रथम भाग, पृ० २३४।

२— वही , आशीर्वाद, पृ० २३७।

३— वही , पृ० २३६।

आन्दोलन के समय स्वीकार की गई थी। गुप्त जी ने १९०७ में ही जेल को तीर्थराज घोषित करके भारतीयों की दृष्टि में उसका महत्व प्रतिपादित किया था। इस प्रकार गुप्त जी राष्ट्रीय आंदोलन के साहित्यिक नेता बन गए थे। देश वासियों से जेलें भर देने का आग्रह करते हुए आपने लिखा था—"—सब भारतवासी शोक सन्ताप भूल कर प्रार्थना के लिये हाथ उठावें कि शीघ्र वह दिन आवे कि जब एक भी भारतवासी चोरी, डकैती, दुष्टता, व्यभिचार, हत्या, लूट खसोट, जाल आदि दोषों के लिये जेल न जाँय, जाँय तो देश और जाति की प्रीति और शुभ चिन्ता के लिये। दोनों ओर, पद दलित निर्बलों को सबलों के अत्याचार से बचाने के लिये। हाकिमों को उनकी भूलों और हार्दिक दुर्बलता से सावधान करने के लिये और सरकार को सुमन्त्रणा देने के लिये।"[1] गुप्त जी की यह महत्वाकांक्षा थी जिसे वह भारतीयों द्वारा पूर्ण हुआ देखना चाहते थे।

देशभक्त गुप्त जी का यह आह्वान निष्फल न गया। सहस्त्रों ही राष्ट्रभक्ति की पावन अग्नि में कूद पड़े। उन शहीदों का स्वागत और अभिनन्दन गुप्त जी ने इन शब्दों में किया था—"जिन हथकड़ियों से हमारे निर्दोष देश बान्धवों के हाथ बँधे, उन्हें हेम मय आभूषण समझना चाहिए।"[2]

निर्बल जनता को सबल शासकों के शोषण से मुक्त कराने के उद्देश्य से जेल-यात्रा करने के लिये आत्मिकशक्ति का आह्वान करते हुए चिट्ठे के अन्त में लिखा था—"सब प्रकार के दोषों से बचकर न्याय के लिये जेल काटने की शक्ति दे, जिससे कि हम समझें कि भारत हमारा है और हम भारत के हैं—रहें इसी देश में, चाहे जेल में चाहे घर में। जब तक जियें जियें और जब प्राण निकल जाँय तो यहीं की पवित्र मिट्टी में मिल जाँय।"[3] यह गुप्त जी की महत्वाकाँक्षा थी और यह ही भारतवासियों के लिए अमर संदेश था।

गुप्त जी ने एक चिट्ठा 'मि० मार्ली के नाम'[4] भी लिखा था। इस चिट्ठे में मार्ली साहब की नीति और कार्यों पर सुन्दर प्रकाश डाला गया है तथा भारतीयों की भ्रान्ति का निवारण करके उनके सम्मुख सुख और स्वतन्त्रता प्राप्ति का आदर्श रखा गया है। मार्ली जैसे विद्वान, दार्शनिक, उदारतावादी,

---

१—गुप्त निबंधावली, प्रथम भाग, आशीर्वाद, पृ० २३७।

२— वही पृ० २३८।

३— वही पृ० वही।

४—भारत मित्र, १६ फरवरी, सन् १९०७ ई०।

न्याय प्रिय और साधु स्वभाव व्यक्ति को भारत सचिव के पद पर नियुक्त हुआ सुनकर भारतीय परम हर्षित हुए थे। उन्हें आशा हुई कि पुनः भारतीयों के शुष्क जीवन में रस का संचार होगा और उनके दिन फिरेंगे। मि० मार्ली बुराई का उन्मूलन, सत्य का अन्वेषण, दोषी को दंडित और निर्दोष को मुक्त करेंगे, उचित और वांछित कदम उठाने में अग्रसर और अन्याय एवं अनाचारपूर्ण कार्य करने में संकुचित होंगे, राजनीतिक असत्य एवं दाव-पेच उनके सत्यानुगमन में बाधक न बनेगा, उनकी भाषा में सत्य का अन्वेषण और भाषणों में यथार्थ का प्रस्फुटन होगा, भूल एवं त्रुटि के कारण किए गए अवांछित एवं अनौचित्य पूर्ण कार्यों में सुधार करेंगे तथा पूर्ववर्ती शासक की हठ एवं अदूरदर्शिता के कारण हुए बंग-विच्छेद में पुनःसुधार करेंगे। साथ ही कर्ज़न और मि० फुलर के शासन के दुराचारों को स्वयं-सम्पन्न प्रजा-हितैषी कार्यों द्वारा भुला देंगे। पर हुआ सब भारतीयों की आशा के प्रतिकूल। बस इनके कार्यों की प्रतिक्रिया स्वरूप उत्पन्न हुई विचार-धारा की अभिव्यक्ति इस पत्र में है।

भारत मन्त्री नियुक्त होने पर ही मार्ली साहब ने अपने प्रथम वक्तव्य में ही बंग विच्छेद को अनुचित और प्रजा वर्ग की इच्छा के विरुद्ध हुआ बतलाया था। किन्तु उसे निश्चित विषय कहकर बुराई का समर्थन किया, निरसन नहीं। इसी का प्रतिवाद गुप्त जी ने इस प्रकार किया था—"आपने कहा कि बंग-भंग होना बहुत खराब काम है, क्योंकि यह अधिकांश प्रजा वर्ग की इच्छा के विरुद्ध हुआ। पर जो हो गया उसे Settled fact, निश्चित विषय समझना चाहिये। एक विद्वान पुरुष दार्शनिक सज्जन की यह उक्ति कि यह काम यद्यपि खराब हुआ, तथापि अब यही अटल रहेगा। इसकी खराबी अब दूर न होगी। किमाचर्य्यमतः परम।"[१]

बंग-भंग के प्रश्न पर गुप्त जी का विरोध गोखले से भी अधिक था। गोखले ने बड़े नम्र शब्दों में धारा-सभा में कहा था—'माई लार्ड बंगाल को शान्त कीजिए' किन्तु गुप्त जी का विरोध रचनात्मक था। उन्होंने सारे देश की जनता को संगठित होकर जेलें भर देने का परामर्श दिया था। वे हिन्दी-भाषी जनता के प्रतिनिधि स्वरूप राष्ट्रीय आंन्दोलन को सशक्त बना रहे थे। उदारतावादी अंग्रेजों की चालों का परम कौशल के साथ आपने अनावरण किया था। गधी को गधा बताने वाले ऐक देहाती की मिसाल देकर बंग-विच्छेद को निश्चित-विषय कहने वाले मार्ली के छद्म-वेष की कलई भी

१—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, मार्ली साहब के नाम, पृ० २२९-३०।

उन्होंने खोल दी थी। बंग-भंग के प्रश्न पर तत्कालीन भारत मन्त्री मि० ब्रेड्रिक से डेली न्यूज ऑाॅव लन्दन ने भी इस कार्य को रोक देने की प्रार्थना की थी।[१] किन्तु उदारतावादी मि० मार्ली तथा मिन्टो भी इस कार्य को न कर सके। गुप्त जी ने उस समय मार्ली साहब की यथार्थ नीति और साम्राज्यवादी कूटनीतिज्ञता को अनावृत करने के उद्देश्य से 'मार्ली की स्पीच' नामक एक लेख लिखा था। मार्ली साहब ने बड़े आश्चर्य के साथ कहा था कि प्लेग भारतीयों को ही क्यों खाती है, अंग्रेजों को क्यों नहीं? गुप्त जी ने मार्ली साहब के शब्दों का उल्लेख अपने लेख में करते हुए उत्तर दिया था—"मार्ली साहब के निकट यह बात समझना कठिन है पर भारतवासी इसे खूब समझते हैं। मार्ली साहब भी भारत वासियों से प्रसन्न नहीं, ईश्वर भी उनसे प्रसन्न नहीं, स्वाधीनता सब सुखों का कारण है, पराधीनता सब दुखों का मूल है। गोरों को न प्लेग छूती है और न सैंडीसन, काले न प्लेग से बचते हैं न सैंडीसन से।"[२] मार्ली साहब के प्रश्न का उत्तर देते हुये गुप्त जी ने स्वाधीनता के महत्त्व का प्रतिपादन कर दिया था। उनका उद्देश्य अंग्रेजों तथा भारतीयों को यह बता देना था कि भारतीय भी यदि स्वाधीन होते, तो उन्हें किसी प्रकार का कष्ट न होता। यही नहीं गुप्त जी ने मार्ली साहब की आत्मश्लाघा तथा सिद्धान्तवादिता के छिछोरेपन पर भी व्यंग्य किया था। लाला लाजपत राय और सरदार अजीत के निवार्सन की अनुमति दे देने पर मार्ली के इङ्गलैंडवासी मित्रों ने उन पर जीवन के नियम भंग का आरोप किया था जिसका उल्लेख मार्ली साहब ने अपनी वक्तृताओं में किया था। सिद्धान्तवादिता के उल्लंघन की बात को लेकर गुप्त जी ने लिखा था—"आपका कोई उसूल न टूटा जो करना चाहिये था वही आपने किया है। सदा से इस देश में यही नियम चला आता है कि यहाँ के हाकिम मनमाने स्वेच्छाचार से काम लेते हैं और जहाँ तक बनता है इस देश के लोगों को दबाते हैं। यदि ऐसा करने से वह कुछ चीखें चिल्लाएँ तो ऐसे दबाए जाते हैं कि फिर चींचपड़ करने की शक्ति उनमें न रहे।"[३]

अंग्रेजी शासन के निरंकुश एवं शोषक स्वरूप की अभिव्यंजना इन पंक्तियों

१—डा० ईश्वरी प्रसाद तथा एस० के० सूबेदार, ए हिस्ट्री ऑव मार्डन इण्डिया १७४०–१९५०, पृ० ३३३।

२—भारतमित्र, मार्ली की स्पीच, सन् १९०७ ई०।

३— वही वही।

में हुई है। उदार होते हुए भी मि० मार्ली का मूल रूप भारत विरोधी था। भारतीयों के शोषण में उदार और अनुदार दोनों समान थे। मि० मार्ली की अनौखी बातें सुनकर गुप्त जी ने लिखा था—"भारतवर्ष में ५५ वर्ष की उम्र में कर्मचारियों को पेंशन मिल जाती है पर मार्ली साहब को ७२ साल की उमर में भारत सचिव की गद्दी मिली।"[१] यह काले और गोरे का भेद था तथा स्वाधीनता-सुख और पराधीनता-दुःख का अन्तर था, जिसकी ओर लेखक ने संकेत किया है। लेखक इस सत्य का प्रतिपादन पूरी तरह करने में सफल हुआ है कि अंग्रेज अधिकारी वर्ग का मुख्य ध्येय भारत का शोषण करना है। शासक वर्ग की स्वेच्छाचारिता और निरंकुशता के फलस्वरूप ही भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन का प्रसार हुआ था। उदारतावादी लार्ड मिन्टो तथा मार्ली के सुधार का उद्देश्य लार्ड कर्ज़न द्वारा उत्पन्न की गई कटुता तथा क्षुब्धता का निवारण करना था, यथार्थ में यह सुधार भारतीयों के लिए मृग-तृष्णा तथा कपट कन मात्र था। क्योंकि लार्ड कर्ज़न ने क्रूरतापूर्ण दमन तथा स्पष्ट रूप से हिन्दू मुस्लिम-विरोध को प्रोत्साहित करके ब्रिटिश साम्राज्य को दृढ़ बनाया था तो लार्ड मिन्टो तथा मार्ली ने दोनों जातियों के पृथक्-पृथक् प्रतिनिधि-निर्वाचन का अधिकार देकर इस कार्य की पूर्ति की थी। गुप्त जी ने 'मिन्टो मार्ली' सुधार का मूल्यांकन करते हुए लिखा था—"आज नहीं कोई एक वर्ष से मार्ली साहब भारत के शासन सुधार का राग अलाप रहे थे, पर क्या किया ? पहाड़ खोद कर जरा-सी चुहिया निकाली।"[२] इन शब्दों में ही गुप्त जी ने मिन्टो-मार्ली सुधार का सार स्पष्ट कर दिया था। इस सुधार में सबसे प्रथम त्रुटि तो यह थी कि निर्वाचन की बालमताधिकार पद्धति को प्रोत्साहित नहीं किया था। निर्वाचन का अधिकार सीमित था। दूसरे निर्वा-चन अप्रत्यक्ष रीति से होता था जिसका परिणाम यह हुआ कि निर्वाचित सदस्य जनता के प्रति अपने कर्त्तव्यों का उत्तरदायित्व नहीं समझते थे। तीसरे निर्वाचित सदस्यों को कानून बनाने की सुविधायें कभी प्राप्त नहीं हुईं। सरकार द्वारा मनोनीत सदस्य उनके प्रस्ताओं को ठुकरा कर सरकारी प्रस्तावों को पास करा देते थे। चौथे कानून निर्माण के अधिकार भी कौन्सिलों को बहुत कम थे, अधिकांश धाराएँ कौन्सिल की शक्ति के बाहर थीं। पाँचवे प्रान्तीय धारा सभाओं का सभापतित्व गवर्नरों द्वारा होता था जो अपने

१—भारत मित्र, मार्ली की स्पीच, सन् १६०७ ई०।

२— वही , शासन सुधार, सन् १६०७।

प्रभुत्व से सदस्यों की भावनाओं एवं विचार धाराओं को दबा देते थे। इसके अतिरिक्त सरकार द्वारा प्रजाहित-विरोधी सदस्यों को मनोनीत किया जाता था। इस एक्ट के अनुसार भारत की प्रान्तीय कौंसिलों तथा मार्ली साहब ने अपनी कौंसिल में भी दो भारतीय सदस्य नियुक्त किये थे। इन कार्यों की आलोचना गुप्त जी ने इस प्रकार की थी—"आपकी पेचदार बातों का तत्त्व इतना ही है कि बड़े लाट की तथा प्रान्तीय कौंसिलों में जमींदार और मुसलमान कुछ और बढ़ाए जाँय।—जमीदार और मुसलमान तो अब भी कौंसिलों में बैठे हैं और पहले भी बैठ चुके हैं पर यह कभी न देखा कि एक ने भी किसी उचित या अनुचित सरकारी काम पर चूँ भी की हो, आलोचना की कौन कहे? केवल काठ के पुतलों की भाँति ये लोग बैठे रहते हैं और अफसरों की हाँ में हाँ मिलाते रहते हैं। क्या सरकार ऐसा एक भी मेम्बर बता सकती है, जिसकी आलोचना या सलाह से कुछ लाभ पहुँचा हो।"[१] स्पष्ट है, गुप्त जी धारा सभाओं में जनता का प्रतिनिधित्व चाहते थे; उन राजा नबाबों और जमीदारों का नहीं, जो सरकार की भारत विरोधी नीति के सम्मुख सिर झुका देते थे। प्रत्युत वे वहाँ ऐसे व्यक्ति चाहते थे जो देश-हितैषी कानून बना सकते हों और सच्चे दिल से देश का हित करने में समर्थ हों। बृटिश राज के जनतंत्रवादी रूप का भण्डाफोड़ गुप्त जी ने इन पंक्तियों द्वारा कर दिया है। गुप्त जी का मत इंगलैंड के प्रगतिशील राजनीतिज्ञों की भाँति ही था। मि० ओग्राडी और सर हेनरी काटन ने भी मार्ली साहब के संकुचित विचारों की आलोचना करते हुए उनके सुधार की निस्सारता प्रतिपादित की थी। गुप्त जी ने परामर्श-दात्री सभाओं की आलोचना करते हुए लिखा था—"यह सब राजकुमारों की सेना की भाँति सरकारी शोभा बढ़ाने के लिये बनाई गई है। इसमें भी राजा-महाराजा, जमींदार आदि बैठेंगे। सरकार कटे-छटे प्रस्ताव उनको सुना देगी। सब गरदन झुका के उसे सुन लेंगे और 'हाँ' कर देंगे। यदि किसी ने नहीं की तो बक-बक का कोई खयाल न करेगा।"[२]

ओग्राडी साहब का उद्धरण देते हुए लिखा था—"मि० ओग्राडी इस बात की चिन्ता न करें कि हिन्दुस्तानी मेम्बरों की बात कोई न मानेगा। मार्ली साहब ने ऐसे हिन्दुस्तानी मेम्बर ही नहीं लिए जो न मानने वाली बात कहें। ऐसे मेम्बर लिए हैं, जो सदा हाथ बाँधे 'हाँ हजूर' कहते-कहते उनके

१—भारत मित्र, शासन सुधार, सन् १९०७ ई०।

२— वही ।

कदमों में जान तक दे देंगे।"[१] इस प्रकार गुप्त जी ने साम्राज्यवादी कूटनीति का अनावरण किया, मिन्टो मार्ली सुधार में निहित भ्रमजाल का मूलोच्छेदन करके सच्चे प्रजातन्त्र का रूप समझाया और उसे हस्तगत करने के लिए भारतीयों को प्रोत्साहित किया था।

इसके अतिरिक्त मिन्टो और मार्ली द्वारा भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन के दमनकारी कार्यों का उल्लेख भी गुप्त जी ने बड़ी उग्रता के साथ—'इतना भय क्यों' शीर्षक से 'भारत मित्र' सन् १९०७ में लिखकर किया था। उन दिनों लाला लाजपत राय की देशभक्तिपूर्ण वक्तृताओं का प्रभाव भारतीयों पर उग्र रूप से पड़ रहा था। सन् १९०५ ई० में कांग्रेस के बनारस-अधिवेशन पर लाला लाजपत राय के भाषण के फल-स्वरूप ही कांग्रेस में दो दल बने थे। एक उग्र दल और दूसरा नरम दल। लाला जी उग्र दल के नेता थे। सारा देश उनके प्रभाव से क्रान्तिकारी बनता चला जा रहा था। उसी साल सन् १९०७ में गदर की अर्धशताब्दी भी होनी थी, अतः अँग्रेजों को विश्वास हो गया था कि १८५७ ई० की घटना की पुनरावृत्ति अवश्य होगी और १० मई को पंजाब मे होगा इसका आरम्भ। क्योंकि वे समझते थे कि विद्राहियों की अगणित सेना केवल लाला लाजपत राय की आज्ञा की प्रतीक्षा में है। गदर का भय खड़ा करके पंजाब के गवर्नर सर डेंजिल इव्टसन ने मिन्टो से लाला जी की गिरफ्तारी की आज्ञा ली और मार्ली साहब ने उनके निर्वासन की आज्ञा प्रसारित कर दी। इसी को लक्ष्य करके गुप्त जी ने लिखा था—"मार्ली साहब को उनके लिये लिबरलपन छोड़ना पड़ा और मिन्टो को शान्ति का राग। आश्चर्य सब को हो रहा है।"[२]

मार्ली और मिन्टो की उदारतावादी और शान्तिपूर्ण नीति का रहस्योद्घाटन हो गया। लाला जी तथा सरदार अजीतसिंह के निर्वासन ने अँग्रेजी शासन की उदारता की पोल खोल दी। लेखक में राष्ट्रीयता का भाव और उग्र हुआ। उसने बड़ी निर्भीकता के साथ भारतीयों की विवशता एवं विदेशी शासन के शोषक रूप की तस्वीर खींच दी—"यहाँ के हाकिम प्रजा पर चाहे जो हुक्म चला सकते हैं कोई उसमें जरा भी दखल नहीं दे सकता? प्रजा लाख चिल्लावे कोई उसकी बात पर ध्यान तक नहीं देता······और प्रजा जब पुकारती है तो एकदम कानों में उगलियाँ दे लेते हैं या नहीं? तुम बंगाल के

१—भारत मित्र, शासन सुधार, सन् १९०७ ई०।

२—भारत मित्र, इतना भय क्यों, सन् १९०७ ई०।

दो टुकड़े कर सकते हो और प्रजा की बात पर कुछ ध्यान नहीं देते हो ? क्या प्रजा इसके लिये चिल्लावे भी नहीं ? तुम प्रजा का जमीन का हक छीनते हो, जमीन पर जितना चाहे कर बढ़ा देते हो प्रजा उसके लिये अफसोस भी न करे ? सच कहो तुमने कभी इस देश की प्रजा को प्रजा कहके भी माना है ? यदि माना है तो यह जो प्लेग से मर रही है, अकाल से मर रही है उसके लिये क्या तुम्हारे पास कुछ भी उपाय नहीं ? केवल उपाय है तो उसका मुँह बन्द करने का।"[१]

मार्ली और मिन्टों के कार्यों की इस निर्भीक एवं स्पष्ट आलोचना ने देशवासियों में प्रस्फुटित नव-जागरण और राष्ट्रीय चेतना को नवगति और नव-दिशा प्रदान की। गुप्त जी ने देशवासियों के सम्मुख जो मार्ग रक्खा था, वह पूर्ववर्ती कलाकारों से भिन्न तथा एकदम क्रान्तिकारी था। उन्होंने वास्तविकता को समझा और जनता को अंग्रेजी चालों से परिचित कराते हुए लिखा था—"......उनका भला न कन्जरवेटिव ही कर सकते हैं और न लिबरल।"[२] अतः उन पर आशा और विश्वास करना स्वतन्त्रता-देवी के आगमन को पीछे हटाना था। अतः आत्मावलम्बन का परामर्श देते हुए आगे लिखा था—"............यदि उनका कुछ भला हो सकता है तो उनके ही हाथ से।"[३]

सन् १९०५ ई० में जापान ने रूस के विशाल राज्य पर विजय प्राप्त की थी। वह जापान की विजय नहीं, अपितु योरोपियन प्रभुत्व पर ऐशियन प्रभाव की विजय थी। दुःख, शोषण और दारिद्रय से प्रताड़ित भारतीय उस समय सोचते थे कि भारत जापानी प्रभुत्व की अवस्था में औद्योगिक विकास के उत्कर्ष पर आसीन हो सकता है। अतः नैराश्यजन्य इस भ्रान्ति एवं पराधीनता की भावना को दूर करते हुए राजनीतिज्ञ गुप्त जी ने लिखा था—"कोई पराधीन जाति अपनी चेष्टा बिना, खाली दूसरे की मदद से कभी स्वाधीन नहीं हो सकती। जापान बृटिश गवर्नमेंट का मित्र है। सो जो लोग भारत का जापान के हाथ में चले जाने का स्वप्न देख रहे हैं, उन्हें निश्चिन्त हो जाना चाहिए। हाँ, जापानियों से भारतवासियों को शिल्प आदि की शिक्षा अपेक्षाकृत सहज में मिल सकती है और शिल्प आदि सीखकर भारतवासी

१—भारत मित्र, इतना भय क्यों, सन् १९०७ ई०।

२—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, मार्ली साहब के नाम, पृ० २३२।

३— वही वही।

अपनी आर्थिक दशा सुधार सकते हैं, इतना ही कल्याण उनका जापान से हो सकता है।"[१]

हम यह देख चुके हैं कि एक ओर तो गुप्त जी ने उन भारतीयों की भर्त्सना की जो अपनी स्वाधीनता प्राप्ति के लिए साम्राज्यवादी जापान की ओर आँखें लगाए हुए थे, दूसरी ओर तलवार के बल पर भारत को पराधीन रखने वाले अँग्रेजों को भी फटकारा था। स्वराज्य-आन्दोलन के विषय में आपने लिखा था—"यदि तलवार से फतह किया था तो क्यों नहीं उनको (बूरों) तलवार ही से अधिकार में रखा। जब उन्हें तलवार से अधिकार में नहीं रखा, तो कोई कारण नहीं कि भारतवासी तलवार से अधिकार में रखे जाएँ। डेढ़ सौ साल अँगरेजों को इस देश में शासन करते हो गये पर क्या अब भी भारतवासी स्वाधीनता की बात मुँह से निकालने योग्य नहीं।"[२] गुप्त जी की ये पंक्तियाँ इंगलैंड के प्रधान पत्र 'टाइम्स' द्वारा भारतीय स्वाधीनता की माँग का विरोध करने पर लिखीं गई थीं। कलकत्ता कांग्रेस-महाधिवेशन के अध्यक्ष पद से दादा भाई नौरोजी ने सन् १९०६ ई० में सप्रमाण तथा युक्तिपूर्ण तर्कों के साथ भारतीय स्वाधीनता की माँग की थी, जिससे क्षुब्ध होकर 'टाइम्स' ने भारत को तलवार से विजय करने और उसे न छोड़ने की बात का समर्थन किया था। गुप्त जी ने 'टाइम्स' के अनर्गल प्रलाप का उत्तर दिया था, स्वाधीनता आन्दोलन द्वारा अपने अधिकारों की माँग करने का पूर्ण शक्ति के साथ समर्थन किया था और साम्राज्यवादी शक्तियों की औपनिवेशिक नीति की भर्त्सना करते हुए अपनी स्वाधीनता की जोरदार शब्दों में माँग की थी। यही नहीं, अँग्रेज जाति की मनोभिलाषा का अङ्कन करते हुए आपने लिखा था—"बहुत से योरोपियनों की यही इच्छा रहती है कि इस देश के रुपये से आनन्द उड़ावें और मनमानी करें। जब-जब इस देश के लोग अपनी भलाई के लिये चेष्टा करते हैं, ऊँची इच्छाएँ प्रगट करते हैं तब-तब यह अपने स्वार्थ में बाधा पड़ते देखकर चिल्लाते हैं, तरह-तरह के स्वांग लाते हैं, धमकाते हैं और इस देश के निर्दोष निवासियों को राजद्रोह के कलंक से कलंकित करते हैं।"[३] इन पंक्तियों से ज्ञात होता है कि साम्राज्य के पोषक अँग्रेज अधिकारियों की साम्राज्यवादी नीति का गुप्त जी ने किस शक्ति के साथ विरोध किया था।

१—गुप्त स्मारक ग्रन्थ, पृ० १३९।

२—भारत मित्र, गीदड़ भबकी, सन् १९०७ ई०।

३—भारत मित्र, सोनार-बांगला, सन् १९०६ ई०।

साम्राज्य-रक्षा के लिए उसके पोषक सदैव अधीनस्थ देश बनाए रखने के पक्ष में होते हैं, भारत के साथ अँग्रेजों ने भी ऐसा ही किया था। गुप्त जी ने अपनी लेखनी से उनकी साम्राज्य-लिप्सा का विरोध किया था और स्वाधीनता-संग्राम के लिए वीर सैनिकों का निर्माण भी किया था। अँग्रेज साम्राज्य के प्रतिनिधि बाम्फाई फुलर जंग को चेतावनी देते हुए आपने लिखा—"अपने मुल्क को जाओ और खुदा तौफीक दे तो हिन्दुस्तान के लोगों को कभी-कभी दुआये खैर से याद करना"।[1] यही थी, अँग्रेजों को दी गई उनकी चेतावनी, वे उन्हें भारतभूमि पर अधिकार जमाए देखना नहीं चाहते थे।

गुप्त जी निरन्तर सजग-प्रहरी की भाँति जन-हित-चिन्तन एवं सुधार की कामना में दत्तचित्त थे। कर्मठ कर्मशील पत्रकार की तरह वे जनता का पक्ष-समर्थन करते हुए शासकों के देश-विरोधी कार्यों की रूप-रेखा प्रस्तुत करते रहे। उनके ये चिट्ठे तीन साल की विविध घटनाओं के रेखा-चित्र, भारतीयता, देश-प्रेम और राष्ट्रभक्ति उत्पादक नुसखा, उनकी निर्भीकता, स्पष्टवादिता और वाक्-चातुर्य के सजीव प्रमाण तथा अँग्रेजी साम्राज्य के जन-वादी रूप का यथार्थ अंकन करने वाले शब्द चित्र हैं। इन चिट्ठे और खतों में लार्ड कर्ज़न, लार्ड मिन्टो और भारत-मंत्री लार्ड मार्ली के सिद्धान्तों पर अच्छा व्यंग्य पाया जाता है। उदार और अनुदार दल के सैद्धान्तिक साम्य और वैषम्य का अन्तर इन चिट्ठों में विशेष रूप से पाया जाता है। गुप्त जी ने किस तन्मयता और शक्तिमत्ता के साथ राष्ट्रीय आन्दोलन को सशक्त बनाया था। इसका लेखा ये चिट्ठे भली प्रकार प्रस्तुत करते हैं।

गुप्त जी की व्यंग्यपूर्ण रचनाओं में भारत की सामाजिक दशा का चित्रण—

गुप्त जी अपने उत्कट देश-प्रेम और उग्र राष्ट्रीयता के लिए 'हिन्दोस्थान' के सम्पादन काल से ही विख्यात हो चुके थे, किन्तु कलकत्ता के राजनीतिक वातावरण में उनके विचारों में अधिक प्रखरता का समावेश हुआ था। अस्तु, व्यंग्यपूर्ण रचनाएँ उनकी लेखनी से 'भारत-मित्र' काल में ही प्रसूत हुई थीं। उस काल तक गुप्त जी के विचार अधिक परिपक्व हो गए थे और अंग्रेजी शोषक शासन का सूर्य मध्यान्ह पर आ चुका था। गुप्त जी ने एक ओर तो व्यंग्य के सहारे भारतीय इतिहास की उन प्रमुख घटनाओं का उल्लेख किया

१—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, शाइस्ता खां का खत, पृ० २४६।

जो देश के राष्ट्रीय जागरण की प्रतीक और विदेशी शासन के उत्पीड़न का निदर्शन थी, दूसरी ओर अंग्रेजों के वैभव-विलास के चित्र अंकित करते हुए भारतीय समाज—विशेषतः साधारण जनता—के दुर्दशाग्रस्त चित्र उपस्थित किए, जिन्हें अँग्रेजी शासन का वरदान कहा जा सकता है। कम्पनी के राज्य से लेकर कर्जन के समय तक भारत निरन्तर अँग्रेजी साम्राज्य की चक्की में पिसता ही रहा था जिसके फलस्वरूप उसके विकास और उत्कर्ष के मार्ग प्रायः अवरुद्ध से हो गए थे। दूसरी ओर अँग्रेज पदाधिकारी एवं उनकी गोरी प्रजा भारतीयों द्वारा अर्जित तथा उत्पादित प्रसाधनों को लेकर वैभव एवं विलासमय जीवन यापन कर रही थी। एक के सम्मुख पेट पालने का प्रश्न था, तो दूसरा सम्पूर्ण भौतिक साधनों से समन्वित था। दोनों समाजों की विशेषताओं एवं असंगतियों का उल्लेख करते हुए गुप्त जी ने भारतीय समाज का यथार्थ चित्र उपस्थित किया था। आपने लिखा था—"आपके स्वदेशीय यहाँ बड़ी-बड़ी इमारतों में रहते हैं। जैसी रुचि हो, वैसे पदार्थ भोग सकते हैं। भारत आपके लिये भोग्यभूमि है। किंतु इस देश के लाखों आदमी इसी देश में पैदा होकर आवारा कुत्तों की भाँति भटक-भटक कर मरते हैं। उनको दो हाथ भूमि बैठने को नहीं, पेट भर खाने को नहीं, मैले चिथड़े पहन कर उमरें बिता देते हैं और एक दिन कहीं पड़कर चुप-चाप प्राण दे देते हैं। हाल की इस सर्दी में कितनों ही के प्राण जहाँ-तहाँ निकल गये। इस प्रकार क्लेश पाकर मरने पर भी क्या कभी वह लोग यह कहते हैं कि पापी राजा है, इससे हमारी यह दुर्गति है।"[१]

अँग्रेज शासक अपने शासन-काल में निरन्तर अपने सुख और वैभव के साधन-सम्वर्द्धन तथा अपनी साज सज्जा में ही व्यस्त रहे, जनता के दुखों की ओर दृष्टि डालने का समय उन्हें कभी न मिला। कर्जन के कार्यों की आलोचना करते हुए गुप्त जी ने कलकत्ता नगर का दुर्दशा-ग्रस्त चित्रण इस प्रकार अंकित किया था—"सम्भव है कि उसमें भी श्रीमान् के दिल पसंद अँग्रेजी मुहल्लों में कुछ और भी बड़ी-बड़ी सड़कें निकल जायें और गवर्नमेन्ट हाउस की तरफ के स्वर्ग की सीमा और बढ़ जावे। पर नगर जैसा अन्धेरे में था, वैसा ही रहा; क्योंकि उसकी असली दशा देखने के लिये और ही प्रकार की आँखों की जरूरत है। जब तक वह आँखें न होंगी, यह अंधेर यों

१—बालमुकुन्द गुप्त, शिवशम्भु के चिट्ठे, पाँचवाँ चिट्ठा, पृ० ३५।

ही चला जावेगा। यदि किसी दिन शिवशम्भु शर्मा के साथ माई लार्ड नगर की दशा देखने चलते, तो वह देखते कि इस महानगर की लाखों प्रजा, भेड़ों और सूअरों की भाँति सड़े-गन्दे झोंपड़ों में पड़ी लोटती है। उनके पास सड़ी बदबू और मैले सड़े पानी के नाले बहते हैं, कीचड़ और कूड़े के ढेर चारों ओर लगे हुए हैं। उनके शरीरों पर मैले-कुचैले फटे-चिथड़े लिपटे हुए हैं। उनमें से बहुतों को आजीवन पेट भर अन्न और शरीर ढकने को कपड़ा नहीं मिलता। जाड़ों में सर्दी से अकड़ कर रह जाते हैं और गर्मी में सड़कों पर तथा जहाँ तहाँ पड़ते फिरते हैं। बरसात में सड़े-सीले घरों में पड़े रहते हैं। सारांश यह है कि हरेक ऋतु की तीव्रता में सबसे आगे मृत्यु के पथ का वही अनुगमन करते हैं। मौत ही एक है, जो उनकी दशा पर दया करके जल्द-जल्द उन्हें जीवन रूपी रोग के कष्ट से छुड़ाती है।"[१]

कलकत्ता जैसे बड़े नगर में एक ओर जीवन-सुखों की सुन्दर चहल-पहल दूसरी ओर मानवता को कलंकित करने वाले घिनौने एवं घृणोत्पादक जीवन के ये दृश्य देखने योग्य हैं। गुप्त जी ने अपनी लेखनी से इन दृश्यों को अमर कर दिया है और सभ्य कहे जाने वाले मानव के सम्मुख उसके शोषण पर आधारित कार्यों के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न हुए दुखद चित्रों को उपस्थित किया है। अँग्रेज शासकों एवं धनिकों के सम्मुख कलकत्ता नगर की वस्तु स्थिति का चित्रण करते हुए लिखा था—"इसी कलकत्ते में, इसी इमारतों के नगर में, माई लार्ड की प्रजा में हजारों आदमी ऐसे हैं, जिनको रहने को सड़ा झोंपड़ा भी नहीं है। गलियों और सड़कों पर घूमते-घूमते जहाँ जगह देखते हैं, वहीं पड़ रहते हैं। बीमार होते हैं, तो सड़कों पर ही पांव पीट कर मर जाते हैं। कभी आग जलाकर खुले मैदान में पड़े रहते हैं। कभी-कभी हलवाइयों की भट्टियों से चिमट कर रात काट देते हैं। नित्य उनकी दो चार लाशें जहाँ तहाँ से पड़ी हुई पुलिस उठाती है।"[२]

भारत में लार्ड मिन्टो जैसे उदार और मानवतावादी व्यक्ति द्वारा किए गए सुधारात्मक कार्य भी अधिकांशतः बृटिश जनता को ही लाभान्वित करने वाले थे; भारतीय प्रजा को उनसे कोई विशेष लाभ नहीं हुआ। न तो उसको अकाल से मुक्ति मिली और न प्लेग से छुटकारा; न सरकारी टैक्स में कमी हुई और न व्यापार का उत्कर्ष। धनहीन होकर भारतीय जीवन के दिन पूरे

१—बालमुकुंद गुप्त, शिवशम्भु के चिट्ठे, छठा चिट्ठा, पृ० ४१–४२।
२— वही , पृ० ४२–४३।

कर रहे थे। इसी अवस्था का अंकन गुप्त जी ने किया था—"कितने ही साल हो गये अकाल इस देश में बराबर विराजमान रहता है। कभी यहाँ के सब लोगों को पेट भर खाने नहीं देता। फिर दस साल से प्लेग नाम की व्याधि ने यहाँ के निवासियों को घेरा है जो हर साल लाखों आदमियों को खपा देती है—अकाल पड़ते हैं पर सरकारी कर कभी न्यून नहीं होता वह बराबर बढ़ता है। शिल्प और वाणिज्य की ओर से भी यहाँ के लोग एक प्रकार रिक्त हस्त हो चुके हैं पर सरकारी टैक्स उन पर बराबर बढ़ता ही चला जाता है। इन दो विपदों में देश पड़ा हुआ है।"[१] भौतिक और शासकीय आपदाओं से आक्रान्त भारत की सामाजिक अवस्था का अंकन भली प्रकार इन पंक्तियों से हो गया है। अंग्रेजों की दमन और शोषक नीति के कारण भारतीयों का सुख प्रायः नष्ट हो गया था, उनके जीवन में नैराश्य-जन्य-हीनता और निराशा-वादिता के लक्षण दृष्टिगत होते थे। उसी समय आपने लिखा था—"भारत! तेरी वर्तमान दशा में हर्ष को अधिक देर स्थिरता कहाँ? कभी कोई हर्ष सूचक बात दस-बीस पलक के लिये चित्त को प्रसन्न कर जाय तो वही बहुत समझना चाहिये।"[२]

प्रजा की हीनावस्था का चित्र उपस्थित करके गुप्त जी ने शासकों को कई बार प्रलोभन द्वारा भी उसकी दशा सुधारने को उकसाया है। ऐसे स्थलों पर देश की सामाजिक अवस्था का सम्यक् चित्रण हुआ है—"हजार साल से यह प्रजा गिरी दशा में है। क्या आप चाहते हैं कि यह और भी सौ पचास साल गिरती चली जावे? इसके गिराने में बड़े से बड़ा इतना ही लाभ है कि कुछ संकीर्ण हृदय शासकों की यथेच्छाचारिता कुछ दिन और चल सकती है; किन्तु इसके उठाने और सम्हालने में जो लाभ है, उसकी तुलना नहीं हो सकती।"[३]

देश की दुर्दशा और विपत्ति-ग्रस्त चित्रों के अतिरिक्त गुप्त जी ने ऐसे चित्र भी अंकित किए हैं जो संगठित एवं सामूहिक आंदोलन का रूप प्रस्तुत करते हैं। बंग-विभाजन के फल-स्वरूप बंगाल में हुई प्रतिक्रिया का एक चित्र इस प्रकार है—"यह बंग विच्छेद बंग का विच्छेद नहीं है। बंग-निवासी इससे विच्छिन्न नहीं हुए, वरंच और युक्त हो गये। जिन्होंने गत १६ अक्टूबर का

१—भारत मित्र, राजभक्ति, सन् १९०७ ई०।

२—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, आशीर्वाद, पृ० २३५।

३—बालमुकुन्द गुप्त, शिवशम्भु के चिट्ठे, चौथा चिट्ठा, पृ० २९।

दृश्य देखा है, वह समझ सकते हैं कि बंग-देश या भारतवर्ष में नहीं, पृथ्वी-भर में वह अपूर्व दृश्य था। आर्य्य संतान उस दिन अपने प्राचीन वेश में विचरण करती थी। बंगभूमि ऋषि-मुनियों के समय की आर्य भूमि बनी हुई थी। किसी अपूर्व शक्ति ने उसको उस दिन एक राखी से बाँध दिया था। बहुत काल के पश्चात् भारत संतान को होश हुआ कि भारत की मिट्टी वन्दना के योग्य है। इसी से वह एक स्वर से 'वन्देमातरम्' कहकर चिल्ला उठे।" देश में नवप्रस्फुटित राष्ट्रीयता का यह चित्र सुन्दर चित्र है।

देशभक्त नेता प्रजा की अवस्था सुधारने, देश की स्वाधीनता प्राप्त करने और नागरिक अधिकारों की प्राप्ति के लिए विदेशी शासन से संघर्ष कर रहे थे, तो दूसरी ओर देश में ऐसे लोग भी मौजूद थे जो विदेशी शासन की चाटुकारिता करने में लगे थे। उनकी मनोवृत्ति का चित्र आपने अंकित किया था—"संसार में अब अंगरेजी प्रताप अखण्ड है: भारत के राजा अब आपके हुक्म के बन्दे हैं। उनको लेकर चाहे जलूस निकालिये, चाहे दरबार बनाकर सलाह कराइये, उन्हें चाहे विलायत भिजवाइये, चाहे कलकत्ते बुलाइये, जो चाहे सो कीजिये।"[२] इन पंक्तियों में गुप्त जी ने राजा तथा नवाबों की झूठी-शान और मिथ्याभिमान का अंकन करते हुए अंग्रेजी वैभव का उल्लेख भी कर दिया है। अंग्रेजी सरकार के उत्कर्ष तथा उसकी व्यापारिक प्रगति में भारत की प्रगति मानने वाले राजभक्त भारतीयों की आँखें खोलने के उद्देश्य से गुप्त जी ने लिखा था—"यह सब उन्नति पराई है। भारतवर्ष का इसमें कुछ भी नहीं है। यहाँ के जूट और रूई यहाँ से कौड़ियों के मोल जाती हैं और उसी का विलायत से जब कपड़ा बुनकर आता है तो भारतवर्ष में अशर्फियों के मोल बिकता है। चाय, नील आदि की सब तिजारत अंग्रेजों के हाथ में है। अङ्गरेज ही चाय के बागों के मालिक हैं। हिन्दुस्तानी बेचारे उन बागों में कुली जीवन बिताते हैं।"[३] भारतीय व्यापार की वस्तुस्थिति का ज्ञान गुप्त जी द्वारा लिखित उपर्युक्त पंक्तियों से हो जाता है। यही नहीं, कुछ अङ्गरेज-चाटुकार भारत से विदेश जाने वाले गेहूँ पर गर्व करते थे, किन्तु गुप्त जी के विचार में वह भारत के लिए दुर्भाग्य का कारण था। आपने लिखा था—"इस देश से जो करोड़ों मन गेहूँ बाहर जाता है वह भी

१—बालमुकुन्द गुप्त, शिवशम्भु के चिट्ठे, आठवाँ चिट्ठा, पृ० ५७।
२— वही , चौथा चिट्ठा, पृ० २५–२६।
३—भारत मित्र, पुरानी कहानी, सन् १९०१ ई०।

यहाँ की प्रजा के लिए सौभाग्य नहीं दुर्भाग्य ही का कारण है। उसी के कारण इस देश में अकाल न होने पर भी बारह महीने अकाल बना रहता है।"[१] इस प्रकार ज्ञात होता है कि गुप्त जी ने अपनी रचनाओं द्वारा देश की सामाजिक अवस्था के विविध अंगों का अंकन तो किया है, साथ ही, भारतीयों के राजनीतिक अनुत्साह, शक्तिहीनता, निष्क्रियता और प्राचीन गौरव-गान से सन्तुष्ट रहने की बात का उल्लेख भी किया है। लार्ड लिटन ने आर्म्स-एक्ट पास करके भारतीयों को शस्त्र-हीन बना दिया था; भारतीयों पर इस एक्ट के प्रभाव का उल्लेख करते हुए गुप्त जी ने लिखा था—"पचास साल से इस देश के लोग शान्ति भोग रहे हैं। शान्ति क्या एक तरह का सन्नाटा कहिये। हथियारों की शक्ति तक यहाँ की प्रजा भूल गई। लड़ाई-भिड़ाई की बातें उनके लिये दादा-परदादा की कहानियाँ रह गईं।"[२] बृटिश-शासित भारत पर इन पंक्तियों में अच्छा व्यंग्य है।

प्लेग की बीमारी और अंग्रेजी दमन दोनों के कारण पंजाब की हालत बिगड़ रही थी, उसके विषय में गुप्त जी ने लिखा था—"प्लेग ने वह देश इतना तवाह किया कि भारतवर्ष भर में वह तवाही कहीं नहीं हुई।······ पिछले अकाल ने देश के सौ पशुओं में से नब्बे मार डाले; और प्रजा को कंगाल कर दिया। इससे सरकार की ओर से यह और कृपा हुई कि अपनी खेती की जमीनों को पंजाबी प्रजा दूसरों के हाथ गिरवी रखने या बेचने से वंचित की गई······अब नये बन्दोवस्त ने वहाँ और भी अन्धेर मचाया है। विशेष कर नहरी और नई आबादियों के पंजाबी जिलों पर सरकारी कर क्या बढ़ाया गया है एक दम अन्धेर किया गया है।"[३]

गुप्त जी का अन्तः और बाह्य देशभक्ति से परिप्लावित था। भारतीय समाज की दुर्दशा एवं दारिद्रचमय दशा का आन्दोलन करके समाज-शोषक के प्रति उनके हृदय का संचित क्षोभ सहसा प्रकट हुआ है। उन्होंने एक ओर तो मृत्यु की आतुरता के साथ प्रतीक्षा करते हुए भारतीय समाज तथा दूसरी ओर अंग्रेजों की विलासिता के दृश्य उपस्थित किए हैं। उन्होंने अपने लेखों में भारतीय समाज को इस पतितावस्था तक पहुँचाने वाली शक्तियों का भी सम्यक् उद्घाटन किया है। कलकत्ता जैसे व्यावसायिक नगर के निवासी श्रमिकों

१—भारत मित्र, पुरानी कहानी, सन् १९०१ ई०।
२— वही, इतना भेद क्यों, सन् १९०७ ई०।
३— वही, राजभक्ति, सन् १९०७ ई०।

के कारुणिक एवं दरिद्रता पूर्ण दृश्यों का चित्रण करके उन्होंने एक ओर तो शासन की उत्तरदायित्वहीनता का अंकन किया है और दूसरी ओर धन तथा सत्ता के मद में चूर भारतीयों का ध्यान अपने देशवासियों की ओर आकर्षित किया है। इस प्रकार गुप्त जी का साहित्य राष्ट्रभक्ति प्रेरक भावनाओं का अक्षय भण्डार है। उन्होंने कृषक एवं श्रमिक दोनों ही वर्गों के जीवन का अध्ययन अतिशय सामीप्य के साथ किया था। यही कारण है कि उनके चित्रण में यथार्थता, वास्तविकता तथा उनके हृदय का प्रेम यथाशक्य अभिव्यक्त हुआ है।

भारतेन्दु द्वारा प्रवर्तित व्यंग्य पूर्ण शैली का स्वाभाविक विकास—

भारतेन्दू बाबू हरिश्चन्द्र का जन्म उस समय हुआ था, जब अंग्रेजी साम्राज्य का सूर्य मध्याह्न में चमक रहा था। उसकी उष्ण और झुलसा देने वाली रश्मियों के ताप से राजनीतिक सुधार की लालसा करने वाले जन-हितैषी भारतीय जले जा रहे थे। स्वयं भारतेंदु जी भी उसके प्रभाव से वंचित न रह सके थे। गदर के समय वे सात वर्ष के थे, उन्होंने अपनी आँखों से अंग्रेजी साम्राज्य में अपनाए जाने वाले दमन के घृणित साधनों को देखा था। अंग्रेज शासक भारत में राष्ट्रीय-जागरण और नव-चेतना के विकास के स्वभावतः विरोधी थे। इसीलिए प्रेस एक्ट बनाकर राष्ट्रद्रोह का सजीव भय भारतीयों के सम्मुख खड़ा कर दिया था। यदा-कदा भारतीय इसके शिकार बनते रहते थे। इसके अतिरिक्त अकाल, महामारी, टैक्स, बेकारी आदि देशों में सर्वत्र व्याप्त थीं। अंग्रेजों की अस्थायी-लगान-नीति, भूमि टैक्स और व्यापारिक-शोषण ने देश की आर्थिक व्यवस्था को ध्वस्त कर दिया था। इसी अवस्था को लक्ष्य कर जान ब्राइट ने उस काल को शोषण के सौ वर्ष कहा था।

भारतेन्दु जनता के हितैषी थे। सोने के पलने में झूलने वाले होकर भी उनका हृदय देश-प्रेम से भरा था। वे देश से इस साम्राज्यवादी शोषण का अन्त कर देना चाहते थे। उनका ध्येय पाठकों को देश की दशा से अवगत कराना तथा उन्हें सचेत कर पुरानी रूढ़ियों को विच्छेद करके नई विचारधारा की ओर लाना था राज-भक्ति और पतित साम्राज्यवादी संस्कृति के कृत्रिम आवरण का उन्मूलन करके युवक-मस्तिष्क में जन-संस्कृति के प्रति प्रेम और श्रद्धा उत्पन्न करना था, सरकार कचहरी, प्रेस एक्ट तथा डिसलायलटी आदि के विरुद्ध जम कर मोर्चा लेना और एक शक्तिशाली जनमत तैयार करना था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए भारतेन्दु तथा उनके सामयिक लेखकों ने खुलकर

सरकार की आलोचना की थी और वे इस कार्य में तत्कालीन राजनीतिज्ञों से कहीं आगे रहे थे। डा० रामविलास शर्मा की धारणा है कि—"उस समय के प्रसिद्ध राजनीतिज्ञों ने सरकारी नीति की कभी ऐसी कड़ी आलोचना न की थी। वरन् वे सरकार का साथ देते थे, राजभक्ति से देश को स्वाधीन करना चाहते थे या ब्रिटिश राज्य में रह कर सुख की साँस ले स्वाधीनता को भूल जाना चाहते थे या सरकार, कचहरी और प्रेस एक्ट के मुकाबिले में डट कर इन स्वार्थ त्यागी लेखकों ने जिनका इतिहास में नाम भी स्पष्ट नहीं लिखा है देश में राजनीतिक चेतना फैलाई थी।"[१]

भारतेन्दु-युग के लेखकों ने देश के कोने-कोने में राष्ट्रीयता एवं नव-जागरण का मंत्र फूँक तो दिया था, पर उन्हें बड़ी हानि उठानी पड़ी थी। दमन-चक्र का प्रहार बराबर उनके ऊपर होता रहता था। स्वयं भारतेन्दु जी के 'मरसिया' नामक लेख की चुगली खाकर उनको मिलने वाली सरकारी सहायता बन्द करदी थी। उनकी पत्रिकाओं की १००—सौ प्रतियाँ सरकार लेती थी, वे बन्द करा दीं। उस युग के पत्र-साहित्य में अँग्रेजी दमन का इतिहास बनाने वाली अनेक कविताएँ एवं टिप्पणियाँ मिलती हैं। 'सार सुधानिधि' में प्रकाशित कई लेख साहित्यिकों पर सरकारी-दमन की अच्छी कहानी प्रस्तुत करते हैं।

दमन के इस चक्र से बचने तथा देश-दशा का चित्रण करने का प्रश्न भारतेन्दु जी के सम्मुख था। वे सुरक्षित रहकर अधिक से अधिक कार्य करने के पक्षपाती थे। अतः उन्होंने अँग्रेजी शासन की वस्तु स्थिति का ज्ञान जनता को कराने के लिए एक नवीन विधा को जन्म दिया था, वह थी व्यंग्यात्मक शैली। व्यंग्य-प्रधान शैली लेखक के हाथ में अमोघ शस्त्र है जिसके द्वारा वह किसी धर्म, जाति, देश तथा समाज में व्याप्त अवांछनीय, अनुपयुक्त एवं अनौचित्यपूर्ण विश्वास, मान्यता, सिद्धान्त और परम्परा पर चोट करता है, प्रहार करता है, तथा आलोचना करता है और बहुत काल तक सुरक्षित रहता है। इस प्रकार की शैली कवच के समान है जो बहुत काल तक उसे सत्ताधारियों के प्रकोप से बचाये रखती है। इस शैली द्वारा आत्मक्षोभ, कटुअनुभूति, एवं भावावेश की तीव्रता को भली प्रकार अभिव्यक्त किया जा सकता है, जब कभी लेखक को अपनी जाति और समय की हीनावस्था और अनाचार पर कुछ कहना होता है तो वह इसी शैली को अपनाता है।

१—डा० रामविलास शर्मा—भारतेन्दु-युग, पृ० १७।

भारतेन्दु तथा उनके सामयिक लेखकों ने व्यंग्य का आधार इसलिये ही ग्रहण किया था कि राज्य और शक्तिशाली शत्रुओं को व्यंग्य-वाणों द्वारा बींधा जाय। प्राय: देखा जाता है कि सीधी बात कहने में इतनी गहरी मार नहीं होती जितनी व्यंग्योक्तियों द्वारा होती है; व्यंग्य हृदय में चुभ कर रह जाता है और अमिट प्रभाव करता है। भारतेन्दु जी समाज और प्रजा के परम हितैषी तथा सत्ताधारियों के महान् शत्रु थे और थे विशाल हिन्दी प्रदेश के प्रिय नेता। ऐसी अवस्था में उन्हें राजनीति और समाज-सुधार की कटु से कटु बातों को कम आपत्ति जनक बनाने के लिए हास्य और व्यंग्य का मार्ग अपनाना पड़ा था। अत: ये इस शैली के जनक बन गये। भारतेन्दु जी को वैसे भी हिन्दी-गद्य का प्रवर्तक और उच्चकोटि की शैली का आविर्भावक माना जाता है पर उनकी सबसे बड़ी विशेषता चुभती और कंटीली व्यंग्य-प्रधान भाषा लिखना है। उनका यह स्वभाव था कि लिखते समय चारों ओर छींटे कसते हुए चलते थे, उनकी लेखनी से कोई भी न बच सका था। भारतेन्दु उस काल में साहित्यिक-गुरु स्वीकार किये जाते थे। उनकी इस विशेषता को सभी लेखकों ने यथाशक्ति अपनाने का प्रयास किया। पं० प्रताप नारायण में इस शैली का खूब निखार हुआ, पं० बालकृष्ण भट्ट भी व्यंग्यात्मक भाषा लिखने में सिद्धहस्त थे। पर उनका व्यंग्य पं० प्रतापनारायण मिश्र की अपेक्षा कुछ सभ्य और संस्कृत होता था। मिश्र जी अपनी उग्रता के लिये विख्यात थे। पं० राधाचरण गोस्वामी सच्चे अर्थ में भारतेन्दु जी के अनुयायी थे। पं० बदरीनारायण प्रेमघन भी कुशल लेखक थे।

स्वर्गीय पं० बालमुकुन्द गुप्त को भी व्यंग्यात्मक शैली भारतेन्दु के अनुयायी पं० प्रतानारायण मिश्र से विरासत में मिली थी। यह कहा जा चुका है कि मिश्र जी गुप्त जी के हिन्दी-गुरु थे।[१] ये दोनों लेखक कालाकांकर के 'हिन्दोस्थान' पत्र के सम्पादकीय विभाग में कुछ समय तक साथ-साथ कार्य कर चुके थे। भारतेन्दु जी गुप्त जी के लिये कई विषयों में आदर्श थे। गुप्त जी ने उनके द्वारा प्रवर्तित व्यंग्यात्मक शैली की परम्परा को बनाये रक्खा। उनकी इस शैली का रूप पद्य और गद्य दोनों में समान रूप से विकसित हुआ है।

यहाँ भारतेन्दु तथा उनके प्रमुख सामयिक लेखकों की रचनाओं से व्यंग्यात्मक शैली के उदाहरण देकर गुप्त जी में उस परम्परा का विकास दिखाया जाना अपेक्षित है। काशी की प्रशंसा करते हुए भारतेन्दु जी के व्यंग्य की

१—प्रस्तुत प्रबन्ध का अध्याय १।

तीव्रता अवलोकनीय है—"जहाँ श्रीमती चक्रवर्ति निचय पूजित पादपीठा श्रीमती महाराज्ञी विक्टोरिया के शासनानुवर्ती अनेक कमिश्नर, जज, कलेक्टरादि अपने-अपने काम में सावधान प्रजा को हाथ पर लिये रहते हैं और प्रजा उनके विकट दंड के सर्वदा जागने के भरोसे नित्य सुख से सोती है।"[1] इन पंक्तियों में भारतेन्दु जी का संकेत काशी की कुव्यवस्था और अफसरों के अनावश्यक समूह की ओर है। काशी की प्रशंसा मुगलसराय स्टेशन पर सुधाकर—जो जजमान फंसाने की प्रतीक्षा में हैं—के द्वारा की गई है। भारतेन्दु जी के नाटकों में उनका व्यंग्य विशेष रूपेण प्रथम तो राजाओं, पंडे-पुजारियों, धार्मिक अन्धविश्वासों पर और दूसरे अंग्रेजी राज्य के विधान और नियमों, उनके कभी न पूर्ण होने वाले आश्वासनों तथा सभ्यता एवं संस्कृति रक्षार्थ किए गए अनर्गल प्रलाप और भारतीयों के दमन पर है।

अँग्रेजी राज्य के न्यायालयों एवं अदालतों में पनपने वाली रिश्वत और घूस खोरी पर व्यंग्य करते हुए चित्रगुप्त 'ब्राह्मण पुरोहित' द्वारा रिश्वत देकर छूट जाने का प्रयास करने पर कहता है—"यह भी क्या मृत्युलोक की कचहरी है कि तू हमें घूस देता है और क्या हम लोग वहाँ के न्यायकर्त्ताओं की भाँति जंगल से पकड़ कर आए हैं कि तुम दुष्टों के व्यवहार नहीं जानते।"[2]

राजा शिवप्रसाद सरकार की चाटुकारिता करने पर 'सितारे हिन्द' की पदवी पा गये थे। उन्होंने मातृभाषा और देश की पतितावस्था का ध्यान न करके अँग्रेजों की चाटुकारिता करना प्रारम्भ कर दिया था। इसी को लक्ष्य करके भारतेन्दु जी ने लिखा था—"मोटा भाई बना-बनाकर मूंड लिया। एक तो यह खुद ही पड़िया के ताऊ, उस पर चुटकी बजी, डर दिखाया गया, बराबरी का झगड़ा उठा, धाँय-धाँय गिनी गई, वर्णमाला कंठ कराई, बस हाथी के खावे कैथ हो गये।"[3]

अँग्रेजों के कानून और प्रेस एक्ट का मजाक भी कई स्थानों पर उड़ाया है। देश-सेवा के कार्य करने वालों को पुलिस की वर्दी में आकर 'डिसलायलटी' पकड़ लेती है; यह पूछने पर कि यह गिरफ्तारी किस कानून के अनुसार है

१—श्यामसुन्दर दास—भारतेन्दु नाटकावली, प्रेम जोगिनी नाटिका, पृ० ७३६।

२—ब्रजरतनदास—भारतेन्दु ग्रन्थावली, प्रथम भाग, वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, पृ० ९३।

३— वही , भारत दुर्दशा, पृ० ४७६।

तो उत्तर मिलता है—"इंगलिश पालिसी नामक ऐक्ट के हाकिमेच्छा नामक दफा से।"[१] इसी प्रकार 'भारत दुर्दशा' नाटक में देश-विरोध के बीज-वपन करने वाले वेदांत, शैव्य, शाक्त और विविध धर्मादि पर व्यंग्य किया गया है। उक्त नाटक के पांचवे अंक में जो सम्पादक केवल सम्पादकीय लेख लिखकर, कवि केवल कविता द्वारा अथवा इसी प्रकार के अन्य उपायों के द्वारा भारत-दुर्दैव को भगाने की सुखद कल्पना करते हैं, वे उनके व्यंग्य का शिकार हुए हैं; देश के स्वाधीनता आंदोलन में सक्रिय भाग न लेने वाले, समाजोत्कर्ष के लिए प्रयत्नशील न होने वाले तथा अपमान और निरादर से पूर्ण दास-जीवन व्यतीत करने वाले भारतीयों के आलस्य और निष्क्रियता पर भी भारतेन्दु जी ने व्यंग्य किया है। "सच है कि जिन्दगी के वास्ते तकलीफ उठाना, मजे में हालमस्त पड़े रहना। सुख केवल हम में है। आलसी पड़े कुएँ में वहीं चैन है।"[२] भारतेन्दु जी के नाटकों में यत्र-तत्र अच्छा व्यंग्य मिलता है।

भारतेन्दु जी के निबन्ध तो व्यंग्यात्मक शैली के श्रेष्ठतम उदाहरण हैं। जितनी सफलता इस युग के लेखकों को निबन्ध लिखने में मिली है, उतनी वाङ्मय के अन्य क्षेत्रों में नहीं मिल सकी। अथ से इति तक निबन्ध को व्यंग्यात्मक बनाए ले जाना इस युग के साहित्यकारों की विशेषता थी। भारतेन्दु जी के 'अद्भुत अपूर्व स्वप्न', 'स्वर्ग में विचार सभा का अधिवेशन', 'लेवी प्राण लेवी', 'सबै जात गोपाल की', 'स्त्री सेवा पद्धति' और 'पांचवे पैगम्बर' और राधाचरण गोस्वामी का 'यमपुर की यात्रा' आदि लेख व्यंग्य के सुन्दर निदर्शन हैं। भारतेन्दु जी ने भारत की अँग्रेजी सरकार और ज्ञान के मिथ्याभिमान से उन्नत धर्म के ठेकेदारों पर व्यंग्य करते हुए, स्वर्ग में लिवरल और कन्ज़र-वेटिव दलों के शिष्ट मंडल के सम्मुख ईश्वर से कहलाया है—"वाबा अब तो तुम लोगों की 'सेलफ गवर्नमेंट' है। अब कौन हमको पूछता है, जो जिसके जी में आता है करता है। अब चाहे वेद क्या संस्कृत अक्षर भी स्वप्न में न देखा हो पर लोग धर्म विषय पर वाद करने लगते हैं। हम तो केवल अदालत या व्यवहार या स्त्रियों के शपथ खाने को ही मिलाए जाते हैं।"[३] इसी भाँति

१—ब्रजरत्नदास—भारतेन्दु ग्रन्थावली, प्रथम भाग, भारत दुर्दशा पृ० ४६०।

२— वही , पृ० ४७६–८०।

३—डा० केसरी नारायण शुक्ल, भारतेन्दु के निबन्ध, स्वर्ग में विचार सभा का अधिवेशन, पृ० १११।

'लेवी प्राण लेवी' नामक निबंध में काशी नरेश के दरबार का उपहास करते हुए दरबार में एकत्र भारतीयों की पराधीनता पर तीव्र व्यंग्य किया है—"वाह-वाह दर्बार क्या था कठपुतली का तमाशा' था या बल्लमटेरों की 'कवायद' थी या बन्दरों का नाच था या किसी पाप का फल भुगतना था या "फौजदारी की सजा थी।[1] दरबार में आने वाले बनारस के प्रतिष्ठित व्यक्तियों को 'मौम की नाक' कहकर भारतेन्दु जी ने उनकी विवशता पर कठोर व्यंग्य किया है। 'अद्भुत अपूर्व स्वप्न' नामक लेख में पं० शीलदावानल नामक अध्यापक की प्रशंसा करते हुए देश के तत्कालीन अध्यापकों पर व्यंग्य किया गया है। इसी लेख में शिक्षा संस्थाओं के लिए चन्दा एकत्रित करके खा जाने वालों का मज़ाक उड़ाते हुए व्यंग्य की करारी चोट की है। देखिए—"आँख बन्द कर समाधि लगाई तो इकसठ या इक्यावन वर्ष उसी ध्यान में बीत गए। पाठशाला बनाने का विचार करके जब थैली में हाथ डाला तो केवल ग्यारह गाड़ी मुहरें निकली। इष्ट मित्रों से सहायता ली तो इतना धन एकत्र हो गया कि ईंटों के ठौर मुहर चिनवा देने पर भी दस पांच रेल रुपये बच रहते। आधी रात को पाठशाला का उद्घाटन हुआ।"[2] एक कहानी 'कुछ आप बीती और कुछ जग बीती' में तो चाटुकारी करने वालों की चालों का बड़े स्पष्ट ढंग से वर्णन हुआ है। यहाँ प्रहार सीधा और मर्मान्तिक है। गद्य के साथ-साथ पद्य में भी भारतेन्दु जी के व्यंग्य का कौशल वर्तमान है। उनकी मुकरी और चूरन के लटके तो व्यंग्य के अत्युत्तम निदर्शन हैं। इन लटकों में उन्होंने पुलिस, अफसर, वेश्या, पूँजीपति, अंग्रेज, तथा अन्य समाज-विरोधी तत्त्वों में से किसी को नहीं छोड़ा है। उनका व्यंग्य साधारणत: किसी निश्चित व्यक्ति पर नहीं होता, बल्कि समाज-विरोधी किसी भी तत्व को वे दृष्टि से पृथक नहीं होने देते। अपने 'नाटक' नामक निबन्ध में बुरे और भद्दे अनुवादकों पर भी उन्होंने व्यंग्य बाण बरसाये हैं। 'रत्नावली' नाटिका का हिन्दी-अनुवाद उत्तम न हो सका था। अत: उन्होंने एक उद्धरण देते हुए लिखा है—"यथा 'तब यह प्रसंग हुआ कि यौगंधरायण प्रसन्न होकर रंगभूमि में आया और यह बोला', 'और गान करता है कि 'अए मदनिके'। अब कहिए यह राम कहानी है कि नाटक ?"[3]

१—डा० केसरी नारायण शुक्ल, भारतेन्दु के निबन्ध, स्वर्ग में विचार सभा का अधिवेशन, पृ० ११५।

२—डा० रामविलास शर्मा, भारतेन्दु-युग, पृ० ९२।

३—ब्रजरत्नदास—भारतेंदु ग्रन्थावली, प्रथम भाग, परिशिष्ट, पृ० ७५४।

इसी विषय में वे एक अन्य उदाहरण देकर अनुवाद का उपहास करते हैं और अनुवादक की खबर लेते हैं—"इति विष्कम्भक: 'का अनुवाद हुआ है पीछे विष्कम्भक आया।' धन्य अनुवाद कर्त्ता ? और धन्य गवर्नमेंट जिसने पढ़ने वालों की बुद्धि का सत्यानाश करने को अनेक द्रव्य का श्राद्ध करके इसको छापा।"[१] यहाँ व्यंग्य शर्करा मण्डित न होकर सीधी चोट करने वाला है। यह उनकी अपनी शैली थी। इन्हीं बुरे अनुवादों को प्रोत्साहित करने वाली सरकार की खबर उन्होंने और भी ली है—'गवर्नमेन्ट की तो कृपा दृष्टि चाहिए योग्यायोग्य के विचार की आवश्यकता नहीं। फालेन साहब की डिक्शनरी के हेतु आधे लाख रुपये से विशेष व्यय किया गया तो वह कौन बड़ी बात है। 'सेत सेत सब एक से, जहाँ कपूर कपास।' यहाँ तो 'भेंट भए जय साहिं सों भाग चाहियत भाल' वाली बात है। किन्तु ऐसी दशा में अच्छे लोगों का परिश्रम व्यर्थ हो जाता है क्योंकि 'आँधरे साहिब की सरकार कहाँ लौं करे चतुराई चितेरो।"[२] आँख बन्द कर पक्षपात पूर्ण किए गए कार्यों पर तीव्र व्यंग्य और भारतीयों का दुर्भाग्य व्यंजित है। भारतेन्दु सेना नायक की भाँति निर्भीकता पूर्वक मार्ग बनाते चल रहे थे और उनके अनुयायी उसका अनुसरण करते हुए। राधा चरण गोस्वामी के नाटक 'तन मन धन श्री गुसाई जी के अर्पण' और 'मुँह मुहासे' भारतेन्दु जी की व्यंग्यात्मक नाटक-श्रृंखला की दो कड़ियाँ हैं। इन प्रहसनों में वृन्दावन के पंडे-पुजारी तथा गुसाईं आदि पर व्यंग्य किया है। उनका उत्कृष्ट कोटि का व्यंग्यात्मक निबन्ध है 'यमपुर की यात्रा', जिसमें सामाजिक एवं धार्मिक रूढ़ियों के प्रति तीव्र व्यंग्य है। सम्पूर्ण धार्मिक आस्था को तिलांजलि देकर स्वप्नदृष्टा रतन कुत्ते की पूँछ पकड़ वैतरणी पार करता है। धार्मिक रूढ़िवादिता के लिए यह एक चुनौती थी। इनका व्यंग्य सामाजिक दुराचार, राजनीतिक दमन तथा कट्टर धार्मिकता की ओर विशेष रूप से रहता था। प्रेस एक्ट पर वे बहुधा चोट करते थे। अंग्रेजी राज्य भी उनके व्यंग्य का निशान होता था। स्वप्नदृष्टा प्रधान के वैतरणी में फेंके जाने के आदेश पर कहता है—"मैंने जी में सोचा, यहाँ अन्धेर नगरी और हिन्दुस्तानी घिसपिस है, विवेक विचार कुछ नहीं।"[३] नरक में जीवों का उल्लेख करते समय भी आप काले-गोरे की

१—ब्रजरत्नदास—भारतेन्दु ग्रन्थावली, प्रथम भाग, परिशिष्ट, पृ० ७५४।
२— वही पृ० वही।
३—डा० रामविलास शर्मा—भारतेन्दु-युग, पृ० ९५।

अवस्था का चित्रण इस प्रकार कर जाते हैं—'गोरे जीव के आगे मेज, टेबुल आदि लगी हुई, और चाय, काफी, बिस्कुट आदि धरा था। काले के वास्ते टाट और टूटी खाट और पुराना धुराना हुक्का और कूँड़े में रोटी।"[१]

व्यंग्य का यही स्वाभाविक विकास पं० प्रतापनारायण मिश्र में दीख पड़ता है। आपने हिन्दू-समाज के ढोंगी पण्डित और अपने को धर्म का अवतार मानने वाले लोगों को लक्ष्य करके लिखा था—"चाहे तो निरक्षर भ्रष्टाचार्य हों चाहैं कुछ कुबुद्धि कौमुदी रट डाली हो पर जहाँ लम्बी धोती लटकाके निकले बस—अहं पण्डितं—सरस्वती तो हमारे ही पेट में न बसती है, लाख कहौ एक न मानेंगे, अपना सर्वस्व खोकर भी हमारे घाऊ घप्प पेट को ठाँस-ठाँस न भरै वही नास्तिक, जो हमारी बेसुरी बात पर वाह-वाह न किये जाय वही कृष्टानु, हमसे चूँ भी करे सो दयानन्दी, जो हम कहै वही सत्य है।"[२] मिश्र जी कभी-कभी स्पष्ट चोट किया करते थे। कोरे उपदेशकों, गोरक्षणी सभा के समर्थकों तथा देशी वस्त्र का प्रचार करने वाले छद्मवेषी लोगों को खरी-खोटी सुनाते हुए आपने लिखा था—"घर की महरिया कहा नहीं मानती चले हैं दुनिया भर को उपदेश देने, घर में एक गाय नहीं बाँधी जातीं गोरक्षणी सभा स्थापित करेंगे, तन पर एक सूत देशी कपड़े का नहीं है बने हैं देश हितैषी; साड़े तीन हाथ का अपना शरीर है उसकी उन्नति नहीं करते देशोन्नति पर मरे जाते हैं।"[३] इस प्रकार हम देखते हैं कि मिश्र जी के व्यंग्य के पीछे भी देशोन्नति और समाज-कल्याण की भावना अन्तर्निहित है जिसने उनके व्यंग्य को अधिक प्रभावपूर्ण बनाया है। इनके उत्तम व्यंग्य के लिए 'ककाराष्टक' और 'होली है' निबन्ध विशेषतः दर्शनीय हैं।

मिश्र जी स्वभाव से ही हास्य और व्यंग्य प्रिय थे, होली के अवसर पर इनका पत्र 'ब्राह्मण' होली के रंग से ओत-प्रोत निकलता था। इनके निबन्ध व्यंग्य और हास्य के पुट से संयुक्त राजनीतिक चेतना लिए हुए होते थे, अपने नाटकों में उन्होंने समाज में व्याप्त दुराचार पर लेखनी उठाई है। पं० बाल-कृष्ण भट्ट में भी यह गुण कहीं-कहीं दीख पड़ता है, पर व्यंग्य उनका विशेष गुण न था। युवकों की उमंग का वर्णन आपने व्यंग्यात्मक शैली में इस प्रकार किया है—"हमारी वक्तृता के आगे वाचस्पति रद्द हुई हैं, डिमास्थागीज़ और

१—डा० रामविलास शर्मा—भारतेन्दु-युग, पृ० ६६।

२—ब्राह्मण, खण्ड १, संख्या १, पृ० ६।

३— वही, खण्ड २, संख्या १, पृ० ४।

सिसरो भी रहते तो शर्मा जाते, तब इन दोनों के छोटे भइये केशव सेन, सुरेन्द्रनाथ, दादा भाई, एनीबिसेंट, मिस्टर ग्लाडस्टान, मालवीय प्रभृति किस गिनती में हैं। किसी व्यवसाय की ओर झुक पड़ें तो 'किंदूरं' व्यवसायि नामं' को लिखने वाले को सिद्ध कर दिखावें कि देखो व्यवसाय और उद्यम इसे कहते हैं। योरोप और अमेरिका तो मानो घर आंगन था, पुराणों के सात द्वीप नौखंड या यों कहिये पूर्व और पश्चिम गोलार्द्ध दोनों को छान उनका सत निकाल लें या यों कहिए अपनी वाणिज्य की योग्यता (ट्रेडिंग केपसिटी) को लेई सा पकाय दोनों गोलार्द्धों को एक में चिपकादें। हमारी पहलवानी के आगे रुस्तम का कोई रुतवा नहीं रहा।"[१]

व्यंग्य के क्षेत्र में गुप्त जी भारतेन्दु और मिश्र जी की परम्परा के परि-पालक एवं प्रवर्तक थे। गुप्त जी के गद्य की प्रथम दो विशेषताएँ हैं सरल मुहावरे दार भाषा और चुटीला व्यंग्य। हिन्दी लिखने से पूर्व वे उर्दू के अच्छे व्यंग्यकार थे। उनके उर्दू-गद्य की यह विशेषता हिन्दी में भी आ गई थी। गुप्त जी की व्यंग्य-रचना के सुन्दरतम निदर्शन 'शिवशम्भु के चिट्ठे' हैं। भंगड़ी शिवशम्भु के दिवा स्वप्नों में विदेशी शासन पर करारी चोटें कीं गई हैं। उन्होंने अंग्रेज अधिकारियों द्वारा सम्पादित भारत-विरोधी कार्यों का सूक्ष्मता के साथ पर्यवेक्षण किया था और फिर उन पर करारे व्यंग्य किये थे। लार्ड कर्ज़न का भारत में वायसराय के रूप में आगमन, उसके द्वारा सम्पन्न सुधार, दिल्ली-दरबार, कलकत्ते का जलूस, विक्टोरिया स्मारक का निर्माण और भारत के शासन काल में उसके द्वारा उपभोग किए गए बैभव-विलास को बुलबुल उड़ाने का स्वप्न कहकर गुप्त जी ने तीव्र चोटें कीं हैं। इसी प्रकार बंग-विच्छेद को 'तुगलकावाद' कह कर उपहास किया है। कर्ज़न द्वारा विश्वविद्यालय-शिक्षा पर किए गए प्रहारों पर व्यंग्य करते हुए गुप्त जी ने लिखा था—"पर सुना है कि अब के विद्या का उद्धार श्रीमान् जरूर करेंगे। उपकार का बदला देना महत् पुरुषों का काम है। विद्या ने आपको धनी किया है, इससे आप विद्या को धनी किया चाहते हैं। इसी से कङ्गालों से छीनकर आप धनिकों को विद्या देना चाहते हैं। इससे विद्या का वह कष्ट मिट जावेगा, जो उससे कङ्गाल को धनी बनाने में होता है। नींव पड़ चुकी है, नमूना कायम होने में देर नहीं। अब तक गरीब पढ़ते थे, इससे

१—पं० बालकृष्ण भट्ट, भट्ट निबन्धावली, दूसरा भाग, चढ़ती जवानी की उमंग, पृ० ६३।

धनिकों की निन्दा होती थी कि वह पढ़ते नहीं। अब गरीब न पढ़ सकेंगे, इससे धनी पढ़े या न पढ़ें, उनकी निन्दा न होगी। इस तरह लार्ड कर्ज़न की कृपा उन्हें बे पढ़े भी शिक्षित कर देगी।"[1] लार्ड कर्ज़न द्वारा किया गया शिक्षा-सुधार मैकाले की मिनिट्स (१८३५) और वुड के निर्णय (१८५४) पर आधारित था। इस सुधार का परिणाम शिक्षा प्रसार, उसकी उपलब्धि में सुविधा और भारतीय जनता का हित न था, प्रत्युत् विश्व-विद्यालयों को सरकारी अफसरों का क्रीड़ा-क्षेत्र बना देना था। इससे भारतीयों की शिक्षा पर गहरा आघात लगा। वह निर्धन और सामान्य जनता के लिए दुष्प्राप्य हो गई। गुप्त जी की उपर्युक्त पंक्तियों में लार्ड कर्ज़न की इस भारत-विरोधी शिक्षा-नीति पर व्यंग्य किया गया है। चुने हुए शब्द, छोटे-छोटे वाक्य और मुहावरों के प्रयोग से शैली में सजीवता और स्पष्टता आ गई है। 'नींव पड़ चुकी है' और 'नमूना कायम होने में देर नहीं' आदि वाक्यों में सामान्य मुहावरों के प्रयोग से प्रभावोत्पादकता आ गई है। 'उपकार का बदला देना महत् पुरुषों का काम है।' इस प्रकार के प्रयोगों से साहित्यिकता का पुट आ गया है।

लार्ड कर्ज़न भारत पर रूसी आक्रमण के भय से शंकित होकर उत्तर-पश्चिम में एक सैनिक-सुरक्षा-पंक्ति बना देने में संलग्न था। कर्जन ही नहीं, उसके पूर्ववर्ती शासकों के लिए भी यह समस्या सिर-दर्द बनी हुई थी। अतः भारत का अधिकांश धन इस समस्या पर व्यय किया जाता था। कर्ज़न ने भी उनका अनुकरण किया था, उसी पर व्यंग्य करते हुए गुप्त जी ने लिखा था—"सरहदों पर फौलादी दीवार बना देना चाहते हैं। जिससे इस देश की भूमि को कोई बाहरी शत्रु उठाकर अपने घर में न ले जावे। अथवा जो शान्ति आपके कथनानुसार धीरे-धीरे यहाँ संचित हुई है, उसे इतना पक्का कर देना चाहते हैं कि आपके बाद जो वैसराय आपके राजसिंहासन पर बैठे उसे शौकीनी और खेल-तमाशों के सिवा दिन में और नाच, बाल या निद्रा के सिवा रात को कुछ न करना पड़ेगा।"[2] इन पंक्तियों में अंग्रेजों द्वारा रूसी भालू के कल्पित भय से साम्राज्य रक्षार्थ किए गए अपव्यय के साथ-साथ, लार्ड कर्ज़न के मिथ्याभिमान पर व्यंग्य किए गए हैं। उसको गर्व था कि वह अपने सुधारों द्वारा भारत का शासन इतना दृढ़ किये जाता है कि परवर्ती

१—बालमुकुन्द गुप्त—शिवशम्भु के चिट्ठे, दूसरा चिट्ठा, पृ० १४–१५।

२— वही वही तीसरा चिट्ठा, पृ० १९-२०।

वायसरायों को चिन्ता न रहेगी। गुप्त जी ने उसके इस गर्व पर प्रहार किया है। राजनीतिक समस्याओं पर लिखे गए 'मार्ली के नाम' पत्र तथा 'लार्ड मिन्टो का स्वागत' नामक चिट्ठे भी कुछ कम व्यंग्यात्मक नहीं। लार्ड मार्ली और मिन्टो की उदारतावादी नीति का भण्डा-फोड़ करने में गुप्त जी ने व्यंग्य का आश्रय लिया है। शाइस्ता खाँ के खत और सर सैयद अहमद का पत्र भी व्यंग्य परम्परा की सुन्दर कड़ियाँ है। राजनीतिक व्यंग्य के अतिरिक्त गुप्त जी ने साहित्यिक व्यंग्य भी लिखा है। पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा भारतेन्दु, राजा शिवप्रसाद, गदाधरसिंह और राधाचरण गोस्वामी की भाषा विषयक भूलें दिखाये जाने पर गुप्त जी ने द्विवेदी जी की बोली, उनके प्रयोग आदि पर अच्छा व्यंग्य लिखा है। आत्माराम के नाम से लिखे गए उनके ये लेख साहित्यिक व्यंग्य के श्रेष्ठ निदर्शन हैं।

अन्ततः गुप्त जी के राजनीतिक तथा साहित्यिक समस्याओं पर लिखे लेखों पर विचार करने के उपरान्त यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि उन्होंने गद्य में भारतेन्दु की उत्तम व्यंग्यात्मक शैली को पुष्ठ एवं प्रौढ़ बनाया था। उन्हीं की भाँति गुप्त जी भी भारत-विरोधी शासक तथा उनके चाटुकारों पर व्यंग्य की बौछारें करते चले गए हैं।

गुप्त जी की गद्य-शैली का क्रमिक विकास—

हिन्दी में आने से पूर्व गुप्त जी उर्दू-गद्य के कुशल लेखक थे। उन्होंने उर्दू भाषा के दो पत्रों का सम्पादन भी किया था। सम्पादकीय-स्तम्भ तथा अन्य पत्रों के लिए लेख लिखते-लिखते उनकी लेखनी उर्दू-गद्य-प्रणयन में पारंगत हो चुकी थी। अस्तु, जब उन्होंने उर्दू का परित्याग करके हिन्दी-क्षेत्र में पदार्पण किया तब उन्हें हिन्दी-गद्य लिखने में विशेष कठिनाई का सामना न करना पड़ा था। दिल्ली प्रान्त के मूल निवासी होने के कारण हिन्दी की आत्मा और रूप से उनका परिचय था ही। पं० प्रतापनारायण मिश्र के सहयोग से हिन्दी का यह परिचय गम्भीर ज्ञान के रूप में परिणत हो गया था। 'हिन्दोस्थान' (कालाकांकर) के कार्य-काल में ही गुप्त जी हिन्दी-गद्य लिखने में सिद्धहस्त हो गए थे। यही कारण था कि वे उक्त पत्र के सम्पादकीय-मंडल के प्रधान नियुक्त हो गए थे। 'हिन्दी बंगवासी' और 'भारत मित्र' के सम्पादन-काल में गुप्त जी की गद्य-शैली में यथोचित संस्कार एवं परिमार्जन का समावेश हुआ। यही उनकी शैली के चरमोत्कर्ष का काल था।

गुप्त जी के गद्य की सर्व प्रथम विशेषता है, सरल शैली लिखना। इस

शैली में वाक्य छोटे-छोटे किन्तु भावपूर्ण होते हैं। हिन्दी के अतिरिक्त अन्य भाषाओं के प्रचलित शब्दों का व्यवहार भी स्वतन्त्रता पूर्वक होता है। शब्द-विन्यास सरल और बोध गम्य होता है। प्रचलित और साधारण मुहावरों का प्रयोग भी होता है। अतः स्पष्टता, स्वच्छता और प्रभावोत्पादकता आदि गुण सर्वत्र वर्तमान रहते हैं। उदाहरण के लिए—"आप लिवरल दल की ओर से लिवरल लीडर मिस्टर ग्लैडष्टन के द्वारा ३० करोड़ भारतीय प्रजा पर शासन करने को भेजे गये थे। उदारदल की ओर से हमें आपकी उदारता की बड़ी आशा दिलाई गई थी परन्तु वह सब व्यर्थ हुई। ग्लैडष्टन तो मर गये परन्तु भारत की छाती पर यह अच्छा प्राणहरण पत्थर धर गये। यदि आज ग्लैडष्टन जीवित होते तो निस्सन्देह तुम्हें विलायत में वापिस देख बड़े लज्जित हुए होते। तो भी वे तुम्हारे नाम पर आकाश में अश्रुपात कर रहे हैं। वे मन ही मन पछता रहे हैं कि मैंने बुढ़ापे में यह क्या भारतवासियों का श्राप अपने सिर लिया।"[1] उक्त उद्धरण में वाक्य-विन्यास सरल और सुसंघठित है। अधिकांशतः एक क्रिया वाले वाक्यों का व्यवहार किया गया है। कहीं-कहीं संयोजक शब्दों से दो वाक्यों को मिलाकर बात पूर्ण की गई है, अतः भाषा में शिथिलता और क्लिष्टता का समावेश नहीं हो पाया। 'लिवरल', 'लीडर', 'मिस्टर' आदि अँग्रेजी के तत्सम शब्दों के व्यवहार से स्पष्टता आ गई है। 'अश्रुपात करना' 'मन-मन में पछिताना' और 'छाती पर पत्थर रखना' आदि मुहावरों का बड़ी कुशलता के साथ प्रयोग किया गया है। अतः भाषा में प्रवाह और स्पष्टता का समावेश हो गया है।

अनवरत अध्ययन और सतत साधना के फलस्वरूप गुप्त जी की सरल शैली में अधिक कलात्मकता तथा साहित्यिकता का समावेश होता गया। इस अवस्था में भी वाक्य अपेक्षाकृत छोटे-छोटे और भावपूर्ण होते हैं। अनुभूति की सफल अभिव्यंजना के लिए जगत् प्रसिद्ध उपमानों का उल्लेख करके प्रतिपादित भाव को लोक-सामान्य की अनुभूति का विषय बनाने का प्रयास इस शैली का विशिष्ट गुण है। शब्द नपे-तुले, भावपूर्ण और उपयुक्त होते हैं। चित्रमयता भी इस शैली की अपनी विशेषता है। यथा—"तीसरे पहर का समय था। दिन जल्दी-जल्दी ढल रहा था और सामने से संध्या फुर्ती के साथ पाँव बढ़ाये चली आती थी। शर्मा महाराज बूटी की धुन में लगे हुए थे।

१—भारत मित्र, लार्ड एलगिन का प्रस्थान, २ जनवरी सन १८९९ ई०।

सिलबट्टे से भंग रगड़ी जा रही थी। मिर्च मसाला साफ हो रहा था। बादाम इलायची के छिलके उतारे जाते थे। नागपुरी नारंगियां छील-छील कर रस निकाला जाता था। इतने में देखा कि बादल उमड़ रहे हैं। चीलें नीचे उतर रहीं हैं, तबीयत भुरभुरा उठी इधर भंग उधर घटा, बहार में बहार। इतने में वायु का वेग बढ़ा, चीलें अदृश्य हुईं। अंधेरा छाया। बूदें गिरने लगीं। साथ ही तड़तड़-धड़धड़ होने लगी, देखा ओले गिर रहे हैं। ओले थमे, कुछ वर्षा हुई। बूटी तय्यार हुई, बम बोला कहके शर्मा जी ने एक लोटा भर चढ़ाई। ठीक उसी समय लाल डिग्गी पर बड़े लाट मिन्टो ने बंग देश के भूतपूर्व छोटे लाट उडवर्न की मूर्ति खोली।"[१] प्रस्तुत उद्धरण के सरल वाक्यों में अर्थ ठूँस-ठूँस कर भरने का प्रयास स्पष्ट है। संज्ञा, क्रिया, विशेषण एवं क्रिया-विशेषण आदि की विशेषता प्रदर्शित करने वाले अन्तर्वाक्यों का प्रयोग न करके एक क्रिया वाले सरल वाक्यों की सशक्त आयोजना की गई है। अस्पष्ट, अप्रचलित एवं गूढ़ उद्धरणों का सर्वथा अभाव है। व्याकरण शुद्धता, प्रसिद्ध पदों का प्रयोग और विचार सुसम्बद्धता का पूरा ध्यान रखा गया है। अतः शैली में सरलता, स्वच्छता तथा स्पष्टता आदि गुणों का समावेश हो गया है। घटनाओं का आयोजन इस प्रकार किया गया है कि पाठक प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता, कहीं कोई अशिष्टता की बात नहीं कही गई। अस्तु, प्रभावोत्पादकता और शिष्टता भी शैली में वर्तमान हैं। भंग पीसने की क्रिया और वर्षा के वातावरण का सजीव चित्र अंकित कर दिया है। 'दिन ढलना', 'पाँव बढ़ाए आना', 'धुन में लगना', 'तबियत भुरभुराना, और 'बहार में बहार' आदि मुहावरों के प्रयोग से प्रभावोत्पादकता और प्रवाह का समावेश हुआ है। सर्वत्र सीधे एवं सरल वाक्यों में सब कुछ कह देने का प्रयास है। द्रविड़ प्राणायाम कराने की चेष्टा कहीं भी नहीं की गई। व्यंग्य के हलके एवं शिष्ट प्रयोग से शैली में और भी उत्कृष्टता आ गई है। इतिवृत्त वर्णन में कलात्मकता और साहित्यिकता का समुचित पुट है। यही गुप्त जी की आदर्श शैली है।

कथन में अधिक चमत्कार लाने के उद्देश्य से तथा अभिव्यंजना में सौंदर्य विकास की दृष्टि से, गुप्त जी इस शैली में लोक व्यवहृत उक्तियों एवं घटनाओं का उल्लेख भी किया करते थे। इससे शैली में सजीवता, भावोत्तेजकता और कुतूहलवृद्धि का समावेश हो जाता है और शैली अधिक प्रभावशाली, सबल, सरल और सुबोध हो जाती है। उदाहरण के लिए—"वह और कोई नहीं

१—बालमुकुन्द गुप्त—चिट्ठे और खत, आशीर्वाद, पृ० ४०।

थे, यदुवंशी महाराज वसुदेव थे और नवजात शिशु कृष्ण। उसी को उस कठिन दशा में उस भयानक काली रात में वह गोकुल पहुँचाने जाते हैं। कैसा कठिन समय था। पर दृढ़ता सब विपदों को जीत लेती है, सब कठिनाइयों को सुगम कर देती है। वसुदेव सब कष्टों को सहकर यमुना पार करके भींगते हुए उस बालक को गोकुल पहुँचा कर उसी रात कारागार में लौट आये। वही बालक आगे कृष्ण हुआ, ब्रज का प्यारा हुआ, मा बाप की आँखों का तारा हुआ, यदुकुल मुकुट हुआ। उस समय की राजनीति का अधिष्ठाता हुआ। जिधर वह हुआ उधर विजय हुई, जिसके विरुद्ध हुआ उसकी पराजय हुई। वही हिन्दुओं का सर्वप्रधान अवतार हुआ और शिवशम्भु शर्मा का इष्टदेव, स्वामी और सर्वस्व। वह कारागार भारत सन्तान के लिये तीर्थ हुआ। वहाँ की धूल मस्तक पर चढ़ाने योग्य हुई—"[1]—इन पंक्तियों में भारतीयों के सम्मुख स्वाधीनता संग्राम के लिए जेल-यात्रा का महत्त्व प्रतिपादन के उद्देश्य से कारावास में कृष्ण के जन्म और वसुदेव का उनको लेकर जाने वाली लोक-विख्यात कथा का उल्लेख किया गया है। इस लोक-प्रसिद्ध घटना के उल्लेख मात्र से उनके कथन में विदग्धता और अनुभूति प्रकाशन में प्रभावोत्पादकता आगई है। वाक्य-संघठन सुसम्बद्ध और बेजोड़ है। कहीं भी भरती के शब्दों का समावेश नहीं हुआ। भाव-व्यंजना में दृढ़ता और शक्ति लाने के उद्देश्य से बात को दुहरा भी दिया गया है, यथा—'जिधर वह हुआ उधर विजय हुई, जिसके विरुद्ध हुआ उसकी पराजय हुई।' वही बालक आगे कृष्ण हुआ, ब्रज का प्यारा हुआ, मा बाप की आँखों का तारा हुआ, यदुकुल मुकुट हुआ, उस समय की राजनीति का अधिष्ठाता हुआ' आदि। एक के उपरान्त दूसरे प्रभावशाली वाक्य के आने से कथन में स्पष्टता, प्रभाव और विदग्धता आगई है। 'दृढ़ता सब विपदों को जीत लेती है, सब कठिनाइयों को सुगम कर देती है।' 'वह कारागार भारत संतान के लिए तीर्थ हुआ। वहाँ की धूल मस्तक पर चढ़ाने योग्य हुई' आदि वाक्यों के प्रयोग से शैली में सजीवता और प्रभाव के अतिरिक्त कलात्मकता एवं साहित्यिकता का समावेश हुआ है। मुहावरों के प्रयोग से प्रवाह और सजीवता भी शैली में वर्तमान है।

जब गुप्त जी साधारण विषय का प्रतिपादन करते हैं तब भी वह इस सरल शैली का आश्रय लेते हैं। उस समय न तो कथन में विदग्धता पाई जाती है और न उक्ति में सौंदर्याभिवृद्धि की प्रवृत्ति। प्रत्युत वाक्य सरल और भाषा प्रवाह-

---

१—बालमुकुन्द गुप्त—चिट्ठे और खत, आशीर्वाद, पृ० ४३।

मयी होती है। कथन में स्पष्टता, अर्थोपस्थिति का सफल प्रयास और चित्रात्मकता उस समय शैली के प्रधान गुण होते हैं। उदाहरण के लिए सर्प-दंशित व्यक्ति का उल्लेख करते हुए आपने लिखा है—"क्रम से आँखें स्थिर हो जाती हैं, सारा शरीर शीतल और पसीने से तर हो जाता है, जल्दी-जल्दी सांस आने लगती है और साथ-साथ रोगी का ज्ञान भी लोप हो जाता है। पीछे मुँह से राल गिरती है, शरीर बदरंग हो जाता है, शेष में ऐठन प्रारम्भ होती है, अन्त को मर जाता है।"[१] इन पंक्तियों को देखकर गुप्त जी की शैली का अन्तर भली प्रकार समझा जा सकता है। दोनों में वाक्य सरल और सीधे होते हैं। पद-विन्यास सुबोध और मधुर होता है तथा अर्थ-स्पष्टता दोनों का प्रधान गुण। किन्तु प्रथम में साहित्यिकता और कलात्मकता का अधिक पुट होता है और दूसरी केवल साधारण वर्णनात्मक रूप लिए हुए होती है।

गुप्त जी अपने रचना-काल के प्रारम्भिक दिनों में दूसरे प्रकार की शैली का प्रयोग करते थे, किन्तु सतत अभ्यास के कारण उनकी शैली का रूप बाद में प्रथम प्रकार का हो गया था, यही गुप्त जी की प्रमुख शैली है। वे चाहे आलोचनात्मक लेख लिख रहे हों अथवा ऐतिहासिक निबन्धों का प्रणयन कर रहे हों, समाचार-पत्रों का इतिहास प्रस्तुत कर रहे हों अथवा जीवन-चरितों का सृजन कर रहे हों; सर्वत्र उनकी इसी शैली के दर्शन होते हैं। इतना अवश्य है कि जब वे राजनीतिक समस्याओं पर लिखते समय व्यंग्य का आश्रय लेते हैं अथवा साहित्यिक लेख लिखते समय अपने प्रतिद्वन्दी पर प्रहार करते है, तब उनकी शैली व्यंग्यात्मक हो जाती है। उस समय उनकी भाषा में अधिक फड़क, चुलबुलाहट और उग्रता आ जाती है। लोक प्रसिद्ध रूढ़ियों, उक्तियों और चुटकुलों का समावेश करके आप अपने शिकार को आहत करते हैं। इस शैली में बड़े सशक्त और प्रवाह प्राप्त मुहावरों का प्रयोग होता है, अँग्रेजी तथा उर्दू के तद्भव और तत्सम दोनों ही प्रकार के शब्दों का प्रयोग किया जाता है और नपे-तुले शब्दों में बात कहकर व्यंग्य का प्रहार किया जाता है। भाषा पूर्णतः व्यावहारिक, सरल और भाव प्रकाशन में समर्थ होती है। चिकोटी काटते चलना इस भाषा की प्रमुख विशेषता है। शब्दों तथा वाक्यों में व्यंग्य-भाव कूट-कूट कर भरा हुआ होता है। वह कहीं-कहीं प्रत्यक्ष और स्पष्ट होता है और कहीं अति गूढ़ और मर्मान्तक। लार्ड कर्जन और अँग्रेजी राज्य पर व्यंग्य का एक उदाहरण इस प्रकार है—"आपके हुक्म की

१—बालमुकुन्द गुप्त—सर्पाघात चिकित्सा, पृ० १।

तेजी तिब्बत के पहाड़ों की बरफ को पिघलाती है, फारिस की खाड़ी का जल सुखाती है, काबुल के पहाड़ों को नर्म करती है। जल, स्थल, वायु, और आकाश मण्डल में सर्वत्र आपकी विजय है। इस धराधाम में अब अँग्रेजी प्रताप के आगे कोई उँगली उठाने वाला नहीं है। इस देश में एक महाप्रतापी राजा के प्रताप का वर्णन इस प्रकार किया जाता था कि इन्द्र उसके यहाँ जल भरता था, पवन उसके यहाँ चक्की चलाता था, चाँद सूरज उसके यहाँ रोशनी करते थे, इत्यादि। पर अँग्रेजी प्रताप उससे भी बढ़ गया है। समुद्र अँगरेजी राज्य का मल्लाह है, पहाड़ों की उपत्यकाएँ बैठने के लिये कुर्सी मूढ़े। बिजली कलें चलाने वाली दासी और हजारों मील खबर लेकर उड़ने वाली दूती।"[1]

प्रस्तुत उद्धरण में लार्ड कर्ज़न द्वारा काबुल (अफगानिस्तान) और तिब्बत के साथ किए गए अन्यापूर्ण कार्यों को लक्ष्य करके व्यंग्य किया गया है। अँग्रेजी साम्राज्य के प्रतिनिधि लार्ड कर्ज़न की इस देश के महाप्रतापी राजा अर्थात् रावण से तुलना करके उसके कार्य और प्रभाव पर तीव्र व्यंग्य किया गया है। इस तुलना मात्र से ही अँग्रेजी राज्य का अनाचार, अनैतिक व्यवहार, उत्पीड़न और अमानवीय पक्ष स्पष्ट रूप से पाठक के सम्मुख अंकित हो उठता है। यदि अर्थोपस्थिति और अनुभूति प्रकाशन की यह शैली न अपना कर किसी अन्य प्रणाली द्वारा भाव-व्यंजना की गई होती तो वह नीरस, रूक्ष और उत्तेजक प्रतीत होती और केवल राजनीतिक प्रचार की कोटि में आती। इस लोक-विख्यात उक्ति द्वारा भाव-प्रकाशन में चमत्कार और अर्थोपस्थिति में स्पष्टता आगई है। अँग्रेजी राज्य के न्याय पर किया गया गुप्त जी के व्यंग्य का दूसरा उदाहरण इस प्रकार है—"बड़े लाट होकर भारत में पदार्पण करने के समय इस देश के लोग श्रीमान् से जो जो आशाएँ करते और सुख स्वप्न देखते थे, वह सब उड़नछू हो गये। इस कलकत्ता महानगरी के समाचार पत्र कुछ दिन चौंक-चौंक पड़ते थे कि आज बड़े लाट अमुक मोड़ पर वेश बदले एक गरीब काले आदमी से बातें कर रहे थे, परसों अमुक आफिस में आकर काम की चक्की में पिसते हुए क्लर्कों की दशा देख रहे थे और उनसे कितनी ही बातें पूछते जाते थे। इससे हिन्दू समझने लगे कि फिर से विक्रमादित्य का आविर्भाव हुआ या अकबर का अमल हो गया। मुसलमान खयाल करने लगे, खलीफा हारूंरशीद का जमाना आ गया। पारसियों ने आपको नौशीरवाँ

१—बालमुकुन्द गुप्त—शिवशम्भु के चिट्ठे, चौथा चिट्ठा, पृ० २६।

समझने की मोहलत पाई थी या नहीं, ठीक नहीं कहा जा सकता।"[1] इन पंक्तियों में लार्ड कर्ज़न की न्याय-प्रणाली पर व्यंग्य किया गया है। उसकी बुद्धिमत्ता और कार्य-दक्षता देखकर भारतीयों ने उससे न्याय, सुशासन और उचित व्यवहार की आशा की थी, किन्तु यह विफल हुई। अतः यह विफलता व्यंग्य का केन्द्र है। न्यायप्रिय शासकों के उदाहरण देने और कर्ज़न के विषय में वेष-बदल कर वास्तविक अवस्था का ज्ञान करने की कल्पना करने से व्यंग्य अधिक स्पष्ट हो गया है। 'उड़नछू हो गये', 'काम की चक्की में पिसते हुए' और 'मुहलत पाई' आदि प्रयोगों से स्पष्टता तथा सजीवता आ गई है। 'जो-जो' और 'चौंक-चौंक' को युग्म में प्रयोग करके प्रभाव उत्पन्न किया गया है। केवल 'जो' और 'चौंक' के प्रयोग से वह प्रभाव सम्भव न था जो वर्तमान अवस्था में उत्पन्न हो गया है।

गुप्त जी की व्यंग्यात्मक शैली की विशेषताएँ, सुन्दर उपमाएँ बिठाना, उपयुक्त उदाहरण रखना, लोक-अनुभूति-विषयक उक्तियों एवं घटना का उल्लेख करना, कथन में विदग्धता और चमत्कार उत्पन्न करने के लिए विख्यात सूक्तियों का प्रयोग करना, शैली में स्पष्टता के उद्देश्य से सबल तथा प्रचलित मुहावरों का प्रयोग करना और सबसे ऊपर व्यंग्य का तीव्र पुट लगाना आदि हैं। जब गुप्त जी की व्यंग्यात्मक शैली से उपहास करने वाले तथा व्यंग्य का पुट देने वाले शब्दों को पृथक् कर दिया जाता है और उनके स्थान पर कुछ अधिक गम्भीर एवं संयत शब्दों का व्यवहार होने लगता है, तब वह उनकी आलोचनात्मक शैली बन जाती है। गुप्त जी की इस शैली के कवियों के जीवन-चरितों में, हिन्दी भाषा नामक पुस्तक में और समाचार पत्रों के इतिहास में दर्शन होते हैं। शेख सादी सम्बन्धी उनकी आलोचनात्मक शैली का एक उदाहरण इस प्रकार है—"शेख सादी की भाँति नीति लिखने वाले फारसी में बहुत ही कम हुए हैं। उनकी "गुलस्तान" के बन जाने के बाद कई आदमियों ने वैसी ही किताबें बनाईं पर किसी से सादी की बराबरी न हो सकी और न उनकी पुस्तकों को कोई पूछता है। सादी के लेख में सादापन बड़ा भारी है। फिर कहने का ढङ्ग इतना सुन्दर है कि तबियत खिल जाती है, उसकी कविता खिले हुए फूल के सदृश है। इसने अपनी किताबों का नाम "गुलस्तान", "बोस्तान" ठीक ही रखा है। कड़ी बात को मीठे ढङ्ग से कहना, न कहने योग्य बात को हँसी-हँसी से कह जाना, शेख सादी ही का

१—बालमुकुन्द गुप्त, शिवशम्भु के चिट्ठे, पाँचवा चिट्ठा, पृ० ३०–३१।

हिस्सा है।"[१] गुप्त जी की इस शैली में लगभग वे सब गुण वर्तमान हैं जो उनकी सरल-शैली के भूषण हैं। आलोचनात्मक शैली में भी वाक्य छोटे-छोटे, संयत-सरल और सुसंघटित है। तद्भव शब्दों का प्रयोग और सर्वत्र सुबोधता लक्षित होती है। केवल व्यंग्य और तीखापन नहीं पाया जाता। इसी शैली का एक दूसरा उदाहरण है—"हरिश्चन्द्र ने हिन्दी को फिर से प्राण दान किया। उन्होंने हिन्दी में अच्छे-अच्छे समाचार पत्र, मासिक पत्र आदि निकाले और उत्तम-उत्तम नाटकों और पुस्तकों से उसका गौरव बढ़ाना आरम्भ किया। यद्यपि उन्होंने बहुत थोड़ी आयु पाई और सत्तरह-अठारह वर्ष से अधिक हिन्दी की सेवा न कर सके, तथापि इस अल्प काल ही में हिन्दी संसार में युगान्तर उपस्थित कर दिया। उनके सामने कितने ही हिन्दी के अच्छे लेखक हो गए थे। कितने ही समाचार पत्र निकलने लगे थे। जिस हिन्दी को लोग पहले आँख उठाकर न देखते थे, वह सबकी आँख का तारा हो चली थी।......उन्हीं की हिन्दी में आजकल के सामयिक पत्र निकलते हैं और पुस्तकें बनती हैं। दिन पर दिन लोग शुद्ध हिन्दी लिखना और शुद्ध देवनागरी लिपि में पत्र व्यवहार करना सीखते जाते हैं।"[२]

यह गुप्त जी की आलोचनात्मक शैली है, जिसमें सम्यक् गाम्भीर्य और विषय प्रतिपादन में अपेक्षित संयम पाया जाता है। व्यंग्य इस शैली का प्रधान गुण नहीं है। मुहावरों के प्रयोग से प्रतिपादित विषय की महत्ता स्थापित की जाती है। वाक्य-विन्यास सर्वत्र सरल सीधा होता है। स्पष्टता, स्वच्छता, सरलता और प्रभावोत्पादकता आदि गुणों का इस शैली में सर्वथा समावेश रहता है।

प्रधानतः गुप्त जी की दो ही प्रमुख शैलियाँ हैं। उनकी प्रथम शैली सरल शैली है और दूसरी व्यंग्यात्मक। उनकी शैली की उत्कृष्टता और प्रभावोत्पादकता का रहस्य हिन्दी तथा उर्दू के शब्द तथा मुहावरों के प्रचलित रूपों का प्रयोग है। उनकी भाषा में अप्रचलित रूढ़िगस्त, दुरूह और अर्थ बोध के अनुपयुक्त शब्दों का प्रयोग नहीं पाया जाता। उन्हें शब्दों की आत्मा का पूर्ण ज्ञान है। मुहावरों का प्रयोग उनकी भाषा में प्रचुरता के साथ हुआ है परन्तु सर्वत्र स्वाभाविकता और स्पष्टता का ध्यान रखा गया है। उन्होंने सामान्यतः फड़क उठना, हृदय नृत्य करने लगना, खयाल पूरा करना, लीलाएँ दिखाना,

---

१—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, शेख सादी, पृ० ७२।

२—बालमुकुन्द गुप्त—हिन्दी भाषा, भूमिका।

गुस्ताखी करना, जीने मरने का साथ, शेखी में रहना, हौसला बढ़ाना, हिम्मत तोड़ना, धूल में मिलाना, नशा किरकिरा करना, काफूर होना, सिक्का जमाना, आँखों पर पट्टी बांधना, कानों में ठीके ठोकना, नाक में नकेल डालना, खयाली घोड़ों की बाग ढीली करना, गर्म राख पर बिस्तर रखना, गर्म तवे पर पानी की बूँदों की भाँति नचाना, दीवाला निकलना, सिर पर आरा रखना, हक्का बक्का होना, टकटकी लगाना, फिराक में टिसवे बहाना तथा टेढ़ी खीर आदि मुहावरों का, 'रहेंगे तो सूद में' 'मूलधन समाप्त हो गया', 'तितलियों का सा जीवन होता है', 'जो खुदा दिखावे, सो लाचार होकर देखना', 'बिछड़न समय बड़ा करुणोत्पादक होता है', 'भाग्यवानों से कुछ न कुछ सम्बन्ध निकाल लेना संसार की चाल है', 'आशा मनुष्य को लुभाती है, विशेष कर दुर्बल को कष्ट देती है', 'जो गंधी कुछ दे नहीं तऊ वास सुवास', 'स्थिरता न प्रभात को है और न संध्या को', 'सदा न वसन्त रहता है और न ग्रीष्म', 'झूठा है वह हकीम जो लालच से मालके, अच्छा कहे मरीज के हाले तबाह को', 'साधुओं पर संकट पड़ने से शुभ दिन आते हैं', और 'पिजड़े में भी चिड़िया बोल सकती है, कैद में भी जबान कैद नहीं होती' आदि सूक्तियों का तथा 'नरवरगढ़ के राजकुमार', 'गधी को गधा कहने वाले कुम्हार', 'ताक के बालक और सौतेली मां' और लड़ाकू बालक तथा उसकी मां के चुटकुलों एवं अन्यान्य जन-श्रुतियों का इतना सुन्दर प्रयोग इनके लेखों में हुआ है कि भाषा में स्वच्छता, स्पष्टता, सजीवता और स्वाभाविकता आदि गुण आ गए हैं। कहीं भी ऐसा प्रतीत नहीं होता कि मुहावरों, उक्तियों और जन-श्रुतियों का अजायबघर तैयार किया गया है। इसके विपरीत शैली में उक्तियों तथा लोकोक्तियों के प्रयोग से विदग्धता, प्रभावशीलता और कुतूहल बुद्धि का समावेश हुआ है। गुप्त जी द्वारा प्रयुक्त मुहावरे अंग्रेजी आदि भाषाओं के अनुवाद न होकर हिन्दी अथवा उर्दू के प्रवाह प्राप्त मुहावरे हैं। अतः उनसे कथन तथा भाव-प्रकाशन में सबलता और प्रभावोत्पादकता आ गई है। सारांश में कह सकते हैं कि गुप्त जी भाषा के उचित रूप और हिन्दी की जातीय शैली के निर्धारण में पूर्ण सफल हुए हैं।

उपसंहार—

गुप्त जी के गद्य-साहित्य का अध्ययन एवं विवेचन करने के उपरान्त यह स्पष्ट प्रकट हो जाता है कि भारतेन्दु युग के लेखक-मण्डल में गुप्त जी ने एक साधारण और हिन्दी के प्रारम्भिक पाठक की भांति प्रवेश पाया था, किन्तु

शीघ्र ही उन्होंने अपनी जन्म-जात प्रतिभा और उर्दू-लेखक के रूप में प्राप्त गम्भीर अनुभव के बल पर उच्च स्थान बना लिया था। उन्होंने मिश्र जी से हिन्दी सीखी अवश्य, किन्तु व्यंग्य की उत्तम शैली और अभूतपूर्व राष्ट्रीयता उनमें उर्दू-लेखन-काल में ही वर्तमान थी। उन्हें केवल अभिव्यक्ति का माध्यम बदलना पड़ा था। यही कारण है कि गुप्त जी ने शीघ्र उच्च-कोटि का हिंदी गद्य लिखना प्रारम्भ कर दिया था और इस गुण में वह अन्यों की अपेक्षा अधिक आगे निकल गये थे। हिन्दी की सरल एवं चलती शैली के सृजक के रूप में गुप्त जी युग-विधायक लेखक के रूप में प्रतिष्ठा पाने योग्य हैं। उन्होंने हिन्दी को जितना गतिशील, समयोपयोगी, और सर्वमान्य बनाया उतना कार्य इस दिशा में दूसरे लेखकों से न हो सका।

गुप्त जी ने अपनी निर्भीक-लेखनी द्वारा इतिहास की सामयिक घटनाओं का इस उत्तमता के साथ वर्णन किया और उनमें यथा-समय कल्पना से ऐसे सुन्दर रंग भरे कि उनके चिट्ठे और खत देश-प्रेम तथा राष्ट्रभक्ति के प्रतीक और हिन्दी-व्यंग्य के उत्कृष्ट उदाहरण बन गए। गुप्त जी ने इन चिट्ठे और खतों के अतिरिक्त हिन्दी-गद्य में और कुछ न भी लिखा होता तो उन्हें उत्तम व्यंग्यकार तथा शैलीकार प्रमाणित करने के लिए ये चिट्ठे पर्याप्त थे।

अध्याय ७

बालमुकुन्द गुप्त की कविता

गद्य रचना के अतिरिक्त बालमुकुन्द गुप्त को काव्य प्रतिभा भी प्राप्त थी जो उर्दू तथा हिन्दी-कवियों के संसर्ग से अधिक उन्नत होती गई थी। उनकी कविता युग और साहित्य की सीमा से पूर्ण प्रभावित होते हुए भी अधिकांश में प्रगतिशील और उग्र थी।

बालमुकुन्द गुप्त की उर्दू कविता—

हिंदी में आने से पूर्व गुप्त जी उर्दू के एक कुशल लेखक और कवि थे। गुड़ियानी के उर्दूमय वातावरण, बाल्यावस्था के मित्र और प्रारम्भिक शिक्षा गुरू के निरन्तर सत्संग ने गुप्त जी को उर्दू-कविता की ओर आकृष्ट किया था। गुड़ियानी और इसका निकटस्थ ग्राम झज्जर उन दिनों उर्दू-कविता और उर्दू समस्या पूर्ति के लिए मुख्यतः उर्वर स्थान थे। पं० दीनदयाल द्वारा संस्थापित 'रिफाहे आम सोसाइटी' कवि सम्मेलनों (मुशायरों) का आयोजन करती, जिसमें अनेक प्रकार की समस्या-पूर्तियाँ होती थीं और गुप्त जी की उर्दू-रचनाओं का पाठ होता था। इस प्रकार वहीं गुप्त जी इस कला में सिद्ध-हस्त हो गये थे। आप मुन्शी बजीर मुहम्मद तथा अपने ग्राम के मौलवी बरकत अली को अपने गुरुओं में श्रद्धापूर्वक स्थान देते थे। उर्दू-कविता में आप मौलाना सितम ज़रीफ़ को अपना गुरू मानते थे। उर्दू पद्य-रचना में आप अपना नाम 'शाद' जिसका अर्थ आनन्द होता है—रखते थे।

हिन्दी की भाँति उर्दू में भी गुप्त जी की प्रतिभा बहुमुखी थी। एक ओर तो उनकी लेखनी से सुन्दर व्यंग्यात्मक निबन्ध निसृत हुए, तो दूसरी ओर सरस कविता पयस्विनी की धारा प्रस्फुटित हुई। विशेषता यह है कि उनकी लेखनी से परम्परागत परिपालन के लिए केवल श्रृङ्गार रस की कविताएँ ही प्रसूत नहीं हुईं, प्रत्युत दार्शनिक कविता, नीति-सूक्तियाँ, व्यंग्यात्मक रचना तथा राजनीति और अन्तरराष्ट्रीय घटनाओं को लेकर लिखीं गईं कविताएँ भी सृजित हुईं। गुप्त जी की श्रृंगार रस की कविता पर विचार करने से पूर्व

अपनी शृंगारिक कविता पर स्वयं प्रस्तुत किए गए उनके दृष्टिकोण को देख लेना परमावश्यक है। गुप्त जी ने 'जंगे इश्क' लिखते समय लिखा है—

"अजायब है ए शाद ! नैरंगे इश्क, लिखी खूब हैरत ने यह जंगे इश्क।
मजामीन ताजा व मरगूब हैं। खयालात पाकीजा और खूब हैं।"

उपर्युक्त पंक्तियों से शृंगार विषयक उनका अभिमत स्पष्ट है। उनका मन्तव्य है कि शृङ्गार रस सम्बन्धी मेरे विचार शुद्ध और पवित्र हैं; इनमें मलिनता तथा अपवित्रता का लेश-मात्र भी नहीं है। इस कथन का निर्वाह भी आपने अंत तक किया है।

उर्दू-शायरी में आशिक, माशूक, साकी, माहरू, शराब, बुत तथा बुत-खाना का प्रायः उल्लेख किया जाता है। अधिकांश में ये ही उर्दू-कविता के वर्ण्य-विषय रहे हैं। शृङ्गार के क्षेत्र में 'शाद' साहब ने भी अपने पूर्वकालीन तथा समकालीन कवियों की इस परम्परा का निर्वाह किया है। आप भी माहरू की निष्ठुरता, उसकी शोखी, प्रेमी का उसकी ओर आकर्षण तथा उसकी हृदय-हीनता का उल्लेख करते हैं—

"मैं आज सुबह जो उस माहरू को घूर आया।
तो इश्क बाजी का मुझको अजीब शऊर आया॥
पुकारा शोख ने खिड़की से मुझको जब ए शाद।
तो मैं घबरा के कहने लगा 'हुजूर आया॥"

इन पंक्तियों के 'हुजूर आया' शब्द में बड़ा तीव्र व्यंग्य है। मानो अपने अफसर की कड़ी फटकार खाया हुआ कोई दफ्तर का क्लर्क जिसके मस्तिष्क पर पूर्व-घटना का प्रभाव विद्यमान हो और प्रेमाभिनय करने के लिये चला हो, ऐसी अवस्था में आशा के विरुद्ध प्रेमिका को खिड़की में बैठा देख, अपने को संभालने में असमर्थ पाकर किंकर्त्तव्यविमूढ़ावस्था में कह रहा हो 'हुजूर आया' क्योंकि उसे दफ्तर में हाकिम की बातों पर 'हुजूर आया' कहने का अभ्यास है। इसके अतिरिक्त प्रेमाभिनय में प्रेमिका भी अफसर से कुछ कम नहीं जिसकी हर इच्छा को प्रेमी सिर और आँखों के बल पूर्ण करने को तत्पर रहता है। 'शाद' के शृङ्गार रस विषयक कुछ फुटकर शेर पाये जाते हैं, देखिये—

"कोई दिन आकर मेरी तुरबत को गर धोकर पिए,
कैस तब कुछ हुए वाकिफ इश्क के दस्तूर से।"

"हुए क्या मुझ रखने दिल के दानेसूजा का इलाज।
रखते ही उड़जाता है ऐ शाद असर काफूर का।"

"पसे मुर्दन दिखाया रंग अपना हज़्बे उल्फ़त ने।
जिगर थामे हुए वह बुत मेरी तुरबत पे आता है।"

"सुना तुमने नहीं क्या कौले सआदी, वफा किससे करते हैं अफगां।"

उर्दू काव्य में बुत, बुत-परस्ती, शराब, साक़ी, सनम, माशूक और रक़ीब के अतिरिक्त शेख़ और बरहमन (ब्राह्मण) का भी प्राय: उल्लेख हुआ करता है। कवि प्राय: शेख़ को शराब पीते तथा प्रेमाभिनय करते दिखाया करते हैं। ऐसा करने में उन्हें आत्मसन्तोष होता है। 'शाद' साहब ने भी शेख़ के शराब पीने तथा उसके पश्चात् उसकी बुत-परस्ती की अभिलाषा का चित्रण किया है। देखिये—

"थिरकते नाचते जो रिन्दों में आई बहार,
तमाशा शेख़ की भी अक्ल में फतूर आया।
पकड़ के छोड़ आया हाजिरे खिदमत उनको,
नशे में शेख़ जो कल रात होके चूर आया।"

इन पंक्तियों में 'शाद' ने परम्परा का अनुगमन किया है। उर्दू-कवियों ने शराब खाने में दो प्रकार के व्यक्तियों की कल्पना की है, रिन्द-शराब पीने वाला और दूसरा शेख़-परस्त, शराब न पीने वाला। अस्तु, शेख की भगवद्भक्ति पर व्यंग्य करते हुए उसका साधिकार मजाक उड़ाया जाना उर्दू-काव्य की अपनी विशेषता रही है। यहाँ भी उसकी भगवद्भक्ति—खुदा-परस्ती—तथा मदिरा असेवन का उपहास किया गया है। 'शाद' साहब भी मदिरालय में रिन्दों को पीते देखकर शेख को पीने के लिये आतुर तथा प्रेमाभिनय करता हुआ दिखाने का मोह सम्वरण न कर सके। उन्होंने दिखाया है कि रिन्दों को थिरकते और नाचते गाते देखकर शेख़ भी उसी रंग में रंग गया। पर 'शाद' को यहाँ तक ही सन्तोष न हुआ उनकी कल्पना कुछ और आगे बढ़ी है। जब सभी मान्यताओं और आदर्शों की अवहेलना करके शेख़ मदिरालय में मद पीकर मदोन्मत्त हो गए तो सुरा के पश्चात् सुन्दरी की कामना स्वाभाविक थी; अत: उन्हें हुज़ूर की खिदमत में हाजिर कराना ही चाहिए था, यह स्वाभावोक्ति है। 'शाद' साहब ने ऐसा ही किया बल्कि उन्होंने अवसर से लाभ उठाकर शेख़ को अपमानित भी कराया है। मदिरा के नशे में चूर शेख़ को देख कर शीघ्र उसे 'हाजिरे खिदमत' द्वारा बाहर 'छोड़ आने' की कल्पना में कमाल है।

'शाद' ने एक अन्य स्थान पर पीने और प्रेमाभिनय करने में अनभ्यस्त शेख़ को अच्छी फटकार भी लगाई है। रिन्दों की महफिल जमा है, पीने और

पिलाने के दौर चल रहे हैं; उसी समय उस वातावरण से अनभिज्ञ, शराब पीने में संकोच शील एक अबोध नौसिखिया यारों के साथ महफिल में नहीं जम पाता, अतः मित्रगण उसे शेख़ की संज्ञा देकर वहाँ से तशरीफ ले जाने का आदेश देते हैं—"बस अब शेख़ तशरीफ ले जा।"

'शाद ने बुते-काफिर के सौंदर्याभिमान का भी बड़ी खूबी के साथ वर्णन किया है। नायिका की स्वाभाविक अनुभूति अवलोकनीय है—

"कदम उठाते हैं, चलते हैं, बारबार हुजूर—
जो पाँव मैंने उठाया, तो क्या कसूर आया।
अगरचे उस बुते काफ़िर को खूब सार गड़ा।
जो बोसा मांगा तो दिल में वही गरूर आया।"

इसके अतिरिक्त संयोग शृङ्गार में मान एवं प्रणय का एक और चित्र अवलोकनीय है।

"वस्ल में रूठ के जाने का सबब देखा भी है,
इक अन्दाज से बचने का वह ढब देखा भी है।"

नायिका ठीक समय पर बहाना करके खिसक गई। प्रेमी की कोमलतम भावनाओं पर तुषारपात होगया, बेचारा दिल मसोस कर रह गया। प्रेमिका के चले जाने का कारण भी उचित न था—प्रेमी को इसका भी अत्यधिक खेद रहा। उक्त पंक्तियों में कवि ने इसी अनुभूति की व्यंजना की है। दूसरी पंक्ति में एक टीस अन्तर्निहित है। उपालम्भ की शैली अभूतपूर्व है। शब्दाडम्बर न होने पर भी विचारों की प्रखरता है और कसक पाई जाती है। प्रेमी नायिका की मनुहार करता रहा, उसके पैरों पर सिर रखा, पर प्रेमिका फिर भी न मानी; प्रेमी को आत्मग्लानि का आभास हुआ, परन्तु कवि ने उसकी खूब वकालत की है। उसकी लज्जा और आत्मग्लानि की भावना को बड़े कौशल से उड़ा दिया है। देखिये—

"बेखबर कैसे पड़े सोते हैं सब अहले जिया।
जानूए यार हुआ, नींद का झोंका न हुआ।"

'मखज़न' लाहौर का एक सुन्दर मासिक पत्र था। शेख़ अब्दुल क़ादिर बी० ए० उसके सम्पादक थे। उसकी फरवरी सन् १६०७ की संख्या में 'हज़रते दिल की सतानह उमरी' नामक एक लेख प्रकाशित हुआ था। इसके लेखक थे सैयद सज्जाद हैदर बी० ए०, बगदाद। उक्त लेख में शृङ्गार रस की प्रधानता थी। इस पर गुप्त जी ने 'हज़रते दिल की सवारी' नामक एक

कविता लिखी। वह भी 'मख़ज़न' में प्रकाशित हुई थी। गुप्त जी की कविता वर्णनात्मक है। तूफ़ान का रंग ढंग है, आँधी आई, वर्षा आई, झंझावात ने सारा रंग बदल दिया। सभी जीव कातर होगये। गुप्त जी ने तूफान से पूर्व का चित्रण किया है—

चली हजरते दिल की एक दिन सवारी, ख़रामा थी हमराह बादे बहारी।
चमन में अजब थी गुलों की तयारी, अजब कुछ थी बरसात की आबशारी।
कि मेह उस घड़ी बरस कर थम रहा था, तमाम आसमां बादलों से 'घिरा था।
हुए हजरते दिल भी सहरा को राही, हवा चलके ठंडी सए संरब्राही।"

तूफान आने के पूर्व एक प्रकार की अपूर्व शान्ति छा जाती है। गुप्त जी ने भी तूफान के पूर्व आकाश को बादलों से आच्छादित और वायु को शान्त चित्रित किया है। इसी समय मौसम का आनन्द लेने 'हजरते दिल चल दिये।' फिर क्या था तीव्र वायु चली, वर्षा की झड़ियाँ लग गईं। उसी का चित्रण, देखिये—

"लगा जौर करने हवा का सनाटा, तो वारिस दिखाने लगी फिर तमाशा,
हुआ बदहवास और दिल वां से भागा, लिया फिर तो घबरा के दोहर का रास्ता।
वहाँ से घुसा एक गुलिस्तां में जाकर, बजेरे शजर दम लिया फिर ठहर कर।
किया उसको बेताव सर्दी ने ऐसा, के घबरा के उसजा यह सब बात भूला।"

इन पंक्तियों में तूफान और उससे भयभीत 'हजरते दिल' का वर्णन है जो जान बचाने के लिये गुलिस्ताँ में घुस गया था, पर वहाँ जो देखा वह महान् विनाशकारी एवं कल्पनातीत था। तूफान से जीव-जन्तुओं की क्या दशा हुई थी। उसी का चित्रण निम्नलिखित पंक्तियों में किया गया है—

"परिन्दों को देखा वहाँ सख्त मुजतर, तड़फता था, हर एक वा पर भिगो कर,
कहीं घौंसला उड़ गया फाक्ता का, न कुछ हाल वाँ पूछिये बुलबुलों का,
दुबकने को फिरती थी सब कपकपातीं, बे घबरा के पत्तों में सिर को छिपातीं,
किसी का जो मजबूत वां आशियाँ था, तो वह ऐसी कुलफत में शादी कुनां था।
तड़पते थे हमसाये, वह नग्मारवा था, हरेक सब से जल-जल के हसरत कुना था।"

तूफान का दृश्य और उसका विनाशकारी प्रभाव देकर 'हजरते दिल' को अपनी मन्द बुद्धि पर खेद हुआ कि क्यों ऐसे समय घर से सैर को निकला? यही भाव इन पंक्तियों में व्यक्त हुआ है, देखिए—

"यह पछता के दिल में वही सोच लाया, कि अफसोस तू कोई कपड़ा न लाया।
वह अपने ही हाथों गमे दाग़ पाया, रंगे जवानी ने मुझको छकाया।
कि आया में सहरा में यक्को तनहा, बहुत अपने हाथों से सदमा उठाया।"

यह पूरी कविता हास्य रस प्रधान है। उर्दू कविता में प्रयुक्त अत्युक्तियों पर प्रस्तुत कविता में फब्तियाँ कसीं गई हैं। व्यंग्य-प्रेमी गुप्त जी ने दरबारी कवियों के बनाबटीपन का भण्डाफोड़ इस हास्य रस की कविता द्वारा किया है। गुप्त जी का चित्रांकन का ढङ्ग सुन्दर है।

गुप्त जी के कुछ फुटकर शेर भी हैं जो काव्य के सुन्दर निदर्शन कहे जा सकते हैं। कोई दार्शनिकता से पूर्ण हैं तो किसी में राजनीतिक समस्या है, कोई नीति एवं शिक्षा देता है तो कोई विशेष आदेश। ये फुटकर शेर कवि का विविध-विषयक ज्ञान तथा उसके अनुराग के पोषक हैं। दार्शनिकों की भाँति हृदय की कामनाओं और मन की प्रवृत्तियों की ओर अत्यधिक अनुरक्ति पर खेद प्रकट करते हुए 'शाद' साहब कहते हैं—

"बहुत बे आबरू, करता है हमको नक्स अम्भारा,
ठिकाने ही नहीं रहता यह अक्ले खाम का पारा।

× × ×

कम्मारे नक्स की बाजी में अपना नकद दिल हारा,
जहाँ परफ नसवर् हो, अक्ल का क्योंकर चले चारा।"

हृदय को स्वच्छ और सांसारिक बुराइयों से दूर रखने के लिए मन को आदेश देते हुए गुप्त जी ने लिखा है—

"समझ इस बात को नादां जो तुझमें कुछ भी गैरत हो।
न कर उस काम को हरगिज कि जिसमें तुझको जिल्लत हो।
बुरे अफआल में फड़कर न हरगिज अपनी बुकअत खो,
बस वह काम कर जिसमें कि तेरे दिल को राहत हो।
अगर है साहिबे इक़बाल आपे से न हो बेरंन,
कि आमद हो न पानी की तो सूखे चश्मये जेज़ूँ।"

उर्दू-काव्य में भी गुप्त जी की राष्ट्रीय भावना अभिव्यक्त हुई है। उन्होंने अन्तरराष्ट्रीय घटनाओं को लेकर भी उर्दू-कविता लिखी है। इस दिशा में वे 'हाली' और 'अकबर' के समतुल्य ठहरते हैं और अन्य उर्दू-कवियों की अपेक्षा उनका सम्बन्ध भारत की भूमि के अधिक निकट है। वे प्रथम देशभक्त, नेता और जन-जाग्रति करने वाले नायक हैं, कवि या कलाकार पीछे। अन्तर-राष्ट्रीय बातों पर गुप्त जी के विचार इस प्रकार थे। ब्रिटेन के कुछ कुशल राजनीति के खिलाड़ी रूस के साथ सन्धि करना चाहते थे। गुप्त जी ने इसी बात पर लिखा है—

"ग्लैडस्टन की मनशा यही है, करलें रूस से हम अहदो पेमांन।"

उन्हें भारतीयों का अन्यों की समता में पीछे-पिछड़ना भला न लगता था, अतः वैज्ञानिक विकास के लिए भारतीयों को प्रोत्साहित करते हुए आपने लिखा है—

"रखो तुम काम अपने काम से हरगिज न करना जिद,
अरे तुम भी तो मिस्ल अहले अमरीका बनो मूजिद ।"

गुप्त जी की अभिलाषा थी कि भारत युद्धों से मुक्त रहे और यहाँ के लोग शांतिमय जीवन व्यतीत करें। आपने इच्छा व्यक्त की थी—

"हवस है, ओस के मानिन्द, अपना मुल्क हो सारा,
भला मुल्के खुदा पर क्या चले इन्सान का चारा ।"

देशवासियों को दृढ़प्रतिज्ञ और दृढ़-निश्चय बनाने के लिये मन्सूर का उदाहरण देते हुए लिखा था—

"जज़्बए-कामिल उसको कहते हैं के चढ़के दार पर,
कि निकली आवजे अनलहक़ सरे मन्सूर से ।"

'शाद' साहब की कामना थी कि भारतीय भी अपनी ज़बान पर देश की स्वतन्त्रता का नारा रखें और अन्तिम समय तक उनकी आत्मा से यह ध्वनि निकलती रहे ।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिन्दी-साहित्य में जो कार्य किया है कुछ-कुछ वैसा ही गुप्त जी ने उर्दू साहित्य में किया था। भारतेंदु जी ने अपने पूर्ववर्ती कवियों की परम्परानुसार शृङ्गारिक कविता तथा रीतिकालीन शैली से साहित्य को परिपूर्ण किया था, किन्तु वे शीघ्र यथार्थ जीवन की अभिव्यक्ति द्वारा साहित्य के रिक्त भण्डार को भरने में दत्तचित हो गये थे, ठीक इसी प्रकार गुप्त जी ने प्रारम्भ में उर्दू-कवियों की परम्परा पर रचनाएँ कीं और बाद में प्रगतिशीलता की ओर बढ़े पर उनकी वह प्रगतिशीलता उर्दू-साहित्य में विकसित न हो पायी ; हिन्दी प्रेमी जनता ने उनकी प्रवृत्ति और प्रतिभा को उर्दू से हटाकर हिन्दी की ओर मोड़ दिया। उर्दू-कविता में प्रगतिशीलता के बीज गुप्त जी अवश्य आरोपित कर आये थे जो समय पर यथार्थ वातावरण पाकर प्रस्फुटित हुए। गुप्त जी की उर्दू-रचनाओं पर विचार करने से प्रमाणित होता है कि उर्दू-साहित्य में उनका एक आदरणीय स्थान है।

हिन्दी में देशभक्ति पूर्ण रचनायें—

उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी की राष्ट्रीय एवं अन्तरराष्ट्रीय घटनाओं ने भारतवर्ष की वस्तु-स्थिति में तथा जनता की मनोदृष्टि में महत्वपूर्ण परिवर्तन

उपस्थित किया था ; नवशिक्षा, अँग्रेजों के सम्पर्क, सांस्कृतिक पुनरावर्तन तथा इतिहास के वैज्ञानिक अध्ययन के फलस्वरूप भारतीय जन-समूह के हृदय में विचार-स्वातन्त्र्य तथा आत्मगौरव की भावना का आविर्भाव हुआ था ; परिणामस्वरूप भारतीय साहित्यकार रीति कालीन प्रवृत्ति और दासता के परम्पराभूत शृङ्गारिक वातावरण से पृथक् होकर स्वच्छन्द और स्वतन्त्र वातावरण में विचरण करने लग गए थे, इसी से जीवन और जगत् की यथार्थ अवस्था का अङ्कन करने वाले साहित्य का जन्म हुआ था। भारतेंदु हरिश्चन्द्र स्वाधीनता एवं सांस्कृतिक नव-चेतना के ऊषा-काल में वैतालिक के रूप में अवतरित हुए। उनके हाथ में साहित्यकारों की बागडोर थी।

उनके अनुयायिओं का भी अभाव न था। स्थान-स्थान पर उनके शिष्य प्रकट हुए। बालमुकुन्द गुप्त उनके अनुयायी थे, यद्यपि कहीं-कहीं वे भारतेंदु जी से अधिक उग्र और प्रगतिशील बनकर प्रकट हुए हैं।

भारतेन्दु-युग के कवि देश-भक्त थे, पर देश-प्रेम की मात्रा और स्वरूप के अनुसार उनके भी दो वर्ग थे। प्रथम वर्ग वह था जो ब्रिटिश साम्राज्य द्वारा शिक्षा, व्यापार और राजनीतिक क्षेत्र में किए गए सुधारों से प्रसन्न था और भविष्य में भी इसी प्रकार के सुधारों की आकांक्षा करता हुआ एतदर्थ अँग्रेजी राज्य की प्रशंसा में संलग्न था। इस वर्ग के प्रतिनिधि उपाध्याय बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' थे। अपने 'मानसोपायन', 'मंगलाशा या हार्दिक धन्यवाद', 'हार्दिक-हर्षादर्श' तथा 'प्रजा शिषोपायन' आदि ग्रन्थों में अँग्रेजी राज्य में प्राप्त विविध सुविधाओं की भूरि-भूरि प्रशंसा की है ; वे अँग्रेजी साम्राज्य के शोषक-पक्ष का निरीक्षण एवं ज्ञापन करने में असमर्थ रहे। दूसरा वर्ग, अँग्रेजी राज्य का कठोर आलोचक, उग्रतावादी तथा अधिक प्रगतिशील था जिसने अँग्रेजी शासन की विनाशकारी तथा भारत-विरोधी नीति को स्पष्ट करके जनता के सम्मुख रखा था। इस वर्ग के भारतेन्दु, पं० प्रतापनारायण मिश्र तथा बाब बालमुकुन्द गुप्त जाज्वल्यमान रत्न थे।

भारतेन्दु जी के साहित्य में राष्ट्रप्रेम और देशभक्ति का स्वर प्रधान है फिर भी उन्होंने यत्र-तत्र अपनी रचनाओं में अँग्रेजी राज्य की प्रशंसाएँ और अँग्रेज अधिकारियों की प्रशस्तियाँ भी लिखीं हैं। उदाहरण के लिए अँग्रेज-भक्त राजा शिवप्रसाद को 'मुद्राराक्षस' का समर्पण, विक्टोरिया को 'पूरी अमी की कटोरिया सी' कहना, सन् १८६१ में ऐल्वर्ट और १८६९ में ड्यूक ऑव एडिनबरा के भारतागमन पर श्री राजकुमार सुस्वागत पत्र लिखना, सन् १८७१

में प्रिंस ऑव वेल्स के ज्वराक्रांत होने पर कविता लिखकर भक्ति प्रदर्शित करना, तथा 'प्रेम जोगिनी' में सुधाकर द्वारा काशी की महिमा वर्णन करते समय विक्टोरिया, अँग्रेज जिलाधीश, कमिश्नर, जज आदि की प्रशंसा करना आदि ऐसी बातें हैं जिनसे उनकी राज्यभक्ति प्रकट होती है। इसी प्रकार मिश्र जी ने 'ब्रेडला स्वागत' लिखकर अपनी राज्यभक्ति का ही परिचय दिया था। यही नहीं, किशोरीलाल गोस्वामी ने 'शोकाश्रुधारा'[१] तथा मिश्र बन्धुओं ने 'विक्टोरिया शतक'[२] लिखकर अपनी राज्यभक्ति प्रकट की थी। किन्तु गुप्त जी की लेखनी से अँग्रेज शासक तथा अंग्रेजी राज्य की प्रशंसा में इस प्रकार की रचनाएँ निसृत नहीं हुई, उन्होंने लार्ड रिपन और विक्टोरिया की प्रशंसा की अवश्य है पर अँग्रेजी सुधार तथा उदारतावादी कार्यों के पीछे अन्तर्निहित भारत-विरोधी कूटनीति को आपने भली प्रकार हृदयंगम कर लिया था; वे अँग्रेजों के प्रत्येक कार्य को भारत-विरोधी, विनाशकारी तथा प्रवंचना-पूर्ण समझते थे। यही कारण है कि वे आजीवन अँग्रेजी राज्य के घोर विरोधी बने रहे। उनके साहित्य में यथा सम्भव उग्रता, स्पष्टवादिता तथा शासकीय आलोचना अपेक्षाकृत अधिक तीव्रता के साथ मिलती है।

देश-प्रेम की कविता में देश-भक्ति और राष्ट्रीय-भावना विविध रूपों में अभिव्यक्त होती है। इस प्रकार के काव्य में प्रथम तो अतीत के गौरव के प्रति कवि की विशेष आस्था होती है जिसकी अभिव्यंजना द्वारा वह आत्म-हीनता की भावना का परिहार करता है, दूसरे, देश की वर्तमान गिरी दशा का चित्रण करके देशवासियों का ध्यान उसकी ओर आकृष्ट करता है, उस पर आँसू बहाता हुआ क्षोभ प्रकट करता है। तीसरे, शासन की देश-विरोधी नीति का सफल अंकन करते हुए अपना विरोध प्रदर्शित करता है तथा साम्राज्य के पोषक जमींदार, पूँजीपति वर्ग और पुलिस आदि उत्पीड़क तत्त्वों की तीव्र आलोचना करता है। चौथे, देश के नवयुवक और शिक्षित समाज का देशहित के लिए आह्वान करता हुआ, उनके सम्मुख उज्ज्वल भविष्य की रूप-रेखा उपस्थित करता है।

बालमुकुन्द गुप्त की कविता में देश-भक्ति की अभिव्यंजना के ये सभी रूप उपलब्ध होते हैं। उन्होंने प्राचीन आर्यत्व एवं आस्तिकता का अवलम्ब लेकर देश में जाग्रति तथा युवक-वर्ग में उत्तेजना भरने का प्रयास किया और प्राचीन

१—काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग ५, पृ० १५५।

२— वही पृ० १५७।

गौरव के गान गाकर परम्परागत दासानुभूत आत्महीनता की भावना का निवारण किया था। कवि एक ओर तो पूर्व कालीन भारतीयों की वीरता और वर्तमान अकर्मण्यता का चित्रण करता है—

"जो लिखते अरि-हीय पै सदा सेल के अंक।
झपत नैन तिन सुत्तन के कटत कलम को डंक॥"[१]

'कटत कलम को डंक' में पत्रकारों, लेखकों और कवियों द्वारा दमन-नीति से भयभीत होकर तटस्थता की नीति अपनाने पर तीव्र प्रहार है। इसी प्रकार प्राचीन वीरत्व, शौर्य एवं पराक्रम के और भी चित्र अंकित किये हैं—

"जिनके क्षत्रन पर रही तरिवारन करि छांह।
अभय सबन को करत ही जिनकी लम्बी बांह॥
जिनके करसौं मरन लौं छुट्यो न कठिन कृपान।
तिनके सुत प्रभु पेट हित भये दास दरवान॥"[२]

कवि प्राचीन-काल का स्मरण करता है कि भारतीय उन दिनों हाथी, घोड़ा, छत्र और सभी राजपाट रखते थे पर आज पेट की ज्वाला से पीड़ित हैं। इस भाव का एक छंद है—

"गज रथ तुरग विहीन भये ताको डर नाहीं।
चमर छत्र को चाव नाहिं हमरे उर माहीं॥
सिंहासन अरु राजपाट को नाहिं उरहनो।
ना हम चाहत अस्त्र वस्त्र सुन्दर पट गहनो॥
पै हाथ जोरि हम आज यह, रोय रोय बिनती करें।
या भूखे पापी पेट कहँ, मात कहो कैसे भरें।"[३]

कवि की चिंता यथार्थ है, अंग्रेजों की शोषणकारी नीति ने भारतीयों के पास पेट के लिये अन्न भी नहीं रहने दिया था।

कवि ने प्राचीन भारत के परम शांति और सुखप्रद वातावरण, सत्याचरण, पारस्परिक प्रेम-व्यवहार तथा जातीय एकता का एक चित्र अंकित किया है—

"कहाँ गये वह गाँव मनोहर परम सुहाने,
सबके प्यारे परम शाँति दायक मनमाने।

१—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, श्रीराम स्तोत्र, पृ० ५८१।
२— वही पृ० ५८२।
३— वही जयलक्ष्मी, पृ० ६१६।

कपट और क्रूरता पाप और मद से निर्म्मल,
सीधे सादे लोग बसें जिनमें नहिं छल बल।
एक साथ बालिका और बालक जहँ मिलकर,
खेला करते औ घर जाते सांझ परे पर।
पाप भरे व्यवहार पाप मिश्रित चतुराई,
जिनके सपने में भी पास कभी नहिं आई।
एक भाव से जाति छतीसों मिलकर रहतीं,
एक दूसरे का दुख सुख मिल जुल कर सहतीं।
जहाँ न झूँठा काम न झूठी मान बड़ाई,
रहती जिनके एक मात्र आधार सचाई।
सदा बड़ों की दया जहाँ छोटों के ऊपर,
औ छोटों के काम भक्ति पर उनकी निरभर।
मेल जहाँ सम्पत्ति, प्रीति जिनका सच्चाधन,
एकहि कुल की भाँति सदा बसते प्रसन्न मन।
पड़ता उनमें जब कोई झगड़ा उलझेड़ा,
आपस में अपना कर लेते निबटेड़ा।
दिन दिन होती जिनकी सच्ची प्रीति सवाई,
एक चिन्ह भी उसका देता नहीं दिखलाई।"[1]

कवि को दुःख है कि भारत का वह अतीत अब स्वप्न बन गया है और वर्तमान जीवन महान् कष्ट एवं दरिद्रता से पूर्ण है। चारों ओर वैमनस्य, असत्य, अज्ञान, पापाचरण और शोक ने डेरा डाल रखा है। उसे आशा है कि एक दिन अतीत का पुनरावर्तन होगा अवश्य, पर वास्तविकता उसे अपने विश्वास से विचलित कर देती है; तभी वह कहता है—

"कब तक धोका धरूँ बता हे प्यारी आशा,
कब तक देखे जाऊँ यह सुख रहित तमाशा ?
कहाँ झाँझ का शब्द कहाँ पर डफ मृदंग है,
कहाँ वह सब लीला और उसका रंग ढङ्ग है।
वह सुख अवसर और अलौकिक सुन्दरताई,
एक चिन्ह भी उसका नहिं देता दिखाई।"[2]

१—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, बसन्त्तोत्सव, पृ० ६३८।
२— वही वही पृ० ६३९।

आज का दिल्ली नगर प्राचीन काल का इन्द्रप्रस्थ है, जो सर्वदा से भारत की राजधानी बनता चला आया है, दिल्ली का नगर भारत के शौर्य, वीरत्व एवं पराक्रम का प्रतीक है, भारतीय इतिहास का प्रमुख स्थल रहा है, जिसके साथ हमारे अतीत-गौरव के कितने ही आख्यान संलग्न हैं। इस नगर के नाम मात्र से प्राचीन गौरव एवं भारतीयता की झलक मिलती है, कवि इसी नगर के प्राचीन वैभव का वर्णन करता हुआ वर्तमान दशा पर आँसू बहाता है—

"धन, वैभव, सुख मान वीरगन को अदम्य बल,
सूरन की सूरता, प्रतिज्ञा दृढ़तर निश्चल।
वह अनुपम लावण्य सुन्दरी ललना गन को,
वसीकरन सुधहरन अनिश्चलकारी मन को।
वह सुहावनी छटा धवल ऊँचे महलन की,
शोभा धन जन से भरपूर ग्राम नगरन की।
रह्यौ न कोऊ शेष काल सब ही कहँ खायो,
एक-एक करि या कराल मुख माँहि समायो।"[1]

अतीत के गौरव-गान गाकर कवि द्वारा वर्तमान की गिरी अवस्था की ओर देशवासियों का ध्यान आकृष्ट करना स्वाभाविक है। गुप्त जी ने देश की आर्थिक-दुरवस्था, जनता के आलस्य और प्रमाद, अकाल और प्लेग, तथा भारत के दारिद्र्यमय जीवन का अंकन किया है। अँग्रेजी राज्य की सबसे अधिक विनाशकारी देन इस देश के लिये अकाल थी; भारतीय भूख से तड़प-तड़प कर प्राण विसर्जित कर देते थे, पर उन्हें भोजन के लिए घास और हरी जड़ें भी उपलब्ध न होतीं थीं; चारों ओर से महाविनाश के समाचार आते थे। भारत की इस करुणोत्पादक दशा को देख कर कठोर अंग्रेजों के हृदय भी हिल गए थे। सर जानशोर नामक एक अंग्रेज ने उस अवस्था का चित्रण इस प्रकार किया था—"मेरे मस्तिष्क की आँखों से अब भी वह दृश्य ताजा दिखाई पड़ रहा है। वे चुचके अंग, वे धंसी आँखें, वह जीवन रहित रंग, हमें अब भी माँ की चीख और शिशु की काँख सुनाई पड़ती है, निराशा भरी वह पुकार, दर्द भरी वह कराह। मृतक और मरणासन्न बिछे हैं, एक पर एक भयंकर घोटाला है, हमें सुनाई पड़ती है कि अब भी सियार की चिल्लाहट और गिद्ध की आवाज़, और कुत्तों की वह भयावनी गुर्राहट दिन-दहाड़े, सूर्य की चमक में, वे बेखरससे, बेरोक अपने शिकार को खा रहे हैं, लड़ रहे हैं।

१—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, 'पुरानी दिल्ली', पृ० ६४१।

भयावने, घोर भयावने वे दृश्य, कोई कलम उसका वर्णन नहीं कर सकती—न ही बीतते वर्ष उन्हें स्मृति पटल से हटा सकते हैं।"[१]

इस उद्धरण से अकाल की विकरालता का अनुमान लग जाता है। सन् १८९१ और १९०० ई० का दुर्भिक्ष भी अत्यधिक विकट था। "१ जनवरी, १८९१ और ३१ दिसम्बर १९०० के बीच, प्रत्येक मिनट, रात और दिन चार आदमी अकाल से अथवा अकाल-जनित बीमारियों से मरते रहे।"[२] इस घोर संहार के प्रति भारत के कवि किस प्रकार उदासीन रह सकते थे। भारतेन्दु-युग के कवियों की रचनाओं में अकाल के विध्वंसकारी प्रभाव का यथार्थ चित्र अंकित हुआ है। गुप्त जी ने भी देवी-देवताओं की स्तुति करते हुए दुर्भिक्ष पीड़ित भारतीय जनता का चित्रण किया है। उस समय सारा देश पेट की ज्वाला से जल रहा था। धनिकों की गुलामी करके गरीब व्यक्ति पेट को भरने का प्रयास करते थे। कवि की दृष्टि उन पर पड़ी थी, आपने लिखा था—

"कहाँ राज कहँ पाट प्रभु कहाँ मान सम्मान।
पेट हेत पायन परत हरि तुम्हरी सन्तान॥
जहाँ पेट को झीखिबो तहाँ कौन को चाव।
नाथ पुकारे कहत हैं तुमसों कहा दुराव॥
विश्वामित्र वासिष्ठ के वंशज हा! श्री राम।
शव चीरत हैं पेट हित! अरु बेचत हैं चाम॥
भूटि मलेच्छन की हहा! खात सराहि-सराहि।
और कहा चाहो सुन्यो त्राहि-त्राहि प्रभु त्राहि॥
जिनके करसों सरन लौं छुट्यो न कठिन कृपान।
तिनके सुत प्रभु पेट हित भये दास-दरवान॥"[३]

देश में दारिद्रय बढ़ता ही जाता था, रौप्य-खण्ड की तो बात ही दूर रही, ताँबे के कतिपय पैसे भी अधिकांश भारतीयों के पास न थे। अपना सम्मान बचाने की चिन्ता से वे लोग भूत-प्रेतों की भाँति कुछ पैसों की खोज में घूमते फिरते थे। गुप्त जी ने उसी अवस्था का चित्रण इस प्रकार किया है—

१—'आर्थिक समीक्षा' २४ जुलाई १९५४, पृ० २२ से उद्धृत।
२— वही पृ० २३।
३—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, श्रीराम स्तोत्र, पृ० ५८२।

"अरु जो पूछो दाम बल पल्लै नाहिं छदाम ।
पै दामहु के फेर महं भूले तुम्हारो नाम ।।
निसदिन डोलत दाम लगि कूकर काक समान ।
जन्म बितावत प्रेत जिमि कृपा सिन्धु भगवान ।।"[१]

ईश-आराधना तो तभी की जा सकती है जब पेट भरा हो, पेट की चिन्ता में भगवान् का विस्मरण हो जाना स्वाभाविक है । यह बात गुप्त जी ने भली प्रकार स्पष्ट कर दी है । भूखे और नंगे रह कर भी जब भारतीय भक्ति-भावना के आधिक्य के कारण ईश-आराधना में लीन रहते हैं, किन्तु दुर्भाग्य-वश उन्हें भगवत्कृपा प्राप्त न होकर, मिलता है ईश-प्रकोप । इसी दशा में भारतीयों के कष्ट का अवसान न देखकर कवि भगवान् से पूछ उठता है—

"केहि कारण पावत नहीं आधे पेटहु नाज ।
कौन पाप सौ वसन बिन ढकन न पावहि लाज ।।
सीत सतावत सीत मंह अरु ग्रीसम महं घाम ।
भीजत ही पावस कटत कौन पाप सों राम ?
केते बालक दूध के बिना अन्न के कौर ।
रोय-रोय जिय देत हैं कहा सुनावै और ।।
कौन पाप ते नाथ वह जनमत हम पर आय ।
दूध गयो पै अन्न हूँ मिलत न तिन कहं हाय ।।
केते बालक डोलते माता पिता बिहीन ।
एक कौर के फेर महं घर घर आगे दीन ।।
मरी मात की देह को गीध रहे बहु खाय ।
ताही सों यक दूध को सिसू रह्यो लपटाय ।।
जहं तहं नर कंकाल के लागे दीखत ढेर ।
नर पसुन के हाड़ सौ भूमि छई चहु फेर ।।
हरे राम केहि पाप ते भारत भूमि मझार ।
हाड़न की चक्की चलैं हाड़न को व्यापार ।।"[२]

दुर्भिक्ष-पीड़ित भारतीय-समाज तथा विकराल अकाल के दुष्परिणाम का सुन्दर तथा संश्लिष्ट चित्र इन पंक्तियों में अंकित किया गया है जिसमें बिम्ब-ग्रहण की प्रवृत्ति स्पष्ट झलकती है । कवि का उद्देश्य अर्थ-ग्रहण मात्र कराके

१—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, श्रीराम स्तोत्र, पृ० ५८३ ।
२— वही हे राम, पृ० ५८७ ।

केवल शब्दाडम्बर मात्र खड़ा करना नहीं। अकाल भी एक वर्ष का न था, यों तो अकाल का प्रारम्भ सन् १७८३ से हुआ और १८६६ ई० तक बीच में कुछ वर्ष छोड़ कर निरन्तर अकाल रहा, पर सन् १८८४ के पश्चात् केवल दो वर्ष सन् १८९३-९४ को छोड़ कर, शेष वर्षों में घोर अकाल रहा। १६ वर्ष के इस दीर्घ-कालीन निरविच्छिन्न अकाल ने भारतीय-समाज-व्यवस्था को अस्त व्यस्त कर दिया था। कृषक और श्रमजीवी वर्ग का गाँवों में घर और जंगल में खेत न रह पाया था। सब विनष्ट हो गया था। अतः लोग चोर और लम्पटों की भाँति गृहहीन पड़े रहते थे। उस दशा का चित्र गुप्त जी ने उपस्थित किया है—

"नहीं गाँव में झूँपड़ो नहिं जंगल में खेत।
घर ही बैठे हम कियो अपनो कंचन रेत॥
पसु समान बिडरत रहैं पेट भरन के काज।
याही में दिन जात है सुनिये रघुकुल राज॥
दो-दो मूठी अन्न हित ताकत पर मुख ओर।
घर ही में हम पारधी घर ही में हम चोर॥"[1]

होली, दिवाली, दशहरा आदि त्यौहार आते तथा चले जाते, पर भारतीय समाज में सजीवता एवं उल्लास के चिन्ह दिखलाई नहीं पड़ते थे। पेट की समस्या, उनके सम्मुख मुख बाये खड़ी रहती; शोक, चिन्ता, जीवन के प्रति उदासीनता और निरुत्साह उनके स्थायी मित्र बन गए थे। भारतीय समाज के इस जीवन का चित्र गुप्त जी ने इस प्रकार अंकित किया है—

"आज विजय-दसमी भई तुम्हरी रघुकुल राय।
सोचत-सोचत निज दशा छाती फाटी जाय॥
नहिं उमंग नहिं हर्ष कछु नहिं हाथिन पै झूल।
चमकत नाहिन खंग कहुँ बरसत नाहिन फूल॥
चितवत जागत स्वप्न महं चिन्ता रहत अपार।
कबलौ ऐसन बीति है नाथ दया आगार॥
हमरे जीवन मांह प्रभु अब सुख को नहिं लेस।
लेख भाल को बन रहे चिन्ता दुख क्लेस॥"[2]

३—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, राम-विनय पृ० ५८९-५९०।
२— वही , देव-देवी स्तुति, श्रीराम स्तोत्र, पृ० ५८२-५८३।

बार-बार के अकाल, प्लेग तथा महामारी आदि संक्रामक रोग का पुनरागमन देखकर भारतीयों का धैर्य जाता रहा था। वे उस कष्टमय जीवन का अन्त कर देना अच्छा समझने लग गये थे, आत्मग्लानि से उनका हृदय जल उठा था, मनुष्य जीवन का मूल्य कीड़े-मकोड़े से कहीं बुरा था। गुप्त जी ने उस दशा का वर्णन किया है—

बार-बार मारी परत बारहिं बार अकाल।
काल फिरत नित सीस पै खोले गाल कराल।।
यह दुर्गति नर देह की कौन पापते राम।
साँच कहो क्या होइ है अब हमरो परिनाम।।
बार-बार जिय में उठत अब तो यहै विचार।
ऐसे जीवन ख्वार पै लाख-लाख धिक्कार।।"[1]
धर्म्म न अर्थ न काम के नाहिं राम सों प्यार।
ऐसे जीवन पोच कहं बार-बार धिक्कार।।"[2]

इन पंक्तियों से अकाल पीड़ित भारतीय समाज की अधोगति का अनुमान किया जा सकता है। अकाल पीड़ित जनता के कष्टों के प्रति कवि इतना सचेष्ट है कि वह चाहे देवी-देवताओं की स्तुति कर रहा हो अथवा ईश-आराधना, राम विनय लिख रहा हो अथवा दुर्गास्तवन, वह अपने लिए कुछ भी नहीं माँगता, उसकी दृष्टि अनवरत अनेक भारतीयों के हित-चिन्तन की ओर रहती है। गुप्त जी के सामयिक कविगण विविध प्रकार से देवी-देवताओं की पूजा करते, प्रार्थना करते और जनता के कष्ट निवारणार्थ अनुनय-विनय करते थे। जिसके पास जो कुछ होता दुर्गा या लक्ष्मी को भेंट तथा उपहार देता था। पर गुप्त जी के पास तो खारी आँसुओं का जल था, उसी की भेंट देते हुए अपनी दीनावस्था का चित्रण उन्होंने किया है—

का दै जननी पूजा करें तुम्हार।
पेटहु के निस दिन है हाहाकार।।
उदर भरन हित अन्न रह्यो घर माँह जो।
दानव-दल मा आय काढ़, मुखतै लयो।।
भेंट धरें जो माय कहा, हम पास है।
केवल आंखिन जल अरु लम्बी सांस है।।"[3]

१—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, हे राम पृ० ५८७।
२— वही , श्रीराम स्तोत्र, पृ० ५८३।
३— वही , आगवनी, ८ वाँ पद, पृ० ५९९।

यही नहीं, कवि ने स्पष्ट कह दिया है कि देवी की भेंट के लिए उसके पास अश्रुहार के अतिरिक्त, घी, चन्दन और मेवा आदि कुछ भी नहीं है। देखिए—

"भारत घोर मसान है, तू आप मसानी।
भारतवासी प्रेत से डोलहि कल्यानी॥
हाड़ मांस नर रक्त है भूतन की सेवा।
यहाँ कहाँ मा पाइये चन्दन घी मेवा॥"[१]

तत्कालीन अवस्था की सच्ची अभिव्यक्ति इन पंक्तियों द्वारा होती है। भूखे रह कर पेट काट कर, भिक्षा द्वारा जो थोड़ा बहुत कृषक-गण एकत्रित करते थे उसे सरकारी प्यादे, मुखिया चौकीदार, ज़मींदर के सिपाही और कारिन्दे छीन ले जाते थे, उन बेचारों को पेट भरना तो असम्भव हो गया था। इन्हीं लोगों के लिए तो कवि क्षोभ भरे शब्दों में असुर या 'दानव-दल' का प्रयोग करता है। एक दूसरे स्थान पर लिखा है—

"असुरन के डर निकस-निकस जिउ जाय॥
भिक्षा असन मलीन बसन, सब गात हैं।
पेट भरन हित द्वार-द्वार, बिड़रात हैं।
जो कछु जोरहिं भीख मात दुख पाय कैं।
तुरत लेत हैं लूट असुर, तेहि आय कैं॥"[२]

गुप्त जी ने और कई स्थलों पर देश की आर्थिक-अस्तव्यस्तता का अंकन किया है—

"सबही गयौ बिलाय कछू अब रह्यो न बाकी।
उदर हेत हम बेच चुके मा, चूल्हे चाकी॥[३]
कहाँ जायँ क्या करे नाहि कहुँ मिलत ठिकानो।
हम तो अब बहि चले मात तुम्हरी तुम जानो॥
भारत भयो मसान बैठिके ताहि जगाओ।
अथवा दया दृष्टि कहँ फेरो, फेरि बचाओ॥"[४]

१—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, आबहु माय, १५, पृ० ६०६।
२— वही , आगवनी पृ० ५६८।
३— वही , आबहु माय १७, पृ० ६०६।
४— वही , १८, पृ० वही।

अंग्रेजी शासन की विशेष अर्थ तथा व्यापार नीति, लगान सम्बन्धी अस्थायी व्यवस्था, कर वृद्धि तथा आधिदैविक और आधिभौतिक आपदाओं के फलस्वरूप भारत नित्य प्रति धन हीन होता जा रहा था। और उसका असंख्य धन विदेश चला जा रहा था। भारतेन्दु जी ने अपनी मुकरियों में उसकी ओर संकेत भी किया है। गुप्त जी ने भारत के आर्थिक शोषण और अर्थ-हीनता पर खुल कर चोटें कीं हैं। भारत का कवि-समाज देश-दशा के चित्र उपस्थित करने में तल्लीन था, दूसरी ओर काँग्रेस की स्थापना के पश्चात् देश जन-समूह के हाथों में था। इतिहास के विधिवत् अध्ययन, राष्ट्रीय एवं अन्तरराष्ट्रीय घटनाओं के पर्यवेक्षण तथा अंग्रेजों के शोषक व्यवहार के फलस्वरूप भारतीय मानस में यह धारणा बद्धमूल होती जा रही थी कि भारत का कल्याण अंग्रेजी शासन में सम्भव नहीं है। सन् १८५७ ई० की घटनाओं की स्मृति ने इस विचारधारा को और भी दृढ़ता प्रदान की थी, अतः भारतीय जनता जनवादी समाज व्यवस्था, स्वशासन की स्थापना और अन्य स्वतन्त्र देश के नागरिकों की भाँति जीवन-यापन की सुखद कल्पना को साकार होते देखने के लिए प्रयत्नशील होने लगी थी। जीवन की विषाक्त-अनुभूतियों से उसने यह सीख लिया था कि स्वतन्त्रता का आगमन एक सामूहिक-हित-चेतना की जाग्रति के अभाव में सम्भव नहीं है। अस्तु, उस युग के साहित्यकार समाज में राजनीतिक-चेतना और राष्ट्रीय पुनर्जागरण की भावना के प्रसार में तल्लीन हो गये थे। इस साध्य की उपलब्धि के मार्ग में जो भी अवरोध बनकर आता, उसका वे निर्भीकता पूर्वक विरोध करते रहे थे। अतः उस युग की राष्ट्रीय-कविता में विदेशी-शासन की कटु आलोचना, दासता के पंजे से मुक्ति, भारतीय समाज का सांस्कृतिक उत्थान तथा उसकी साधन-सम्पन्नता की आशा का अधिक प्रस्फुटन हुआ है। उधर कांग्रेस, जो अब तक सामाजिक-सुधार अथवा शासन-सुधार के लिये प्रस्ताव पास करती रही थी, उग्रतावादी भावना से प्रभावित हुई। मद्रास के वार्षिक अधिवेशन में काँग्रेस में दो दल बन चुके थे। नर्म दलीय नेता शासन-सुधार के मार्ग पर ही चले। पर उग्रदलीय नेता क्रान्ति की ओर बढ़े। हिन्दी-कविता में भी उग्रतावादी नीति का प्रवेश हुआ। गुप्त जी अपने पूर्ववर्ती कवियों की अपेक्षा अधिक उग्र बन कर प्रकट हुए।

अंग्रेजी सरकार देश की इस गतिविधि का सूक्ष्मता के साथ अध्ययन करने में व्यस्त थी। सन् ५७ के अनुभवों ने यह बता दिया था कि हिन्दू-मुस्लिम एकता बृटिश शासन के अस्तित्व के लिए विस्फोटक बन जायगी। अतः उन्होंने मुसलमानों के प्रति घृणा की भावना को निकाल कर उन्हें

गले लगाया और कूटनीति से काम लेकर भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम को विच्छिन्न कर देने के साधन जुटाये। उधर मुसलमान भी अंग्रेजों द्वारा सत्ता छीन लेने पर क्रुद्ध हुए बैठे थे और पुनः शासन करने की भावना अभी तक उनके मानस में विद्यमान थी। अंग्रेजों द्वारा इस सहृदय व्यवहार और सत्ता पाने के प्रलोभन को प्राप्त करके वे अपना मानसिक संतुलन खो बैठे, जिस दृढ़ता और भक्ति-भावना के साथ वे राष्ट्रीय आन्दोलन को सजीव बनाये हुए थे, उसे वे पुनः भारतीय समाज पर शासन करने की प्रबल लालसा के सम्मुख प्रश्रय न दे सके, अतः अंग्रेजों की नीति का उन्होंने दृढ़ता एवं अंधविश्वास के साथ समर्थन किया। सर सैयद अहमद इस वर्ग के प्रतिनिधि बने और हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य को इस्लाम के लिए भयप्रद बताकर, अंग्रेजी-नीति का समर्थन करने लग गये थे। उनकी इन अराष्ट्रीय तथा अभारतीय क्रियाओं को देखकर गुप्त जी मौन न रह सके। उन्होंने जिस उग्रता के साथ अंग्रेजी शासन का विरोध किया था, उतनी ही तीव्रता के साथ सर सैयद अहमद खाँ की नीति को भी भारत के लिए विनाशकारी घोषित किया था।

राजनीतिक जीवन के प्रारम्भ मे सैयद अहमद देश-भक्त और भारतीय काँग्रेस के समर्थक थे, अलीगढ़ मुस्लिम कालिज के लिए चन्दा एकत्रित करते समय कई बार उन्होंने दोनों जातियों की अभेदमूलक नीति का समर्थन किया था; यहाँ तक कि भावावेश में नहीं, अपितु गम्भीरता पूर्वक कहा था कि मेरे एक ही आँख होती तो ठीक था क्योंकि दोनों जातियों को एकसा देखता।' पर जब उनकी नीति बदली तो देश के लिए महान् घातक प्रमाणित हुई। उसी समय उनकी प्राचीन रचनाओं और कार्यों को लेकर लाला लाजपतराय ने, जिनके पिता सैयद अहमद के महान् प्रशंसक थे—उनका विरोध किया था। उसी समय गुप्त जी ने 'सर सैयद का बुढ़ापा' नामक कविता लिखकर लाला जी की परम्परा को आगे बढ़ाया।

आलोच्य कविता कवि की प्रगतिशील राजनीतिक विचार धारा का माप दण्ड है। कवि के सम्मुख एक ओर तो साम्राज्यवादी शासन तथा उसकी आधार शिला के रूप में जमींदार, देशी विदेशी पूंजीपति तथा चाटुकार राव-राजे हैं, दूसरी ओर देश का अभाव-अभियोगमूलक दलित प्रजा वर्ग है। प्रजा पर भार बन कर सुखद जीवन यापन करने वाले सैयद अहमद जैसे साम्प्रदायिकतावादी नेताओं के लिए कवि ने स्पष्ट कहा है—

"बहुत जी चुके बूढ़े बाबा चलिए मौत बुलाती है।
छोड़ सोच मौत से मिलो जो सबका सोच मिटाती है॥

बहुत नाम पाया बाबा जी अब तुम इतना काम करो।
जो कुछ नाम कमा डाला है मत उसको बदनाम करो।।"[१]

'जवानी' कवि के लिए साहस, त्याग और प्रयोग करने की आकांक्षा की प्रतीक है और 'बुढ़ापा' अगति, स्वार्थान्धता तथा अनुदारता का। अस्तु, कवि सैयद जैसे वृद्धों से भारत को मुक्त देखने का अभिलाषी है। प्रारम्भ में काँग्रेस समर्थक होकर सैयद अहमद ने यश लाभ किया था, किन्तु बाद में कांग्रेस का विरोध कर हिन्दू-मुस्लिम भेदभाव का बीजारोपण किया था अतः इन भारत विरोधी कार्यों से कवि क्षुब्ध हुआ बैठा था। इस कविता में यथास्थान इसी क्षोभ की अभिव्यंजना है।

इस कविता में वर्ग-संघर्ष की भावना भी अधिक स्पष्ट होकर सामने आने लगी थी। भारत के शोषक वर्ग को सम्बोधित करते हुए लिखा था—

"हे धनिको! क्या दीन जनों की नहिं सुनते हो हाहाकार?
जिसका मरे पड़ोसी भूखा उसके जीवन को धिक्कार।
भूखों की सुध उसके जी में कहिए किस पथ से आवे,
जिसका पेट मिष्ट भोजन से ठीक नाक तक भर जावे।"

कवि धनिक वर्ग की साधन-सम्पन्नता और वैभव-विलास-प्रियता को भली दृष्टि से नहीं देखता, वह उन्हें पड़ोसी धर्म की शिक्षा देता है। उसकी सहानुभूति दीन-हीन कृषकों एवं श्रमिकों के साथ है। वह सत्ताधारी राजा रईसों की प्रशस्तियाँ लिखकर लेखनी को कलंकित नहीं करता, वह त्रस्त एवं उत्पीड़ित मानवता को स्वाधिकारों की मांग के लिए सचेत करने वाला कलाकार है।

इसके अतिरिक्त यह कविता ईश-आराधना द्वारा परलोक सृजन के हेतु प्रयास का सोपान नहीं, प्रत्युत सतत प्रयत्नों द्वारा मृत्युलोक को ही स्वर्ग बनाने की चेष्टा का सुन्दर प्रयास है। इस कविता की मूलभावना भारतीय स्वाधीनता के पथ में अवरोध बनकर आने वाले तत्वों का प्रबल विरोध करना है। इसी भाँति 'पंजाब में लायल्टी' नामक कविता स्वाधीनता आन्दोलन के समर्थन में सर्वश्रेष्ठ रचना है। स्वाधीनता आन्दोलन में जेल जाने वालों का कवि अभिनन्दन और विदेशी शासन की चाटुकारिता करने वाले तत्वों का प्रतिवादन करता है। पंजाब के शासन-हितैषी तत्वों पर व्यंग्य करते हुए कवि ने लिखा था—

१—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, पृ० ६२१।

"लायल हैं सब सिक्ख अरोड़े खत्री भी सब लायल हैं,
मेढ़ रहतिये बनिये धुनिये लायल्टी के कायल हैं।
धर्म समाजी पक्के लायल, लायल हैं अखबारे आम,
दयानन्दियों का तो है लायल्टी से ही काम तमाम।
लायल लाला हँसराज हैं लायल लाला रोशनलाल,
लायल्टी ही जिनका सुर है लायल्टी ही जिनकी ताल।
पोथी लेकर जिन्हें पड़ी, अपनी लायल्टी दिखलाना,
लाट इबटसन देंगे जिनको लायल्टी का परवाना।"[१]

कवि ने विदेशी शासन से राजभक्ति का प्रमाण-पत्र पाने वाले तत्वों की डटकर भर्त्सना की है। पंजाब के वकील-बैरिस्टर, खान बहादुर-राय बहादुर, जमींदार, लाला तथा राजभक्त पत्र—'वतन', पैसा अखबार आदि का स्पष्ट उपहास किया है। कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

"पेट बन गए हैं इन सब के लायल्टी के गुब्बारे,
चला नहीं जाता है, थककर हाँप रहे हैं बेचारे।
बहुत फूल जाने से डर है फट न पड़ें यह इनके पेट,
इसी पेट के लिये लगी है लायल्टी की इन्हें चपेट।
सुनते हैं पंजाब देश सीधा सुरपुर को जावेगा,
डिस लायल भारत में रहकर इज्जत नहीं गँवावेगा।"[२]

अंग्रेजों द्वारा सम्पन्न प्रशासकीय सुधार एवं वैज्ञानिक अनुसंधानों का भारत-विरोधी मर्म गुप्त जी ने भली प्रकार समझ लिया था। यही कारण है कि अंग्रेजों के भारतीय संस्करण—सर सैयद अहमद खाँ को सम्बोधित करते हुए लिखा था—

"बाबा उनसे कहदो जो सीमा की रक्षा करते हैं,
लोहे की सीमा कर लेने की चिन्ता में मरते हैं।
प्रजा तुम्हारी दीन दुखी है रक्षा किसकी करते हो,
इससे क्या कुछ भी होता है नाहक पच पच मरते हो।"[३]

रूसी भालू के आक्रमण के भय से भारत की पश्चिमोत्तर सीमा पर अंग्रेजों द्वारा की गई किले बन्दी का यह भारतीय दृष्टि से मूल्यांकन है। जब

१—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, पृ० ६४२।
२— वही, पृ० ६४३।
३— वही, पृ० ६२९।

प्रजा दीन-दुखी है, तो यह आडम्बर किसके लिए है ? इसके मूल में अन्तर्हित साम्राज्य सुरक्षा के भाव को कवि ने समझ लिया था। यही नहीं, उसने इङ्गलैंड के उदार तथा अनुदार दलों की वास्तविकता का भी ज्ञान कर लिया था—

"नहिं कोई लिवरल नहिं कोई टोरी,
जो परनाला सोही मोरी ।
दोनों का है पंथ अघोरी ॥
होली है भई होली है ।"[1]

इङ्गलैण्ड विषयक राजनीति में दोनों दलों में चाहे कोई अन्तर हो, किन्तु भारत के लिए दोनों की एक नीति है और वह है, साम्राज्य संरक्षण। यह बात कवि ने पॉलिटिकल होली नामक कविता में भली प्रकार स्पष्ट कर दी है। कवि ने स्पष्ट कहा है—

"जैसे मिन्टो वैसे कर्ज़न, होली है भई होली है ।"[2]

'कर्ज़न' अनुदार तथा 'मिन्टो' उदारदली नेता था, किन्तु दोनों का भारत में रूप शोषक का था। गुप्त जी ने इस तथ्य को भारतीय जनता के सम्मुख बड़ी उत्तमता के साथ प्रस्तुत किया है। सारांश यह है कि भारतीय जनता की दीनता तथा अंग्रेजी शोषण के चित्र अंकित करने में गुप्त जी पूर्ण समर्थ रहे हैं।

राष्ट्रीय कविता के चतुर्थ रूप के दर्शन वहाँ होते हैं, जहाँ कवि देश के नवयुवक तथा शिक्षित वर्ग का देश हित के लिए आह्वान करता है, उनके सम्मुख देश के उत्थान एवं उत्कर्ष का मार्ग निर्दिष्ट है, भविष्य की आशा तथा सम्भावना का रूप समुपस्थित करता है तथा उत्तरोत्तर विकसित राष्ट्रीय आन्दोलनों का समर्थन करता है।

भारतेन्दु युग का साहित्यकार जनता का कलाकार था, उसकी विचार धारा मानवतावादी अधिक थी। अतः देश में दारिद्रय का अटल साम्राज्य, प्लेग और संक्रामक रोगों का भीषण ताण्डव, जन-जीवन का कष्ट और विदेशी शासकों का नृशंस अत्याचार देखकर उसमें सामूहिक-हित-चेतना का अधिक प्रसार हुआ। उन्होंने घर-घर अलख जगाकर राष्ट्रीय विचारों का प्रसार किया और जनता में आशातीत जाग्रति का श्रीगणेश किया। इतना होने पर

१—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, पृ० ७१७।
२— वही, पृ० ७१८।

भी इस युग के पूर्व तथा मध्यकालीन कवियों की रचनाओं में आत्मावलम्बन और भविष्य के लिये एक निश्चित योजना का कुछ अभाव सा लक्षित होता है। ये लोग अधिकांश में निराशा, करुणा, आत्महीनता तथा आत्मपरवशता के गीत गा रहे थे। इनका अधिकांश समय देशोद्धार के लिये देवी-देवताओं की स्तुति, शासकों से अनुनय-विनय तथा ईश-आराधना करने में व्यतीत हुआ, वे जनता के दुःख परिहारार्थ उसके सम्मुख एक सुनिश्चित योजना प्रस्तुत न कर सके। यद्यपि यथा समय उन्होंने राष्ट्रीय-हलचल तथा स्वदेशी-आन्दोलनों का समर्थन किया है जिससे भावी स्वतन्त्रता-आन्दोलन को महान् बल और नैतिक-शक्ति मिली थी, फिर भी वे कवि एक रचनात्मक कार्य-क्रम जनता के सम्मुख न रख सके। बालमुकुन्द गुप्त की स्थिति उन कवियों से भिन्न थी। भारतेन्दु जी तथा पं० प्रतापनारायण मिश्र का विविध क्षेत्रों में प्रभाव उनके ऊपर स्पष्ट है पर वे इस दिशा में निःस्संदेह सबसे आगे निकल गये थे। उन्होंने निराशा, आत्महीनता और विवशता का राग अलापना बन्द कर के देश के नवयुवक-वर्ग को सङ्गठित होकर देश पर वलिदान होने के लिये आह्वान किया था और उनके सम्मुख आत्मनिर्भरता, स्वतन्त्रता उपलब्धि, तथा स्वत्व प्राप्ति का एक मार्ग उपस्थित किया था। वे देश के नव-युवकों को एक होकर जीवन और मरण की प्रतीक्षा कराते हैं—

"आओ एक प्रतिज्ञा करें, एक साथ सब जीवें मरें।
भोग विलास सभी दो छोड़, बाबूपन से मुँह लो मोड़।
छोड़ो सभी विदेशी माल, अपने घर का करो खयाल।
अपनी चीज़ें आप बनाओ, उनसे अपना अंग सजाओ।"[1]

आर्थिक-शोषण तथा पराधीनता भारतीय स्वतन्त्रता के मार्ग में महान् अवरोध थी। उससे मुक्ति पाना निश्चित रूप से स्वतन्त्रता की प्रथम सीढ़ी पर आरोहण करना मात्र था। आर्थिक-पर-निर्भरता से मुक्ति पाने के लिये गुप्त जी ने जनता के सम्मुख स्वदेशी वस्तु के उपभोग और निजी-व्यापार पर बल दिया था। उन्होंने देश के ३० करोड़ व्यक्तियों को सम्बोधित किया था—

"अपना बोया आप ही खावे, अपना कपड़ा आप बनावे।
बढ़े सदा अपना व्यापार, चारौं दिशि हो मौज बहार।

१—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, 'स्वदेशी आंदोलन', पृ० ७११।

माल विदेशी दूर भगावें, अपना चरखा आप चलावें।"[१]

'अपना चरखा आप चलावें' का मार्ग आत्मनिर्भरता के लिए भारतीयों के सम्मुख रखकर गुप्त जी कवि से बढ़कर नेता के रूप में उपस्थित होते हैं, यही उनकी उत्कट देशभक्ति का परिचायक है। गांधी जी के प्रभाव से पूर्व 'अपना चरखा आप' चलाने की बात अभूतपूर्व है। यही नहीं, भारत को उत्तरोत्तर शक्तिहीन तथा दुर्बल बनाने वाली शक्तियों को, जिनमें विलासी तथा धनिक वर्ग की प्रधानता थी, समूल नष्ट करने के लिये गुप्त जी ने युवकों को संगठित होने का मंत्र दिया था। उनकी इस पुकार में कितनी क्रान्तकारिता, उग्रता तथा ओजस्विता है। देखिये—

> "तोड़ दो तबला पखाबज साज कर दो चूर–चूर।
> फोड़ दो बोतल करो सब रंडियों को घर से दूर॥
> तोड़ डालो कोठियाँ बागों को झट डालो उखाड़।
> दुख को अपना करो आराम को डालो लथाड़॥
> तबतलक आँखों तुम्हारी से तुम्हारे जल बहे।
> जबतलक कष्टों का कुछ भी लेख भारत में रहे॥"[२]

स्वतन्त्रता प्राप्ति का यह वह मार्ग था, जिसका अनुसरण करने के लिए उन्होंने युवक-समाज को निरन्तर आमन्त्रित किया था, वे शोषक समाज के समूल उन्मूलन पर बल दे रहे थे और देशवासियों के बहुमुखी उत्कर्ष के लिए इसे आवश्यक समझते थे। यह, इस युग की देशभक्ति में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन बिन्दु था, जहाँ से परवर्ती कवियों की राष्ट्रीय चेतना ने एक नया मोड़ लिया था। अपने पूर्ववर्ती कवियों के विपरीत ईश-आराधना तथा भगवद्-भक्ति को देशोद्धार का अनपेक्षित तथा अपूर्ण साधन मानते हुए गुप्त जी उग्र क्रान्तिकारिता तथा आन्दोलन की सक्रियता पर बल दे रहे थे। वे केवल देश की अतीत-महिमा तथा सुषमा के गीत गाकर संतुष्ट न थे। उन्होंने जननी-जन्म-भूमि की स्वतन्त्रता के निमित्त आत्म बलिदान करने के लिए नवयुवकों को अनुप्रेरित किया था। वे जातीय एकता और भारतीय आदर्श के प्रबल समर्थक थे। श्रमजीवी और कृषक दोनों ही उनकी कविता के विषय बने हैं।

१—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, आशीर्वाद, पृ० ७१२।

२— वही , आजकल का सुख, पृ० ६९५।

अस्तु, शोषित वर्ग पर होने वाले अमानवीय अत्याचारों का उन्होंने तीव्रता के साथ विरोध किया है।

१६ अक्टूबर, सन् १९०५ ई० के दिन बंगाल का विभाजन करके सरकार ने विस्तृत बंगाल की राष्ट्रीय एकता को भङ्ग करने का आयोजन बङ्ग-भङ्ग के रूप में किया था और भारत के अन्य प्रान्तों से समागत राष्ट्रीय पुनर्जागरण तथा सांस्कृतिक नवचेतना की लहर को बङ्गाल में विनष्ट करने की योजना दमन और अत्याचार के रूप में अपनाई थी। पर इस दमन तथा विच्छेद नीति का परिणाम शासकों की कल्पना के विरुद्ध हुआ, सारा बङ्गाल एकता और प्रेमसूत्र में आबद्ध हुआ और उसी समय स्वदेशी आंदोलन का जन्म हुआ। इसी आन्दोलन का देशव्यापी महान् रूप गाँधी जी द्वारा संचालित असहयोग तथा खादी आन्दोलन के रूप में बाद को दीख पड़ा था। बंगाल के इस स्वदेशी आन्दोलन का समर्थन बंगाल में हिन्दी-कवि के रूप में गुप्त जी कर रहे थे। उन्होंने इन आन्दोलनों के समर्थन में अनेक कविताएँ लिखीं हैं, तथा बंग-विभाजन के उत्तरदायी लार्ड कर्ज़न, फुलरज़ंग तथा बराडरिक आदि की स्पष्ट रूप से आलोचना की है।

गुप्त जी ने 'टेसू'[१] नामक कविता में लार्ड कर्ज़न तथा बंग-विभाजन पर बड़ी विषाक्त व्यंग्योक्तियाँ कहीं हैं, जिन पर विस्तारपूर्वक विचार आगे किया गया है।[२] इसी प्रकार 'कर्जनाना'[३], 'छोड़ चले शाइस्ताखानी'[४], 'पोलिटिकल होली'[५] तथा 'टेसू'[६] नामक कविताओं में उन्होंने अँग्रेजी शासन का विरोध और स्वदेशी आन्दोलन का समर्थन किया है।

बालमुकुन्द गुप्त ने देश की पीड़ित जनता को आशा और धैर्य दिलाने के लिये भविष्य के सुखद स्वप्नों का भी चित्र उपस्थित किया है तथा उनके सम्मुख एक अभीष्ट राज्य की रूपरेखा प्रस्तुत की है। भविष्य के इन सुखद चित्रों की पृष्ठभूमि में केवल भावना यह अन्तर्निहित थी कि देशवासी शीघ्राति-

---

१—भारतमित्र, ३० सितम्बर सन् १९०५ ई० में प्रकाशित।

२—प्रस्तुत अध्याय, जन गीतों के रूप और गुप्त जी की व्यंग्यपूर्ण रचनाएँ।

३—भारतमित्र, १८ नवम्बर, सन् १९०५ ई०।

४—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, पृ० ७१३।

५— वही पृ० ७१७।

६— वही पृ० ७१९।

शीघ्र इन चित्रों से आकृष्ट होकर उन्हें हस्तगत करने के लिये अनुप्रेरित हों और शीघ्र देश में स्वतन्त्रता देवी का आगमन हो। उन्होंने राम-राज्य का सुखद चित्र अंकित करके जनता को उसे प्राप्त करने के लिए प्रेरित किया था। गांधी जी के उदय से पूर्व उनके रामराज्य की कल्पना विचारणीय है—

"सुन्यो तुम्हारे राज हतो दुखहीन सदाहीं।
दीन दुखी वामें ढूंढेहू मिलते नाहीं॥
अङ्गहीन तन-छीन रोग सोकन के मारे।
कबहु न कोऊ सुने राम प्रभु राज तुम्हारे॥
और सुनी हम राज तुम्हारे भयो न कोई।
अन्नहीन जलहीन प्राण त्याग्यो जिन होई॥
पूत पिता के आगे काहूँ को नहिं मरतो॥
राज तुम्हारे पुत्र शोक कोऊ नहिं करतो॥
कबहु न परयो अकाल मरी कबहूँ नहिं आई।
अन्नहीन तृनहीन भूमि नहिं दई दिखाई॥
वायु बह्यो अनुकूल इन्द्र बहु जल बरसायो।
सुखी रहे सब लोग रह्यो नित आनंद छायो॥
धर्म्म कर्म्म अरु वेद गाय विप्रन को आदर।
रह्यो तुम्हारे राज सदा प्रभु सब विधि सुन्दर॥"[1]

राम-राज्य का यह सुखद चित्र था जिसकी कामना गुप्त जी भारतवर्ष के लिये करते थे। उनकी उत्कट अभिलाषा थी कि भारत में ऐसे राज्य की स्थापना हो—

"जहं मारी को डर नहीं अरु अकाल को त्रास।
जहाँ करैं सुख सम्पदा बारह मास निबास॥
जहाँ प्रबल को बल नहीं अरु निबलन की हाय।
एक बार सो दृश्य पुनि आँखिन देहु दिखाय॥[2]

गुप्त जी ने अपनी कविता द्वारा भारत की दीन-हीन, गृहरहित तथा बेकार जनता की विपत्ति के साथ अंग्रेज शासकों तथा उनके भारतीय चाटुकारों के वैभव से तुलना करके अँग्रेजी राज्य के जनवादी ढोंग का रहस्योद्घाटन किया था। उनकी साहित्य-साधना सोद्देश्य थी। उनका मत था कि

१—गुप्त निबंधावली, प्रथम भाग, 'राम भरोसा', पृ० ५८५।
१— वही ,वही , पृ० ५८९।

स्वत्त्व और मौलिक अधिकारों से च्युत व्यक्ति की कविता, कविता कहलाने की क्षमता नहीं रखती; वह निरी तुकबन्दी है। इस विषय में उनका स्पष्ट मत है—"जब यह देश देश था और यहाँ के लोग स्वाधीन थे, तब यहाँ कविता भी होती थी। उस समय की जो कुछ बची-खुची कविता अबतक मिलती है, वह आदर की वस्तु है और उसका आदर होता है। कविता के लिये अपने देश की बात, अपने देश के भाव और मन की मौज दरकार है। हम पराधीनों में यह सब कहाँ? फिर हमारी कविता क्या और उसका गुरुत्व क्या, इससे इसे तुकबन्दी कहना ही ठीक है। पराधीन लोगों की तुकबन्दी में कुछ तो अपने दुख का रोना होता है और कुछ गिरी दशा पर पराई हँसी होती है।"[1] गुप्त जी अपनी कविता को स्वयं तुकबन्दी कहते हैं, पर उसमें कवि के मनोराज्य की सफल अभिव्यंजना हुई है और श्रद्धा एवं शोभा में भी वह कम नहीं। इसके अतिरिक्त वे अपने काव्य द्वारा भारतीय समाज में अलख जगाने वाले साधक थे; उन्होंने यथा समय उदारतावादी नीति के भ्रम में पड़े भारतीयों के सुधारतावादी मोहावरण को विच्छिन्न किया था। गुप्त जी दलित और पीड़ित के समर्थक थे; चाहे वह व्यक्ति हो अथवा समूह; उसकी ओर से अन्तिम समय तक वे जनता के न्यायालय में वकालत करते रहे और समाज की न्याय-शक्ति को विकसित करने में भी अपनी लेखनी का गौरव मानते रहे। देश तथा समाज के विरोधी को उन्होंने कभी क्षमा नहीं किया। कृषक और श्रमजीवी वर्ग के प्रति उनकी केवल बौद्धिक सहानुभूति ही नहीं थी, अपितु वे सक्रिय सहयोग के पोषक थे। अपनी जन्मभूमि गुड़ियानी में उन्होंने कृषक जीवन के दैन्य और दारिद्र्यमय रूप का अनुभव और कलकत्ता जैसे महान् व्यवसायी नगर में रहकर श्रमजीवी वर्ग के निम्न एवं उत्पीड़ित जीवन की यथार्थ अनुभूति प्राप्त की थी। यही कारण है कि उनकी कविता में पीड़ितों और शोषकों के प्रति अजस्र-स्रोतस्बिनी करुणाधारा का प्रवाह तथा उनको इस अवस्था तक पहुँचाने के उत्तरदायी वर्ग के प्रति विद्रोह और क्रान्ति-भावना के दर्शन होते हैं।

गुप्त जी की कविता को रस, अलंकार, वृत्ति और कला की कसौटी पर रखने वाले आलोचक को चाहे भले ही निराश होना पड़े, पर उनमें अधिकांशतः अनुभूति की तीव्रता और सत्य की स्पष्ट झलक अवश्य मिलती है। जनता के लिये उसकी ही भाषा में कविता लिखने वाले बालमुकुन्द गुप्त

१—बालमुकुन्द गुप्त, 'स्फुट कविता की भूमिका' सन् १९०५ ई०।

रस, रीति, अलंकार और ध्वनि सम्प्रदाय के कवियों से पूर्णतः भिन्न हैं। उनकी कविता में प्रवाह, ओज और तीव्रता का अभाव नहीं। उनकी कविता की सर्व प्रथम विशेषता है, राष्ट्रीयता और देश प्रेम।

गुप्त जी की धार्मिक रचनाएँ—

राजनीति के क्षेत्र में गुप्त जी जितने प्रगतिशील और उग्रतावादी थे, धर्म के क्षेत्र में उससे कहीं अधिक प्रतिक्रियावादी और प्राचीन परम्परा तथा आस्था के प्रबल समर्थक थे। वे प्राचीनता के परिपोषक और अर्वाचीनता के विरोधी थे, उन्हें नवीन सभ्यता और संस्कृति के विकृत रूप से अरुचि थी, बनावट और सभ्यता के कृत्रिम प्रसाधनों से विभूषित मानव को वे सम्मान की दृष्टि से नहीं देखते थे, इसके विपरीत आदर्श एवं मानवता के मानों की वेदी पर स्व का बलिदान करने वाले पुरुष को श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। उन्होंने बाह्याडम्बरों को कभी प्रश्रय नहीं दिया। वे नैतिक उत्कर्ष और आदर्श के उन्नयन में आस्था रखते थे। वे प्राचीन रीति-रिवाज और परम्पराओं को देश के लिए कल्याणप्रद मानते थे। नवीन सभ्यता के आलोक में भारत की प्राचीन वर्ण-व्यवस्था विश्रृङ्खल होती जाती थी। गुप्त जी उसके लिये खेद प्रकट करते हुए सम्मुख आए हैं—

विप्रन छोड्यो होम तप अरु छत्रिन तरवार।
बनिकुल के पुत्रन तज्यो अपनो सद्व्यवहार॥
अपनो कुछ उद्यम नहीं तकत पराई आस।
अब या भारत भूमि में सबै बरन हैं दास॥"[1]
"सेल गई बरछी गई गये तीर तरवार।
घड़ी छड़ी चसमा भये छत्रिन के हथियार॥"[2]

देश में समाज-सुधारवादी शक्तियों—ब्रह्मसमाज, आर्य समाज और थियोसोफीकल सोसाइटी आदि के उत्कर्ष, नवीन शिक्षा प्रसार तथा देश-विदेश की प्रमुख घटनाओं का भारत की परम्परागत रूढ़िवादी एवं अन्धविश्वासपूर्ण धार्मिक परम्पराओं पर गहरा आघात लगा था। शिक्षा-प्रसार ने नवीन चेतना और आत्म गौरव की भावना को उद्बुद्ध किया था। शनैः शनैः भारतीय नवीन विचार धारा तथा पाश्चात्य सभ्यता की ओर आकृष्ट होते जा रहे थे। अस्तु, कालान्तर में भारतीय वस्तु, कला और विचारों से उन्हें घृणा होती

१—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, 'राम विनय', पृ० ५९० ।
२— वही श्रीराम स्तोत्र, पृ० ५८१ ।

गई। सम्मतः वे लोग प्राचीन परम्परा और रीति-नीति के अनुसरण को दासता और गुलामी की शृङ्खला मानते थे यहाँ तक कि अँग्रेजी पढ़े लिखे भारतीय कहलाने में भी अपना अपमान समझने लग गये थे। उस समय आवश्यकता तो इस बात की थी कि देश में व्याप्त कलह, आलस्य, अकर्मण्यता, अस्पृश्यता, बाल-विवाह, विधवा-विवाह, रूढ़िवादिता, व्यभिचार, अशिक्षा, अज्ञान, धार्मिक-संकीर्णता, मांस मदिरा-सेवन, कूपमंडूकता, फैशन-प्रियता, भूत प्रेतादि तथा अतिमानवीय सृष्टि में अन्ध विश्वास, शिक्षित और अशिक्षितों की बेकारी, नवीन शिक्षा के परिणाम स्वरूप आविर्भूत फैशन-प्रियता, अपव्यय आदि अनेक दुर्गुणों को दूर करने के लिये शिक्षित समाज प्रयत्नशील होता। पर इसके विपरीत भारत का शिक्षित वर्ग विदेशी सभ्यता की बाह्य सजधज और चमत्कारिकता पर प्राण देने लगा था; अँग्रेजों की नकल करने तथा पाश्चात्य रीति-रिवाजों को आत्मसात करने में ही अपना गौरव समझने लगा था। उनके साथ खाने-पीने आहार-व्यवहार और सम्पर्क बनाये रखने में ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री और अधःपतित भाग्य का उत्थान समझ लेने का उन्हें भ्रम हो गया था। गुप्त जी भारतीयों की खान-पान सम्बन्धी विशेष शिथिलता, धार्मिक असङ्गति, अभारतीयता के प्रवेश, आचार-विचार हीनता और सनातन रीति नीति की विच्छिन्नता पर रुष्ट थे। आपने लिखा है—

"झूठि मलेच्छन की हहा, खात सराहि सराहि। और कहा चाहत सुन्यो त्राहि त्राहि प्रभु त्राहि।"[1]

× × × ×

'कर्म्म धर्म्म संयम नियम जप तप जोग विराग।
इन सबको बहु दिन भये खेलि चुके हम फाग॥"[2]

'बाम्हन बने शहीद ईद में यवन जनेऊदार बने रे।
धन्य धन्य! सब मिल भये आरज उन्नति पर तैयार बने रे॥[3]

× × × ×

'पूँछ सहित जो मछली खाय, रेल पेल बैकुण्ठहि जाय॥
एकादशी को काटे चोटी, उसकी धाक स्वर्ग में मोटी।

१—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, श्रीराम स्तोत्र, पृ० ५८२।
२— वही, राम विनय, पृ० ५८६।
३—बालमुकुन्द गुप्त, स्फुट-कविता, 'देशोद्धार की तान', पृ० १२२।

जो बोतल का चाटे काग, उसके खुले स्वर्ग में भाग।
खड़ा खड़ा जो मारे धार, सोही करे देश उद्धार।'[१]

सनातन धर्म के कट्टर अनुयायी होने के कारण गुप्त जी ने आर्य-समाज की धार्मिक कट्टरता का विरोध किया है। वे विधवा-विवाह को समाज के लिये अहित कर और उसे एक प्रकार की चरित्र-हीनता मानते थे। विधवा-विवाह पर व्यंग्य करते हुए आपने लिखा है—

'एक मरे दूसर पति करहीं, सो तिय भवसागर उत्तरहीं।'[२]
'भला हम विधवा मां का ब्याह करें।
मातादादी नानी चाची फूफी घर की नार।।
कोई विधवा को हम उसकी शादी पर तय्यार।
भला हम बीज न छोडे विधवा को।"[३]

विधवा-विवाह के विषय में एक अन्य स्थान पर लिखा है—

"सबै मिल पति व्रत पन्थ चलाओ।
एक पति मरे करो दूसर पति विधवा नाम मिटाओ।।"[४]

यथार्थ में गुप्त जी सन्तानवाली विधवा के विवाह के पक्ष में न थे, ऐसे पुर्नविवाह को तो वे इन्द्रियलिप्सा और कामुकता का परिणाम मानते थे। बालक-विधवा के विवाह का उन्होंने सदैव समर्थन किया था। जैसे—

बालक विधवा की शादी में करते हैं जो चूक,
ऐसे मूरख भ्रातगण के फिटे मुँह पर थूक।।"[५]

भारतीयों में धर्म के प्रति अविश्वास, वेद-मर्यादा की विश्रृङ्खलता, गीता तथा पुराणादि धार्मिक ग्रन्थों के प्रति उदासीनता तथा हिन्दू धर्म की उपेक्षा पर गुप्त जी खेद प्रकट करते हैं—

"पै हमरे नहिं धर्म्म कर्म्म कुल कानि बड़ाई।
हम प्रभु लाज समाज आज सब धोय बहाई।।
मेटे वेद पुरान न्याय निष्ठा सब खोई।
हिन्दू कुल-मरजाद आज हम सबहि डुबोई।।

१—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, 'हंसी दिल्लगी', पृ० ६८३।
२— वही, 'प्रातिव्रत', पृ० ६७६।
३—बालमुकुन्द गुप्त, स्फुट कविता, 'विधवा विवाह' पृ० ११६।
४— वही पृ० १००।
५—भारतमित्र, २ मार्च सन् १८९९ ई०।

पेट भरन हित फिरैं हाय कूकर से दरदर।
चार्टहि ताके पैर लपकि मारै जो ठोकर।।"[१]

गुप्त जी की धार्मिक कविता पर भक्ति-कालीन कवियों का प्रभाव स्पष्ट है। गुप्त जी वैष्णव थे। वे भगवान् के अवतारों में पूर्ण आस्था रखते थे। विष्णु के अवतार राम को सर्वशक्तिमान मान कर वे भक्त की दीनता का प्रदर्शन करते हैं—

"जपबल तपबल बाहुबल चौथा बल है दाम।
हमरे बल एकौ नहीं पाहि पाहि श्रीराम।।"[२]

ईश्वर की सार्वभौम शक्ति, भक्त-वत्सलता, पर-दु:ख-कातरता, तथा दीन दुखियों की ओर प्रेम भाव की अनन्यता का उल्लेख आपने इस प्रकार किया है—

"अब आयें तुम्हारी सरन 'हारे के हरिनाम'।
साख सुनी रघुवंशमनि 'निर्बल के बल राम'।।
जबलौं निजबल-मद रह्यौ सरयौ न जग को काम।
निर्बल ह्वै जब हरि भज्यो धाये आधे नाम।।
छलबल करत कपीस को मिट्यो न नाथ क्लेस।
निर्बल ह्वै जब पद गहे भयो मालि को सेस।।
दीन सुदामा के किये छन में कंचन धाम।
दसरथ गति भई गीध की जपत नाथ को नाम।।"[३]

गुप्त जी सूर और तुलसी की भाँति साकार भगवान् के ही उपासक थे। उनके राम दशरथ जी के पुत्र श्री रामचन्द्र ही हैं, जो भक्तों के क्लेश निवारणार्थ इस पृथ्वी पर अवतार लेते हैं। उनकी आस्था है कि—

"शिव विरंच अहिराज पार कोऊ नहिं पावैं।
सनकादिक शुक नारद शारद ध्यान लगावैं।।
मुनिगन जोग समाधि करहिं बहुबिधि जा कारन।
तदपि रूप वह सकहिं न करि उर अन्तर धारन।।
सो अखिल ब्रह्म शिशु रूप धरि खेलत दशरथ के सदन।।"[४]

१—गुप्त निबंधावली, प्रथम भाग, रामभरोसा', पृ० ५८६।
२—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, 'श्रीराम स्तोत्र', पृ० ५८१।
३— वही पृ० वही।
४— वही, 'जय रामचन्द्र', पृ० ५७७।

ईश-आराधना के साथ-साथ शक्ति-स्वरूपा देवी लक्ष्मी की आराधना भी गुप्त जी ने की है। वे उन्हें जगत्-माता मानते हैं और उनकी कृपा-दृष्टि में ही जगत् का कल्याण देखते हैं। उनका विश्वास है कि बिना जगत्-माता की अनुकम्पा के विद्या भी असत्य है और भारतीयों का हित भी असम्भाव्य। उनके विश्वास की अनन्यता देखिये—

"कहा भयो जो मरि पचिकै बहु विद्या पाई,
पोथिन पत्रन की घर महं अति भीर लगाई।
रही मात तब दया बिना सब विद्या छूछी,
बहुत पसारे हाथ बात काहू नहिं पूछी।
नहिं जननी बिद्या बुद्धि को, तव बिनु नैक उठाव है।
धिक जीवन तब करुना बिना, तोसों कहा दुराव है?"[१]

भारतेन्दु-युग के अन्य कवियों की भाँति गुप्त जी ने भी जनता के कष्ट निवारणार्थ कितने ही देवी-देवताओं की स्तुति की है। दुर्गा को शक्ति का अवतार, पाप-समूह-भंजक और दारुण-दुख-दाहक मान कर कवि भारत में उसका आह्वान करता है—

"जयति सिंहवाहिनी जयति जय भारत माता।
जय असुरन दल दलनि जयति जय त्रिभुवन त्राता॥
संग सरस्वति अरु कमला, सोभा बाढ़ी अति।
चारहु ओर गगन करि सेना, सुर सेनापति॥
अब जननी याही रूप सों, सदा बास भारत करो।
धन धान्य अनन्द बढ़ाय कै, दरिद सोक संसय हरो॥"[२]

भक्त के हृदय का दैन्य और आत्म-निवेदन भी गुप्त जी की कविता में प्रचुरता के साथ मिलता है। वे विपत्ति-निवारक, पाप-भंजक और परमपद-दायक भगवान से निरन्तर उनके नाम-स्मरण करने की शक्ति की याचना करते हैं। उनकी भक्ति-भावना अवलोकनीय है। वे याचना करते हैं—

"हम कोऊ लायक नहीं सब लायक प्रभु आप।
दीनहु ते अति दीन हैं वेगि मिटावहु ताप॥
तुम बिनु प्रभु को दूसरो विगरी देहि बनाय।
दया करो फेरो दशा होहु कृपालु सहाय॥

१—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, 'जयलक्ष्मी', पृ० ६१४–६१५।
२— वही , शारदीय पूजा, पृ० ५६७।

राज पाट धन बल गयो जावहु कृपा निधान ।
पै न जाय यह अरज है तुम्हरे पद को ध्यान ।"[१]

गुप्त जी ने सूरदास की तरह संसार की निस्सारता, मन की विषय-भोग में अनुरक्ति और सांसारिक सुखों में तल्लीनता पर भी पद लिखे हैं। मन की चंचलता तथा विषयों की ओर आसक्ति को लेकर आपने कहा है--

"मन तू फिर थूकत फिर चाटत ।
कबहु बन जनु वन मतंगजे वीतराग मगु हाटत ।।
कबहु विषय भोग कर परतिय थूक लार तक घाटत ।।
मन ललचाति बहुरि हर पद रति, कर सुख सूम न बाँटत ।।
बृथा जनम जग जीव विषय सुख करि मन यों वय काटत ।।
ज्यों शत छिद्र पेम कौ वसतर फिर फाटत फिर साटत ।।"[२]

इनकी धार्मिक कविता की सबसे प्रथम विशेषता यह है कि वह किसी दूसरे धर्म पर प्रहार नहीं करती, किसी अन्य धर्म के प्रति उसमें ईर्ष्या अथवा द्वेष नहीं पाया जाता। वे हिन्दू-धर्म की विशिष्टता अवश्य स्वीकार करते हैं पर दूसरे धर्मों को घृणा की दृष्टि से नहीं देखते। उनमें धार्मिक संकीर्णता और साम्प्रदायिकता के लिये लेश-मात्र भी स्थान नहीं है। उन्होंने सभी धर्मों के समन्वय की बात भी कही है; हिन्दू और मुस्लिम एकता की बात कहते हुए आपने लिखा है।

"अल्ला गाड अरु निराकार में भेद न जानो भाई रे।
इन तीनों को जी में अपने जानो भाई भाई रे ।।"[३]

इन पंक्तियों के साथ गुप्त जी कबीर की श्रेणी में जा विराजते हैं।

गुप्त जी की धार्मिक-कविता के विषय में यह कहा जा सकता है कि उन पर युग की सामान्य कविता धारा का प्रभाव पूर्णतः वर्तमान था। साधारणतः उनकी कविता में सुधार वादी दृष्टिकोण की अभिव्यंजना हुई है। कवि पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव को अमंगल सूचक तथा भारत के लिये अनपेक्षित समझता है; अतः आचार विचार की हीनता, खान-पान की शिथिलता तथा हिन्दू-रीति-रिवाजों के प्रति शिक्षितों की उदासीनता पर खेद प्रकट करता

१--गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, श्रीराम स्तोत्र, पृ० ५८४।
२--श्री नवलकिशोर गुप्त, १४७ हरिसन रोड कलकत्ता के संग्रह से प्राप्त।
३--गुप्त निबंधावली, प्रथम भाग, देशोद्धार की तान, पृ० ६७५।

है। साथ ही अपनी भारतीयता और देशप्रेम को अक्षुण्ण बनाये रखते हुये नैतिक उत्थान की ओर दत्तचित्त रहता है।

गुप्त जी पर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा पं० प्रताप नारायण मिश्र का प्रभाव—

भारतेन्दु युगीन साहित्य प्राचीन मान्यताओं एवं रूढ़ियों का परित्याग करके नव-जीवनदर्शन लेकर उपस्थित हुआ था। नायिका-भेद और नख-शिख वर्णन की पद्धति अब निष्प्राण होती जा रही थी। सामंती साज सज्जा और प्रशस्ति गायन में कवि की रुचि न लगती थी। शृङ्गारिक चित्रण और विलासिता के कारण साहित्य और समाज के विचार में अन्तर आ गया था; वह भारतेंदु आदि सामंजस्य-पटु, साहसी और प्रतिभा सम्पन्न व्यक्तियों द्वारा दूर कर दिया गया था। भारतेन्दु के विषय में शुक्ल जी का मत है कि—"उन्होंने हमारे जीवन के साथ हमारे साहित्य को फिर से लगा दिया। बड़े भारी विच्छेद से उन्होंने बचाया।"[1] इस प्रकार भारतेन्दु और उनके सहयोगियों द्वारा साहित्य के उपादान बदले और साहित्य जन-जीवन की अभिव्यक्ति का माध्यम बना। उसमें राष्ट्रीय भाव और सामाजिक जीवन का सन्निवेश हुआ। उनकी इस विचार धारा का प्रभाव सामयिक तथा परवर्ती सभी साहित्यकारों पर समान रूप से पड़ा था। पं० प्रताप नारायण मिश्र भारतेन्दु के चरण चिह्नों पर चलने वाले साहित्यकार थे। गुप्त जी पर इन दोनों की विचार-धारा तथा शैली का गहन प्रभाव पड़ा था। मिश्र जी उनके हिन्दी-कविता-गुरू और भारतेन्दु विचार तथा साहित्य में आदर्श थे। अतः उनकी रचना पर भारतेन्दु तथा मिश्र जी का अधिक प्रभाव पड़ा है।

भारतेन्दु जी ने मूलतः देश-प्रेम एवं राजनीतिक चेतना लेकर साहित्य क्षेत्र में पदार्पण किया था। उन्होंने देश के अधःपतन, आर्थिक-हीनता, उत्तरोत्तर विकसित फूट और वैमनस्य, निरन्तर संवर्द्धित टैक्स और लगान, दशकों से आती हुई महामारी तथा अंग्रेजी राज्य की शोषक नीति की तीव्र आलोचना की है। बालमुकुन्द गुप्त पर भी इस प्रवृत्ति का पूर्ण प्रभाव है। राजनीतिक चेतना तथा राष्ट्रीयता के अतिरिक्त भारतेन्दु के धार्मिक विश्वास, हिन्दी प्रेम तथा हास्य और व्यंग्य की शैली का भी गुप्त जी ने अनुगमन किया है।

१—रामचन्द्र शुक्ल, चिन्तामणि, पहला भाग, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पृ० १६१।

भारतेन्दु जी ने 'भारत-दुर्दशा' और 'नीलदेवी नाटकों' में भारतवर्ष के दारिद्रच, अतीत के गौरव, वर्तमान के अध:पतन, जन-जीवन के कष्टों का चित्रण किया है। इसी प्रकार प्रत्येक क्षेत्र में भारत की अध:पतित अवस्था का चित्रण करने में प्रतापनारायण मिश्र की 'तृप्यंताम' कविता प्रसिद्ध है। उन्हें अपने दास शरीर और उसके अवययों से इष्ट-आराधना करना भी अच्छा नहीं लगता। आत्मग्लानि, परवशता और दीनावस्था का चित्र 'तृप्यंताम' की इन पंक्तियों में सजीव हो उठा है—

"इन हाथन सौ देहि कहा जल जे सेवहिं पर चरन मुदाम।
रहत विश्व पदत्रान-दलित नित तेहि शिर सों किमि करें प्रणाम।।
जौन जीह निशिदिन सूखति है बकत खुशामद कपट कलाम।
यासों कैसे कहै हहा हम अहौ पितामह तृप्यन्ताम।।"[१]

इसी प्रकार गुप्त जी भी देवी की स्तुति में भारतीयों के दु:ख निवारण की प्रार्थना करते हुए देश में व्याप्त दारिद्रच और समाज की हीनावस्था का चित्र उपस्थित कर रहे हैं—

"तू अपने पूतन को क्यों नहिं ताप मिटावत।
केहि कारण इनके दुख पै तोहि दया न आवत ?
सब ही गयो विलाय कछू अब रह्यो न बाकी।
उदर हेत हम बेच चुके मा, चूल्हे चाकी।।"[२]

इसके अतिरिक्त गुप्त जी की राष्ट्रीय कविता, शीर्षक में ऐसे कितने ही उद्धरण प्रस्तुत किये जा चुके हैं जो उनके देश-प्रेम तथा सामाजिक हित-साधना की अभिव्यंजना करने में समर्थ हैं।

देश की इस अधोगति का कारण क्या था ? भारतवासी आदि काल से वीर, पराक्रमी और युद्ध में अजेय रहे थे फिर उनको दास क्यों बनना पड़ा ? भारतेन्दु जी ने स्वयं इस समस्या का समाधान किया है। उनका निश्चित मत है—

"बैर फूट ही सों भयो सब भारत को नास।
तबहु न छाँड़त याहि सब बँधे मोह के फाँस।।[३]

× × ×

१—रमाकान्त त्रिपाठी, प्रताप-पीयूष, पृ० २१०।
२—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, 'आवहु माय', पृ० ६०९।
३—ब्रजरत्न दास, भारतेन्दु ग्रंथावली, द्वितीय खंड, पृ० ७३८।

"खसम जो पूजै देहरा भूत-पूजनी जोय ।
एकै घर में दो मता कुसल कहाँ से होय ।।"[१]

गुप्त जी को भी अन्य कारणों के साथ-साथ पारस्परिक बैर भाव, ईर्ष्या-द्वेष, तथा वैमनस्य भारतीय अवनति का एक कारण प्रतीत होता है । इस मत में वे भारतेन्दु जी के अनुयायी हैं । उनके मत से आपसी फूट बाहुबल एवं बौद्धिक शक्ति दोनों का ह्रास कर देती है । उनके शब्द हैं—

"तहाँ टिके क्यों बाहुबल जिन घर मेवा फूट ।
बल बपुरो कैसे रहे जाय बाहु जब टूट ।।
जहाँ लरै सुत बाप सङ्ग और भ्रात सों भ्रात ।
तिनके मस्तक सों हटै कैसे परकी लात ।।
लरि लरि अपनो बाहुबल खोयो कृपा निधान ।
आप मिटै तोहू नहीं मिटी लरन की बान ।।[२]
घर में कलह विरोध की बैठे आग लगाय ।
निसि दिन तामै जरत हैं जरतहिं जीवन जात ।।"[३]

भारतेन्दु जी ने सचाई के साथ सामाजिक-जीवन की विषमताओं और असंगतियों का अंकन किया है । उनकी अधिकाँश रचनाएँ भारतीय जीवन के यथार्थ एवं संश्लिष्ट चित्र अंकित करतीं हुईं विदेशी शासन के दोषों का प्रकाशन करती हैं । स्वदेश भक्ति, स्वदेशी आन्दोलन का समर्थन और स्वाधीनता प्राप्ति, उनके काव्य के प्रमुख स्वर हैं जिनका प्रभाव सभी सामयिक साहित्यकारों पर पड़ा है । प्रताप नारायण मिश्र और बालमुकुन्द गुप्त दोनों ही उनसे प्रभावित हैं ।

भारतीय धन का बहिर्गमन भारतेन्दु जी को अधिक अखरता था । अस्तु उन्होंने लिखा था—

"अंगरेज राज सुख साज सजे सब भारी ।
पै धन विदेस चलि जात यहे अति ख्वारी ।।
ताहू पै महँगी काल रोग विस्तारी ।
दिन-दिन दूने दुख ईस देत हा हारी" ।।[४]

१—ब्रजरत्न दास, भारतेन्दु ग्रंथावली, द्वितीय खंड, पृ० ७३३ ।
२—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, राम स्तोत्र , पृ० ५८३ ।
३— वही , राम विनय, पृ० ५९० ।
४—ब्रजरत्नदास, भारतेन्दु ग्रन्थावली, पहला भाग भारत दुर्दशा, पृ० ४७०

इसी प्रकार पं० प्रतापनारायण मिश्र ने भी इस समस्या की ओर इंगित किया है। उनकी दृष्टि में भारतीय केवल बातें करने में पटु हैं और उधर अंग्रेज भारत का सर्वस्व लिये जा हैं—

"सर्वसु लिए जात अंग्रेज, हम केवल ल्यकचर के तेज।
श्रम बिन बातें का करती हैं, कहु टेंटकन गाजें टरती हैं।"[1]

गुप्त जी को भी भारतीय नेताओं की क्रियात्मक रूप के अभाव में केवल व्याख्यान देने की प्रवृत्ति पर असन्तोष है। जो केवल व्याख्यानों के आधार पर ही स्वतन्त्रता प्राप्ति के सुखद स्वप्न देखते थे, उनके प्रति खरा व्यंग्य निम्न पंक्तियों में पाया जाता है—

"झाड़ते लेक्चर हैं लिखते लेख अब बतलाइये।
देश हित के वास्ते क्या-क्या करें फरमाइये"॥[2]

गुप्त जी ने देश की दारुण दशा का चित्रण मार्मिक शब्दों में किया है। भारतीय समाज पतनोन्मुख है। धर्म, धन एवं साहसहीन है। किसी न किसी प्रकार अपने दुष्कर्मों का प्रायश्चित कर रहा है। जो भारतीय अतीत काल में तलवार द्वारा शत्रु पर विजय लाभ करते थे, आज उनकी सन्तान पेट भरने के उद्देश्य से दूसरों की दासता कर रही है; विधर्मी अंग्रेजों का उच्छिष्ट खाकर अपने को गौरवान्वित समझने के भ्रम में पड़ी है। अकाल, टैक्स-बृद्धि और भीषण बीमारियों से देश में हाहाकार मच रहा है। जनता आलस्य और प्रमाद के दिन व्यतीत कर रही है। इस पर भी भारतीय पारस्परिक वैमनस्य में पड़े शक्तिहीन होते जा रहे हैं। इस भीषण अवस्था में भी वे जो कुछ उत्पादन करते हैं, उसे जमींदार लगान और टैक्स में उठवा ले जाता है। किसान उत्पादन करना है पर उसे श्रम द्वारा अर्जित अपनी वस्तु के उपभोग और भाव-निर्धारण का अधिकार प्राप्त नहीं है; बेचता कुछ और भाव में है और आवश्यकता के समय क्रय किसी अन्य भाव में करता है। गुप्त जी की सूक्ष्म-दृष्टि इस महान विषमता की ओर गई थी। निम्नलिखित पंक्ति में शोषक-समाज के प्रति क्षोभ और किसानों की विवशता के प्रति महान् खेद की अभिव्यक्ति होती है—

"गेहूँ भये सवा नौ सेर, यह देखो किसमत के फेर"॥[3]

१—प्रतापनारायण मिश्र, लोकोक्ति शतक, पृ० ३।
२—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग 'आजकल का सुख', पृ० ६६२।
३—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, 'टेसू' पृ० ६६६।

इस आर्थिक दासता और गरीबी से भारत का उद्धार तभी सम्भव है जब भारतीय उत्पादन और उपभोग में आत्म निर्भर हो जायें। वे स्वयं उत्पन्न करें और स्वतन्त्रतापूर्वक उसका उपभोग करें। इस तथ्य को आत्मसात करके ही भारतेन्दु जी ने स्वदेशी का प्रचार किया था। भारतीय स्वयं कपड़ा बनायें और उसका उपभोग करें, विदेशी वस्त्रों पर निर्भर न हों, कला और शिल्प का अध्ययन करके देशोन्नति तथा अपना स्तर उन्नत करें। उन्हें भारतीयों की विदेशी वस्त्रों पर निर्भरता, अन्य की विद्या और बुद्धि द्वारा अपनी देशोन्नति की कामना तथा आवश्यकता की प्रत्येक वस्तु के लिये जनता की पर-निर्भरता बहुत अखरती थी। उन्होंने 'प्रबोधिनी' (सं० १९३१) तथा 'हिन्दी की उन्नति पर व्याख्यान' (सं० १९३४) में स्वदेशी का समर्थन किया था। उन्हें दुःख है कि भारतीय कलम, कागज, चित्र, खिलौने आदि के लिए भी विदेश की ओर देखते हैं; स्वयं उनका निर्माण नहीं करते, जब कि भारत का ही कच्चा माल विदेश जाता है और उसी के द्वारा निर्मित वस्तुओं का मूल्य भारतीयों से कितने ही गुना अधिक लिया जाता है। भारतेन्दु की इसी विचारधारा का समर्थन पं० प्रतापनारायण मिश्र ने अपनी 'लोकोक्ति शतक' में किया है। स्वदेशी और हिन्दी के समर्थन में उनकी पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

> "छोड़ि नागरी सुगुन आगरी उर्दू के रंगराते।
> देसी वस्तु बिहाय विदेसिन सों सरबस ठगाते॥
> मूरख हिन्दू कस न लहैं दुख जिन कर यह ढंग दीठा।
> घर की खाँड़ खुरखुरी लागै चोरी का गुड़ मीठा"॥[1]

इन्हीं की भाँति गुप्त जी स्वदेशी आन्दोलन के बड़े समर्थक थे, बंगाल के स्वदेशी आन्दोलन का समर्थन आपने कई लेखों द्वारा किया है और कविता में देशवासियों को पुकारते हुए लिखा है—

> "छोड़ो सभी विदेशी माल, अपने घर का करो खयाल।
> अपनी चीजें आप बनाओ, उनसे अपना अंग सजाओ"॥[2]
>
> × × ×
>
> "अपना बोया आपही खावे, अपना कपड़ा आप बनावे"।
>
> × × × ×

१—ब्राह्मण—खण्ड २, संख्या ७, पृ० २।

२—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, स्वदेशी अन्दोलन, पृ० ७११।

'माल विदेशी दूर भगावे, अपना चरखा आप चलावे।''[1]

लार्ड कर्ज़न ने भारत में आकार स्वदेशी आन्दोलन दबाया और विलायती माल की बिक्री बढ़ाई। जन कवि शासन की इस चुनौती को मौन रहकर न सह सका। गुप्त जी ने तुरन्त 'कर्ज़नाना' लिखा और कर्ज़न पर व्यंग्य किया, जिसमें स्वदेशी आन्दोलन के समर्थन की प्रवृत्ति दीख पड़ती है। लिखा है—

"किसने देशी चीजों में फिर संचय प्राण कराया,
किसने सब तूफान बखेड़ों को यहाँ से भगवाया।
किसने सब बाबू लोगों का नेशन एक बनाया?
'किया तो है पर इच्छा से नहिं' कर्ज़न ने फरमाया" ॥[2]

डा० रामविलास शर्मा के शब्दों में "भारतेन्दु शुद्ध कला के उपासक न थे, वह सोद्देश्य साहित्य के हामी थे। इसीलिये उनका व्यक्तित्व भी शुद्ध साहित्यकार का न होकर एक समाज सेवी कार्यकर्त्ता का था।"[3] ठीक यही बात गुप्त जी के लिए कही जा सकती है। उनके साहित्य का मूल्य कला की दृष्टि से उतना नहीं, जितना उपयोगिता की दृष्टि से है। भारतेन्दु जी के व्यक्तित्व का प्रभाव गुप्त जी पर स्पष्ट रूप से लक्षित होता है। उनके स्वभाव, विचार-धारा, और कार्य-कलापों का गुप्त जी पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा था। भारतेन्दु जी की अपने स्वभाव के विषय में निश्चित धारणा थी—"सीधेन सों सीधे, महा बाँके हम बाकेन सों हरीचंद नकद दमाद अभिमानी के।" गुप्त जी के स्वभाव के लिये भी हम यही कहें तो अनुचित न होगा। अभिमानी तथा अहंवादी से उन्हें असीम घृणा थी, दूसरी ओर सीधे और भोले आदमी पर प्राण निछावर करते थे। साहित्य और समाज के क्षेत्र में अहं का भाव लेकर पदार्पण करने वाले व्यक्तियों के साथ तीक्ष्ण व्यवहार करने में वे परम पटु थे और दूसरी ओर मार्ग भूल कर भटकता न फिरे, इस भय से अपने नौकर को स्टेशन से लिवा लाने में भी उन्हें संकोच न था। उनका बाँकपन लार्ड कर्ज़न, लार्ड मिन्टो तथा फुलर की तीव्र आलोचना करने तथा सीधापन विपत्तिग्रस्त व्यक्तियों की सहायता करने से स्पष्ट हो जाता है। गुण ग्राहकता और जन संस्कृति के उत्कर्ष में वे भारन्तेदु के सच्चे अनुयायी थे। भारतीय जनता के कष्टों का अवलोकन करके भारतेन्दु जी ने अँग्रेजी राज्य, उसकी पुलिस और

१—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, आशीर्वाद, पृ० ७१२।

२— वही, कर्जनाना, पृ० ७१३।

३—डा० रामविलास शर्मा, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, जीवन-परिचय, पृ० ७।

कानून आदि पर बड़ी मीठी चुटकियाँ अपनी मुकरियों में लीं हैं। यहाँ तक कि राजकुमार का स्वागत करते समय भी वे पुलिस के अत्याचारों को नहीं भूल सके, अतः युवराज से प्रार्थना कर बैठे—

"पहरू कोउ न लखि परै होय अदालत बन्द।
ऐसो निरुपद्रव करौ राज-कुंवर सुख कंद" ॥[१]

इधर बालमुकुन्द भी ग्रामीणों पर चोरी आदि के असत्य आरोप लगा करके पुलिस द्वारा जेल भेजे जाने पर शिकायत कर रहे हैं—

"आज पुलिस वाले उनको करके बरजोरी,
जेल रहे हैं भेज लगा सरसों की चोरी।
हा! वह उनकी सम्पत्ति वह उनकी प्रभुताई,
एक चिह्न भी उनका नहीं देता दिखलाई॥"[२]

भारत का आर्थिक-शोषण अँग्रेजी राज्य की प्रथम विशेषता थी। देशी माल पर टैक्स बढ़ाना जिससे कि इंगलैंड का माल अधिक बिके; लगान की दर में अभिवृद्धि करना, जिससे भारत का अधिक से अधिक धन इंगलैंड भेजा जा सके तथा अकाल और महंगी आदि अँग्रेजी राज्य की न्यामतें थीं। भारतेन्दु जी ने टैक्स, मंहगी और अकाल की विभीषिकाओं का उल्लेख किया है[३] तथा धन के विदेशों में चले जाने की बात जोरदार शब्दों में कही है।[४] मिश्र जी ने भी मंहगी और टैक्स से प्रपीड़ित जनता की अवस्था का चित्रण किया है—

"मंहगी और टिकस के मारे सगरी वस्तु अमोली है।
कौन भाँति त्योहार मनैऐ कैसे कहिए होरी है" ॥[५]

बालमुकुन्द गुप्त को भी देश में उत्तरोत्तर सम्बर्द्धित टैक्सों से व्यग्रता थी। वे भारत के साहूकारों को टैक्सों के भार से मिटते देखते हैं—

१—ब्रजरत्न दास, भारतेन्दु ग्रन्थावली, दूसरा भाग, पृ० ७०० ।

२—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, वसन्तोत्सव, पृ० ६३८ ।

३—ब्रजरत्नदास, भारतेन्दु ग्रन्थावली, पहला भाग, भारत दुर्दशा नाटक, पृ० ४७० ।

४— वही, तीसरा भाग, भारतवर्ष की उन्नति कैसे हो सकती है, पृ० ६०२ ।

५—रमाकान्त त्रिपाठी, प्रताप-पीयूष, होली है, पृ० १८० ।

"हा हाकार उधर हानी की टिक्कस की तलवार इधर,
आठों पहर घोर आपद है साहूकारों के सिर पर"।[१]

गुप्त जी ने एक ओर तो भारी टैक्सों के बोझ से दबी हुई जनता की अवस्था और दूसरी ओर सरकारी अफसरों की मनोवृत्ति का सुन्दर चित्र उपस्थित किया है—

"चाहे टिक्कस के मारे लोगों के तन पर चाम न हो।
पर उनके व्यय और वेतन में कभी कमी का नाम न हो"।[२]

भारतेन्दु तथा मिश्र जी के धार्मिक विचारों से भी गुप्त जी प्रभावित थे। भारतेन्दु जी ने "वैष्णवता और भारतवर्ष' नामक अपने लेख में जिन धार्मिक-विचारों का प्रतिपादन किया है गुप्त जी उनके समर्थक हैं। इस लेख में वैष्णव धर्म की संकीर्णता और एकांगीपन का निवारण करके उसमें समुचित प्रगति को स्थान दिया है। स्वामी दयानन्द के आर्य-समाज से तीनों कलाकार असहमत थे। आर्य-समाज के सुधारवादी पक्ष का समर्थन तो तीनों करते थे पर उसके धार्मिक संकीर्णता वाले पक्ष के विरोधी थे। भारतेन्दु जी विविध धर्मों का अस्तित्व देश के लिये हानिप्रद मानते थे। उनका विश्वास था कि देश के पतन का कारण कुछ लोगों का आर्य-समाज में आस्था रखना और कुछ लोगों का अन्य धर्मों में श्रद्धा रखना है। वे देश भर में परिष्कृत वैष्णवता का प्रभुत्व देखने की कामना करते थे। विविध धर्मों की सत्ता पर आपने कहा है—

"आधे पुराने पुरानहि मानें, आधे भए किरिस्तान हो दुइ-रंगी।
क्या तो गदहा को चना चढ़ावै, कि होइ दयानँद जाँय हो दुइ-रंगी।"[३]

पं० प्रतापनारायण मिश्र भी दयानन्द जी के सुधारवादी पक्ष के समर्थक थे। उसके प्रति हिन्दुओं की उदासीनता पर आपने लिखा है—

"मरत मरत दयानन्द मरिगे हिन्दू रहे आजु लगि सोय"।[४]

गुप्त जी तो दयानन्दी सम्प्रदाय के लोगों को उनकी धार्मिक कट्टरता तथा दूसरे धर्मों के विरोध करने के कारण अँग्रेजी राज्य के पोषक मानते थे।

१—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, जातीय-राष्ट्रीय गीत, पृ० ६२६।
२—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, जातीय-राष्ट्रीय गीत, पृ० ६२८।
३—ब्रजरत्नदास, भारतेन्दु ग्रन्थावली, दूसरा भाग, वर्षा विनोद, पृ० ५००।
४—डा० रामविलास शर्मा, भारतेन्दु-युग, पृ० १४१।

पंजाब के राष्ट्रीय नेता लाला लाजपतराय और अजीतसिंह की गिरफ्तारी पर सिक्ख, अरोड़ा, खत्री, वतन, पैसा अखबार, अखबारे आम, धर्म समाजी आदि जातियों, समाचार पत्रों तथा सामाजिक संस्थाओं के साथ आर्य समाजी भी हर्षित हुए थे। गुप्त जी ने उनके इस राजभक्ति परिचायक तथा राष्ट्र-प्रेम विरोधी भाव की भर्त्सना की थी।[1]

यही नहीं, गुप्त जी ने तो आर्य-समाज के सुधार को संदेह की दृष्टि से भी देखा था। उन्हें उसकी सत्यता पर संदेह था। आपने लिखा था—

"हाथी हूँ सुधार का लोगों पूँछ उधर भई पूछ इधर
आओ आओ पता लगाओ सूँड किधर है मूँड किधर ?
इधर को देखो उधर को देखो जिधर को देखो दुम ही दुम,
बोल रहा हूँ चाल रहा हूँ सूँड भी गुम है मूँड भी गुम।"[2]

भारतेन्दु जी वल्लभीय सम्प्रदाय के वैष्णव थे। बाबू ब्रजरत्नदास का मत है कि "यह वर्ण व्यवस्था मानते थे और वैष्णव धर्म के पक्के अनुयायी थे।"[3] गुप्त जी पर इनकी विचारधारा का प्रभाव भी अधिकांश में है। गुप्त जी की वैष्णवानुकूल भक्ति, देवी-देवताओं के अस्तित्व में आस्था तथा वर्ण-व्यवस्था के प्रति उनके मोह का उल्लेख इसी अध्याय में 'गुप्त जी की धार्मिक रचनाएँ' शीर्षक से किया जा चुका है।

भारतेन्दु जी के हिन्दी-प्रेम तथा नागरी-उद्धार की भावना का प्रभाव भी गुप्त जी पर अधिकांश में था। भारतेन्दु जी की तरह गुप्त जी ने भी अपने जीवन का स्वर्णकाल हिन्दी भाषा के उत्कर्ष और नागरी लिपि के समर्थन में लगा दिया था। भारतेन्दु जी ने विविध पत्रों के प्रकाशन, भाषा के रूप प्रतिष्ठापन, साहित्य-सृजन, भाषा-बर्द्धिनी-सभा तथा सोसाइटियों के स्थापन, पृथक्-पृथक् स्थानों पर हिन्दी प्रचारार्थ सभाओं के आयोजन तथा नवीन हिन्दी-प्रेमियों के संगठन द्वारा हिन्दी-भाषा की अन्यतम सेवा और उन्नति की थी। प्रतापनारायण मिश्र ने इस पवित्र-यज्ञ में अपनी शक्ति भर सहयोग दिया था। इन्हीं दोनों महानुभावों से गुप्त जी को हिन्दी-प्रेम विरासत के रूप में मिला था। हिन्दी की उन्नति पर दिये गये अपने व्याख्यान में भारतेन्दु जी ने निज भाषा का महत्व इस प्रकार बताया है—

१—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, पंजाब में लायल्टी, पृ० ६४२।
२—बालमुकुन्द गुप्त, स्फुट कविता, पृ० ९५।
३—ब्रजरत्न दास, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, समाज सुधार, पृ० १०७।

"निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल।
बिन निज भाषा ज्ञान के मिटत न हिय को सूल
पढ़े संस्कृत जतन करि पंडित भे विख्यात।
पै निज भाषा ज्ञान बिन कहि न सकत एक बात" ॥[१]

× × × ×

"अँग्रेजी पढ़ि के जदपि जब गुन होत प्रवीन।
पै निज भाषा ज्ञान बिन रहत दीन के दीन" ॥[२]
"प्रचलित करो जहान में निज भाषा करि जत्न।
राज-काज दरबार में फैलावहु यह रत्न ॥
भाषा सोधहु आपनी होइ सबै एकत्र।
पढ़हु पढ़ावहु लिखहु मिलि छपवावहु कछु पत्र" ॥[३]
"करहु बिलम्ब न भ्रात अब उन्हु मिटावहु सूल।
निज भाषा उन्नति करहु प्रथम जो सब को मूल" ॥[४]

और उन्होंने अत्यन्त दुःख के साथ कहा था—'भाषा भई उर्दू जग की अब तो इन ग्रंथन नीर डुबाइये।' पं० प्रतापनारायण मिश्र तो हिन्दी, हिन्दू और हिन्दुस्तान के विकास को ही देश का सच्चा कल्याण बताते हैं—

"चहहु जो सांचो निज कल्याण, तो सब मिलि भारत संतान'
'जपो निरन्तर एक जबान, हिन्दी हिन्दू हिन्दुस्थान।"

यही नहीं, मिश्र जी ने मातृभाषा त्याग करके अँग्रेजी बोलने वालों को लक्ष्यकर लिखा था—

"भाषा औरौ मधुर आसुरी किट पिट गिट पिट ओ यू डचाम।"[५]

और भी—

"निजता निज भाषा निज धर्महि देहि तिलोदक आठौ जाम ॥"[६]

१—ब्रजरत्न दास, भारतेन्दु ग्रन्थावली, दूसरा भाग, हिन्दी की उन्नति पर व्याख्यान, पृ० ७३१।

२— वही वही, पृ० ७३२

३—ब्रजरत्नदास, भारतेन्दु ग्रन्थावली, दूसरा भाग, हिन्दी की उन्नति पर व्याख्यान, पृ० ७३७।

४— वही वही, पृ० ७३८।

५—रमाकान्त त्रिपाठी, प्रताप पीयूष, तृप्यन्ताम्, पृ० २११।

६— वही पृ० वही।

ऐसी अवस्था में कवि पूर्वजों को श्रद्धांजलियाँ समर्पित करने में भी अपने को समर्थ नहीं पाता।

बालमुकुन्द गुप्त ने हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि के समर्थन में कितने ही लेख[१] और कविताएँ लिखीं थी[२] जिनसे गुप्त जी के हिन्दी प्रेम की तीव्रता का अनुमान होता हैं।

सारांश यह है कि गुप्त जी पर भारतेन्दु जी की राजनीतिक विचारधारा का प्रभाव अधिकांश में पड़ा था; यदि यह कहा जाय कि भारतेन्दु जी गुप्त जी के राजनीतिक और साहित्यिक गुरु थे, तो अनुचित न होगा। डा० रामविलास शर्मा के शब्दों में "भारतेन्दु ने जिस संस्कृति की नींव डाली, वह राष्ट्रीय थी। उसकी मूल भावना अँग्रजी राज्य की लूट से देश की रक्षा करके उसकी उन्नति करना है। उन्होंने रईसों, ज़मींदारों, राजाओं पंडितों का मुँह न देखकर जनता को अपना भरोसा कराना सिखाया।"[३] बालमुकुन्द गुप्त अधिकांश में इस संस्कृति के प्रबल समर्थक और पोषक थे। उन्होंने कहीं-कहीं पर अपने गुरु भारतेन्दु तथा पं० प्रतापनारायण मिश्र से भी अधिक उग्रता के साथ अँग्रेजी राज्य और उसकी लुटेरी नीति की समर्थक भारत की सामंती संस्कृति की तीव्र आलोचना की है और उसके शोषणकारी भारतविरोधी रूप को अधिक स्पष्ट कर दिया है। इस गुण में वह अद्वितीय हैं। उस युग के अन्य कवियों की अपेक्षा गुप्त जी की रचनाओं में अँग्रेजी शासन की आलोचना अधिक तीव्रता तथा कटुता के साथ हुई है, यह सत्य है। जिस क्षेत्र में वह भारतेन्दु से अप्रभावित रहे वह है, सामाजिक-सुधार, विधवा-विवाह का समर्थन, जाति प्रथा, छूआ-छूत, पंडित-पुजारियों आदि का जोरदार शब्दों में खंडन और स्त्री-शिक्षा आदि को प्रोत्साहित करके जनवादी संस्कृति का स्थापन। भारतेन्दु की विचार-धारा से इतना मत-भेद होने पर भी वह उनसे अधिक प्रभावित थे।

१—भारत मित्र, 'नागरी अक्षर', सन् १९०० ई०, 'मुसलमानी नाराजी', २१ मई सन् १९०० ई०, 'उल्टे अक्षर', ११ जून सन् १९०० ई०, 'उर्दू की मौत', १८ जून सन् १९०० ई०, 'उल्टी दलील १८ जून, सन् १९०० ई०, गरारेदार पंडित' २ जुलाई सन् १९०० ई०, 'हिन्दी की उन्नति' ६ अप्रैल सन् १९०१ ई०, और 'हिन्दी उर्दू का मेल' सन् १९०३ ई०।

२—भारत मित्र, २८ मई सन् १९०० ई०।

३—डा० रामविलास शर्मा, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, राष्ट्रीयता और जनवादी संस्कृति की समस्या, पृ० ७३।

भारतेन्दु जी ने अँग्रेजी, संस्कृत और अरबी फारसी की समता में अपनी भाषा का महत्त्व प्रतिष्ठापित किया था; गुप्त जी अक्षरशः भारतेन्दु की भाषा-नीति के प्रबल समर्थक रहे हैं। उन्होंने हरिश्चन्द्र द्वारा नई चाल में ढली हुई हिन्दी को प्रोत्साहित किया और परिपक्व बनाया था। अन्ततोगत्वा यह कहना अनुचित न होगा कि भारतेन्दु और पं० प्रतापनारायण मिश्र की विरासत को जीवित रखने में गुप्त जी का विशेष स्थान है।

हिन्दी में हास्य रस की कविताएँ—

हिन्दी साहित्य में हास्य रस की एक समृद्ध एवं शुद्ध परम्परा वर्तमान है। अमीर खुसरो से लेकर आज तक का प्रत्येक कवि उस परम्परा की एक शृङ्खला मात्र है। हर एक पूर्वजों की धरोहर को सुरक्षित रखने में गौरव अनुभव करता आया है। वीर-गाथा काल के प्रबन्ध और मुक्तक काव्य के अन्तर्गत कहीं-कहीं हमें हास्य के हलके छींटे उपलब्ध होते हैं जो जीवन की गम्भीर परिस्थितियों में मनोविनोद का हलका नशा चढ़ाकर उसे सजीवता से अनुप्राणित कर देते हैं। भक्त-कवियों में कबीर, सूर और तुलसी का हास्य भी अपना एक स्वतन्त्र तथा उन्नत स्थान रखता है। वात्सल्य से ओतप्रोत और कृत्रिम क्रोध से आक्रान्त यशोदा का हृदय चोरी करते पकड़े गये कृष्ण की चटपटी और विनोदपूर्ण बातें सुनकर आह्लाद से भर जाता है। सूर-साहित्य में शुद्ध हास्य के असंख्य चित्र भरे पड़े हैं और यह परम्परा आजतक चली आई है।

दृश्य काव्य में तो हास्य के लिए विदूषक की अलग से योजना की जाती है और जीवन तथा जगत् की गम्भीर परिस्थितियों को हास्य के पुट से कुछ अधिक सह्य और सरल बनाया जाता है। आजकल श्रव्य और दृश्य दोनों ही काव्यों में सुन्दर हास्य के दर्शन होते हैं। भारतेन्दु के 'अंधेर नगरी', 'पाखण्ड-विडम्बन' और 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' आदि प्रहसनों में उत्तम हास्य की अभिव्यंजना हुई है। राधाचरण गो० का 'बूढ़े मुंह मुंहासे' प्रहसन हास्य का सुन्दर निदर्शन है। पं० प्रताप नारायण मिश्र की कविता में हास्य का समुचित पुट पाया जाता है पर उनका हास्य कहीं-कहीं असंयत, ग्राम्य और स्वच्छन्द है। उसमें पं० बालकृष्ण भट्ट के से सौजन्य की कमी है। भारतेन्दु और मिश्र जी के हास्य और व्यंग्य का भी गुप्त जी पर अधिक मात्रा में प्रभाव पड़ा था, इस क्षेत्र में भी वे उनके शिष्य और सच्चे अनुयायी थे। वे भारतेन्दु की हास्य और व्यंग्य-काव्य की परम्परा के प्रवर्तक कलाकार ठहरते हैं।

बाल्यावस्था से ही गुप्त जी का स्वभाव विनोदी एवं परिहास प्रिय था। अपने सहपाठियों से परिहास और विनोद करना उनकी अपनी विशेषता थी। हास्य-रस के ये बीजांकुर भविष्य में उर्दू और हिन्दी के लब्ध-प्रतिष्ठ हास्य-लेखकों के सम्पर्क से अपेक्षाकृत अधिक तीव्रता के साथ विकसित हुए। उर्दू के हास्य-रस लेखक मिर्जा सितम ज़रीफ का शिष्यत्व और पं० रत्ननाथ सरशार का अनुसरण पाकर गुप्त जी की हास्य-लेखन-प्रतिभा अधिक उन्नति होती गई थी, फलतः वे शीघ्रातिशीघ्र 'अवध पंच' तथा 'अवध अखबार' के श्रेष्ठ हास्य-रस लेखकों में गिने जाने लगे थे। उस समय लिखीं गईं उनकी हास्य-रस की रचनाएँ नियमित रूप से उक्त पत्रों में प्रकाशित हुआ करती थीं। उर्दू से हिन्दी में आने पर उनकी हास्य और व्यंग्य की यह शैली और भी अधिक श्रेष्ठ होती गई।

हिन्दी साहित्य में हास्य के मुख्यतः दो रूप उपलब्ध होते हैं। एक विशुद्ध हास्य और दूसरा व्यंग्य। "वाग्वैदग्ध को भी हास्य का भेद माना जाता है। वास्तव में यह हास्य का कोई गुण नहीं, केवल शैली मात्र है।'[1] गुप्त जी की कविता में प्रथम दो प्रकार के हास्य की अभिव्यंजना हुई है, वाग्वैदग्धता उनकी रचनाओं में नहीं मिलती। इसके अतिरिक्त व्यंग्य की अपेक्षा शुद्ध हास्य की रचनाएँ भी गुप्त जी ने कम कीं हैं पर जितना भी हास्य उनकी लेखनी से निसृत हुआ है, वह उन्हें हास्य लेखक प्रमाणित करने के लिए यथेष्ठ है।

गुप्त जी का रचना-काल कालाकांकर के पत्र 'हिन्दोस्थान' के सम्पादन-काल से प्रारम्भ होता है। वहाँ पर आपने 'भैंस का स्वर्ग' नामक एक हास्य रस की कविता लिखी थी। हास्य रस का उद्रेक कहीं तो प्रहसनीय विषय के शारीरिक अपकर्ष, कहीं मानसिक प्रवृत्ति की असम्बद्धता, कहीं घटना की असंगति, कहीं रहन-सहन तथा वेशभूषा के विपर्य्य और कहीं शब्दावली की यांत्रिक क्रिया (automatism) द्वारा होता है। प्रायः देखा जाता है कि हम किसी की उपहासास्पद विकृत वेश-भूषा, भोंडा आकार, निर्लज्जता, रहस्य गर्भित वाक्यादि को देख और सुनकर हँस पड़ते हैं। यथार्थ में ये ही हास्य रस के आलम्बन होते हैं। गुप्त जी ने भैंस के वर्णन में हास्य रस का परिपाक किया है, देखिए—

१—प्रेमनारायण दीक्षित, हास्य के सिद्धान्त तथा आधुनिक हिन्दी साहित्य पृ० ६४।

"कभी वेग से फदड़क फदड़क करके दौड़ी जाती है।
हलकी क्षीण कटी का सबको नाजुक पन दिखलाती है।।
सींग अड़ाकर टीले में करती है रेत उछाल ।
देखते ही बन आता है बस उस शोभा का हाल ।।"[१]

यहाँ भैंस के फदड़क फदड़क दौड़ने, हलकी क्षीण कटि और उसके नाजुक पन आदि की हास्यास्पद उक्तियों द्वारा हास्य-रस की सृष्टि की गई है। अतः ये ही आलम्बन हैं।

"भैंस के आगे बीन बजाई भैंस खड़ी पगुराती है।
कुछ कुछ पूँछ उठाती है और कुछ कुछ कान हिलाती है ।।
हुई मग्न आनन्द कुंड में बँधा स्वर्ग का ध्यान ।
दीख पड़ा मन की आँखों में एक दिव्य अस्थान ।।"[२]

यहाँ पर भी भैंस का आनन्द कुंड में मग्न होना, स्वर्ग का ध्यान बँधना, तथा मन की आँखों में एक दिव्य स्थान दीख पड़ना आदि कथन हास्य-रस के आलम्बन हैं।

'टेसू' की वेष-भूषा तथा उसकी आकृति के चित्रण में उनका एक हास्य इस प्रकार है—

"आये भोले भाले टेसू, लाल बुझक्कड़ काले टेसू'
टेसू जी का सुनिये हुलिया, मुंह है उनका फूटी कुलिया
चुन्धी आँखें बैठी नाक, तिस पर हरदम बीनी पाक।"[३]

यहाँ टेसू की विकृत आकृति और अजब सूरत के उल्लेख द्वारा हास्य रस का परिपाक किया गया है। इन पंक्तियों में व्यंग्य भी समाविष्ट है। 'टेसू' गुप्त जी के काव्य में भारत के वायसराय लार्ड कर्जन का प्रतीक है।

अँग्रेजी वातावरण में शिक्षित और पाली-पोसी तथा स्वभाव से अँग्रेजों जैसे व्यवहार वाली भारतीय स्त्री की अभिलाषाओं का गुप्त जी ने निम्नलिखित पंक्तियों में परिहासमूलक शैली में वर्णन किया है। साथ ही नवीन सभ्यता से अनुप्राणित भारतीय स्त्री पर व्यंग्य भी लक्षित है—विवाह-सूत्र में बँधने से पूर्व उसे भावी पति से विलास की सम्पूर्ण सामग्री प्राप्त होने की आशा थी,

---

१—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, "भैंस का स्वर्ग", पृ० ६६७।
२— वही वही पृ० ६६६।
३— वही , टेसू, पृ० ७०८।

पर उसे पति मिला ठेठ भारतीय, ऐसी अवस्था में उसकी आशाओं पर तुषार-पात होगया, उसी की अभिव्यक्त इन पंक्तियों में है—

"बताओ आके मेरे पास, किस तरह पूरी होगी आस ?
छुएगा कैसे बोजाचन्द, बुद्धि कैसी है उसकी मन्द ?
हँसी आती है सुन सुनकर, बताता नहीं कहाँ है घर ?
कहाँ है ऊँचा चौबारा, संगमरमर का फब्बारा ?
चमन फूला है किस जा पर, कहाँ है बेलों का "बावर'। ?
कहाँ झाऊ की सदा बहार, कहाँ सरवों की साफ कतार ?
हवाघर कहाँ है उसके पास, किस तरह पूरी होगी आस ?"[1]

भारतीय नारी की नवीन-फैशन-प्रियता, योरोपियन स्त्री का अन्धानुकरण तथा नवीन सभ्यता मूलक उपकरणों का अभाव ही यहाँ हास्य रस का आलम्बन माना जायगा। सभ्य बीबी की कामनाओं की गुप्त जी ने अच्छी हँसी उड़ाई है—

"लिखे मैंने "डेन्सिग" के ढङ्ग और "सिंगिंग" है उसके सङ्ग।
बस अब देखूँ दिखलाऊँगी, और सीखूँ सिखलाऊँगी ॥
सदा सुन्दर तितली बनकर, उड़ूँगी फूलों फूलों पर।
कभी थियेटर में जाऊँगी, फूल तुर्रे ले आऊँगी ॥
सभा में परीजान बनकर, डटूँगी कुरसी के ऊपर।
सुना भी लाला भौंधूदास किस तरह पूरी होगी आस ॥"[2]

'सदा सुन्दर तितली बनकर', तथा 'सभा में परीजान बनकर' आदि पंक्तियों में तीव्र व्यंग्य का पुट है।

इसी प्रकार गुप्त जी ने नवीन सभ्यता से ओत-प्रोत भारतीय स्त्री की प्राचीन ढङ्ग के पति के प्रति प्रतिक्रियात्मक भावनाओं का अपनी विशिष्ट शैली में अङ्कन करके हास्य की सृष्टि की है। पुरुष अपने पत्नीव्रत का स्मरण करके उसके साथ एक होना चाहता है पर पत्नी उसे गँवार समझ कर अलग हटाती है, उसी अवस्था का चित्र है—

"हमरे अंग लगी रहत पोमेटम फरफ्यूम,
सौरभ और सुगंध की पड़ी चहुँ दिस धूम।

१—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, सभ्य बीबी की चिट्ठी, पृ० ६६६।
२— वही , वही पृ० ६७०।

धूल अङ्ग तुम्हरे रहत वायू ताहि उड़ात,
हमरो अति दुर्गन्ध सों माथो फाटयों जात।'
हमरे कोमल अङ्ग कहँ ढाके राखत गौन,
तुम्हरे अङ्ग धोती फटी नाम मात्र की तौन।
मेरे सिर पर कैप अरु मोरपुच्छ लहरात,
तेरे सिर लिपड़ी फटी साफ मजूर दिखात।

+ + +

"मम मुख "पौडर रोज" सों मानहु खिल्यौ गुलाब,
तुम लड़ि माटी पोत के माथो कियो खराब।

× × ×

हमरी बोली 'गाड' है तुम बोलो 'हरि बोल',
यज्ञ याग जप होम, अरु मानो उत्सव दोल।"[१]

इन पंक्तियों में मानसिक प्रवृत्ति की असम्बद्धता, घटनाओं की असङ्गति-दुर्भाग्य से विरोधी पति-पत्नी का संयोग—और शब्दावली के प्रयोग से हास्यरस का उद्रेक किया गया है। सामान्य मानवता को विषय बनाकर गुप्त जी ने हास्य रसात्मक काव्य का सृजन किया है। 'विज्ञ-विरहिनी' का पत्र उनके उत्तम हास्य का सुन्दर निर्दशन है। देखिये—

"जो प्यारे छुट्टी नहिं पाओ, तौ यह सब चीजें भिजवाओ।
चम चम पौडर सुन्दर सारी, लाल दुपट्टा जर्द किनारी॥
हिन्दू विस्कुट साबुन पोमेटम, तेल सफाचट और अरबी गम।
हम तुम जिनको करते प्यार, वह तसवीरें भेजो चार।"[२]

'विकट-विरहनी' नामक कविता में भी गुप्त जी ने विरहिणी के शारीरिक अवयवों के वर्णन, उसके विचारों और शब्दों द्वारा हास्य की उत्पत्ति की हैं। यथा—

"मोटी विरहन मोटा पेट, उसे विरह की लगी चपेट।

× × × ×

खड़ी हुई आंगन में आय, कमर देख के भैंस लजाय।
दो सूतनसी जंघा करके, मोटे होठ क्रोध से फरके।

१—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, सभ्य बीबो की चिट्ठी, पृ० ६७१।
२— वही , विज्ञ-विरहणी, पृ० ६७९-८०।

बोली दुलहा कतेक बुलावा, होली आई तू नहिं आवा।
जोहत-जोहत तोहरी बाट, फाटी सारी टूटी खाट।"[१]

यहाँ कवि ने विरह की यथार्थ अवस्था के विपरीत विकट-विरहिणी की दशा के चित्रण द्वारा हास्य की सृष्टि की है। इसी प्रकार 'तकरीर मुँह जुबानी' नामक कविता में एक ऐसे घर-घमण्डी नेता का मजाक उड़ाया गया है, जो अपनी लेखन-शक्ति पर अत्यधिक घमण्ड करता है पर व्याख्यान देते समय एक शब्द भी नहीं निकलता। उसका महान् गर्व और असीम अक्षमता ही हास्य के आलम्बन हैं—

"चाहूँ तो कलम लेके दिल सबका करूं पानी,
इस बात में नहीं है कोई भी मेरा सानी।
पढ़-पढ़ मेरी लिखावट लाटों की मरे नानी,
एक काम में हूँ कच्चा गो खूब खाक छानी।
आती नहीं है मुझको तकरीर मुँह जुबानी।"[२]

गुप्त जी आदि से अन्त तक शुद्ध भारतीय थे। भारतीय परम्परा और मर्यादा के अतिक्रमणकारी की वे हास्य और व्यंग्य के आश्रय से खूब खबर लेते थे। मसिया जैसी गम्भीर कविता में शुद्ध हास्य का पुट देकर उसे हास्य-रस की रचना बना देना उनकी अपनी विशेषता थी। 'भैंस का मरसिया' कविता से एक उदाहरण देखिए—

"खड़ी देखती है वह पड़िया बेचारी,
धरी है यों ही नांद सानी की सारी।
पड़ी है कहीं टोकरी और खारी,
वह रस्सी गले के रखी है संवारी।
बता तो सही, भैंस तू अब कहाँ है,
तू लाला की आँखों से अब क्यों निहा है।"[३]

रस-सिद्धान्तानुसार उक्त पक्तियों में भैंस आलम्बन, पड़िया, रस्सी, सानी आदि उद्दीपन, तथा 'विषाद' संचारी भाव है। पर शैली हास्य परक होने के कारण 'मरसिया' में भी हास्य का परिपाक हुआ है। हास्य रस की शास्त्रीय परिभाषानुसार गुप्त जी की इन रचनाओं का मूल्यांकन किया जाय

१—बालमुकुन्द गुप्त, स्फुट कविता, विकट विरहनी, पृ० १०१।
२—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, तकरीर, मुँह जबानी पृ० ६७२।
३— वही , भैंस का मरसिया, पृ० ७२४।

तो ये कविताएँ विशुद्ध हास्य की उत्तम रचनाएँ ठहरती हैं। अधिकांश कविताओं में समाज का वह अंग हास्य रस का आलम्बन है जो भारतीयता का परित्याग करके नवीन सभ्यता और रीति-रिवाजों का अंधानुकरण कर रहा था तथा योरोपीय शृङ्गारिक प्रसाधनों को प्रश्रय देते हुए भारत की प्रत्येक वस्तु को घृणित एवं त्याज्य माने बैठा हुआ था; उस समाज की विचित्र कामनाएँ तथा क्रिया-कलाप उद्दीपन हैं और पाठक आश्रय। इस प्रकार हास्य रस का परिपाक हुआ है। उसी प्रकार 'भैंस का स्वर्ग' नामक कविता में भारतीयों का आलस्य आलम्बन, उनका रहन-सहन तथा कार्य-कलाप उद्दीपन और भारतीय समाज आश्रय है। इस प्रकार हास्यरस का उद्रेक हुआ है।

हास्य रस की विशेषता यह है कि न तो प्रहसनीय विषय की दुर्बलताओं पर घृणा भाव के प्रदर्शन हेतु होता है और न उस वस्तु के प्रति क्षोभ की भावना व्यक्त करने के लिए होता है। प्रत्युत, उसकी गतिविधि को अबाध अनिवार्य और स्वाभाविक जान कर किंचित सहानुभूति प्रदर्शित करने के लिए होता है। कवि अपने प्रहसनी विषय पर हँसता है तथापि हृदय में यही इच्छा करता है कि विभाव की दुर्बलता का परिहार हो जाय। यह सुधार की कामना सर्वदा गौण रहती है, वह कभी प्राथमिकता प्राप्त नहीं करती। फिर भी हास्य से सुधार और परिमार्जन अवश्य होता है। यही हास्य रस का उपयोगी पक्ष है। गुप्त जी ने अपनी रचनाओं में समाज के जिस विकृत अङ्ग को हास्य का विभाव बनाया है उसकी ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट होना अनिवार्य है। अस्तु, उसमें सुधार होना भी स्वाभाविक है। अतः यह कहना कि कवि अपनी हास्य-परक रचनाओं द्वारा सामाजिक विकृति, असंगति तथा कुण्ठा को प्रकाश में लाकर उनके लिए सुधार के द्वार उन्मुक्त कर देता है, सत्य है। इस दृष्टि से गुप्त जी की हास्य प्रधान रचनाओं का कला तथा उपयोगिता दोनों दृष्टि से उच्च स्थान है। उनकी ये रचनाएँ तत्कालीन भारतीय समाज का दर्पण हैं, जिनका सभ्यता एवं संस्कृति के उन्नयन में विशिष्ट स्थान है। आपके हास्य और व्यंग्य के लोक मङ्गलकारी पक्ष का समर्थन बाबू गुलाबराय के इन शब्दों से होता है—"गुप्त जी के हास्य में हृदय की उमङ्ग थी और व्यंग्य में चुटीलापन किन्तु वह सार्वजनिक हित के लिए था।"[१]

१—**सरस्वती संवाद, वर्ष २, अङ्क १२, पृ० ५६२।**

जन गीतों के रूप और गुप्त जी की व्यंग्यपूर्ण रचनाएँ—

बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने उच्चकोटि के व्यंग्य प्रधान जन-गीतों की रचना की है। जन-गीत लोक-साहित्य का एक स्थायी और गौरवपूर्ण अङ्ग होते हैं। लोक-गीत उस प्राचीन कविता के अवशिष्ट चिन्ह हैं जिसमें अधिक स्वाभाविकता, प्रचुर स्वच्छन्दता और पर्याप्त मात्रा में सरलता विद्यमान रहती है। कृत्रिमता, अस्वाभाविकता और अलंकारिक चमत्कार से यह काव्य मुक्त रहता है। इन गीतों में लोक-जीवन का हर्ष और उल्लास, विषाद और नैराश्य, सावन की सरस पवन और रिमझिम बरसात में उठने वाली कृषक बालिका की उमंगें, उद्दाम यौवन की मधुर मुस्कान, मातापों का स्नेह, लहलहाते खेतों में चमकते हँसियों की झलक, होली की मादकता, देवर-भाभी के वार्तालाप, प्रोषित पतिका की करुण पुकार, सास-ननद की कठोरता, अत्याचार से पीड़ित नव-वधू का करुणा-विगलित स्वर तथा नवीन फसलों के आगमन पर कृषक समाज का अपूर्व उल्लास साकार बन कर प्रस्फुटित होता रहता है। इन गीतों में वैयक्तिकता का समावेश न होकर सामाजिक-जीवन की अभिव्यक्ति तथा सार्वजनीनता का पुट अधिकांश में पाया जाता है। लोक-गीतों का आविर्भाव सामाजिक जीवन में स्वतः होता रहता है।

लोकगीत अथवा जन-गीत, जन-जीवन का अभिन्न अङ्ग होते हैं, जन-जीवन पर उनका अधिक प्रभाव और प्रेषणीयता सर्वमान्य है। अतः गुप्त जी ने उन राजनीतिक घटनाओं को जो अँग्रेज शासकों के क्रूर तथा अमानवीय कृत्यों के इतिहास प्रस्तुत करती हैं और भारतीय स्वातंत्र्य संग्राम के इतिहास में जिनका महत्व-पूर्ण स्थान है, देश की असंख्य जनता तक पहुँचाने के लिये जन-गीतों को माध्यम चुना था और इस कार्य के लिये 'टेसू' तथा 'जोगीड़ा' दो रूपों को विशिष्टता प्रदान की थी।

गुप्त जी के इस निश्चय में भी भारतेन्दु जी का प्रभाव तथा अनुकरण स्पष्ट है। उन्होंने 'जातीय-संगीत' में देशोन्नति की बातों को लोक-गीतों में लिख कर प्रसार करने का परामर्श दिया था।[1] गुप्त जी ने उनके इस परामर्श को क्रियात्मक रूप दिया है। 'टेसू' उत्तर प्रदेश के आगरा, मथुरा, अलीगढ़, मेरठ, मुजफ्फर नगर, इटावा, एटा आदि जिलों, दिल्ली प्रान्त के कुछ भाग, पंजाब के रोहतक तथा हिसार प्रान्तों में तथा राजस्थान के पूर्वी भाग

१—ब्रजरत्नदास, भारतेन्दु ग्रन्थावली, तीसरा भाग, जातीय संगीत पृ० ६३५-३८।

में गाए जाते हैं। वहाँ के अविवाहित सुकुमार बालक आश्विनि मास के प्रथम पक्ष में मिट्टी और लकड़ी द्वारा निर्मित मनुष्य की अनुकृति वाले पुतले को, जिसे टेसू कहते हैं और जो बाजारों में उन दिनों बिकता है, लेकर घर-घर अन्न तथा पैसे माँगते तथा गीत गाते फिरते हैं। इन गीतों को टेसू के गीत कहा जाता है। इन गीतों में हास्य और व्यंग्य का पुट भी पाया जाता है। ग्रामीण जीवन में ये गीत बड़े प्रभावोत्पादक तथा विख्यात होते हैं। इन गीतों की रसीली हास्यपूर्ण बातें जीवन की गम्भीर परिस्थितियों के भार को हल्का कर देतीं हैं। जब बालक किसी घर से अन्न माँग कर बाहर निकलते हैं तो गृह स्वामिनी अथवा किसी नवौढ़ा को प्रसन्न करने के लिए हास्योत्पादक निम्नलिखित पंक्तियाँ गाते हैं—

"राम चना जी राम चना राम चना पै रोरी,
लक्ष्मी[१] के दो बच्चा हौवें सारस की जी जोरी।"[२]

इसी प्रकार अन्य कई भाँति के गीत गाये जाते हैं जिनके विषय तथा भाव ग्राम-ग्राम, स्थान-स्थान तथा प्रान्तों में बदलते रहते हैं।

गुप्त जी ने अपने राजनीतिक विचारों, शासन के विरोध तथा पूँजीपतियों की कुमनोवृत्ति के चित्रण के लिए इस माध्यम को ग्रहण किया है। भाषा की सरलता, भावों की स्पष्ट एवं तीव्र अभिव्यंजना तथा राजनीति की चट-पटी बातों के लिए गुप्त जी के ये 'टेसू' अभूतपूर्व हैं। व्यंग्य का जितना सुन्दर परिपाक इन गीतों में हुआ है, उतना अन्यत्र नहीं। व्यंग्य-काव्य अथवा व्यंग्य-लेख लिखने में गुप्त जी की लेखनी को परम कौशल प्राप्त था। गुप्त जी के राजनीतिक व्यंग्य का केन्द्र अँग्रेजी साम्राज्य, उसके क्रूर तथा निरंकुश शासक, विशेषत: लार्ड कर्जन, लार्ड मिन्टो तथा पूर्वी बंगाल के गवर्नर सर वामपाई फुलर जंग और देश-विदेशी व्यापारी लोग रहे हैं। कहीं-कहीं भार-तीय राजा-नबाबों, रईसों और अँग्रेजों के चाटुकारों पर भी करारे व्यंग्य किए गए हैं। बंग-विभाजन, स्वदेशी-आन्दोलन, हिन्दी-विरोध तथा प्रमुख राजनीतिक एवं ऐतिहासिक घटनाओं को लेकर गुप्त जी ने उच्चकोटि की व्यंग्यात्मक कविताएँ लिखीं हैं। 'टेसू' गीत गुप्त जी की इन्ही व्यंग्यात्मक रचनाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। लार्ड कर्जन पर लिखे इस व्यंग्यपूर्ण 'टेसू'

१—यहाँ स्त्री का नाम घर की स्वामिनी के अनुसार बदलता रहता है।
२—ब्रज प्रान्त के आगरा क्षेत्र में गाए जाने वाला टेसू गीत।

में उनकी अत्यधिक वाचालता और क्रियाशीलता तथा रचनात्मक कार्य क्रम के अभाव पर व्यंग्य है—

"अब के टेसू रंग रंगीले, छैल छबीले नौक नुकीले।
अब के टेसू नमक हलाली, तोड़ें तान बजावें ताली ॥"[१]

एक 'टेसू' और भी है जिसमें लार्ड कर्ज़न का सज-धज के साथ भारत आना, अपने सम्मानार्थ अकाल-पीड़ित देश में सन् १९०२ ई० में दिल्ली-दरबार कराना, देशी राजाओं के सम्मुख अपना महत्त्व प्रदर्शित करना, तथा अपनी सास और साली पर अपने गौरवशाली पद की धाक जमाना आदि अभिव्यंजित हैं। उसका एक अंश इस प्रकार है—

"अब के टेसू रंग रंगीले, अब के टेसू छैल छबीले।
अब के शान बड़ी है आला, अब के है कुछ ढङ्ग निराला।
बड़ी धूम से टेसू आए, लड़के लाड़ी साथ लगाये।
होगा दिल्ली में दरबार, सुनकर चौंक पड़ा संसार।
शोर पड़ा दुनिया में भारी, दिल्ली में है बड़ी तयारी।
देश-देश के राजा आवें, खेमें डेरे साथ उठावें।
घर दर बेचो करो उधार, बढ़िया हो पोशाक तयार।
बढ़िया रेशम बढ़िया जरी, अच्छी से अच्छी और खरी।
चमचम-चमचम मोती चमकें, हीरे लाल दमादम दमकें।
हाथी घोड़े भीड़ भड़ाका, देखें सब घर फूँक तमाशा।
× × × ×
भर-भर वियर चलें सन्दूकें, बीस हजार चलें बन्दूकें।
मार धड़ाधड़ तोपें चलें दिल सब नामर्दों के हलें।
× × × ×
बादशाह के भाई आवें, साथ-साथ कितनों को लावें।
बड़े लाट की माता आवें, साथ में उनके भ्राता आवें।
अमरीका से साली सास, चलकर आवें हिये हुलास।
खूब बने कर्जन लाट, होय निराला उनका ठाट।
ऐसी ही उनकी पोशाक, सबकी लगें उधर ही ताक।
जमें ठाठ से सब दरबार, सब के बने लाट सरदार।
कोई न उनके रहे समान, सभी रहें ढहकाये कान।

१—गुप्त निबन्धावली प्रथम भाग, टेसू पृ० ६९५।

माता सास ठाठ यह देखें, बार बार के पानी पीवें।
देखेंगे यह छटा निराली, पास लाट के सासू साली।
क्यों भई लड़के कैसा रंग, कुछ समझे दिल्ली का ढंग।
यह दुनियां है एक तमाशा, नाचो कूदो ही ही हाहा।
बहती गङ्गा धोलो हाथ, वही ढाक के तीनों पात।"[१]

'घर दर बेचो करो उधार, बढ़िया हो पोशाक तयार' में सामन्ती अधिकार वाद और भारतीय राजाओं का दारिद्रच तथा दिल्ली-दरबार के लिए कर्ज़ लेकर वस्त्र बनवाने की विवशता, 'देखें सब घर फूँक तमाशा' में भारतीय सामन्तों के प्रमादपूर्ण एवं अभारतीय कार्यों, 'भर भर वियर चलें सन्दूकें' तथा 'बीस हजार चलें बन्दूकें' में भारत में सामन्ती-विलास की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है और अन्तिम पंक्ति में तो कर्ज़न पर करारा व्यंग्य है। 'ढाक के तीनों पात' में तो कवि-हृदय का श्राप है, जिससे उसकी भारतीयता का ज्ञान होता है।

लार्ड कर्ज़न सन् १९०४ ई० में अपनी अवधि पूर्ण करके इंगलैंड चले गए थे, किन्तु छः मास उपरान्त ही पुनः वायसराय नियुक्त होकर भारत लौटे थे। इस बार बम्बई आकर आपने अपने कार्य पर एक प्रशंसात्मक व्याख्यान दिया था। गुप्त जी ने कर्ज़न द्वारा की गई आत्मश्लाघापूर्ण बातों की हँसी उड़ाते हुए कहा था—

"बार दूसरी कर्ज़न आये, सनद साल दो की फिर लाये।
आय बम्बई में फिर यों बोले, कौन बुद्धि मेरी को तोले।
मुझसा कोई हुआ न होगा, यह जाने कोई जानन जोगा।
मैं जो कुछ चाहूँ सो होय, मेरे ऊपर और न कोय।
राजा का भाई था आया, उसको भी नीचा दिखलाया।
पहले मुझको मिला सलाम, तब फिर उससे हुआ कलाम।
मुझको सोना उसको चाँदी, मुझको बीबी उसको बाँदी।
गया विलायत शोर मचाया, सबको भौंचक करके आया।
बार-बार यह कहा कड़क कर, किसका शासन मुझसे बेहतर?
भारत की रग मैंने पाई, तुम क्या समझो मेरे भाई।
देखो मेरे यह दो साल, कैसा सबको करूँ निहाल।

१—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, टेसू, पृ० ६९८–९९।

मेरे पीछे जो कोई आवे, बैठे सोवे मौज़ उड़ावै ।
करना पड़े न कुछ भी काम, बैठे-बैठे मिले सलाम ।"[१]

इस 'टेसू' में लार्ड कर्ज़न की मान्यताओं पर तीव्र चोट है। कर्ज़न का विश्वास था कि वह अपने शासन के आगामी दो वर्षों में भारत में इतने सुन्दर शासन की व्यवस्था कर जायेगा जिससे परवर्ती वायसरायों को कोई चिंता न रहेगी; वह अपने काल को परम योग्य और सुशासन का समय समझता था। 'देखो मेरे ये दो साल कैसा सबको करूँ निहाल' शब्दों में गुप्त जी ने मानो कर्ज़न के आगामी शासन में आने वाली भारत की विपत्तियों को मूर्तिमान कर दिया है। यह 'टेसू' कर्ज़न के शासन का इतिहास प्रस्तुत करता है। उसने दरबार में अपने लिये सोने की कुर्सी और ड्यूक को चाँदी की कुर्सी दी थी। यह प्रसिद्ध ऐतिहासिक घटना है, इसी पर उक्त पंक्तियों में व्यंग्य किया गया है।

एक तीसरे 'टेसू' में अपने को सत्यवादी कहने वाले कर्ज़न के सत्य की पोल खोली है। उसके निरंकुश कानून, छद्मवेशी प्रजातंत्रीय शासन, तथा अंग्रेजों की स्वजाति को सभ्य समझने वाली धारणा पर प्रहार किया गया हैं।

"है कानून जबान हमारी, जो नहीं समझे वही अनारी ।
हम जो कहैं वही कानून, तुम तो हो कोरे पतलून ।
हमसे सच की सुनी कहानी, जिससे मरे झूठ की नानी ।
सच है सभ्य देश की चीज़, तुमको उसकी कहाँ तमीज ।
औरों को झूठा बतलाना, अपने सच की डींग उड़ाना ।
ये ही पक्का सच्चा पन है, सच कहना तो कच्चापन है ।
बोले और करे कुछ और, यही सभ्य सच्चे के तौर ।"[२]

इन पंक्तियों में कवि ने लार्ड कर्ज़न की स्वयं को सत्यवादी समझने की भावना पर चोटें की हैं और अपने व्यंग्य द्वारा इंगित किया है कि कर्ज़न विश्व में सबसे बड़ा असत्यवादी है। कवि की यह धारणा अक्षरशः सत्य भी है। सन् १९०० ई० को बम्बई कारपोरेशन में भाषण देते हुए कर्ज़न ने कहा था—"मेरी दृष्टि में इसका कोई कारण प्रतीत नहीं होता कि अधिकारी

१—गुप्त निबंधावली, प्रथम भाग, टेसू, पृ० ७०८ ।
२—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, टेसू, पृ० ७०९ ।

देवदूतों का समूह, चाहे भारत का हो अथवा किसी अन्य जगह का, जन-मत से लाभान्वित क्यों न हो ?"[१] उनका यह कथन भारत की नगर-पालिका विषयक नीति, शिक्षा सम्बन्धी नीति, बंग-विच्छेद, आफीसियल सीकरेट एक्ट और प्रान्तीय नौकरियों के लिए परीक्षा स्थगित करने के कार्य से स्पष्ट हो जाता है। गुप्त जी का उद्देश्य कथन और कार्य के पार्थक्य को व्यंग्य द्वारा अभिव्यंजित करना है। उन्होंने लार्ड कर्ज़न की एक दूसरी धारणा कि योरोपीय भारतीयों से श्रेष्ठ होते हैं, पर भी चोटें की हैं।

कर्ज़न भारतीयों के साथ ही नहीं अपनी स्वार्थपरता के सम्मुख स्वजाति के साथ भी प्रवंचना करने के प्रयास में रहता था। सेना-विभाग में मिलिटरी सप्लाई मेम्बर की नियुक्ति पर उसका झगड़ा लार्ड किचनर के साथ हो गया था। कर्ज़न अपना व्यक्ति नियुक्त कराना चाहता था, पर सफलता न मिली। किचनर, कर्ज़न के इस संघर्ष को गुप्त जी ने 'मल्ल युद्ध' का रूप दिया है और कर्ज़न द्वारा भारतीयों को पुनः झूठा कहने पर व्यंग्य करते हुए लिखा है—

"बनकर सच्चों के सरदार, करके खूब सत्य परचार।
धन्यवाद सुनते थे कर्जन, उतरी एक स्वर्ग से दर्जन।
उसने लेकर तागा सुई, जादू की एक खोदी कुई।
उससे निकली फौजी बात, चली तबेले में तब लात।
भिड़ गये जंगी मुल्की लाट, चक्की से चक्की का पाट॥

× × ×

ऊपर किचनर नीचे कर्ज़न, खड़ी तमाशा देखे दर्जन।

× × ×

बादशाह ने हुक्म सुनाया, सो सुनकर सबके मन भाया।
सदा विजय जिसने है पाई, अब भी जीत उसी की भाई।
कलम करे कितनी ही चरचर, भाले के वह नहीं बराबर।"[२]

प्रस्तुत उद्धरण की अन्तिम तीन पंक्तियाँ इस ऐतिहासिक सत्य का उद्घाटन करती हैं कि बृटिश पार्लियामेंट के स्टेट सेक्रेटरी मिस्टर ब्रोड्रिक ने कर्ज़न का प्रस्ताव अस्वीकृत करके उसकी पराजय तथा लार्ड किचनर की विजय घोषित कर दी थी। लार्ड कर्ज़न का वही अपमान इन पंक्तियों में

१—डा० ईश्वरी प्रसाद तथा एस० के० सूबेदार, ए हिस्ट्री ऑव मॉडर्न इण्डिया १७४०–१९५० ई०, पृ० ३४०।

२—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, 'टेसू'–मल्लयुद्ध, पृ० ७०९–७१०।

व्यंजित है। इस अपमान से भारत का हित न हुआ पर जन-कवि का अपने शत्रु को निरादृत होते देखकर हर्ष-ध्वनि करना स्वाभाविक है। दो विदेशी शक्तियाँ—एक सैनिक और दूसरी सिविल—व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए लड़ गई, दोनों में 'धींगा मुश्ती' और 'गुत्थम गुत्था' हुई, चक्की के पाट से पाट रगड़ा गया, पर आक्रान्त हुआ बंगाल। बंग विभाजन की योजना पहले से ही गोरी सरकार का ध्यान आर्कार्षित किए हुए थी। बड़े-बड़े पदाधिकारियों द्वारा किए गए अपने निरादर की खीज मिटाने को अपने अधिकार की शक्ति दिखाने का कर्जन को स्वर्ण अवसर हाथ लगा था। प्रायः देखा जाता है कि जब अपने से शक्तिशाली के सम्मुख दाल नहीं गलती तो कमजोर पर शक्ति का प्रयोग किया जाता है। इस मनोवैज्ञानिक तथ्य की अभिव्यक्ति कर्ज़न सम्बन्धी इस व्यंग्यात्मक 'टेसू' में हुई है—

"रह न सका भारत का लाट, तो भी बंग किया दो पाट।
पहले सब कुछ कर जाता हूँ, पीछे अपने घर जाता हूँ।
बेशक मिली उधर से लात, किन्तु यहाँ तो रह गई बात।

× × ×

पर बाहर इतराते जाना, खाली शैली खूब दिखाना।
अफसर से खा लेना मार, पर अधीन को दे पैजार॥
जबरदस्त से चट दब जाना, जेरदस्त को अकड़ दिखाना॥[1]

गुप्त जी के 'टेसू' गीत भारतीय इतिहास की झाँकियाँ प्रस्तुत करते हैं। कर्ज़न के पराभव के साथ लार्ड मिन्टो का आविर्भाव हुआ। वह भारत के वायसराय हुए। उदारतावादी जान मार्ली उस समय भारत सचिव थे। अतः उदारतावादी वायसराय तथा भारत सचिव से भारतीयों को अपने हित सम्पन्नता की पूर्ण आशा थी। बंगाली समाज का विचार था कि उदार शासन में बंग-विभाजन के कटु अनुभवों का अवसान हो जायेगा, किन्तु यह दुराशामात्र प्रमाणित हुई। मार्ली साहब ने भी बंग-विच्छेद को 'निश्चित-सत्य' (Settled fact) कह कर छोड़ दिया था। मि० मार्ली और मिन्टो की इस उदारतावादी नीति का भण्डाफोड़ करते हुए गुप्त जी ने व्यंग्य किया है—

"कर्जन जी जब देश सिधारे, तब मिण्टो जी ने पगधारे।
लोग लगे अभिनन्दन देने, चुपके चुपके उत्तर लेने।

१—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, 'टेसू-विषाद में हर्ष' पृ० ७१०।

मारवाड़ियों से खुश होकर, कहा बनो तुम रायबहादुर।

\+ + +

बंग देशियों से यों कहा, तुम हो झगड़ालू महा।
हम नहीं जाने बंग-विभाग, दूर खड़े हो गाओ राग।
हमतो भई अब घबराते हैं, नीचे शिमले को जाते हैं।

\+ + +

सुनो विलायत की अब बात। कन्जरवेटिव खा गये मात।
बाज उठी लिवरल की तंत्री। हुए मार्ली भारत–मंत्री।
मंत्री होकर कथा सुनाई। सुनो बंग के लोग लुगाई।
बंग भंग का है अफसोस। पर अब बात गई सौ कोस।"[१]

इङ्गलैंड के उदारदल की भी औपनवेशिक शासन नीति अनुदारदल के समान थी। भारतीय स्वाधीनता के प्रति दोनों दलों की नीति में कोई उल्लेखनीय अन्तर न था। फलतः उदार दल के शासनकाल में भी भारत का हित न हो सका। गुप्त जी ने एक 'होली' द्वारा उदार तथा अनुदार दल की नीति का रहस्य बतलाते हुए देश वासियों को चेतावनी दी थी—

नहिं कोई लिवरल नहिं कोई टोरी। जो परनाला सोही मोरी।
दोनों का है पंथ अघोरी। होली है भई होली है।"[२]

बंग-विभाजन कराके जब कर्जन स्वदेश लौट रहे थे तब भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन की दमनकारी प्रवृत्ति तथा क्रूरतापरक नीति का अनुसरण बँगाल के लेफ्टीनेन्ट गवर्नर सर फुलर ने किया था। फुलर ने बंग-विभाजन के विरोध में आयोजित स्वदेशी-आन्दोलन को सप्रयत्न कुचला, छात्रों को सजायें दीं, वन्देमातरम् गान पर रोक लगाई, बरीसाल की कान्फ्रेंस में बंगाल के प्रतिष्ठित नेताओं को अपमानित किया और पुलिस का क्रूर लाठी चार्ज कराया। बंगाल से राष्ट्रीयता को मिटा देने की उसने प्रतिज्ञा की थी, पर विफल हुआ। अन्त में अपने त्याग-पत्र की धमकी दी, पर त्याग-पत्र भी स्वीकार हो गया। गुरु कर्जन और शिष्य फुलर का एक सा भाग्य रहा। इतिहास की पुनरावृत्ति हुई। क्रूर तथा अत्याचारी शासक की विफलता पर गुप्त जी का व्यंग्य देखिये—

१—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, टेसू-मिन्टो-मार्ली, पृ० ७२०।
२— वही, पोलिटिकल होली, पृ० ७१७।

"मास नवम्बर कर्जन लाट, उलट चले शासन का ठाट।
फुलर जंग को गद्दी देकर। चल दिये अपनासा मुँह लेकर।
फुलर जंग ने की वह जङ्ग। सब बंगाल हो गया दङ्ग।
लड़कौं से की खूब लड़ाई। गुरखों की पलटन बुलवाई।
किया मातरम् बन्दे बन्द। और सभायें रोकी चन्द।
जोर स्वदेशी का दबबाया। जगह-जगह पर लठ चलवाया।
बरीसाल में की वह करनी। जिसकी महिमा जाय न बरनी।
अन्त तलक लड़कों से लड़े। आखिर को उल्टे मुँह पड़े।
पकड़ा पूरा एक न साल। आप गये रह गया अकाल।
खूब बचन गुरु वर का पाला। पर आखिर को हुआ दिवाला।"[१]

कर्जन और फुलर दोनों अपना सा मुँह लेकर भारत से चले गए पर उनके कुकृत्यों का दुष्परिणाम भारतीय जनता बहुत दिनों तक भोगती रही। घोर अकाल पड़ा, भारतीय अन्न-धन-हीन, निस्तेज और निष्प्राण होकर मृत्यु के मुख में जाने लगे, फिर भी सरकार आश्वासन देती रही कि अफ्रीका में युद्ध की समाप्ति होते ही भारत के हितों पर ध्यान दिया जायगा। अकाल की अवस्था और सरकारी आश्वासन पर व्यंग्य करते हुए गुप्त जी ने लिखा है—

"अफरीका पर हुई चढ़ाई, बादल गये उधर ही भाई।
वह सोना भर कर लावेंगे, तब हम भी मेंह बरसावेंगे।
भारत पर बरसेगी हुन, लग रही है सोने की धुन॥"[२]

'अफ्रीका पर चढ़ाई होना', 'बादलों का उधर जाना' और 'भारत पर 'हुन' की 'वर्षा करना' आदि ऐसी कल्पना है जिससे गुप्त जी की उद्भावना शक्ति का आभास मिलता है।

गुप्त जी के व्यंग्य के शिकार अँग्रेज शासक ही नहीं अपितु देशी व्यापारी भी हुए हैं, जो हर समय व्यापार में लाभ की बात सोचते हैं; जिन्हें देश-चिन्ता कभी व्यथित नहीं करती। मारवाड़ में अकाल पड़ा है। देश में हाहाकार हो रहा है। इसकी प्रतिक्रिया कलकत्ता के बाजार में क्रय-विक्रय की मन्दी के रूप में होती है। कपड़ा बिल्कुल नहीं बिकता; बेटा व्यापारी अपने पिता से इस मन्दी की शिकायत करता और कहता है कि अब विजय दशमी

१—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, 'टेसू-कर्जन-फुलर', पृ० ७१६।
२— वही, 'टेसू' पृ० ६६६।

आने को है, कुछ तो बिक्री होनी चाहिए और कुछ प्रयत्न करना भी आवश्यक है ही, तब उसका ताऊ बेटे को मूर्ख बताते हुए कहता है। यह गुप्त जी का व्यंग्य द्रष्टव्य है:—

"ताऊ कहे सुनो जी हाऊ, तुम निकले कोरे गुड़खाऊ।
फंसे उसी को खूब फंसाओ, नहीं फंसे तो चुप सो जाओ।
देश वेश चूलहे में जाय, 'सांसो म्हारी करै बलाय'।
खाओ-पीओ मौज उड़ाओ, अकड़-अकड़ के शान दिखाओ।।"[1]

अपनी साधन सम्पन्नता में प्रमत्त रहने वाले कलकत्ते के मारवाड़ी व्यापारी समाज की मनोवृत्ति पर गुप्त जी का यह तीव्र व्यंग्य है।

'टेसू' के अतिरिक्त गुप्त जी ने 'जोगीड़ा' भी लिखे हैं। "'जोगीड़ा' की उत्पत्ति विद्वानों ने प्राचीन सन्तों द्वारा मानी है। गोरखनाथ के नाम से कितने ही पद प्राचीन काल से चले आये हैं। "इन पदों में से कई दादू दयाल के नाम पर, कई कबीर के नाम पर और कई नानकदेव के नाम पर पाए गए हैं। कुछ पद लोकोक्ति का रूप धारण कर गए हैं, कुछ ने जोगीड़ों का रूप लिया है।"[2] इन 'जोगीड़ा' गीतों में अश्लीलता तथा वासना का आधिक्य होता है। जिस प्रकार बंगाल के कुछ भागों में अश्लीलता के लिये 'घमाली' विख्यात है, उसी प्रकार युक्त प्रान्त और बिहार में होली के अवसर पर 'जोगीड़ा' गाया जाता है। "ये गीत अश्लील और अश्राव्य होते हैं, जोगीड़ा गा लेने के बाद लोग 'कबीर' गाते हैं जो और भी भयंकर होते हैं।"[3] जोगीड़ा गीत प्रायः संवादात्मक होते हैं। गुप्त जी ने इन गीतों को अपने व्यंग्य का माध्यम बनाया और नीति, सुधार तथा देश-हित की बातों को पूर्ण स्वाभाविक एवं सुबोध शैली में जनता तक पहुँचाने का उपक्रम किया।

लन्दन और अमेरिका दोनों ही जाग्रत और कर्त्तव्य बुद्धि से आलोकित हैं पर भारत सुषुप्त और मसानवत है, भारतवासी आचार-विचार और धर्म-परायणता को खोते चले जा रहे हैं, गुप्त जी की दृष्टि में यह आदर्श-हीनता भी भारत की अधोगति का कारण है। आचार-विचार हीन और खाने पीने के विषय में बन्धन स्वीकार न करने वाले तथा नई सभ्यता से प्रभावित व्यक्ति के प्रति गुप्त जी का व्यंग्यात्मक 'जोगीड़ा' इस प्रकार है—

१—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, टेसू-ताऊ और हाऊ, पृ० ७११।
२—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, नाथ सम्प्रदाय, पृ० १८२।
३— वही, हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० ६२।

"लन्दन जागे पेरिस जागे अमरीका भी जागे।
ऐसा नाद करूँ भारत में सोता उठकर भागे॥
हाँ सदा शिव गोरख जागे—
मन्तर मारूँ जन्तर मारूँ भूत मसान जगाऊँ।
सब भारत वालों की अक्किल चुटकी मार उड़ाऊँ॥
हाँ सदा शिव गोरख जागे।[1]

× × × ×

"जो ही अण्डा सोही ब्रह्मण्डा इसमें नाहीं भेद।
दोनों अच्छे समझो बच्चे सोई आँत सोइ मेद॥
वेद का सार यही है, बुद्धि का पार यही है।
मिले तो अण्डा चक्खौ, मिले तो भण्डा भक्खो॥"[2]

इन पंक्तियों में अण्डा खाने और मांस भक्षण करने वालों की खबर ली गई है। निम्नलिखित पंक्तियों में होटल में शराब पीने वाले तथा तश्तरियों में बिसकुट खाने वालों पर तीव्र व्यंग्य है। दोनों वस्तुओं को स्वर्ग का मार्ग उन्मुक्त करने वाली कहकर उपहास किया गया है। कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं–

"एक ही गाओ एक ही ध्याओ करो उसी का ध्यान।
जो बोतल में सो होटल में निराकार भगवान॥
उसी का ध्यान लगाओ, उसी में मन अटकाओ।
वही है मक्खन बिसकुट, वही है मुर्गी कुक्कुट॥
अगल-बगल में बिसकुट मारो बोतल रक्खो पास।
आँख मूँद कर ध्यान लगाओ छः रितु बारह मास॥
गिरे प्याले पर प्याला, खुले तब दिल का ताला।
मिले तब प्रभु का दरसन, होय गहरा संघरषन॥"[3]

इसी जोगीड़ा में 'हिन्दू' शब्द की व्यंग्यात्मक परिभाषा भी गुप्त जी ने की है जिसे देखकर सुधारवादी भी अवश्य प्रसन्न होंगे, लिखा है—

"जूता हिन्दू छाता हिन्दू सावन दिवासलाई,
मुर्गी हिन्दू चर्बी हिन्दू यवन मलेच्छ कसाई।

१—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, जोगीड़ा, पृ० ६८०।
२— वही पृ० ६८२।
३— वही पृ० ६८२।

हिन्दू सोडावाटार जिंजर हिन्दू बीयर ह्विस्की।
सब कुछ हिन्दू सब कुछ हिन्दू बात कहूँ किस किसकी ?
लण्डन हिन्दू पैरिस हिन्दू हिन्दू गोल मिठाई।
सूखी मछली बिल्कुल हिन्दू जो यूरोप से आई ॥"[१]

एक 'जोगीड़ा' में गुप्त जी ने स्वामी विवेकानन्द को भी लक्ष्य करके व्यंग्य किया है। जब विवेकानन्द अमेरिका गये थे तो उनकी विद्वता, व्यक्तित्व और चरित्रबल से प्रभावित होकर कुछ अमेरिकन स्त्रियाँ उनके साथ भारतीय दर्शन तथा योगबल का अध्ययन करने भारत आई थीं, सिस्टर निवेदिता उनमें प्रमुख थीं। स्वामी विवेकानन्द का यह कार्य सनातन धर्म के पोषकों को अनौचित्य पूर्ण लगा था। धार्मिक-क्षेत्र में गुप्त जी भी इसी वैष्णव वर्ग के प्रतिनिधि थे। इन 'जोगीड़ों' में उनके हृदय का विरोध अभिव्यंजित है। देखिये—

"हुई बाबाजी तेरी-सदा चरणों की चेरी।
हे सन्यासी सदा उदासी सुन के तेरी बानी।
जी में बसी तुम्हारी मूरत भूल गई क्रुस्तानी ॥
प्रेम ईसा से छूटा नेह मरियम से टूटा।
योग का पन्थ बताओ, मुझे भी सङ्ग लगाओ ॥
पाँव दबाऊँ अलख जगाऊँ सेवा करूँ बनाय।
साथ तुम्हारे सदा रहूँगी तन में भसम लगाय ॥
कहो तो अन्दर आऊँ। कहो तो मन्दर जाऊँ।
गूदड़ी झाड़ बिछाऊँ। ध्यान चरणों का लाऊँ ॥"[२]

कुछ पंक्तियाँ और भी हैं जो स्वामी विवेकानन्द जी के प्रति सनातनी वर्ग की भावना का प्रतिनिधित्व करती हैं, उस वर्ग को स्वामी जी के धार्मिक विचारों से भी सिद्धान्ततः विरोध था। उसी की अभिव्यक्ति निम्नलिखित पंक्तियों से होती है। गुप्त जी लिखते हैं—

"जती लण्डन से आया-ब्रह्म का भेद बताया।
जैसी रण्डी तैसी सण्डी सोई खसम सोई नार ॥
ब्रह्म सत्य है, ब्रह्म एक है यही वेद का सार।"[३]

१—गुप्त निबन्धावली, प्रथम, भाग जोगीड़ा, पृ० ६८३।
२— वही पृ० ६८०-८१।
३—बालमुकुन्द गुप्त, प्रथम भाग, स्फुट कविता, पृ० १०६।

इन पंक्तियों में पाश्चात्य संस्कृति जिसका अनुकरण भारतीय कर रहे थे, व्यंग्य का केन्द्र है। गुप्त जी भारत में इस नवीन संस्कृति के विरोधी थे। उनका विरोध इन पंक्तियों में साकार हो उठा है।

'टेसू' और 'जोगीड़ा' के अतिरिक्त गुप्त जी ने और भी व्यंग्यात्मक कवितायें लिखीं हैं। 'भैंस का स्वर्ग'[१] मानो यथार्थ में आलसी और अकर्मण्य भारतीयों का स्वर्ग है। इस वर्ग के व्यक्तियों पर इस कविता में सुन्दर व्यंग्य है। 'पक्का प्रेम'[२] और 'सभ्य बीबी की चिट्ठी'[३] दो ऐसी कविताएँ हैं, जिनमें आधुनिक योरोपीय सभ्यता में दीक्षित भारतीयता से घृणा करने वाली नारी व्यंग्य का शिकार हुई है; 'कलियुग के हनुमान'[४] और 'देशोद्धार की तान'[५] नामक कविताओं में हिन्दू धर्म-सुधारकों पर व्यंग्य किया है। 'आजकल का सुख'[६] नामक कविता में घर की कुल बधू से असंतुष्ट, रंगीन तितलियों के मोह पास में आबद्ध युवक, 'खाओ पीयो मौज उड़ाओ' वाले सिद्धान्त के परिपोषक व्यक्ति, देश हित के नाम पर डालियाँ देकर स्वार्थ-साधन करने वाले नृशंस मानव, शराब पीकर वैश्या-नृत्य के समर्थक, गरीबों के धन को लूट-लूट कर अपना घर भरने वाले वकील, देश-हित और राष्ट्र प्रेम से शून्य स्वार्थी, वासना के क्रीत दास, वेश्याओं के अन्ध भक्त और उनके चरणों पर कुबेर की निधि न्यौछावर कर देने वाले तथा भिक्षुक को देख कर पीठ फेर लेने वाले भारतीयों को व्यंग्य का लक्ष्य बनाया गया है। उदाहरण के लिये अधोलिखित पंक्तियाँ अवलोकनीय हैं—

> "रंडियाँ गुड़ हैं हमें उस गुड़ की जानो मक्खियाँ।
> रात दिन करते हैं भिन-भिन उनपे लेते चक्खियाँ।।
> जूतियाँ खाके भी उनकी खिलखिलाते हैं सदा।
> पर किसी कंगाल को देखें तो होते हैं ख़फा।।

१—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, पृ० ६६६-६८।
२— वही पृ० ६६८।
३— वही पृ० ६६९-७०।
४— वही पृ० ६७५।
५— वही पृ० ६७५-७६।
६— पृ० ६९०-६९५।

देख के कोमल को होते हैं कड़े, कड़ियल को नर्म ।
देख के भिक्षुक को स्वर करते हैं ऊँचा और गर्म ।।"[१]

इसके अतिरिक्त 'उर्दू को उत्तर'[२] नामक कविता में हिन्दी-विरोधी तत्त्वों तथा उर्दू के अंध समर्थकों पर व्यंग्य किया गया है । 'कर्जनाना'[३] और 'छोड़ चले शाइस्ताखानी'[४] दो कविताएँ ऐसी हैं जिनमें लार्ड कर्ज़न के कुकृत्यों और सर फुलर के अत्याचारों तथा उनकी विफलताओं पर व्यंग्य किये गये हैं । फुलर का कहना था कि वह हिन्दू और मुस्लिम दो पत्नियाँ रखते हैं, जिनमें द्वितीय अधिक प्रिय है ।[५] यह बात समान रूप से सभी भारतीय नेताओं को अप्रिय लगी थी । हिन्दी-भाषा जनता का विरोध गुप्त जी की पंक्तियों द्वारा व्यक्त हुआ था । जिस समय मि० फुलर त्यागपत्र देकर और अपनी तथा-कथित बीबी को वैधव्य की यातना सहने के लिए छोड़ कर चल दिये थे, उस समय गुप्त जी का व्यंग्य देखिए—

"रोती छोड़ी रानी प्यारी, उम्मीदों पर फेरा पानी,
है है उसकी भरी जवानी, यह क्या तुमने दिल में ठानी,
छोड़ चले शाइस्ताखानी ।"[६]

इस व्यंग्य की प्रेषणीयता उस समय अधिक बढ़ जाती है, जब यह स्पष्ट ज्ञात हो कि द्वितीय बीबी ने भी देशभक्ति के मूल्य पर पति-प्रेम का निर्वाह किया था । फिर यह वैधव्य किस प्रकार व्यतीत होगा ?

भारतेन्दु जी ने सामाजिक एवं धार्मिक जीवन के कुछ पक्षों की आलोचना करने के लिए 'वैदिकी हिंसा-हिंसा न भवति' प्रहसन और भारत की राजनीतिक परिस्थिति, पाश्चात्य-प्रभाव, भारतीयों के नैराश्य, निरुद्यम, कलहप्रियता तथा सरकारी निरंकुशता आदि का चित्रण करने के लिए 'भारत दुर्दशा' लास्य रूपक की रचना की थी । इन दोनों रचनाओं में उनका व्यंग्य प्रखर है । ठीक इसी प्रकार गुप्त जी ने भारत के धार्मिक जीवन पर

१—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, आजकल का सुख, पृ० ६९२ ।

२— वही पृ० ७००-७०४ ।

३— वही पृ० ७१२-१३ ।

४— वही पृ० ७१३-१७ ।

५—डा० ईश्वरीप्रसाद तथा एस० के० सूबेदार, ए हिस्ट्री ऑव मॉडर्न इन्डिया, १७४०-१९५० ई०, पृ० ३३२ ।

६—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, छोड़ चले शाइस्ताखानी, पृ० ७१४ ।

पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति के प्रभाव, देशवासियों की धार्मिक उदासीनता तथा छूआछूत सम्बन्धी नियमों की विच्छिन्नता पर तीव्र प्रहार करने के लिए 'जोगीड़ा' और भारत पर अंग्रेजी साम्राज्य के शोषण, प्रशासकीय निरंकुशता, ब्रिटेन के लिबरल दल की कूट नीतिज्ञता, लार्ड कर्जन, फुलर जंग, लार्ड मिन्टो एवं लार्ड मार्ली के भारत विरोधी कार्यों एवं राजनीतिक दाँव-पेचों की कलई खोलने के लिए 'टेसू' गीतों की रचना की है। गुप्त जी ने 'जोगीड़ा' नामक रचनाओं में स्वामी विवेकानन्द को वैष्णवतावादी संकीर्ण दृष्टि से देखा है जो उनके हृदय की विशालता का द्योतन नहीं करती। इनके चित्र प्रायः अतिरंजित हैं, जिनका प्रभाव सुधार-समर्थक भारतीयों पर अच्छा नहीं पड़ता, किन्तु 'टेसू' गुप्त जी की राष्ट्रभक्ति, देश प्रेम और प्रगतिशीलता के सर्वश्रेष्ठ निदर्शन हैं। इनके 'टेसू' गीतों में भारत के स्वतन्त्रता आन्दोलन और सरकारी दमन की ऐतिहासिक घटनाओं के चित्र भारतीय दृष्टिकोण से अंकित किए गए हैं। ये चित्र इतने सजीव और हृदयाकर्षक बन पड़े हैं कि उनका प्रभाव हिन्दी-पाठकों पर अधिकता के साथ पड़ा था, यही कारण है कि व्यंग्य-काव्य की दृष्टि से इनका साहित्य में उच्च स्थान है। निस्संदेह गुप्त जी के 'टेसू' भारतेन्दु जी द्वारा स्थापित व्यंग्य-काव्य की परम्परा को जीवित रखने वाले लोक-गीत हैं। भारतेन्दु और गुप्त जी की इस सामाजिक एवं राजनीतिक व्यंग्य परम्परा का प्रेमचन्द जी ने गद्य में समुचित रूप से निर्वाह किया है। आज हिन्दी पद्य में भी व्यंग्य की एक प्रौढ़ शैली विद्यमान है, किन्तु गुप्त जी के काव्य में अन्तर्निहित व्यंग्य अपेक्षाकृत कुछ तीव्र, सीधी चोट करने वाला और मर्मान्तक पीड़ाकर होता था। हिन्दी में इस प्रकार का व्यंग्य आजकल बहुत कम दिखलाई पड़ता है।

गुप्त जी की विविध प्रकार की कविताएँ—

भारतेन्दु काल में हिन्दी-काव्य ने नया मार्ग ग्रहण कर लिया था, इस पर भी प्राकृतिक दृश्य-वर्णन में किसी प्रकार का संस्कार न हो सका। पं० श्रीधर पाठक ने हिन्दी-कविता में प्रकृति-वर्णन की नवीन शैली को जन्म दिया था, उन्होंने प्राकृतिक दृश्यों के संश्लिष्ट चित्र अंकित किए हैं। पाठक जी की इस विशिष्टता का प्रभाव गुप्त जी की कविता पर अवश्य पड़ा है। गुप्त जी का प्रकृति-वर्णन रीति कालीन परिपाटी से मूलतः भिन्न है, उन्होंने प्राकृतिक दृश्य चित्रण के नाम पर केवल वृक्ष, फूल, पत्ती, नदी, निर्झर तथा सरोवर आदि के नामों का परिगणन नहीं किया, प्रत्युत प्राकृतिक सौंदर्य पर्यवेक्षण

के उपरान्त होने वाली अनुभूति की अभिव्यंजना की है। उनका प्रकृति-वर्णन प्रकृति के असाधारणतत्व अथवा अलौकिक चमत्कार प्रदर्शन के लिए नहीं, प्राकृतिक दृश्यों के पीछे उनके दीर्घ-साहचर्य या अन्तःकरण में निहित वासना के कारण है। रीति-कालीन कवि लक्षण ग्रन्थों में उल्लिखित उपकरणों के नाम गिनाकर प्रकृति वर्णन के स्थान पर अर्थ-ग्रहण कराते रहे थे। सूक्ष्म रूप-विवरण और आधार-आधेय की संश्लिष्ट योजना के साथ बिम्ब-ग्रहण कराने में वे प्रायः असमर्थ रहते थे। गुप्त जी ने प्रकृति की भव्य शोभा की अभिव्यंजना करने वाले दृश्यों का चित्रण करके बिम्ब-ग्रहण कराया है। बसन्त आगमन का समय है, सम्पूर्ण प्रकृति उनकी प्रतीक्षा में फूल उठी है, एक चित्र देखिये—

"आ आ प्यारी बसन्त सब ऋतुओं में प्यारी,
तेरा शुभागमन सुन फूली केसर क्यारी।
सरसों तुझको देख रही है आँख उठाए,
गेंदे लेले फूल खड़े हैं सजे सजाए।
आस कर रहे हैं टेसू तेरे दर्शन की,
फूल-फूल दिखलाते हैं गति तेरे मन की।
बौराई सी ताक रही है आम की मौरी,
देख रही है तेरी बाट बहोरि बहोरी।
पेड़ बुलाते हैं तुझको टहनियाँ हिलाके,
बड़े प्रेम से टेर रहे हैं, हाथ हिलाके।
मारग तकते बेरी के हुए सब फल पीले,
सहते-सहते शीत हुए सब पत्ते ढीले।
नीबू नारंगी हैं अपनी महक उठाये,
सब अनार हैं कलियों की दुरबीन लगाये।
पत्तों ने गिर गिर तेरा पाँवड़ा बिछाया,
झाड़ पोंछ वायु ने उसको स्वच्छ बनाया।
फुल सुँघनी की टोली उड़-उड़ डाली डाली,
झूम रही है मद में तेरे हो मतवाली।"[1]

'मारग तकते बेरी के हुए सब फल पीले' तथा 'सब अनार हैं कलियों की दुरबीन लगाये' आदि उक्तियों से कवि हृदय के सूक्ष्म ज्ञान तथा गहन

१—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग वसन्तोत्सव पृ० ६३३।

अनुभूति का आभास मिलता है। उसे भारतीय ऋतुओं का विशेष ज्ञान है तथा प्रकृति के साथ तादात्म्य भाव बनाये रखता है।

वसन्त के आगमन पर ग्रामीण कृषक अपनी हरी भरी खेती, शस्यश्यामला भूमि और सौरभमय वनस्पति से विभूषित वसुन्धरा का अवलोकन करके अपार हर्ष मनाते हैं, निर्बाध और चिन्ताहीन होकर जंगलों को जाते हैं तथा सोल्लास क्रीड़ा करते हैं। इसका एक चित्र गुप्त जी ने उपस्थित किया है—

"सब किसान मिलकर अपने खेतों में जाकर,
फूल तोड़ते सरसों में आनन्द मनाकर।
बन में होते लड़कों के पाले औ दंगल,
चढ़त ढाकों पर औ फिरते जंगल जंगल।
कूद फाँद कर भाँति-भाँति की लीला करते,
महा मुदित हो जहाँ तहाँ स्वच्छन्द विचरते।"[1]

ऐसा प्रतीत होता है कि मानो ग्रामीणों की प्रसन्नता में कवि स्वयं तल्लीन है और तन्मयता के साथ चित्रण में आत्मविस्मृत हो रहा है। बसन्त के आ जाने पर प्रकृति में क्या परिवर्तन होते हैं? गुप्त जी ने उस अवस्था का चित्रांकन भी किया है। देखिये—

"फिर सेमर पलास बन फूले, फिर फूले कचनार।
बौरे आम कोइलिया कूकी, आई बहुरि बहार॥
+ + + +
चटकत बहु गुलाब की कलियाँ सौरभ बिखरी जाय।
मधु लम्पट मधुबन ता ऊपर राखीं लूट मचाय॥
निरमल चन्द चाँदनी चारहुँ ओर दई छिटकाय।
रैन दिवस सम भये शीत को कोमल भयो सुभाय॥"[2]

गुप्त जी का बाल्यकाल हरियाना प्रान्त में व्यतीत हुआ था, जो अपनी हरियाली और ग्राम्यश्री के लिये विख्यात है। इसका प्रभाव उनके हृदय पर अमिट रूप से पड़ा था। बसन्त के समय मीलों तक सरसों के पीले पुष्पों से अलंकृत बसुधा को देखकर उनका हृदय उच्छसित हो उठता है और मन-मयूर

१—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, वसन्तोत्सव, पृ० ६३५।
२— वही , वसन्त, पृ० ६५६।

नृत्य कर उठता है। सरसों के पीत पुष्प मण्डित पृथ्वी का एक चित्र देखिये—

"कोसों तक पृथ्वी पर रहती सरसों छाई,
देती दृग की पहुँच तलक पीतिमा दिखाई।
सुन्दर सुघर फूल वह उसके चित्त लुभाने,
बीच बीच में खेत गेहूँ जौ के मन माने।
वह बबूल की छाया चित्त को हरने वाली।
वह पीले-पीले फूलों की छटा निराली।
आस पास पालों के वट वृक्षों का झूमर,
जिसके नीचे वह गायों भैंसों का पोखर।
ग्वाल बाल सब जिनके नीचे खेल मचाते,
बूट चने के लाते होले करते खाते।
पशुगण जिनके तले बैठ के आनन्द करते।
पानी पीते पगुराते स्वच्छन्द विचरते।
पास चने के खेतों में बालक कुछ जाते,
दौड़-दौड़ के सुरुचि साग खाते घर लाते।
आपस में सब करते जाते खिल्ली ठट्ठा,
वहीं खोलकर खाते मक्खन रोटी मट्ठा।"[1]

इन पंक्तियों में बसन्त श्री, कृषक मनोवृत्ति, बसन्तागमन की सरस और अबोध बालकों के मानस पर प्रक्रिया का सुन्दर चित्रण हुआ है। गुप्त जी ग्रामीण जन-समूह के साथ जैसे तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं। उनके साथ जितनी तन्मयता कवि में है, उतनी सर्वत्र दुर्लभ है। यह भावयोग ही उन्हें उच्चकोटि का कवि बनाने में सफल हुआ है।

गुप्त जी के प्रकृति चित्रण में संकीर्णता अथवा एकांगीपन नहीं। उन्होंने जहाँ बसन्त श्री का चित्रण किया है, वहीं अनावृष्टि के कारण शुष्क वनस्पति और झुलसी प्रकृति का अङ्कन भी किया है। उनका ग्रीष्म वर्णन देखिये—

"सूखे बन उपबन परवत झुरि जरि गई घास,
डोलत खग मृग जीह निकासे निपट उदास।

१—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, बसन्तोत्सव, पृ० ६३७।

तेरे बल जो दाने निकसे परवत फार,
बिन तेरे होय गये जरि बरि के छार।
सूखी तरुराजी झुरि-झुरि के परि रहे पात,
सूखे सरिता सर ऊसर चहुँ ओर लखात।"[१]

ग्रीष्म के उपरान्त पावस का आगमन अवश्यम्भावी है। गुप्त जी ने वर्षा का चित्र भी उपस्थित किया है—

"छये घोर चहुँ ओर मेघ, पावस की परी पुकार,
घन गरजत चपला अति गरजत, फरफर उड़त फुहार।
× × × ×
मिट्यो ताप ग्रीषम को डोलत, सीतल अमल बयार,
अब नाहीं बरसत नभते लूअन के तेज अंगार।"[२]

वर्षा के आगमन पर नदी-नाले उमड़कर चल पड़े हैं। उनकी लहरें गगन चूमना चाहती हैं। गुप्त जी ने नदी की बाढ़ का एक सुन्दर चित्र उपस्थित किया है—

"जो नद परचो हतौ रेती पै सिसकत सर्प समान,
सो अब उमड़ि-उमड़ि निज लहरन छुओ चहत असमान।
फेन उठावत, दौरचौ आत तटन गिरावत तोर,
बारम्बार तरंग उठावत करत प्रलय सम सोर॥"[३]

अब तक गुप्त जी द्वारा अंकित प्रकृति के आलम्बन रूप का विवेचन किया गया है। उन्होंने भक्त कवियों की भाँति प्रकृति का उद्दीपन रूप में भी अंकन किया है। पुष्पित वृक्ष, मंजरित आम्र, शीतल, निर्मल चन्द्रिका और विकसित पुष्प विरहिणी को कामाग्नि में अधिक दग्ध करते हुए चित्रित किए गए हैं। देखिये—

"कोकिल अब क्यों मौन गही ?
बहु विधि फूल विपिन में फूले मन्द समीर बही॥
× × × ×
अपने हाथ बहुरि कुसुमायुध फूल कमान गही।
चटक चाँदनी निर्मल चन्दा बिरहिन अधिक दही।

१—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, मेघमनावनि, पृ० ६४५।
२— वही वर्षा , पृ० ६४८।
३— वही वही , पृ० ६५०।

मत्त भई मलयज संग डोलत सौरभ अति उलही ।
नाचत मोर कीर बहु गावत चाचर होय रही ।।
फूलन-फूलन डोलत अलिगन करते चित्त चही ।
फूली लता लपटि तरु से कुछ सुख की बात कही ।।"

गुप्त जी की प्रकृति-विषयक कविता का विवेचन करने के उपरान्त यह प्रमाणित हो जाता है कि प्रकृति की उन्मुक्त गोद में उन्होंने आँखें खोलीं थीं। उनके बाल-हृदय-पटल पर स्थायी प्रभाव अङ्कित हो गया था। यही प्रभाव उनकी कविता में साकार हो उठा है। उन्होंने प्रकृति को आलम्बन और उद्दीपन दोनों ही रूपों में अंकित किया है, पर आधिक्य आलम्बन रूप में अंकित की गई प्रकृति-विषयक कविताओं का ही है। गुप्त जी की प्रकृति विषयक कविताओं की तुलना उनके परवर्ती कवियों से की जाय तो उनमें काव्य की वह उच्चता नहीं पायी जाती, जो कालान्तर में अयोध्यासिंह उपाध्याय, गोपालशरणसिंह, प्रसाद, महादेवी, पंत, और निराला आदि की प्रकृति-विषयक कविताओं में है। फिर सामयिक परिस्थितियों पर समुचित दृष्टि और युग की सीमाओं का अवलोकन करते हुए यह स्वीकार करना पड़ता है कि उनकी कविताओं का अपना एक स्थान है। उनकी प्रकृति विषयक कविता युग की उस सीमा बिन्दु पर सृजित कविताएँ हैं जिसके आगे हिन्दी का प्रौढ़ एवं परिपक्व युग प्रारम्भ होता है।

उपसंहार—

मूलतः गुप्त जी को प्रकृति का कवि नहीं माना जा सकता। उन्होंने प्रकृति के रंग रूप को देखा है। उसके भव्य सौंदर्य के बीच विचरण करते हुए ग्रामीण कृषकों तथा क्रीड़ा करते हुए बालकों को देखा है। उसके संगीत तथा सौंदर्य का अनुभव किया है। उसको सुना है और उसकी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है, किन्तु निर्जन वन में कूजित कोकिल तथा तारों भरे नील आकाश से उन्हें मौन निमन्त्रण कभी नहीं मिला और न उन्हें प्रकृति परोक्ष सत्ता के आनन्द से आप्लावित प्रतीत हुई। इस प्रकार की प्राकृतिक कविताओं का गुप्त जी की रचनाओं में अभाव है। अन्ततः गुप्त जी कल्पना जीवी कवि नहीं थे, वे इस धरती के कवि थे जिसे विदेशी शासकों ने नष्टभ्रष्ट कर दिया था और जहाँ के निवासी मांसल मानव को जन-विरोधी शक्तियों ने नोंच-नोंच कर खा डाला था। इसी त्रस्त मानव-समाज की यथार्थ अभिव्यक्ति उनकी लेखनी की अमर साधना है। वे सामाजिक जीवन से उदासीन होकर प्रकृति की गोद में

विश्राम पाने वाले कल्पना-जीवी कवि से पूर्णतः भिन्न थे। उनकी कविता का विषय तो अँग्रेजी शासक और देशी राजे, रईस तथा नवाबों के अत्याचारों से पीड़ित भारतीय जनता थी। उनके काव्य में देश-भक्ति और राष्ट्र-प्रेम का स्वर ही प्रधान है।

अध्याय ८

हिन्दी उर्दू सम्बन्धी विवाद और गुप्त जी

राजा राममोहन राय तथा केशवचन्द्र सेन प्रभृति भारतीय सज्जन एवं मेकाले आदि के प्रयास स्वरूप कम्पनी की सरकार ने ७ मार्च, सन् १८३५ ई० के दिन भारतीयों को अंग्रेजी में शिक्षा दिए जाने की आज्ञा प्रसारित करदी थी। अतः देश में यत्र-तत्र अंग्रेजी स्कूल तथा कालिजों की स्थापना का श्री गणेश हुआ था। इस प्रकार की शिक्षा संस्थाओं के अस्तित्व में आने के उपरान्त भारत में अंग्रेजी शिक्षित व्यक्तियों की संख्या भी तीव्र गति के साथ बढ़ती जा रही थी। अब अंग्रेजों के सम्मुख प्रशासकीय सुविधाओं को दृष्टि में रखकर अंग्रेज पदाधिकारियों को भारत की प्रमुख भाषाओं से अवगत कराने का प्रश्न मुख्य था। एतदर्थ कलकत्ता का 'फोर्ट विलियम कालिज' अस्तित्व में आया। दूसरा प्रश्न जो शासन का ध्यान आकर्षित कर रहा था वह था, अदालती भाषा का। अब तक मुगल-शासन काल से परम्परा रूप में चली आती हुई फ़ारसी ही न्यायालयों तथा सरकारी कार्यालयों की भाषा थी, जो उस समय न तो सार्वजनिक भाषा थी और न बहुसंख्यकों द्वारा बोली तथा समझी जाती थी। अतः अदालतों एवं दफ्तरों में फारसी भाषा के प्रयोग से साधारण जनता को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। यही कारण है कि देश की बहुसंख्यक जनता की भाषा-विषयक इस कठिनाई-निवारण के उद्देश्य से सरकार ने सन् १८३६ ई० में जो कानून पास किया था उसके अनुसार अदालतों में देश की प्रचलित भाषाओं में सारा काम किए जाने का स्पष्ट आदेश दिया गया था। इस आशय की आज्ञा प्रत्येक प्रान्त में भेज दी गई थी। 'संयुक्त प्रदेश के सदर बोर्ड से भी इस आशय का एक इश्तहार नामः हिन्दी में निकला था।'[1]

उक्त आज्ञा-पत्र में ऐसी व्यवस्था थी कि शब्द हिन्दी के हों और लिपि देवनागरी के स्थान पर फ़ारसी भी हो सकती है। यह व्यवस्था अधिक दिनों

१—रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ४३०।

तक न रह सकी और जन-साधारण की भाषा विषयक इस प्रमुख समस्या के हल के स्थान पर असुविधा एवं कठिनाई में अभिवृद्धि होती गई। कट्टर उर्दू-भक्त एवं साम्प्रदायिकतावादी मुसलमानों ने हिन्दी का विरोध किया तथा उसके स्थान पर उर्दू को न्यायालयों एवं कार्यालयों में बनाये रखने के लिए वे लोग भगीरथ प्रयत्न करने लग गए थे। उनके इस कार्य के पीछे प्रतिशोध और क्षोभ की भावना कार्य कर रही थी। यथार्थ में राज्यच्युत मुसलमान अपनी संस्कृति के प्रतीक फ़ारसी को राज्य-भाषा के स्थान से अपदस्थ होते देखना नहीं चाहते थे। ऐसी अवस्था में उर्दू-भक्त, हिन्दी को जो उस समय उर्दू से मिलती-जुलती थी, अरबी-फारसी के शब्द-बाहुल्य के साथ मिलाकर फ़ारसी लिपि में लिखने लगे थे। इसका फल यह हुआ कि हिन्दी और उर्दू में पृथकत्व की स्थापना हुई और हिन्दी का अरबी-फ़ारसीमय रूप-उर्दू अदालतों एवं सरकारी कार्यालयों में प्रयुक्त होने लगा।

इस भाषा का प्रचार एवं प्रसार भी द्रुतगति के साथ होने लगा था। नौकरी पाने के अभिलाषी युवक बड़ी तत्परता एवं लगन के साथ इस भाषा का अध्ययन करने लगे थे। हिन्दी को उस समय न कोई पढ़ता था और न वह सम्मान की दृष्टि से देखी जाती थी। चारों ओर उर्दू का बोल-बाला था; हिन्दी दिनों दिन अवनति की ओर जा रही थी। इस अवस्था का अंकन गुप्त जी के शब्दों में इस प्रकार है—"जो लोग नागरी अक्षर सीखते थे वह फ़ारसी-अक्षर सीखने पर विवश हुए और हिन्दी भाषा हिन्दी न रहकर उर्दू-बन गई। हिन्दी उस भाषा का नाम रह गया जो टूटी-फूटी चाल पर देवनागरी अक्षरों में लिखी जाती थी।"[१]

यद्यपि प्रशासकीय कार्यों एवं शिक्षित-समाज में हिन्दी का प्रयोग शनैः शनैः घटता जा रहा था फिर भी हिन्दुओं के धर्म-प्रचार तथा धार्मिक ग्रंथों में उसे सम्मानित पद प्राप्त था। इसका कारण यह था कि हिन्दी उस समय भी बहुसंख्यकों की भाषा थी और धर्म-प्रचारक अपनी बात अधिकाँश जनता तक पहुँचाने की दृष्टि से देववाणी संस्कृत का नहीं बल्कि हिन्दी का व्यवहार करते थे। स्वामी दयानन्द सरस्वती का कार्य इस दृष्टि से स्तुत्य है। ईसाई धर्म प्रचारकों द्वारा भी हिन्दी को प्रोत्साहन मिला था। इस प्रकार एक ओर तो सरकारी कार्यालयों एवं न्यायालयों तथा दूसरी ओर उर्दू-भक्तों से बहिष्कृत होकर भी हिन्दी बहुसंख्यक जनता द्वारा समादृत एवं प्रोत्साहित हो रही थी

१—बालमुकुन्द गुप्त, हिन्दी-भाषा, भूमिका, पृ० ग।

और जनता के हितैषी सच्चाई के साथ बहुसंख्यकों की भाषा को उन्नतिशील होती देखने के लिए सचेष्ट एवं प्रयत्नशील हो गये थे। उसी समय राजा शिवप्रसाद ने 'बनारस अखबार' (१८४५ ई०) तथा बाबू तारामोहन मिश्र ने 'सुधाकर' (१८५० ई०) द्वारा जनता की हिन्दी भाषा को प्रगति के मार्ग पर आसीन किया था। इस प्रकार जन-समाज के सामाजिक एवं धार्मिक उत्कर्ष के साथ-साथ उसकी भाषा की भी उन्नति हुई, किन्तु हिन्दी की इस प्रगति को उसी के उन्नायक राजा शिवप्रसाद की परिवर्तित नीति से महान् ठेस लगी। शिक्षा-विभाग में इन्सपेक्टर के पद पर नियुक्त होते ही राजा साहब उर्दू की ओर आकृष्ट हो गए थे। यही नहीं, आपने हिन्दी को गँवारू भाषा कहा था और अरबी–फ़ारसी के शब्दों द्वारा पालिश करके हिन्दी लिखने का परामर्श भी दिया था। राजा साहब ने उर्दू-समर्थकों तथा अन्ततः सरकारी-पदाधिकारियों को प्रसन्न करने के उद्देश्य से जो कहा था, उसका आशय इस प्रकार है—"हमारी अदालती भाषा उर्दू है और सभी राष्ट्रों द्वारा अदालती भाषा ही लोकाचार के अनुरूप अपने समय की सर्वश्रेष्ठ भाषा मानी जाती है। उर्दू हमारी मातृ-भाषा बनती जा रही है और उत्तरी पश्चिमी प्रान्तों में वह सभी व्यक्तियों द्वारा थोड़ी और अधिक, उत्तमता तथा अनुत्तमता के साथ बोली जाती है।'

राजा साहब की यह नीति हिन्दी-विरोधी तत्त्वों के लिए प्रेरणा का महान् स्रोत सिद्ध हुई। फलतः हिन्दी-विरोध में सक्रियता एवं उग्रता का समावेश हुआ। स्वयं राजा साहब इस दिशा में इतने आगे बढ़े कि जनता की भाषा को प्रोत्साहित और प्रसारित करने वाले भारतेन्दु की हिन्दी के लिए उन्होंने कहा था—"हरिश्चन्द्र की भाषा समझ में नहीं आती।"[१]

राजा साहब संस्कृत जानते थे; उसका प्रयोग भी उन्होंने अपनी रचनाओं में कई स्थानों पर किया है, यह निर्विवाद सत्य है। पर वे राजकीय-पद के प्रलोभन में बहुसंख्यकों के गले पर छुरी फेरने के लिए तैयार हो गए थे। यह उनकी प्रतिक्रियावादी मनोवृत्ति का सूचक है; उनके हृदय में समाज और सामाजिकों के प्रति स्नेह और सहानुभूति का प्रायः अभाव था, वे तो मुख्यतः अपने गौरांग प्रभुओं को प्रसन्न करके अपने सुख और वैभव अर्जन की चेष्टा में संलग्न थे। हिन्दी भाषा के विरोध का प्रोत्साहन राजा साहब को अंग्रेज शासकों द्वारा मिला था। अंग्रेज हिन्दी-उर्दू के प्रश्न पर भी हिन्दू-मुस्लिम

१—अम्बिका प्रसाद वाजपेयी, समाचार पत्रों का इतिहास, पृ० १८०।

ऐक्य को मिटाकर राजनीतिक स्वार्थ सम्पन्न करने पर कटिबद्ध थे। इस वातावरण में आवश्यकता ऐसे प्रतिभाशाली व्यक्ति की थी जो राजा साहब की भाषा विषयक भ्रान्तिमूलक धारणाओं का प्रतिवाद करके बहुसंख्यकों की वास्तविक भाषा को प्रकाश में लाता और भाषा द्वारा जातीय-संस्कृति का निर्माण करता। इसी कार्य की सम्पन्नता के लिए भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का जन्म हुआ था। उन्होंने युग-विशेष की आवश्यकता को समझा, राजनीतिक समस्याओं का गम्भीर अध्ययन किया, भाषा सम्बन्धी प्रश्न का समाधान सोचा, अंग्रेज शासक तथा उनके समर्थक भारतीय सामन्तों एवं नवाबों की संरक्षता में पनपनेवाले भाषा के जन-विरोधी स्वरूप को पहचाना और जनता के सम्मुख भाषा का सही रूप उपस्थित किया। उन्होंने कोई नई भाषा नहीं चलाई, प्रत्युत जन-समाज में प्रचलित खड़ी बोली को साहित्यिक रूप दिया। उनकी भाषा-नीति का रहस्य संस्कृत के तत्सम शब्दों की अपेक्षा तद्भव शब्दों को प्रश्रय देना, बोल-चाल के अरबी-फारसी शब्दों का सहर्ष समावेश तथा नवीन शब्दों के लिए संस्कृत का आश्रय लेना था।

भाषा-विषयक इस नीति को कार्यान्वित करने के लिए भारतेन्दु जी को अपने अंग्रेजी के गुरू राजा शिवप्रसाद का सर्वप्रथम विरोध करना पड़ा। आपने बड़ी तत्परता और लगन के साथ हिन्दी का प्रचार करना आरम्भ किया और इसके लिए सभा-समाजों में भाषण देने तथा विज्ञापन निकालने की नीति अपनाई। हिन्दी भाषा और नागरी की उपयोगिता पर आपने शहरों एवं नगरों में भाषण दिए। जहाँ कहीं उनका भाषण होता, वे नागरी के सम्बन्ध में अपना यह मूलमन्त्र अवश्य सुनाते :—

"निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल।
बिनु निज भाषा ज्ञान के मिटत न हिय को शूल॥"[1]

इनके साथ-साथ इनके परम सुहृद तथा सच्चे अनुयायी श्री प्रतापनारायण मिश्र अदम्य उत्साह के साथ नागरी का प्रचार कर रहे थे। स्थान-स्थान पर आपके मूलमन्त्र की तुमुल ध्वनि सुनाई पड़ती थी। आपने सगर्व देश के उद्धार के लिए 'हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान' का नारा लगाया था। यहाँ मिश्र जी द्वारा प्रयुक्त 'हिन्दू' शब्द को साम्प्रदायिकता का द्योतक न समझा जाय। इस शब्द की सही व्याख्या भारतेन्दु की इस पंक्ति से होती है—"जो हिन्दोस्तान

१—ब्रजरत्नदास, भारतेन्दु ग्रंथावली, दूसरा भाग, हिन्दी की उन्नति पर व्याख्यान, पृ० ७३१।

में रहे चाहे किसी जाति किसी रंग का क्यों न हो वह हिन्दू है ।"[१] मिश्र जी के सम्मुख भारतेन्दु की यह पंक्ति उक्त सूक्ति लिखते समय अवश्य रही होगी । वे भारतेन्दु के सच्चे अर्थ में अनुयायी थे । गुप्त जी ने भी भाषा के संघर्ष में भारतेन्दु तथा मिश्र जी द्वारा प्रवर्तित भाषा के रूप को अधिक परिमार्जित करके तथा हिन्दी विरोधी वर्ग को भाषा के औचित्य एवं अनौचित्य को समझाकर महान् कार्य किया था ।

नागरी के लिए आन्दोलन—

भारतेन्दु जी तथा उनके सहयोगी मण्डल के प्रयत्न स्वरूप देश के लगभग सभी शहरों में नागरी प्रचार का कार्य द्रुत गति के साथ बढ़ने लगा था । मध्यवर्गीय शिक्षित समाज को भी हिन्दी की सर्वप्रियता अब अखरती न थी और कुछ सज्जन तो इस पावन यज्ञ में बहुमूल्य पवित्र आहुतियाँ अर्पित कर रहे थे । इसके फल स्वरूप बड़े-बड़े नगर एवं शहरों में नागरी-प्रचार-सभा तथा भाषा वर्धिनी सभाओं ने जन्म ले लिया था । स्वयं भारतेन्दु जी ने 'कविता वर्धिनी-सभा' (१८७० ई०) 'तदीय-समाज' (१८७३ ई०), राधाचरण गोस्वामी ने 'कविकुल कौमुदी सभा' (१८७५ ई०), सुधाकर द्विवेदी ने 'विज्ञान-प्रचारिणी सभा' तथा 'तुलसी स्मारक सभा', बाबू तोताराम ने 'भाषा संवर्धिनी सभा' तथा कार्तिक प्रसाद खत्री ने 'मित्र समाज' की स्थापना की और पटना में 'कवि-समाज', प्रयाग में 'हिन्दी उद्धारिणी-प्रतिनिधि सभा', (१८८४ ई०) रांची में 'मातृभाषा प्रचारिणी सभा' एवं बनारस में 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' की स्थापना हुई । इन सभाओं के अतिरिक्त हिन्दी के प्रेमियों ने नागरी प्रचार के उद्देश्य से कितने ही पत्रों का प्रकाशन भी किया था । इनमें हरिश्चन्द्र मेगजीन .(१५ अ० १८७३ ई०) भारतबन्धु (१८७४ ई०), नागरी प्रकाश (१८७४ ई०), हिन्दी-प्रदीप (१८७७ ई०), सार सुधानिधि (१८७६ ई०), उचित वक्ता (१८८० ई०), भारतेन्दु (१८८३ ई०), ब्राह्मण (१८८३ ई०) आदि अधिक विख्यात हैं ।

इन पत्रों और संस्थाओं से प्रोत्साहित और समर्थित हिन्दी द्रुतगति से उत्कर्ष की ओर उन्मुख हो रही थी । हिन्दी के इस उत्कर्ष और प्रसार में 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' का कार्य विशेष रूपेण स्तुत्य एवं श्लाघ्य है ।

१—ब्रजरत्नदास, भारतेन्दु ग्रन्थावली, तीसरा भाग, भारतवर्ष की उन्नति कैसे हो सकती है, पृ० ६०२ ।

भारतेन्दु के अवसान के कुछ ही वर्ष पूर्व हिन्दी-प्रसार की दुनिया में एक नए व्यक्तित्व का आगमन हुआ था, जिसने अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति का त्याग नागरी-प्रचार कार्य के लिए करके, स्वयं साधु वेश धारण कर लिया था। यह व्यक्तित्व पं० गौरीदत्त जी का था। आपने मेरठ शहर और जिला, जो प्रधानतः उर्दू और अरबी-फारसी का क्षेत्र था और जहाँ जन-समूह की भाषा खड़ी बोली अरबी-फ़ारसी के प्रभुत्व से दबी पड़ी थी—में हिन्दी भाषा और नागरी लिपि के लिए सम्मानास्पद स्थान बनाया। आप नागरी का झण्डा लिए स्थान-स्थान पर मेले और दङ्गलों में जाते थे, 'नमस्ते' या 'जय राम जी' के स्थान पर 'जय-नागरी' कहा करते थे। शिक्षा संस्थाओं के छात्रों को लेकर आपने नागरी प्रचारार्थ स्थान-स्थान का भ्रमण किया था। इस प्रकार आपके प्रयत्नों से अरबी-फ़ारसी से प्रभावित मेरठ क्षेत्र में नागरी का बोल-बाला हो गया था। उनके इस महान् कार्य का मूल्यांकन गुप्त जी ने इस प्रकार किया था—"मेरठ शहर में नागरी का प्रचार करना काले पत्थर पर पेड़ उगाने से कम नहीं है।"[१]

पं० गौरीदत्त जी ने सरकारी कार्यालयों में नागरी-प्रवेश के उद्देश्य से सं० १६५१ में एक 'विनति-पत्र' भी भेजा था।[२] इस सबका फल यह हुआ कि उन्हें नागरी-प्रचार कार्य में आशातीत सफलता मिली। भारतोद्धारक पत्र ने भी हिन्दी को अदालतों में प्रवेश कराने पर बल देते हुए दो लेख लिखे थे।[3] इन सबके अतिरिक्त नागरी-प्रचार का कार्य करने वाली सर्वश्रेष्ठ संस्था 'नागरी-प्रचारिणी सभा काशी' थी। सभा के प्रयत्नों के ही फलस्वरूप सन् १६०० में संयुक्त प्रदेश की सरकार ने अदालतों एवं सरकारी कार्यालयों में नागरी प्रवेश की आज्ञा प्रसारित कर दी थी। इस सम्बन्ध में सभा के प्रयत्नों की प्रशंसा तथा सरकारी आज्ञा के विषय की चर्चा गुप्त जी ने 'अदालत में नागरी'[४] नामक लेख में की है।

संयुक्त-प्रदेश सरकार की भाषा विषयक इस आज्ञा के प्रसारित होते ही अदूरदर्शी मुसलमान तथा उर्दू के अंधभक्त एवं प्रबल समर्थक हिन्दुओं ने हिंदी

१—भारत मित्र, डाढ़ी पर ताव, १२ नवम्बर सन् १६०० ई०।

२—पं० रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ४८४।

३—भारतोद्धारक, भाग १ संख्या ६, पृ० ८१ तथा वही, भाग १, संख्या ६, पृ० १३३।

४—भारत मित्र, २३ मई सन् १६०० ई०।

का अस्तित्व मिटाने के उद्देश्य से सरकारी आज्ञा का कठोर विरोध किया था। एतदर्थ स्थान-स्थान पर सभाएँ तथा कान्फ्रेंस होने लगीं थीं, प्रार्थना-पत्र भेजे जाते थे और अदालतों में हिन्दी-प्रवेश निषेधार्थ अनेक स्मृति-पत्र अथवा ज्ञापन भी भेजे गये थे। इस प्रकार हिन्दी-विरोध में एक संगठित शक्ति सुनिश्चित नीति और योजना के साथ सम्मुख आ रही थी। देश का प्रत्येक हिन्दी-प्रेमी भाषा-विरोधी इस आन्दोलन का सामना दृढ़ता पूर्वक करने की अभिलाषा रखता था और अनेक व्यक्तियों ने उर्दू-प्रेमी-वर्ग की अनर्गल एवं अनौचित्य पूर्ण बातों का मुँह तोड़ उत्तर भी दिया था। बालमुकुन्द गुप्त का कार्य इस दिशा में विशेष स्तुत्य है।

गुप्त जी द्वारा नागरी-आन्दोलन का समर्थन—

उर्दू प्रेमी वर्ग द्वारा हिन्दी भाषा तथा नागरी लिपि का कट्टर विरोध होता देख कर गुप्त जी की आत्मा विद्रोह कर उठी थी। वे भाषा विषयक विवाद की वास्तविकता को जनता के सम्मुख प्रस्तुत करने के लिए बाध्य हुए थे। सबसे प्रथम गुप्त जी ने 'मुसलमान और हिन्दी' नामक एक लेख द्वारा उन हिन्दुओं के सम्मुख भाषा का प्रश्न रखा, जो हिन्दी से अनभिज्ञ थे और उर्दू को अपनी मातृ-भाषा मान कर हिन्दी का विरोध कर रहे थे। गुप्त जी के कथन में व्यंग्य का भी समावेश है। आपने लिखा था—"पश्चिमोत्तर प्रदेश में कितने ही नगरों के वासी हिन्दू एक दम हिन्दी भाषा से कोरे हैं। हिन्दी न जानने की तुलना से उनमें और मुसलमानों में कोई अन्तर नहीं है। विशेषकर हमारे कायस्थ भाइयों को दण्डवत् है कि वह हिन्दी-भाषा के साथ शत्रुता साधने में मुसलमानों से भी चार कदम आगे हैं। इन हरदम जेब में बीड़ी पान रखने वालों ने हिन्दी को जड़मूल से डुबोया है। भगवान जाने इनका जन्म हिन्दुस्तान में हुआ है या नहीं? यह कहीं ईरान अरब से तो नहीं आये हैं। अंग्रेजी जमाने में कायस्थों ने अंग्रेजी सीखी परन्तु हिन्दी भाषा की ओर अब भी उन्होंने ध्यान नहीं दिया।"[१]

सभी कायस्थ सज्जन हिन्दी के विरोधी न थे; केवल वे ही लोग हिन्दी का विरोध करते थे जिन्हें अपने स्वार्थ का ध्यान सदैव रहता था तथा जिन्होंने नौकरी पाने की अभिलाषा से यवन-राज्य में उर्दू–फ़ारसी पढ़ी थी और अंग्रेजी शासन में जिन्हें अंग्रेजी पढ़ते देर न लगी थी। ऐसे व्यक्तियों के

१—भारतमित्र, २६ फरवरी सन् १९०० ई०।

सम्मुख जन-भाषा अथवा मातृभाषा का कोई महत्व न था। देश और समाज का उत्थान एवं उत्कर्ष स्व के आनन्द और वैभव के सम्मुख ऐसे लोगों के लिए नगण्य था। उनकी मनोवृत्ति में जनवादी विचार धारा का सर्वथा अभाव और परम्परा पालन की प्रवृत्ति अधिक थी। यवन सामन्तशाही के कारण दासता और परामुखपेक्षता की वृत्तियाँ उनमें संस्कार बद्ध हो गई थीं। केवल ऐसी प्रकृति के लोग ही हिन्दी का विरोध कर रहे थे। कायस्थों में हिन्दी भाषा के अनन्य उपासक और श्रद्धालु भक्त लोग भी थे। उनके सम्बन्ध में गुप्त जी ने ही लिखा है—"लखनऊ के मुंशी कालीप्रसाद कई लाख रुपया कायस्थों को देकर हिन्दी के लिए अनुरोध कर गये थे।"[१] इनके अतिरिक्त "कायस्थ कान्फ्रेंस हिन्दी भाषा के लिए बहुत चेष्टा कर रही है।"[२]

अपनी जाति में ऐसे त्यागी और मातृ-भाषा के एक मात्र उपासक देव पुरुषों को पाकर भी यह जाति हिन्दी की उन्नति में विशेष सहायता न कर सकी। अतः गुप्त जी को बड़ी हार्दिक-वेदना और क्षोभ के साथ लिखना पड़ा—"जब तक हिन्दुओं के घर में ही ऐसे मातृ-भाषा विद्वेषी मुसलमान प्रवृत्ति के लोग मौजूद हैं तब तक मुसलमानों को हिन्दी की तरफ झुकने की क्या आशा करें।"[३]

गुप्त जी के क्षोभ का कारण भारत की राष्ट्र-भाषा के स्वरूप को समझना और भाषा के प्रश्न पर भ्रान्ति-मूलक विचार रखना है। आपने ऐसे लोगों के सम्मुख देवनागरी लिपि की विशेषता तथा भाषा विषयक अपना दृष्टिकोण रखा था, किंतु कुछ लोग भाषा सम्बन्धी झगड़े को विषैली साम्प्रदायिकता एवं कट्टर धार्मिकता का रंग देकर सामाजिक शांति और व्यवस्था को भंग करने का प्रयास किया करते थे। ऐसे लोगों को सैयद रमजान अली साहब—एक विद्वान और स्वतन्त्र विचारशील मुसलमान—के लेख से उद्धरण देकर गुप्त जी ने अपना भाषा सम्बन्धी दृष्टिकोण समझाते हुए लिखा था—"विद्या सम्बन्धी बातों को धर्म सम्बन्धी बातों में नहीं घसीटना चाहिए। सय्यद रमजान अली साहब के उपदेश की ओर ध्यान देना चाहिए। हमारा यह कहना नहीं है कि मुसलमान लोग उर्दू को एकदम छोड़कर हिन्दी सीखें। हमारा कथन केवल यही है कि जिस देश में जो आदमी हैं वहाँ की भाषा

१—भारत मित्र, २६ फरवरी सन् १९०० ई०।
२— वही वही ।
३— वही वही ।

सीखना, वहाँ की विद्याओं को जानना उनका पूरा कर्त्तव्य है।"[१] इस प्रकार गुप्त जी सर्वदा अपना दृष्टिकोण स्पष्ट रूप से मुसलमानों को समझाते रहे और भाषा सम्बन्धी वाद-विवाद को मिटाने की चेष्टा करते रहे थे। हिन्दी के विकास और उत्कर्ष की ओर प्रगति करते देखकर कुछ उदार और समझदार मुसलमान भी हिन्दी को प्रेम करने लग गये थे। ऐसे लोगों में पंजाब (रोहतक) के सैयद रमजान अली साहब प्रमुख थे। सैयद साहब ने मुसलमानों की संकीर्णता और भाषा सम्बन्धी कट्टर साम्प्रदायिकता की भर्त्सना करते हुए लाहौर के पत्र 'अखबारे आम' में कई लेख लिखे थे। साम्प्रदायिकता से अनुरंजित और प्रतिक्रियावादी मुसलमानों को सैयद साहब की इस उच्चता में भी गंदगी की बू आने लगी थी। अतः उनका प्रतिवाद किया गया। किंतु सैयद साहब ने भी भाषा-सम्बन्धी अपनी नीति और दृष्टिकोण की भिन्नता उनके सम्मुख रखते हुए लिखा था—"बड़ा हिस्सा हमारी नित्य की बोलचाल का हिन्दी है। हिन्दी हमारी मातृ-भाषा होगई है। क्या यह अफसोस की बात नहीं है कि दूसरे मुल्कवाले जिनका न यहाँ पर घर है, न भूमि और न कुछ सम्बन्ध है संस्कृत के विद्वान हो जाँय और विद्वान भी कैसे कि बड़ी-बड़ी पुस्तकें पढ़ा सकें और उन पुस्तकों की टीका लिख सकें। परन्तु हम मुसलमान लोग भारतवर्ष में बसते हैं। शहरों में हमारा घर है, जंगलों में हमारी भूमि है। हिन्दुओं से हमारा ऐसा सम्बन्ध है कि जैसे सगे भाई से, हम उनकी शादी गमी में शरीक होते हैं यहाँ तक कि वह और हम एक अंग बन गये हैं फिर भी हम उनकी धर्म की पुस्तकों और भाषा से एकदम कोरे हैं—क्या छः करोड़ मुसलमानों में छः आदमी भी हैं जो संस्कृत लिख पढ़ सकें।—क्या हिन्दी भाषा जो संस्कृत का परिशिष्ट है उसे भी हम नहीं जानते ? अफसोस और भी अफसोस।"[२] सैयद साहब ने भाषा के प्रश्न पर राष्ट्रीयता के साथ विचार किया और वस्तुस्थिति का विश्लेषण सच्चे रूप से किया है, फिर भी हिन्दी-विरोधी तत्त्व उनके विचारों का मूल्यांकन न कर सके। अतः उन्होंने अधिक स्पष्टता एवं भारतीयता को उभारते हुए कहा था—"अन्य जाति के लोग यह बात जानते हैं कि हिन्दुस्तान के सब मुसलमान संस्कृत पढ़े हुए हैं क्योंकि चीन के मुसलमान चीनी भाषा और चीनी विद्या भली भाँति जानते हैं। इसी प्रकार जापानी, वर्मी, तिब्बती, पंजाबी मुसलमान उन भाषाओं को

१—भारत मित्र, २६ फरवरी सन् १९०० ई०।

२— वही वही ।

न केवल जानते ही है बरंच उनके विद्वान हैं। परन्तु हिन्दुस्तान के मुसलमान हिन्दी अक्षर तक नहीं पहचानते। क्या हुआ जो लाख में एक दो टूटे-फूटे अक्षर लिख सकते हों।"[१]

सैयद रमजान अली साहब की ही भाँति एक दूसरे विद्वान् मुसलमान, मौलवी सैयद अहमद दहलवी ने 'फरहङ्ग आसफिया जिल्द अव्वल', सन् १९०१ ई० में उर्दू शिक्षित समाज की हिन्दी के मुहावरों और शब्दों के प्रति घृणा-भाव की आलोचना की थी। आपके कथन का तात्पर्य यह था कि 'हमने स्वयं हिन्दी के ऐसे शब्दों का व्यवहार अपनी उर्दू रचनाओं में किया है जिसको उर्दू के ज्ञाता अभी तक कुटिल दृष्टि से देखते हैं यद्यपि वे शब्द सरल, अलंकारिक, भावपूर्ण, सार्थक, प्रभावपूर्ण और सौन्दर्य बोधक हैं। किसी ने उन्हें हिन्दी के मुहावरे जानकर घृणा से त्याज्य समझा, किसी ने स्त्रियों की शब्दावली समझ कर उनके साथ अन्याय किया। उर्दू-शिक्षित समाज की इस अवस्था को बुद्धिहीनता की स्थिति बताते हुए आपने लिखा था—"अगरचे एक ज़माने में हमारा भी यही हाल था कि हिन्दी ज़बान न जानने के सबब हिन्दी-अल्फाजों को खातिर में न लाते और उनकी वाकही दाद न देते थे। लेकिन जबसे हमने लुगात की तहकीक़ में कदम रखकर हिन्दी से वाकफियत पैदा की तो देखा कि एक जहालत का पर्दा था जो हमारी आँखों से उठ गया और जान लिया कि दरहकीकत यह जादू-भरी ज़बान है, इसका जो गीत और बयान है बड़ा ही पुर असर और जीशान है।"[२]

सैयद रमजान अली तथा दहलवी साहब के विचारों से यह स्पष्ट है कि वे लोग उर्दू के उत्कर्ष और विकास के लिए तथा उसे काव्योपयोगी बनाने की दृष्टि से हिन्दी तथा संस्कृत भाषाओं के अध्ययन की आवश्यकता समझते थे। इसके अतिरिक्त सैयद अली विलग्रामी फ़ारसी लिपि तथा पिङ्गल की अपेक्षा नागरी लिपि तथा पिङ्गल की श्रेष्ठता सन् १८९८ में ही 'तमद्दुने अरब' द्वारा प्रतिपादित कर चुके थे।

गुप्त जी ने इन विद्वानों के मतों से लाभ उठाया, उर्दू-प्रेमी वर्ग को संस्कृत तथा हिन्दी-साहित्य का अध्ययन करके उर्दू-भाषा तथा लिपि को श्रेष्ठ और उपयोगी बनाने के परामर्श दिए। हिन्दी की श्रेष्ठता बताते हुए तथा संस्कृत की ओर उर्दू-विद्वानों की प्रवृत्ति देखकर हर्ष प्रकट करते हुए लिखा था—

१—भारत मित्र, २६ फरवरी सन् १९०० ई०।

२—मुल्क की जबान और फाजिल मुसलमान, पृ० १४–१५।

"हमको खुशी है कि मुसलमान विद्वान संस्कृति की ओर इस प्रकार ध्यान देने लगे हैं। कदाचित् उन्होंने हिन्दी की ओर ध्यान न दिया। कदाचित् ध्यान देते तो मालूम होता कि जिन बातों के लिये वे उर्दू को संस्कृत से दूसरा दर्जा देने की इच्छा रखते हैं उनके हिसाब से हिन्दी वह दर्जा पाने योग्य है।"[१] गुप्त जी ने समय-समय पर बड़े कौशल के साथ मुस्लिम विद्वानों के विचारों का प्रचार इस दृष्टि से किया था कि उर्दू के विद्वानों की विचार-धारा का ही प्रभाव उर्दू-समर्थकों पर सम्भवतः पड़ जाय और भाषा सम्बन्धी विवाद उग्र रूप धारण न करे, किन्तु अनेक प्रयत्न करने पर भी संघर्ष की अवस्था उत्पन्न हो ही गई थी।

लाहौर, लखनऊ और अलीगढ़ प्रधानतः वे स्थान थे जहाँ से हिन्दी-विरोध का कार्य संचालित होने लगा था। हिन्दी-उर्दू-विवाद के इस संघर्ष में लाहौर का 'पैसा अखबार' अधिक सक्रिय था। इसके अतिरिक्त इस संघर्ष में वकील, बैरिस्टर, मौलवी, उर्दू-पत्र-सम्पादक तथा उर्दू-फारसी के विद्वान् पण्डित अधिक थे। उनके विरोध की मात्रा पराकाष्ठा पर पहुँच रही थी; दिन प्रतिदिन बड़े अफसरों के यहाँ नागरी-विरोध में प्रार्थना-पत्र देना, शिष्ट मण्डल भेजना तथा प्रदर्शन करना विरोधियों की दिनचर्या बन गई थी। उस समय ऐसा प्रतीत होता था मानो उर्दू के समर्थक हिन्दी को अपदस्थ करके ही विश्राम लेंगे। विरोधी पक्ष के सारे प्रयत्नों का परिणाम भी यह हुआ कि गवर्नर महोदय ने नागरी-प्रवेश की १८ अप्रेल सन् १९०० ई० की अपनी आज्ञा को वापिस लेना अस्वीकार कर दिया था पर उक्त आज्ञा के कार्यान्वित होने की तिथि एक वर्ष आगे बढ़ा देने की स्वीकृति अवश्य देदी[२], किन्तु विरोधी-वर्ग इतने से संतुष्ट नहीं हुआ और हिन्दी का तीव्र विरोध करने की दृढ़-प्रतिज्ञा लेकर मैदान में डटा ही रहा। सर सैयद अहमद खाँ इस आन्दोलन के नेता थे। इस विषय में गोपीनाथ 'अमन' ने लिखा है—"सर सैयद अहमद खाँ ने उर्दू का मोर्चा लगाया और अलीगढ़-मुस्लिम-कालिज उर्दू के आन्दोलन का गढ़ बन गया।"[३] हिन्दी-विरोध का अधिकांश कार्य मुस्लिम एजुकेशनल कान्फ्रेंस तथा उनके समर्थकों द्वारा संचालित किया गया था।

१—भारत मित्र, 'संस्कृत नाटक', सन् १९०७ ई०।

२—भारतमित्र, २३ जुलाई सन् १९०० ई० में प्रकाशित "नागरी और उर्दू" लेख के आधार पर।

३—गोपीनाथ अमन, उर्दू और उसका साहित्य, उर्दू का प्रचार, पृ० १०१

उस समय सरकारी अदालतों एवं कार्यालयों में प्रधानतः उर्दू पढ़े लिखे कर्मचारियों का ही बाहुल्य था और हिन्दी जानने वालों की संख्या नगण्य थी। इस स्थिति का लाभ उठाने की दृष्टि से उर्दू-समर्थक हिन्दी-विरोधी तत्वों ने उर्दू-फारसी के प्रति अपनी श्रद्धा समर्पित की और संगठित रूप से हिन्दी को न्यायालयों एवं प्रशासकीय कार्यालयों में प्रवेश न होने देने के लिए आन्दोलन प्रारम्भ किया। दूसरी ओर नागरी के प्रेमी हिन्दी को पूर्ण रूपेण पुष्ट बनाकर अदालतों और सरकारी कार्यालयों में उचित स्थान दिलाने के लिए शक्ति भर सक्रिय एवं प्रयत्नशील थे। इस प्रकार जिस भाषा-विरोध की नीव पहले पड़ चुकी थी, वह अब दृढ़ होती जाती थी और उस पर हिन्दू-मुस्लिम-विरोध के भवन-निर्माण का अथक श्रम होने लगा था। इसी विरोध के निर्मूलन की दिशा में गुप्त जी द्वारा दिए गए योगदान की संक्षिप्त रूप-रेखा प्रस्तुत करना यहाँ अभिप्रेत है।

गत पृष्ठ पर उल्लेख किया जा चुका है कि संयुक्त प्रान्तीय सरकार की न्यायालयों एवं कार्यालयों में हिन्दी प्रवेश की आज्ञा उर्दू-फ़ारसी प्रेमी वर्ग को मृत्यु का सन्देश सी प्रतीत हुई थी। इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप लाहौर, लखनऊ, अलीगढ़, इलाहाबाद, दिल्ली, पंजाब के गुजरानवाला ग्राम आदि स्थानों से हिन्दी विरोधाग्नि की लपटें उठने लगीं, जिनमें देश की शान्ति और व्यवस्था भी दग्ध होने लग गयी थी। ऐसी गम्भीर अवस्था के उत्पन्न होने पर गुप्त जी ने हिन्दुओं को धैर्य और बुद्धि से कार्य करने का परामर्श दिया था तथा मुसलमानों से भी सोच समझ कर काम करने का अनुरोध किया था। न तो उन्होंने विपक्षियों की भाँति भाषा के प्रश्न पर हिन्दुओं की धार्मिक भावना को उत्तेजित करने का प्रयास किया और न उर्दू वालों से कोई अनुचित बात कही। वे सर्वदा हिन्दुओं से शान्ति पूर्वक नागरी के उत्कर्ष का अनुरोध करते रहे। आपने 'नागरी-अक्षर' नामक लेख में लिखा था—"नागरी प्रचारिणी सभा के उद्देश्य की इस थोड़ी-सी सफलता का भी हमको बड़ा हर्ष है। हम उसके उद्योगी मेम्बरों के दृढ़ता से नागरी आन्दोलन करने की प्रशंसा करते हैं और उनको बधाई देते हैं। परन्तु इस विषय को लेकर इस समय जो आन्दोलन खड़ा हुआ है उनकी हड़बूंग में फँसने से उनको रोकते भी हैं। हम देखते हैं कि एक तरफ तो देवनागरी वाले इससे इतने प्रसन्न हुए हैं कि अपने को आप ही धन्यवाद और बधाई दे रहे हैं। दूसरी ओर मुसलमानों ने यह समझ लिया कि उनके साथ बड़ा बज्र

अन्याय हुआ है। इस समय उनका कर्त्तव्य है कि मुसलमानों को शान्त करें।"[१]

गुप्त जी की उक्त पंक्तियाँ इस बात की द्योतक हैं कि इस भाषा विषयक विवाद में उनकी क्या अवस्था थी ? अपने इसी लेख में गुप्त जी ने एक ओर हिन्दुओं को इस प्रारम्भिक सफलता पर अधिक प्रसन्न न होने, नागरी-प्रसार के शेष कार्य को पूर्ण करने तथा उर्दू-प्रेमी मुसलमान समाज को भाषा की वस्तु स्थिति से अवगत कराके शान्त रखने के लिए परामर्श दिए और दूसरी ओर भाषा-विषयक इस विवाद को विषाक्त साम्प्रदायिकता से अनुरंजित करके वैमनस्य का आधार बनाने वाले उन मुसलमानों को समझाते हुए कई बार लिखा था, जो यथार्थ में हिन्दी तथा उर्दू की समता अथवा विषमता से पूर्ण अनभिज्ञ थे। आपका विचार था—"जिस भाषा को वे उर्दू कह रहे हैं, वह हिन्दी से अलग नहीं है। उर्दू के आदि कवियों ने उस भाषा को हिन्दवी कह कर पुकारा है। हिन्दी को आप लोग जबरदस्ती फ़ारसी अक्षरों में लिखने लगे थे, जिनमें यह ठीक लिखी भी नहीं जा सकती है। इसी से शुद्ध हिन्दी शब्दों को आप लोगों ने अपने अक्षरों के अनुसार तोड़-फोड़ डाला है। 'प्रसाद' को 'परसाद' बनाया, समुद्र को 'समंदर' किया, हरिद्वार का 'हरदबार' बनाया, वृन्दावन को 'बंदराबन' बनाया।"[२]

इन शब्दों का उदाहरण देकर गुप्त जी ने फ़ारसी लिपि की हिन्दी-शब्दों को शुद्ध लिखने की शक्ति-हीनता तथा असमर्थता का स्पष्टीकरण करते हुए यह भी प्रमाणित कर दिया कि उर्दू-समर्थक वर्ग का फ़ारसी लिपि के प्रति मोह अनुपयुक्त, अवैज्ञानिक और अनाधार है। गुप्त जी ने 'नागरी अक्षर' नामक लेख में विरोधी वर्ग को यह समझाने का भगीरथ प्रयास किया था कि देवनागरी अक्षरों के प्रचार से उर्दू भाषा को किसी भी प्रकार की हानि नहीं होगी, प्रत्युत उर्दू की शक्ति का विकास होगा। फ़ारसी लिपि के अभावों के प्रदर्शन के लिए गुप्त जी ने अली विलग्रामी साहब के मत का उल्लेख करके भी उर्दू-समर्थकों को वस्तुस्थिति से अवगत कराना चाहा था, किन्तु परिणाम सन्तोषजनक न हो सका। हिन्दी समर्थक-वर्ग-जिसके एक प्रतिनिधि-गुप्त जी थे, के तर्क संगत ठोस प्रमाण, भाषा सम्बन्धी समस्या के यथार्थ विश्लेषण तथा एक मत हो कर जनसाधारण की भाषा के उत्कर्ष के प्रयास

१—भारतमित्र, २१ मई सन् १९०० ई०।

२— वही वही ।

की प्रतिक्रिया अपर वर्ग में साम्प्रदायिक अतिरंजना और विरोध के लिए विरोध करने के रूप में हुई। हिन्दी ने जितने विशुद्ध हृदय से भाषा की समस्या का समाधान करना चाहा था, उतनी साम्प्रदायिक कट्टरता के साथ अपर वर्ग ने विरोध किया।

उर्दू-साहित्यकारों द्वारा हिन्दी का विरोध—

लखनऊ में उर्दू की रक्षा के लिए स्थापित 'उर्दू सैन्ट्रल डिफेन्स कमेटी' की ओर से नागरी के विरोध में एक अर्जी मई, सन् १९०० ई० को दी गई। इस अर्जी में हिन्दी के विरोध में पाँच बातें लिखीं गई थीं।[१] उनमें से दूसरी बात नागरी अक्षरों की अनुपयुक्तता तथा शक्तिहीनता सिद्ध करने के लिए कही गई थी। उसका आशय था कि देवनागरी लिपि अनुपयोगी हैं। वे शब्द इस प्रकार हैं—

"देवनागरी हरूफ को आजतक जमहूर अहले हुनूद ने अपने तिजारती और दीगर कारोबार में कभी स्तैमाल नहीं किया। अगर ये हरूफ जरूरियाते किताबत के कुल कामों को पूरा करने के काबिल होते तो महाजन और बनिये बौहरे और मारवाड़ी और दीगर तिजारती पेशा कौम अपने लिये मुख-तलिफ किस्म के हरूफ ईजाद करने पर मजबूर न होती। इन हरूफ के नाम और बाजों की शक्लें देवनागरी से मिलती जुलती हैं, लेकिन देवनागरी के तर्ज तहरीर से उनको कुछ भी मुनासिबत नहीं है। अगर दर असल देवनागरी जरूरियात को पूरा करने की काबलियत रखती तो खुद अहले हुनूद को दूसरी किस्म के हरूफ ईजाद करने की जरूरत न पड़ती। जिन हरूफ को खुद कौमे अहले हुनूद अपने रोजमर्रे के कारोबार के ना काबिल साबित कर चुकी हैं उनको सरकारी दफ्तरों के लिये तजवीज करना हमियान देवनागरी की बड़ी भारी गलती है।"[२]

उर्दू वालों के इस आरोप का उत्तर स्व० गुप्त जी ने जिस कौशल और तत्परता के साथ दिया था उससे उनका नागरी-प्रेम, हिन्दी-भाषा के प्रति अनन्य श्रद्धा और मात्र-भाषा का अभूत पूर्व समर्थन स्पष्ट हो जाता है। वे अदूरदर्शी महाजनों तथा व्यापारियों को कोसने से भी नहीं चूके हैं। मातृ-भाषा तथा नागरी अक्षरों की दुर्गति कर देने वाले सभी तत्वों को खोटी-खरी

१—भारत मित्र, २१ मई सन् १९०० ई०, (मुसलमानी नाराजी)

२— वही, 'मुसलमानी नाराजी' नामक लेख के आधार पर।

सुनाने में गुप्त जी को कभी संकोच नहीं हुआ। वे भली प्रकार समझते थे और दृढ़ता के साथ मानते थे कि स्व-भाषा और स्व-साहित्य का उन्नयन समाजोत्कर्ष का प्रधान और प्रथम साधन है। अतः अपने हिन्दी-गुरु पं० प्रतापनारायण मिश्र के स्वर में आपने भी 'हिन्दी-हिन्दू-हिन्दुस्तान' का राग अलापना आरम्भ कर दिया। 'हिन्दी-हिन्दू और हिन्दुस्तान' के विरोधी को महान् शत्रु और देश-विरोधी मानकर आपने आजीवन उसका विरोध किया और हिन्दी-विरोधी शक्तियों से टक्कर लेते हुए अपने सबल तर्कों से उन्हें निरुत्तर भी किया था। हिन्दी-विरोधी तत्त्वों के उक्त प्रार्थना-पत्र के आरोपों का उत्तर आपने इस प्रकार दिया था—"निःसन्देह हिन्दोस्तान के महाजन और वणिक आदि अपने बही खाते नागरी में नहीं रखते हैं परन्तु इसका कारण यह नहीं कि नागरी अक्षर बही-खाते या कारोबार के काम के नहीं हैं। वरंच यथार्थ बात यह है—ये मारवाड़ी बनिये आदि रुपये में पौने सोलह आना मूर्ख होते चले आये हैं। उन्होंने उनके बाप दादों ने, न कभी सात पीढ़ी से फ़ारसी पढ़ी न नागरी या और किसी भाषा का अक्षर ही सीखे। नागरी से ही बिगड़े एक प्रकार के टूटे-टाटे अक्षर यह लोग सीखते चले जाते हैं और उन्हीं से बही-खाते का काम निकाल लेते हैं। वह अक्षर इतने खराब होते हैं कि सिवाय बही-खाते के चिट्ठी पत्री आदि उसमें कुछ भी नहीं लिखी जा सकती और वह अक्षर मूर्खों के चलाये हुए हैं।"[१] मुड़िया अक्षरों के विषय में गुप्त जी की यही मान्यता थी; उनका मत है कि इन्हीं अक्षरों को मारवाड़ी एक ढङ्ग से, पूर्व वाले दूसरे प्रकार से, पंजाबी और दिल्ली वाले अन्य प्रकार से लिखते हैं और किसी-किसी स्थान पर तो इनकी आकृति ने पूर्णतः नवीन रूप धारण कर लिया है, जिससे नाम में भी परिवर्तन आ गया है। गुप्त जी के मतानुसार कैथी, गुजराती, गुरमुखी, बंगाली आदि अक्षर इसी प्रकार नागरी से बिगड़ कर नया रूप धारण कर बैठे हैं। इस प्रकार गुप्त जी ने यह स्पष्ट कर दिया था कि नागरी अक्षर निकृष्ट और अनुपयोगी हैं, इसलिए मुड़िया अक्षरों का प्रयोग महाजन लोग नहीं करते प्रत्युत वे परम्परापालन और मूर्खतावश ऐसा करते हैं। उन्होंने नागरी अक्षरों की श्रेष्ठता और व्यापकता प्रमाणित करने के उद्देश्य से भारत की अन्य भाषाओं के अक्षरों से उसके सम्बन्ध की स्थापना की थी। आपने देवनागरी लिपि की व्यापकता और श्रेष्ठता प्रमाणित करने के उद्देश्य से लिखा था—"······कलकत्ते में

१—भारतमित्र, २१ मई सन् १९०० ई०, मुसलमानी नाराजी।

बंगाली अक्षरों का जोर है। परन्तु हम देखते हैं कि जिन चिट्ठियों पर यहाँ नागरी या अँग्रेजी में सरनामा होता है उनका पता अच्छी तरह लग जाता है और बंगला विशेष कर फारसी अक्षरों की चिट्ठियाँ ठोकरें खाया करती हैं।"[१]

नागरी अक्षर अनुपयुक्त और अयोग्य हैं, अतः बनिए और महाजनों ने मुड़िया अक्षरों का आविष्कार किया है 'हिन्दी विरोधी वर्ग के इस आरोप का इतना उत्तर देकर भी गुप्त जी की आत्मा संतुष्ट न हुई, उन्होंने फिर लिखा था—"बनियों महाजनों की बात कह कर नागरी अक्षरों को अयोग्य कहना ठीक नहीं है। बही-खातों की बात को लेकर बहस करना है तो दिल्ली के प्रायः सब दुकानदार मुसलमान महाजनी अक्षरों में बहीखाता रखते हैं, कलकत्ते के कोलूटोला में दिल्ली के मुसलमानों का बड़ा जोर है, वहाँ भी उनका बही-खाता मुड़िया महाजनी अक्षरों में चलता है, फिर यह भी नहीं कि मुसलमान साधारण महाजनों की तरह अनपढ़ होते हैं, बरंच यह भलो भाँति फ़ारसी अक्षर और उर्दू-भाषा सीखे होते हैं। लखनऊ के मुसलमानों को उनसे पूछना चाहिए कि वह फारसी अक्षरों में बही खाता क्यों नहीं लिखते हैं। नागरी अक्षर कुछ मुश्किल नहीं हैं। फारसी अक्षरों की भाँति नागरी अक्षरों के सीखने में चार पाँच साल नहीं लगते हैं।"[२]

तर्क का प्रत्युत्तर एक सबल तर्क से देते हुए गुप्त जी ने बताया था कि महाजन और व्यापारी लोग मुड़िया अक्षर इसलिए प्रयोग नहीं करते कि नागरी अक्षर उनके काम के नहीं हैं, यदि ऐसा होता तो मुसलमान व्यापारी फ़ारसी अक्षर छोड़कर मुड़िया अक्षरों का प्रयोग क्यों करते ? उनका मन्तव्य यह था, जब फ़ारसी अक्षर सर्वश्रेष्ठ और उपयुक्त हैं जैसा कि उर्दू-प्रेमी कहते हैं तो फिर मुसलमान व्यापारियों द्वारा मुड़िया अक्षरों का प्रयोग समीचीन प्रतीत नहीं होता। आपकी धारणा यह थी कि व्यापारी और महाजन सभी जातियों में बुद्धिशील और सच्चे गुण पारखी नहीं होते, अतः उनको आदर्श मानकर भाषा या लिपि को बदलना स्वस्थ मस्तिष्क का परिचायक नहीं कहा जा सकता।

हिन्दी-विरोध में प्रेषित प्रार्थना-पत्र में दूसरा आरोप यह किया गया था

१—भारतमित्र, २१ मई सन् १९०० ई०, मुसलमानी नाराजी।
२—गुप्त स्मारक, आठ वर्ष की साहित्य साधना, पृ० ९४।

कि नागरी हिन्दुओं की धार्मिक-भाषा है, अतः मुसलमान धर्म-भाषा मानकर नागरी नहीं पढ़ते और न पंडित लोग अपनी पवित्र भाषा को उन्हें सिखाते हैं। सरकारी मदरसों में मुसलमान कुछ नागरी सीख लेते हैं, पर ब्राह्मण लोग स्वयं मुसलमानों को देवनागरी सिखाना पसंद नहीं करते। इससे नागरी जानने वाले मुसलमान बहुत कम हैं, यदि मुसलमानों के दुर्भाग्य से सरकार दफ्तरों में नागरी का प्रचलन कर देगी तो मुसलमान बरबाद हो जायँगे। इस तर्क का उत्तर स्वर्गीय गुप्त जी ने एक प्रसिद्ध मुसलमान बैरिस्टर के परामर्श से इस प्रकार दिया था—"देवनागरी किसी भाषा का नाम नहीं है, वह तो केवल अक्षरों का नाम है। कोई पंडित ऐसा नहीं जो मुसलमानों को देवनागरी अक्षर सिखाने से इन्कार करें। मध्यप्रदेश के मुसलमान देवनागरी में अच्छी तरह लिख पढ़ सकते हैं। पश्चिमोत्तर प्रदेश में सैकड़ों नहीं—हजारों मुसलमान, शुद्ध देवनागरी लिख-पढ़ सकते हैं: केवल पढ़ते ही नहीं—स्कूल मास्टर बनकर कितने ही हिन्दुओं को पढ़ाते हैं। कितने ही मुसलमान देवनागरी लिखना-पढ़ना ही नहीं जानते—शुद्ध हिन्दी भाषा में उत्तम से उत्तम कविता भी करते हैं। बंगाल के मुसलमान बंगाक्षर यहाँ तक सीखते हैं कि फारसी अक्षरों का वह नाम तक नहीं लेते। बम्बई के मुसलमान मरहठी भाषा और मरहठी अक्षर यहाँ तक सीखते हैं कि वहाँ के सरकारी दफ्तरों में अनुवाद का काम करते हैं। बम्बई के अखबारों पर जब सरकार ने सिडिशन का मुकदमा चलाया था तो मुसलमान अनुवादकों से ही मराठी का अनुवाद अँग्रेजी में कराया था। बंगाल के मुसलमान भी बंगाली अक्षर सीख सकते हैं और बम्बई के मराठी तो क्या लखनऊ के मुसलमानों को कोई देवनागरी अक्षर सिखाने वाला नहीं मिलेगा?"[१] गुप्त जी ने भारत के बंगाल, बम्बई, मध्य प्रदेश तथा पश्चिमोत्तर प्रदेश के मुसलमानों द्वारा हिन्दी भाषा और हिन्दी नागरी अक्षरों के प्रयोग तथा पठन-पाठन का प्रमाण देकर उनके मिथ्या आरोप को निस्तेज कर दिया था और कतिपय स्वार्थी व्यक्तियों द्वारा भाषा के प्रश्न पर जाति-विरोध एवं जन साधारण को पथ-भ्रष्ट करने की योजना का खोखलापन स्पष्ट कर दिया था।

अदालतों में हिन्दी-प्रवेश का विरोध और गुप्त जी—

कतिपय उर्दू-फ़ारसी-प्रेमी हिन्दुओं का संसर्ग और सहयोग पाकर यह विरोधाग्नि अधिक तीव्रता के साथ भड़क उठी थी। इस विरोध का रूप

१—गुप्त स्मारक ग्रन्थ, आठ वर्ष की साहित्य साधना, पृ० ९५।

अदालतों एवं सरकारी कार्यालयों में हिन्दी भाषा तथा नागरी लिपि में आने वाले प्रार्थना-पत्रों के सामूहिक एवं संगठित विरोध-रूप में प्रकट हुआ था। उर्दू समर्थक नागरी लिपि में लिखे गये प्रार्थना-पत्र तथा उसके प्रेषक दोनों का दृढ़ता के साथ विरोध करने पर तुले हुए थे। विरोध की इस योजना का श्री गणेश आगरा से हुआ था। ता० १३ जून सन् १९०० ई० के दिन कल्लू काश्तकार, ग्राम विधौली, जिला आगरा ने एक प्रार्थना पत्र नागरी अक्षरों में लिखाकर हाकिम परगना तहसील किरावली तथा खेरागढ़, जिला आगरा के यहाँ दिया था। कल्लू इतना गरीब था कि उर्दू में अर्जी लिखाने के लिये उसके पास पैसे न थे अतः उसकी करुणाजनक अवस्था पर दया करके मुन्शी नारायणसिंह जमींदार कागारौल तहसील खेरागढ़, जिला आगरा ने उसकी अर्जी नागरी अक्षरों में लिखदी थी। नागरी में लिखी अर्ज़ी को देखकर हाकिम परगना मुन्शी अहमदअली खाँ बहादुर बहुत बिगड़े और अर्जी लिखने वाले को बुलाकर पूछा—क्या तुम अर्ज़ी नवीस हो ? उत्तर नकारात्मक पाकर वे अधिक कुपित हुए और जमींदार को बुरी तरह झिड़का तथा अपमानित भी किया था।[1] अपमान का कारण अर्जीनवीस न होना नहीं था, प्रत्युत फ़ारसी अक्षरों की अपेक्षा नागरी अक्षरों में प्रार्थना-पत्र लिखना था। यदि उन्होंने वही प्रार्थना-पत्र उर्दू में लिखा होता तो कोई बात न होती। वही हाकिम परगना साहब जब दौरे पर खेरागढ़ गये थे तो छात्रों द्वारा उर्दू में लिखे प्रार्थना पत्र उनके पास आये थे जिनको उन्होंने सहर्ष स्वीकार किया। वे सब प्रार्थना-पत्र अर्जीनवीसों द्वारा लिखित न थे, यथार्थ में हाकिम परगना साहब कानून के इतने कट्टर समर्थक न थे; उनका विरोध तो हिन्दी से था। वे नहीं चाहते थे कि हिन्दी में लिखा कोई प्रार्थना-पत्र उनके सम्मुख आए।

आगरा में घटित इस घटना की रिपोर्ट २५ जून, सन् १९०० ई० के भारत-मित्र में छपी थी। गुप्त जी ने बड़े कठोर शब्दों में डिप्टी साहब के इस कार्य का प्रतिवाद किया था और नागरी प्रेमी-जनों से हतोत्साह न होने के लिये आग्रह किया था। डिप्टी साहब को उनकी वास्तविकता, शक्ति तथा अधिकारों की ओर ध्यान दिलाते हुए गुप्त जी ने लिखा था—"डिप्टी साहब भली भाँति जानते होंगे कि वह आज्ञा श्री एण्टनी मैकडानल महोदय की है। वह कितने ही डिप्टी बना सकते हैं और बिगाड़ सकते हैं। जो आज्ञा उन्होंने

१—भारतमित्र, २५ जून सन १९०० ई०, नागरी की अर्जी।

जारी की है उसे कोई रोक नहीं सकता। उसका दस दिन आगे प्रचार होकर ही रहेगा।"[१]

'भारतमित्र' में उक्त घटना के प्रकाशन और गुप्त जी की निर्भीक टिप्पणी से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी के प्रश्न को लेकर गुप्त जी कितनी सजगता और दृढ़ता के साथ कार्य कर रहे थे। उन्होंने अपूर्व दृढ़ता और असीम आत्मविश्वास के साथ लिखा था कि ऐसे लोगों के विरोध से नागरी-प्रचार का प्रवाह अवरुद्ध नहीं हो सकता, "दस दिन आगे प्रचार होकर ही रहेगा।"[२]

आगरा की उक्त घटना से ही मिलती-जुलती एक घटना खुर्जा (बुलन्दशहर) से सम्बन्धित 'नागरी प्रचार में अदालती अड़चन' शीर्षक से नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका भाग २३, संख्या ७ में प्रकाशित हुई थी। इस घटना में भी खुर्जा के असिस्टेंट कलक्टर आली जनाब मु० बजीर मुहम्मद खां ने बाबू मोहनलाल जी बी० ए० एल-एल बी० वकील की एक अर्जी को नागरी में तामील करा देने पर खारिज कर दिया था और उस पर यह आज्ञा करा दी थी—"डिगरीदार तारीख पर बमुराद अदखाल मुसन्ना दर्खास्त उर्दू के हाजिर आवे।"[३]

उपर्युक्त दो घटनाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि उर्दू-फारसी-शिक्षित वर्ग अदालतों और सरकारी कार्यालयों में किस तीव्रता और सामूहिक योजना के साथ हिन्दी का विरोध कर रहा था और गुप्त जी ने ऐसी अवस्था में हिन्दी-प्रचार का मार्ग प्रस्तुत करने के लिए कौन सी भूमिका तैयार की थी ?

उर्दू-समर्थन और नागरी के विरोध में देश के लगभग सभी शहरों से हिन्दी-विरोधी स्वर सुनाई पड़ते थे, गुप्त जी बड़े धैर्य और कौशल के साथ विरोधियों के अनर्गल तर्क और मिथ्या-आरोपों का उत्तर दे रहे थे।

हिन्दी-विरोध में सामूहिक रूप से जिस संस्था ने कार्य किया था, वह थी लखनऊ की 'उर्दू सेन्ट्रल डिफेन्स कमेटी।' उक्त कमेटी ने निर्णय किया था कि जुलाई सन् १९०० ई० में एक बृहत आयोजन करके देश के विविध प्रान्तीय गण्यमान प्रतिनिधियों के सम्मुख इस विषय पर विचार किया जाए कि हिन्दी के प्रचार और प्रसार के फल स्वरूप उर्दू को हुई हानि से किस

१—भारत मित्र, २५ जून १९०० ई०, नागरी की अर्जी।

२— वही वही

३—नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग २३, संख्या ७, पृ० १४५।

प्रकार बचाया जाए और उसके उत्कर्ष तथा उन्नयन के लिए कौन-कौन से उपाय किए जाय। इसी निर्णय के आधार पर बड़े कौशल और चातुर्य के साथ लाहौर में एक आयोजन की योजना की गई थी। यहाँ २८ मई, सन् १९०० ई० को भारत इन्श्योरेंस कम्पनी के मकान में एक सभा हुई थी। सभा का बाह्य उद्देश्य था इन्डियन नेशनल कांग्रेस का समर्थन अत: बहुत से प्रतिष्ठित हिन्दू वकील एवं बैरिस्टर वहाँ उपस्थित हुए थे। उन लोगों ने बड़े ही उत्साहबर्द्धक शब्दों में कांग्रेस के समर्थन में वक्तृतायें दीं थीं। पर जब चिश्ती साहब ने अपना भाषण प्रारम्भ किया तो कांग्रेस की बात छोड़कर हिन्दी-उर्दू का राग अलापने लगे। उनके शब्दों का आशय इस प्रकार था—"पश्चिमोत्तर प्रदेश की सरकार ने आजकल उर्दू हिन्दी के विषय में जो आज्ञा जारी की है वह मुसलमानों के लिये घोर विपद है। मैं अपने शिक्षित हिन्दू भाइयों के सामने इस भारी सभा में पुकार कर रहा हूँ कि पश्चिमोत्तर प्रदेश की आज्ञा न हिन्दुस्तान की लिन्ग्वा फिका (उर्दू) की जड़ खोदने वाली है वरंच हिन्दुस्तानियों के लिए विशेषकर मुसलमानों के लिए बहुत ही बुरा प्रभाव उत्पन्न करने वाली है। चाहे देश नीति से देखा जाये चाहे प्रजा और सरकार के मेल-जोल को सोचा जाए एक तरह इस आज्ञा का जारी होना हानिकारिक है।"[1]

चिश्ती साहब के शब्दों से यह प्रकट हो जाता है कि नागरी-अक्षरों के ज्ञानाभाव की स्थिति में उर्दू-प्रेमी मुसलमान किस प्रकार फ़ारसी अक्षरों के मोह में पड़े हुए थे और किस सीमा तक हिन्दी-प्रसार का विरोध कर रहे थे। उनके हिन्दी-विरोध का अपर पक्ष उर्दू को राष्ट्र-भाषा के गौरवपूर्ण पद के लिए उपयुक्त घोषित करना था, जो इस स्थान के लिए सर्वथैव अयोग्य थी। सन् १८९९ ई० की जन-गणना के आधार पर उर्दू लिखने पढ़ने वालों की संख्या ५४,२४४ थी और नागरी के लिखने-पढ़ने वाले ८०,११८ थे। फिर किस तर्क के आधार पर चिश्ती साहब का उर्दू को राष्ट्रभाषा के लिए उचित बताना था? यही नहीं, बहुसंख्यकों द्वारा बोली और समझी जाने वाली भाषा, हिन्दी को गवाँरू और अयोग्य कहना और भी अधिक असंगत एवं तर्कविहीन था, किन्तु न्याय एवं तर्क-बुद्धि का विस्मरण करके उर्दू-प्रेमी वर्ग हिन्दी का विरोध कर रहा था। विरोध और संघर्ष की इस विषम अवस्था में भी हिन्दी देश के एक विशाल भू भाग की भाषा बन चुकी थी। वह देश

१—भारतमित्र, ११–६–१९०० ई०।

के कोने-कोने में बोली और समझी जाने लगी थी। अस्तु: उसके समर्थन और प्रवर्तन की अदम्य भावना लेकर हिंदी-प्रेमियों का एक समूह हिन्दी का यथार्थ मूल्यांकन और भाषा विषयक समस्या का समुचित समाधान प्रस्तुत करने के लिए आगे आया था। उस वर्ग में गुप्त जी का एक विशेष स्थान है। उन्होंने चिश्ती साहब को सतर्क एवं सप्रमाण उत्तर दिया था।

अपने उत्तर में गुप्त जी ने चिश्ती साहब के राष्ट्र भाषा सम्बन्धी भ्रांतिपूर्ण विचारों का खण्डन करते हुए राष्ट्रभाषा के यथार्थ रूप का स्पष्टीकरण किया था। आपने लिखा था—"देखते हैं नागरी अक्षर न जानने के कारण बुद्धिमान चिश्ती साहब की बुद्धि भी सड़क की गेंद हो गई है। योरुप में १५, १६ देश के निवासी कुछ न कुछ फ्रेंच भाषा जानते हैं। इससे जो फ्रेंच भाषा जानता है उसकी बात योरोप के प्रत्येक देश में समझी जा सकती है। भारतवर्ष में भी हिन्दी भाषा ऐसी ही है जिसके समझने वाले इस देश के हरेक प्रान्त में मिलते हैं। जिस तरह योरोप में फ्रान्सीसी भाषा सब जगह समझी जाने के कारण लिंगा फ्रिंगा कहलाती है उसी तरह भारत की लिंगा फ्रिंगा हिन्दी है।"[1]

इसके अतिरिक्त गुप्त जी ने चिश्ती साहब को हिन्दी और उर्दू का वास्तविक रूप समझाते हुए विरोध के असली प्रश्न पर प्रकाश डाला था। आपने स्पष्ट बताया था कि विरोध का कारण हिन्दी और उर्दू भाषा नहीं, बल्कि लिपि है। नागरी के प्रवेश से भाषा तो वही की वही रहेगी पर लिपि बदल जायगी। अपने अग्रलेख में गुप्त जी ने लिखा था—"चिश्ती साहब दिखाते हैं कि हिन्दुस्तान की लिंगा फ्रिंगा उर्दू है। बहुत अच्छा उर्दू ही सही क्योंकि उर्दू और हिन्दी दो नहीं हैं। जिस भाषा का नाम हिन्दी या हिन्दुस्तानी है हरेक कोने में में थोड़ी बहुत समझी जाती है। जिसमें चिश्ती साहब अरबी और फ़ारसी के बहुत से शब्द घुसेड़ते हैं वह सर्वत्र समझे जाने योग्य नहीं हैं। पर इसमें चिश्ती साहब की भूल है क्योंकि मामला अक्षरों के उलट-पलट का है न कि भाषा के उलट पलट का।"[2]

इससे पूर्व गुप्त जी ने चिश्ती साहब के इस भ्रम का निवारण किया था कि अरबी-फ़ारसी शब्दों का बाहुल्य लिए उर्दू इस देश की राष्ट्र-भाषा है। इसके अतिरिक्त आपने यह बताया था कि पश्चिमोत्तर सरकार की आज्ञा का

१—भारत मित्र, ११ जून सन् १९०० ई०, 'उल्टे अक्षर'।

२— वही वही।

अर्थ फ़ारसी को अपदस्थ करना नहीं, उसका स्थान वही रहेगा जो अब तक रहता आया है, केवल असंख्य अशिक्षित जनता की सुविधा के लिए उसे अनावश्यक व्यय आदि से बचाने के लिये, देवनागरी में लिखीं प्रार्थनायें लेने की आज्ञा का प्रसार किया है। आपने स्पष्ट घोषित किया था कि सरकार की उक्त आज्ञा का तात्पर्य यही है कि अदालतों में फारसी अक्षर भी रहें और नागरी अक्षर भी। ऐसी आज्ञा नहीं कि उर्दू भाषा में से फारसी अक्षर निकाल कर उनकी जगह नागरी अक्षरों को दे दी जाय।

अँग्रेजों द्वारा हिन्दी-उर्दू-विवाद में योग—

ऐसी अवस्था में नागरी के प्रसार से फ़ारसी अक्षरों के समूल नष्ट होने की बात भ्रामक थी और हिन्दी को उर्दू की सौत मानने की बात भी बुद्धि की परिचायक नहीं है। पर उर्दू के अन्धभक्त पुजारियों को इन सब बातों पर विचार करने का अवकाश कहाँ था ? यथार्थ में वे कुछ सोचना ही नहीं चाहते थे और न उन्हें सोचने का अवकाश ही दिया गया था। उन्हें हिन्दी नाम से ही घृणा करना सिखाया गया था, अंग्रेज शासकों ने हिन्दू-मुस्लिम सामन्तों तथा राजा एवं नवाबों द्वारा भाषा के प्रश्न पर भी साधारण जन-समाज में वैमनस्य फैलाने की योजना तैयार की थी। इस योजना का रूप हमें विविध अंग्रेज विद्वानों द्वारा हिन्दी-उर्दू के विरोध और समर्थन में व्यक्त किए गए विचारों में दीख पड़ता है। इन विद्वानों में एक वर्ग संस्कृत से प्रभावित परिष्कृत और परिमार्जित हिन्दी का समर्थन कर रहा था और दूसरा अरबी-फ़ारसी बेष्टित उर्दू का। इन्हीं दोनों वर्गों का समर्थन तथा विरोध हिन्दी और उर्दू के समर्थकों को विरोध और वैमनस्य के पथ पर अग्रसर कर रहा था। भाषा-विषयक विवाद के विषय में पं० रघुवरप्रसाद द्विवेदी के ये विचार मूल्यवान् हैं। आपने लिखा था—"यह विषय हाल ही में विवाद ग्रस्त बना हो सो नहीं। सन् १८६६–६७ में भी ऐसा ही विवाद उठा था और उसके उठाने वाले बीम्स साहिब और हिन्दी रामायण के अनुवाद-कर्त्ता तथा मथुरा के कलेक्टर ग्रोज साहिब थे।"[1] यह विवाद नए शब्दों के अपनाए जाने पर था, बीम्स साहब अरबी-फ़ारसी के समर्थक थे अतः अरबी, फ़ारसी से शब्द लेने का प्रचार कर रहे थे और ग्रोज साहब संस्कृत से लेना उपयुक्त समझते थे। मि० गीब्स भी ग्रोज साहब का समर्थन करते थे। इनको काशी नागरी प्रचारिणी सभा का भी समर्थन प्राप्त था। विनय-पत्रिका की टीका भी आपकी

१—षष्ठ हिन्दी साहित्य सम्मेलन। कार्य-विवरण-दूसरा भाग, पृ० ७४।

प्रेरणा से हुई थी। इसी प्रकार कलेक्टर रूडलफ हार्नली सी० आई० ई०, मि० ग्राउस, मि० फ्रेडरिक पिन्काट, प्रोफेसर मोनियर बिलियम्स, प्रोफेसर डासन और मि० ब्लाकमान आदि नागरी लिपि एवं हिन्दी-भाषा का समर्थन कर रहे थे। प्रो० मोनियर ने ता० ३० दि० सन् १८५८ ई० के 'टाइम्स' नामक पत्र में फ़ारसी लिपि के दोष स्पष्टतः दिखाए हैं। आपने कहा था—"इन अक्षरों को सुगमता से पढ़ने के लिये वर्षों का अभ्यास आवश्यक है।"[१] यही नहीं आपने लिखा था—"चाहे ये अक्षर देखने में कितने ही सुन्दर क्यों न हों पर न-कभी पढ़े जाने योग्य हैं, न छपने योग्य हैं और पूरब में विद्या और सभ्यता की उन्नति में सहायक होने के तो सर्वथा अयोग्य हैं।"[२] दूसरी ओर मि० बीम्स और गार्सा दतासी थे। गार्सा दतासी तथा उनके समर्थकों ने सर सैयद अहमद खाँ को उभारा और तासी महोदय ने 'हिन्दी-उर्दू का झगड़ा' उठने पर मजहबी रिश्ते के खयाल से उर्दू का पक्ष ग्रहण किया था। इस प्रकार देखते हैं कि हिन्दी-उर्दू के प्रश्न पर अंग्रेजों में दो मत थे। इस मत-विपर्य्यय का प्रभाव हिन्दी-उर्दू विरोध और अन्ततः धार्मिक पक्षपात तथा कट्टरता के रूप में हुआ। हिन्दी तथा उर्दू के समर्थक अपने-अपने पक्ष में अंग्रेज विद्वानों का समर्थन पाकर भाषा-विरोध के मार्ग पर दृढ़ता के साथ बढ़ रहे थे। अतः इस भेद नीति द्वारा भाषा के प्रश्न पर भी भारतीयों को लड़ाये रखकर राजनीतिक समस्याओं की ओर से उन्हें उदासीन रखना ही उनका उद्देश्य था। भारतीय सामन्तों ने उर्दू-भाषा और फारसी-लिपि के समान हिन्दी को गौरव मिलना अपनी जातीय सभ्यता और संस्कृति का पराभव होना माना था। विरोधी वर्ग की मान्यता थी कि उर्दू-फ़ारसी राजा और नवाबों के दरबारों की भाषा रही है, उसे दीर्घ काल से राजकीय गौरव प्राप्त है अतः उसका सांस्कृतिक स्तर अपेक्षाकृत अधिक उन्नत है। दूसरी ओर हिन्दी देहात और गाँवों की बोली रही है अतः गँवारू, असभ्य और निम्न स्तर की है। विरोधी वर्ग को यह विचार सह्य न था कि जिस भाषा पर उर्दू-फारसी ने सदियों तक शासन किया है वह उसके समतुल्य गौरवपूर्ण पद प्राप्त करे। खेद है कि उर्दू-फारसी के पक्षपाती युग की प्रधान विचारधारा से अवगत न थे। भारतेन्दु जी साहित्य और समाज में नवजागरण ला चुके थे और उन्होंने हिन्दी को भी नई चाल में ढाला था। उन दिनों जन-समाज की सभ्यता और

१—काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिका, सन् १८९८ ई०, पृ० १३६।
२— वही वही।

संस्कृति के विकास, उसकी सामाजिक स्थिति का उत्कर्ष, तथा उसके आर्थिक उन्नयन का प्रश्न नेताओं के सम्मुख था ; और ये सभी प्रश्न भाषा के उत्कर्ष के साथ सम्बन्धित थे। ऐसी अवस्था में जनता की भाषा का उत्कर्ष होना स्वाभाविक और अवश्यम्भावी था। गुप्त जी ने 'नागरी की अर्जी' नामक लेख में ये ही बातें विरोधी-वर्ग को बतलाई थीं। उनका स्पष्ट आशय यह था कि आज के युग में कुछ अभिजात्य वर्ग के लोगों की भाषा जन-साधारण की भाषा को दबा नहीं सकती। जनता की भाषा का विकास निश्चित और अनिवार्य है। किन्तु यह साधारण सी बात विरोधी-वर्ग को सह्य न हो सकी और उर्दू के पक्ष-पाती अब नए तर्क लेकर विरोध करने लगे थे ; उन्होंने नागरी अक्षरों को फ़ारसी शब्दों के लिखने के अनुपयुक्त तथा अयोग्य बताया था। उनकी धारणा थी कि फ़ारसी अक्षरों की सभी ध्वनिओं और शब्दों के लिखने की सामर्थ्य नागरी अक्षरों में नहीं है। अतः नागरी अक्षर व्यर्थ और बेकार हैं।

गुप्त जी द्वारा फारसी लिपि के अभावों का अङ्कन—

गुप्त जी ने विरोधियों के इस तर्क का उत्तर 'उल्टे-अक्षर'[1] नामक लेख द्वारा दिया था। जिन अक्षरों की प्रशंसा में विरोधी-वर्ग आकाश-पाताल के कुलाबे मिला रहा था गुप्त जी के तर्कों से उन पर घड़ों पानी पड़ गया था। गुप्त जी का प्रत्येक शब्द और वाक्य नाविक के तीर की भाँति मर्म भेदी प्रमाणित हो रहा था। आपकी चुनौती थी, यदि उल्टे अक्षरों में गुण हैं तो विरोधी-वर्ग उनको सबके सम्मुख स्पष्ट करके दिखाए, उसे उल्टे अक्षर अधिक प्रिय हैं तो निर्भीकता पूर्वक उन्हीं का प्रयोग भी करे ऐसा करने से उसे कोई रोकता नहीं है किन्तु जो लोग नागरी अक्षर लिखने के पक्ष में हैं उनके मार्ग का अवरोधन वह क्यों करता है। गुप्त जी की मान्यता थी कि फ़ारसी के ही अक्षर ऐसे हैं जिन्हें बाँई ओर से दाँई ओर को लिखा जाता है, शेष लिपियों के अक्षर तो सीधे दाहिने से बाँये ओर लिखे जाते हैं। इसके अतिरिक्त जिस भाषा के लिए इन अक्षरों का निर्माण हुआ है उसी को सही-सही लिखने में वे अनुपयुक्त भी हैं।

इसी सम्बन्ध में फ़ारसी अक्षरों की त्रुटियों, उनके विशिष्ट अभावों और ध्वनि-प्रकाशन की शक्ति-हीनता की ओर संकेत करते हुए गुप्त जी ने लिखा

१—भारत मित्र, ११-६-१९०० ई०, 'उल्टे अक्षर'।

था—"हब्रानी भाषा से यह अक्षर अरबी में आये। परन्तु क्या आये ; न उनमें 'थ' है न 'ट' है ; न 'च' है, न 'ड' है ; न 'ग' है। फ़ारसी वालों ने उनकी बनावट को जरा सीधा करके उनमें 'चे' 'पे' और 'गाफ' घुसेड़ा है। परन्तु बाकी की कसर रह गई। पीछे आई उर्दू। उसके लिये तो देवनागरी के सभी वर्णों की आवश्यकता थी ; इसी से उर्दू वालों ने एक 'हे' गढ़ी, 'डाल' बनाई और 'टे' निकाली। परन्तु उससे भी क्या हो सकता था ? 'घ' रह गया। छ, झ, ठ, ढ, घ इत्यादि कितने ही व्यंजन रह गये। इनके लिये उर्दू वालों से कुछ न बना तो एक 'दो चश्मी हे' निकाली। उसे 'टे', 'दाल' 'डाल' आदि में मिलाकर उक्त वर्णों की आवाज निकालने लगे। परन्तु उससे भी मतलब पूरा नहीं हुआ। बहुत चीजों की कसर रह गई। 'ण' की आवाज उर्दू अक्षरों में नहीं है। 'प्रचारिणी' लिखने में वह 'परचारिनी' लिखेंगे। बहुत शुद्ध लिखने बैठते हैं तो 'परचारिड़ी' लिखते हैं। ह्रस्व और दीर्घ का उन्हें भेद नहीं है। इसी से बेचारे अली बिलग्रामी अपनी किताब की भूमिका में खीझे थे कि उर्दू अक्षरों में ठीक-ठीक लिखने की शक्ति नहीं है। पढ़ने वाला अपनी लियाकत से ठीक पढ़ सकता है, अक्षरों में इतनी योग्यता नहीं है कि पढ़ने वाला अक्षरों के भरोसे शुद्ध पढ़ सके। एक बिन्दी के हेर फेर से इन अक्षरों में बाबू 'याबू' और खुदा 'जुदा' बन सकता है।"[1]

गुप्त जी के इन तर्कों का महत्व उस अवस्था में और भी बढ़ जाता है जब हम बिलग्रामी साहब के विचारों को दृष्टि-पथ में रखते हैं। बिलग्रामी साहब का मत है—"......बलिहाज खत के आर्यवी जबानों में इबारत का पढ़ना बमुकाबिल समिया तैकी ज़बानों के किस दरजे आसान है।"[2] इससे स्पष्ट है कि बिलग्रामी साहब नागरी लिपि की वैज्ञानिकता, सारल्य और श्रेष्ठता स्वीकार करते हैं और इसीलिए फारसी लिपि को पढ़ने में कठिन मानते हैं। लिपि की दुरूहता प्रदर्शनार्थ आपने उदाहरण दिया था—'मसलन अरबी' में 'कतब' के लफज पर अगर अयराब न दें तो उसको कतब, या कुतब या कुतुब पढ़ सकेंगे।"[3] फ़ारसी लिपि को क्लिष्ट और दुरूह ही नहीं, आपने इसे मुसलमान-समाज में अशिक्षा बनाए रखने का उत्तरदायी घोषित करते हुए लिखा था—"गौर से देखा जाए तो तब्काते उमम् इन्सानी में हमारे तबके

१—भारत मित्र, ११–६–१९०० ई०।

२—मुल्क की जबान और फाजिल मुसलमान, पृ० २३।

३— वही पृ० वही।

की किसी कौम में नाख्वान्दगी हरगिज इस दरजे आम नहीं है जैसी हम में, और ख्वान्दा अशख़ाश की तादाद उन्हीं मुसलमानों में ज्यादा है जिन्होंने अपने को इस नाजिन्स ख़त की जंजीर से छुड़ा लिया है।"[1] अली बिलग्रामी साहब के इन शब्दों का महत्व भाषा विषयक विवाद को शान्त करने के लिए अधिक था, यदि इन पर विचार किया जाता। किन्तु उर्दू-समर्थकों का उद्देश्य तो निरन्तर विरोध करते चले जाना ही था।

'पैसा अखबार' का हिन्दी विरोध और गुप्त जी द्वारा समाधान—

गुप्त जी ने कट्टरता के साथ नहीं प्रत्युत प्रबल तर्क, ठोस प्रमाण और विद्वान् मुसलमानों के विचार-साम्य के साथ भाषा के प्रश्न को हल करने के उद्देश्य से विरोधी-वर्ग को समझाया था। पर उर्दू-प्रेमी वर्ग किसी की सुनता न था। इसके विपरीत पत्र-सम्पादक तथा नए-नए व्यक्ति उर्दू तथा फ़ारसी लिपि के समर्थन और हिन्दी-विरोध की प्रतिज्ञा करके संघर्ष में आरहे थे। हिन्दी-भाषा तथा नागरी-विरोधी वर्ग क्यों ऐसी लिपि का समर्थन कर रहा था जो देवनागरी की समता में श्रेष्ठ नहीं थी, इस बात का ज्ञान श्री कालिदास कपूर द्वारा उल्लिखित उन कारणों से हो जाता है जो आपने फ़ारसी-लिपि के भारत में बने रहने के विषय में दिए हैं। आपने लिखा है— "तीसरे, मुसलमानों की हठ है कि फ़ारसी-लिपि चाहे कितनी दूषित क्यों न हो, उनको अन्धकार में पड़े रहने में उसने चाहे जितनी सहायता दी हो, परन्तु वह उनकी जातीय लिपि है और वे उसे न छोड़ेंगे—।"[2] इन पंक्तियों से उर्दू प्रेमियों की मनोवृत्ति का सम्यक् ज्ञान हो जाता है। फ़ारसी लिपि के समर्थन में उन लोगों के पास न सबल तर्क थे और न वैज्ञानिक कारण। ऐसी अवस्था में भी भारतीय एकता के विरोधी अंग्रेजों की चालों में आकर ये विरोध करते चले जा रहे थे। लाहौर का पैसा-अखबार विरोध-कार्य में अधिक सक्रिय था। उसने नागरीलिपि और हिन्दी भाषा को मुर्दा घोषित करते हुए कहा था कि हिन्दी में मात्रायें लिखते समय छूट जाती हैं, अतः शुद्ध भाषा नहीं लिखी जा सकती। इसके अतिरिक्त उसने दूसरा आरोप लगाया था कि हिन्दी में बिना रुकावट बातचीत करने वालों की संख्या उर्दू

१—मुल्क की जबान और फाजिल मुसलमान, पृ० २५।

२—कालिदास कपूर, साहित्य-समीक्षा, हिन्दी और उर्दू का विरोध, पृ० ५।

बोलने वालों की अपेक्षा अधिक न्यून है। इन आरोपों का उत्तर देते हुए गुप्त जी ने लिखा था—"अरब और ईरान से आए हुए अक्षरों के पक्षपाती हमारे मुसलमान मित्र नागरी अक्षरों को बुरा भला कहने के लिये अच्छी उलटी दलीलें दे रहे हैं। सबसे अधिक हमारे सहयोगी भाई पंजाबी अखबार 'पैसा' साहब उछल कूद मचा रहे हैं। पता लगाओ तो उनकी सात पीढ़ी में कोई एकाध आदमी उर्दू पढ़ा निकलेगा बाकी घर के लड़के, बच्चे और स्त्रियाँ वही गवांरी पंजाबी भाषा बोलती मिलेंगी। पर उर्दू भाषा के लिये आप ऐसे जामे से बाहर हुए कि मानो उर्दू आपकी मातृभाषा है। स्वयं पैसा अखबार के सम्पादक साहब जैसी उर्दू जानते हैं उससे बहुत अधिक अच्छी उर्दू हम जानते हैं। मुहाविरे की भूल उनके हर पत्र में पचासों होती हैं पर तिस पर भी उनको उर्दू की बड़ाई करने का नशा हो गया है।"[१]

गुप्त जी ने 'पैसा अखबार' के आरोपों का उत्तर यद्यपि बड़ी सतर्कता एवं चतुराई के साथ दिया है। उनके तर्क भी पैसा अखबार के सम्पादक का मुंह बन्द करने वाले और अपेक्षाकृत ठोस एवं सबल हैं किन्तु उनसे व्यक्तिगत दोषानुरूपिणी प्रकृति की गंध आती है। गुप्त जी ने यह कार्य हिन्दी-प्रेम के आधिक्य और विरोधार्थ विरोध करने वाले अन्ध उर्दू-भक्तों की आँखें खोलने, उनकी महान् भूलें बताने तथा उनको उचित मार्ग पर लाने के उद्देश्य से किया था जिससे किसी प्रकार का पूर्व-ग्रह अपना कर किसी अनुचित और असमीचीन मार्ग का अनुसरण उर्दू समर्थक न करें और आत्म प्रवंचित भी न रह सकें।

'पैसा-अखबार' द्वारा हिन्दी को अजनवी और मुर्दा जबान कहे जाने के उत्तर में गुप्त जी ने लिखा था—"आप (पैसा अखबार के एडीटर महोदय) हिन्दी को एक अजनवी और आगे चलकर मुर्दा जबान कहते हैं।—कौन कहता है कि हिन्दी मुर्दा जबान है? वह हिन्दी ही तो है जो हिन्दुस्तान के हर कोने-कोने में थोड़ी बहुत समझी जा सकती है। बाक़ी यह 'काफ' और 'गाफ' से भरी हुई गले में अटकने वाली मौलवियाना उर्दू तो आपके दस-पाँच मौलवी लोग ही बोलते होंगे। आप कैसे कह सकते हैं हिन्दी मुर्दा है? हिन्दी में इस समय जैसे अखबार निकलते हैं, हमको तो आशा नहीं है कि वैसी उन्नति आप अपने अखबारों की बीस साल में भी कर सकें। बस आपका एक 'पैसा अखबार' ही तो उर्दू में सबसे अधिक बिकता है। यहीं तक उर्दू

१—भारत मित्र, उल्टी दलील, १८ जून सन् १९०० ई०।

की करामात है। परन्तु हिन्दी में कई ऐसे अखबार हैं जो पैसा अखबार के बराबर ही नहीं उससे अधिक बिकते हैं।"[1]

'पैसा अखबार' द्वारा हिन्दी पर लगाए गए दूसरे आरोप का उत्तर देते हुए गुप्त जी ने लिखा था—"हम कहते हैं कि नहीं—हिन्दी सभी बोलते हैं। आपकी उर्दू ही बोलने वाले बहुत कम हैं। आप कसम खाकर कहें कि आपके पंजाबी मुसलमानों में जो लोग शिक्षित हैं और बी० ए०, एम० ए० हैं, उनमें से भी सौ में से पाँच सात शुद्ध उर्दू बोल सकते हैं। हमसे आपकी दो दफ़े मुलाकात हुई है। आपके उर्दू बोलने पर हमको हँसी तो बहुत आई पर घर आये की बेइज्ज़ती के खयाल से उसमें नुकताचीनी नहीं की।"[2]

इसके आगे आपने लिखा था—"रही यह बात कि उर्दू तेज लिखी जाती है या हिन्दी–इसकी भी काशी में परीक्षा हो चुकी है। श्रीमान लाटूश जो कुछ दिन के लिए मैकडानल साहब के छुट्टी जाने पर पश्चिमोत्तर प्रदेश के छोटे लाट हो चुके हैं, नागरी प्रचारिणी सभा में इसका तमाशा देख चुके हैं।"[3] यह उद्धरण देकर गुप्त जी ने यह स्पष्ट कर दिया था कि उर्दू की अपेक्षा हिन्दी शीघ्र तथा तेज लिखी जाती है, यह बात आज प्रमाणित है। उसमें संदेह के लिए कोई स्थान बाकी है ही नहीं। पीछे उर्दू वालों की आशा के विपरीत मुन्शी सिब्त हुसैन साहब ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया था।[4]

'पैसा अखबार' के अन्तिम आरोप का उत्तर गुप्त जी ने इस प्रकार दिया था—"मात्रा छूटने की आपने (पैसा अख़बार के सम्पादक जी ने) खूब कही। हिन्दी लिखने वाले न तो मात्रा छोड़ते हैं, न हिन्दी में कुछ का कुछ पढ़ा जाता है। यह तो उर्दू ही है, जिसमें 'कुल जिस्म तख्ता हो गया' का 'कुल चश्म पोख्ता हो गया' पढ़ा जाता है और नुकते के हेर-फेर से 'सानी' और 'नानी' में कुछ भेद नहीं रहता।"[5]

यह स्पष्ट है कि 'पैसा अखबार' द्वारा हिन्दी पर लगाए गए सम्पूर्ण

१—भारतमित्र, १८-६-१९०० ई०।

२—गुप्त स्मारक ग्रन्थ, आठ वर्ष की साहित्य साधना, पृ० ९८।

३—भारत मित्र, १८ जून, सन् १९०० ई०।

४—सम्मेलन-पत्रिका, भाग ४ अङ्क १२ उर्दू लिपि के दोष और नागरी के गुण, पृ० ३४५।

५—भारत मित्र, १८ जून सन् १९०० ई०।

आरोपों का उत्तर गुप्त जी ने अपनी व्यक्तिगत घटना, जिसको उर्दू-हिन्दी-विवाद के लिए महत्व पूर्ण कहा जा सकता है, फ़ारसी लिपि के अभाव-चित्रण और सबल तर्कों के आधार पर दिया है। 'उल्टी-दलील' नामक इस लेख के ठोस प्रमाण और चुटीले व्यंग्यों द्वारा 'पैसा–अख़बार' के सम्पादक का मुँह बन्द करने में गुप्त जी को पूर्ण सफलता मिली थी।

'उर्दू की मौत' नामक एक अन्य लेख द्वारा गुप्त जी ने हिन्दी पर 'पैसा अख़बार' द्वारा लगाए दूसरे आरोपों का उत्तर दिया था। 'पैसा अख़बार' की धारणा थी, जबकि नागरी का कदम सरकारी दफ्तरों और अदालतों में, आगया तो यह भविष्यवाणी करना असत्य न होगा कि एक दिन वह उर्दू को अवश्य नष्ट करके रहेगी। गुप्त जी ने पैसा–अख़बार की इस धारणा पर हर्ष प्रकट करते हुए लिखा था—"ऐसी सच्चाई पैसा–अख़बार के सम्पादक के सिवाय किसके मुँह में निवास कर सकती है ? अजी हजरत ! जब हिन्दी मुर्दा और निकम्मी ही है तो आपकी उर्दू को कैसे मार डालेगी।"[१]

पैसा अखबार द्वारा हिन्दी के अदालतों और दफ्तरों में प्रवेश पाने को उर्दू के लिए मृत्यु का संदेश कहा गया था। इस कथन का आधार यह था कि हिंदी भाषा के शब्द और देवनागरी अक्षरों के अदालतों में प्रयोग से उर्दू सम्पूर्णतः नष्ट हो जायगी। 'पैसा अख़बार' की धारणा थी कि हिन्दी में उर्दू के 'जाल', 'जे', 'ज्वाद' और 'जोय' आदि अक्षरों के लिए केवल एक 'स' ही है। इसलिए हिन्दी एक मृतक भाषा है जिसमें उर्दू के कुछ अक्षरों की ध्वनि प्रकट करने के लिए उपयुक्त अक्षर नहीं है। गुप्त जी ने इसी धारणा की आलोचना की थी और फारसी लिपि के अनावश्यक अक्षरों पर टिप्पणी करते हुए लिखा था—"जाल-जे-ज्वाद और जोय के उच्चारण में क्या फ़र्क़ है यदि है तो पैसा अखबार के सम्पादक साहब समझावें, नहीं है तो क्यों यह—'जाल', 'जे', 'ज्वाद' और 'जोय' इकट्ठे किए गए हैं। उर्दू भाषा का एक भी शब्द ऐसा नहीं है जिसमें सिवाय 'जीम' और 'ज' के जाल-ज्वाद और जोय किसी की भी कुछ जरूरत हो। दुर्भाग्यवश उर्दू फारसी के अक्षरों में लिखी जाने लगी और फारसी ने वही अक्षर अरबी से प्राप्त किए थे, इसी से फारसी-अरबी शब्दों के उर्दू में घुसने के साथ 'जाल'–'ज्वाद' काम आती हैं, नहीं तो उनकी भी कोई जरूरत नहीं है।"[२]

१—भारत मित्र, १८ जून सन् १९०० ई०।
२— वही वही ।

फ़ारसी अक्षरों के उच्चारण-साम्य और लिखावट की दुरूहता तथा क्लिष्टता पर भी गुप्त जी ने स्पष्ट और निर्भीकता पूर्वक जो लिखा था उसका सारतत्व इस प्रकार है। गुप्त जी का मत था कि 'ज्वाद', 'जोय', 'जाल', 'जे' और 'सीन' 'स्वाद' और 'से' का भेद छात्र बहुत दिनों तक नहीं समझ पाते। इन साम्य उच्चारणों वाले अक्षरों के कारण उर्दू का अध्ययन छात्रों के लिए कठिन हो जाता है। गुप्त जी के मत से ये अक्षर भारतीय वातावरण में अनुपयुक्त हैं।[१]

उर्दू वालों ने फारसी से अरबी के कुछ ऐसे अक्षरों को अपना लिया है जिनकी उपादेयता अरब में हो सकती है पर भारत में नगण्य है। गुप्त जी ने उर्दू वालों के इस अनावश्यक कार्य की कटु आलोचना करते हुए लिखा था—"अरब वालों के कण्ठ-तालु भारत वासियों के से नहीं हैं। अरब वालों के मुँह से 'प' का उच्चारण नहीं होता। इसी से उनके अक्षरों में 'पे' नहीं है, 'फे' है और 'ग' का उच्चारण भी वे लोग नहीं कर सकते हैं सो उनके यहाँ 'गाफ' भी नहीं है। 'गाफ की जगह हलक फाड़ने वाला 'ग़ैन' उनके यहाँ है। उसी 'गैन' और बड़े 'काफ' आदि को उर्दू में घुसेड़ने के लिए पैसा अखबार साहब मरे जाते हैं।"[२]

'पैसा-अखबार' का हिन्दी-विरोध तर्कशीलता एवं तथ्यता का परित्याग करके संकीर्ण एवं विरोधार्थ विरोध रह गया था। इसका एक प्रमाण इन्दौर के भाषा-विषयक-विवाद में उसका हस्तक्षेप है। हिन्दी-मराठी-विवाद में 'पैसा-अखबार' ने मराठी का पक्षग्रहण किया था और हिन्दी का विरोध। गुप्त जी ने हिन्दी-मराठी के भेदाभेद को स्पष्ट करते हुए 'पैसा-अखबार' की भ्रान्ति-निवारण के लिए लिखा था—"सहयोगी को जानना चाहिए कि हिन्दी और मराठी दोनों के अक्षर देवनागरी हैं, इसमें 'श्री बेंकटेश्वर समाचार' ने यह कहा कि एक दिन देवनागरी अक्षर सारे देश में फैल जायेंगे तो अनुचित क्या कहा? मराठी से भी देवनागरी का प्रचार होता है। इससे इन्दौर राज्य में चाहे हिन्दी रहे चाहे मराठी 'पैसा-अखबार' के लिए दोनों बराबर हैं।"[३]

इलाहाबाद से नागरी विरोध और गुप्त जी का कार्य—

नागरी अक्षरों का विरोध कुछ काश्मीरी पंडितों ने भी किया था। गुप्त

१—भारत मित्र, १८ जून, सन् १९०० ई०।

२—गुप्त स्मारक ग्रन्थ, पृ०, ९७।

३—भारत मित्र, हिन्दी उर्दू की चर्चा, सन् १९०३ ई०।

जी ने 'गरारेदार पण्डत', नामक लेख लिखकर इन लोगों का खूब मजाक उड़ाया था। इसी सिलसिले में इलाहाबाद में उर्दू प्रेमियों ने एक नागरी-विरोधी सभा की थी, जिसमें पं० अयोध्यानाथ के घर के आभूषण पण्डित अमरनाथ जी ने नागरी विरोध में कुछ बातें कहीं थीं; उनका तात्पर्य था कि देवनागरी अक्षरों में लिखने से उर्दू का रूप परिवर्तित हो जायगा। एतदर्थ पण्डित जी ने कुछ उदाहरण भी दिये थे।[1]

अमरनाथ जी की बात का खंडन करने के लिए गुप्त जी ने 'अवध-अखबार' में प्रकाशित रतननाथ शरशार के लेख से एक उद्धरण दिया था जो उर्दू की वास्तविकता पर भला प्रकाश डालता है। 'शरशार' की धारणा थी—"इंसाफ़ से देखिये तो उर्दू ज़रूर ग़ासिब (पराया माल हजम करने वाली) है। अच्छा फिर ऐसा तो हुआ ही करता है। लेकिन मुल्क की असल जबान को जड़ से नेस्तोनाबूद कर देना इन्साफ़ की गर्दन को बेबिस्मिल्लह कहे हुए छुरी से रेतना है—खास उर्दू का इतलाक करना ऐसा ही है जैसा कि गवर्नमेंट दक्खन हुक्म करे कि जो भीख माँगे वह उर्दू में माँगे।"[2] उर्दू भाषा के विषय में उसी भाषा के विद्वानों की सम्मतियाँ उद्धृत करके गुप्त जी ने विरोधी-वर्ग की निर्बलता प्रमाणित कर दी थी।

उर्दू-समर्थक जिस अरबी-फ़ारसी शब्दावली प्रधान उर्दू लिखे जाने का समर्थन कर रहे थे, उस पर उर्दू-विद्वानों के व्यंग्यात्मक लेख कुछ कम महत्त्व नहीं रखते। उर्दू के एक अन्य विद्वान् सलीम साहब के हिन्दी विषयक विचारों का महत्त्व हिन्दी-विरोधियों के लिये महान् हैं, आपने लिखा था—"क्या हिन्दी के खास हरूफ ट, ड, ढ़, और मखलुतुलहा हरूफ (ख, ढ, भ आदि) हम बेतकल्लुफ़ अदा नहीं करते? क्या हम ऐसे अल्फ़ाज़, जिसमें यह हरूफ हों, अपनी ज़बान से छीन कर दूर कर सकते हैं? अगर नहीं, तो क्या फिर हर मौके पर इन अलफ़ाज़ और इन हरूफ़ को इस्तेमाल करना, और हर फ़सीह तक़रीर में इनको दखल देना और एक खास मौके पर, यानी बज़ै इस्तलाहात के वक्त, उन अलफ़ाज़ व हरूफ़ को उनके शानदार दर्जे से गिरा देना मुब्तज़ल और बाजारी की फब्ती उन पर चस्पाँ करना सरासर मुहमिल और बेईमानी नहीं है।"[3] सलीम साहब के मतानुसार उर्दू में हिन्दी के शब्दों का

१—भारत मित्र, २ जुलाई, १९०० ई०, गरारेदार पण्डत।

२— वही वही।

३—हिन्दू, उर्दू, हिन्दुस्तानी, पृ० ६५।

प्रायः प्रयोग किया जाता है; फिर उसमें अरबी फारसी के शब्द ठूँस कर हिन्दी का बहिष्कार करना और विरोध करना अनुचित, असामयिक और भ्रान्तिपूर्ण है। गुप्त जी ने हिन्दी का समर्थन और उर्दू-भाषा तथा फ़ारसी लिपि के अभावों का अंकन सबल तर्क एवं ठोस प्रमाणों के आधार पर किया है। उनका मत अनेक उर्दू-विद्वानों के विचारों के साथ ऐक्य रखता है। वे भारत के लिए बोधगम्य सरल भाषा और नागरी लिपि का समर्थन कर रहे थे। गुप्त जी की विचार धारा का समर्थन आज भी भाषा-विज्ञान-वेत्ता करते हैं। भारत के उपयुक्त भाषा और लिपि के विषय में व्यक्त किए गए डा० सुनीति कुमार चट्टोपाध्याय के विचारों से गुप्त जी का समर्थन और अरबी-फ़ारसी शब्दावली से युक्त फ़ारसी लिपि में लिखी जाने वाली भाषा के समर्थकों का विरोध भली प्रकार होता है। आप लिखते हैं—"खास कर विदेशी अक्षरों में लिखी और अरबी-फ़ारसी शब्दों से बोझिल उर्दू जब बंगाली, उड़िया, मराठी, गुजराती, मारवाड़ी, मालवी, बिहारी, नैपाली और दक्षिण-भारत के तेलुगु, कन्नड, तमिल, मलयालियों के लिये दुर्लेख्य और दुर्बोध्य है।"[1] डा० सुनीतिकुमार चट्टोपाध्याय के विचारों से सरल हिन्दी और स्वदेशी लिपि की उपादेयता सिद्ध है। गुप्त जी कितने ही वर्ष पूर्व सामान्य बोलचाल की भाषा और नागरी लिपि को भारत के लिए उपयोगी प्रमाणित कर चुके थे। किन्तु उर्दू-प्रेमी वर्ग के विरोधों का अन्त न था।

'नागरी अक्षरों में लिखे जाने पर भाषा में उलट फेर हो जायगा', इस कथन की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिये पं० अमरनाथ जी ने उदाहरणार्थ फ़ारसी लिपि में लिखी एक अर्ज़ी की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार उद्धृत कीं थीं—"गरीब परबर सलामत। गुज़ारिश हाल यह है कि फ़िदवी ने चन्द दरख्वास्तें नकल की दी हैं और नकलें अब तक हासिल नहीं हुईं और उनका मुकदमा दाखिल करना जरूरी है—लिहाजा उम्मीदवार हूँ कि दो हफ्ता मुहलत मरहमत फ़रमाई जावे।" पंडित जी की धारणा थी कि यदि इन्हीं पंक्तियों को देवनागरी लिपि में लिख दिया जाये तो इस प्रकार पढ़ी जायेंगीं—"गरीबा पाराबार सालामाता। गुजारी हाला यह है कि फिदवी ने चन्द दरा-खासातें दी नाकालें आबातक हासील न हुईं आबार ऊनका मूकादमा दाखील

१—सुनीति कुमार चट्टोपाध्याय, भारत की भाषाएँ और भाषा सम्बन्धी समस्याएँ, पृ० १६६।

करेना जारूरी है। लोहाजा उम्मीदावारा कि दूफते की मोहालात मारहमता फारामाई जावे।"[1]

फारसी लिपि के समर्थकों द्वारा प्रस्तुत इन भ्रान्तिपूर्ण तर्कों को गुप्त जी न सह सके थे। अतः यथा समय उत्तर देकर उन्होंने उर्दू वालों की भ्रांतियाँ दूर करने के लिए अथक प्रयास किए थे। आपने 'मौलवी का ऊँट'[2] नामक एक सम्पादकीय लिखकर उर्दू वालों को बताया था। ऐसे समय में जब सरकारी आज्ञा नागरी के पक्ष में हो चुकी है और नागरी के बोलने वाले उर्दू की अपेक्षा देश में अधिक हैं, नागरी का विरोध करके उर्दू का प्रतिपादन करना वैज्ञानिक युग में ऊँट की सवारी करना है। जबकि यात्रा के लिये शीघ्र-गामी मोटर, रेल और वायुयान उपलब्ध हैं। यह लेख आदि से अन्त तक व्यंग्यात्मक और गम्भीर चोट करने वाला है। इसके अतिरिक्त पं० अमरनाथ के बे सिर-पैर के निराधार तर्कों का इस लेख में भी खंडन किया गया है।

लखनऊ से हिन्दी-विरोध और गुप्त जी का उत्तर—

नागरी समर्थकों द्वारा अपने दृष्टिकोण का सम्यक् स्पष्टीकरण किये जाने पर भी उर्दू वाले चुप नहीं हुए। गवर्नर की नागरी-प्रवेश की आज्ञा के विरोध में लखनऊ वालों ने १८ अगस्त सन् १९०० ई० को एक जलसा किया था और गवर्नर के पास अपना विरोध प्रकट करने के लिए एक शिष्ट-मण्डल भेजा था, जिसका परिणाम आशा के विरुद्ध हुआ; पुनः वायसराय के यहाँ प्रार्थना की गई पर वह भी विफल रही। गवर्नर ने जो आज्ञा उक्त शिष्ट-मण्डल को दी थी उसका उल्लेख पीछे किया जा चुका है।[3] इतने पर भी वे लोग शान्त न हुए, विरोध करते ही रहे। गुप्त जी ने उनके उद्देश्य को 'नागरी और उर्दू'[4] नामक लेख द्वारा स्पष्ट कर दिया था।

उर्दू के हिमायती हिन्दी विरोधी सभायें करते थे, पर चुपके-छिपके; सम्भवतः वे अपनी कमजोरी खुद जानते थे, पर विरोध के लिए विरोध किए जाते थे। १८ अगस्त के दिन लखनऊ की उक्त सभा में दर्शकों को तो क्या संवाददाताओं को भी नहीं बुलाया गया था। पत्र के संवाददाता ने सेक्रेटरी

१—भारत मित्र, २ जुलाई, सन् १९०० ई०।

२— वही , १६ जुलाई सन् १९०० ई०।

३—इसी प्रस्तुत अध्याय का, पृ० ४६८।

४—भारतमित्र, २३ जुलाई सन् १९०० ई०, 'नागरी और उर्दू'।

से सभा में प्रवेश की आज्ञा लेनी चाही थी, किन्तु उसने यह कह कर टाल दिया था कि केवल उर्दू का पक्षपाती ही सभा में सम्मिलित हो सकता है।[१] इसके उपरान्त उक्त सभा के प्रधान, नवाब मोहिसिनुमुल्क से आज्ञा पाने का निष्फल प्रयास किया था। अस्तु, इस घटना पर हिन्दुस्तानी द्वारा की गई टिप्पणी के शब्दों को उद्धृत करते हुए गुप्त जी ने लिखा था—"जलसे में सर्व साधारण को आने न दे जाकर जलसे वालों ने अपनी कमजोरी साबित की है, जब उनसे यह न हुआ कि अपनी युक्तियाँ अपने विरोधियों को भी सुनने दें तो उनकी प्रार्थना को गवर्नमेंट कैसे सुनेगी। किस इज्जत की निगाह से देखेगी ? यदि इस प्रकार कुल्हिया में गुड़ फोड़ना था तो खुली सभा क्यों की।"[२]

उक्त सभा में भाषण देते हुए नवाब साहब ने फ़ारसी अक्षरों की तारीफ़ की थी। हिन्दी-उर्दू को एक बताया था और उर्दू पर जोर दिया था। इस पर गुप्त जी ने नवाब साहब से अपने १७ दिसम्बर के उक्त लेख में पूछा था—"नवाब सहाब कोई ऐसी तरकीब बतायें कि जिससे 'जोती प्रसाद' लिखने में उर्दू में 'जूती प्रसाद' न पढ़ा जाय, 'रूम' लिखने से इटली की राजधानी 'रोम' न पढ़ा जाय, 'चीन' लिखने से 'चैन' न पढ़ा जाय।"[३] इसी लेख में आगे गुप्त जी ने फ़ारसी लिपि की त्रुटियों और अभावों की ओर संकेत करते हुए स्पष्ट रूप से लिखा था—"यह सब बातें (जो ऊपर बताई गई हैं) तब की हैं जब कि हरेक शब्द पर बिन्दी और ज़ेर ज़बर पेश लगाई जाय और बिन्दी छूट जाय तो ठिकाना नहीं। देवनागरी अक्षरों में यह दोष नहीं है।"[४]

उक्त भाषण से नवाब साहब ने अपना अभिमत प्रकट करते हुए भय प्रदर्शित किया था कि नागरी अक्षरों का प्रयोग मुसलमानों के साहित्य का सर्वनाश कर देगा। नागरी पर लगाए गए उक्त आरोप का उत्तर गुप्त जी ने दिया था, उससे उनके हृदय की विशालता का अनुमान लगता है। आप शुद्ध हृदय से उर्दू-फ़ारसी पुस्तकों का प्रचार चाहते थे। आपने लिखा था—"हमारी समझ में तो लाभ होगा, क्योंकि जो पोथियाँ मुसलमानों ने फ़ारसी

१—भारतमित्र, १७ सितम्बर सन् १६०० ई०, 'कुल्हिया में गुड़'।

२— वही वही वही।

३— वही वही वही।

४— वही वही वही।

अक्षरों में बन्द कर रक्खी हैं वह नागरी पोशाक पहन कर हिन्दुओं तक पहुँच जायेंगी ।"[१]

इसी वर्ष के 'भारतमित्र' में गुप्त जी ने एक लेख 'नागरी का फैसला' नामक लिखा था। अलीगढ़ पार्टी के उर्दू-समर्थकों ने हिन्दी के विरोध में लखनऊ के क़ैसर बाग में जो जलसा किया था उसका मज़ाक लखनऊ के 'अबध पंच' अखबार ने—

गला बैठा हुआ, खिदमत अजां की और कावे में ।
भले को हम दबा लाये थे नाकू से बरहम को ।"[२]

कहकर उड़ाया था। दूसरे लाहौर के 'रफ़ीके हिन्द' नामक उर्दू-पत्र ने नवाब साहब की हिन्दी-विरोधी नीति को 'खारिजी वाकयात' कहा था। इन दो बातों का प्रचार उक्त लेख द्वारा किया था।

इसी लेख में गुप्त जी ने पंजाब के नवाब सरदार मुहम्मद खाँ की हिन्दी-विरोधी कार्यवाही पर प्रकाश डालते हुए उनके द्वारा वायसराय की कौंसिल में पूछे गए प्रश्न का उल्लेख किया था, नवाब साहब ने वायसराय की कौंसिल में प्रश्न किया था—"पश्चिमोत्तर प्रदेश और अवध की कचहरियों में वहाँ के छोटे लाट ने जो देवनागरी अक्षर और भाषा ज़ारी करने की आज्ञा दी है और उस आज्ञा से जो नाराजी फैली है क्या उसकी खबर सरकार लेती है ?"[३] एतद्विषयक अन्य प्रश्न भी आपके द्वारा कौंसिल में पूछे गए थे। आश्चर्य की बात यह थी कि नवाब साहब को कभी भी सरकारी आज्ञा का विरोध करने का साहस न हुआ था किन्तु अदालतों में हिन्दी-प्रवेश के विषय पर उन्होंने भी सरकार के निर्णय का विरोध किया और विरोध स्वरूप कितने ही प्रश्न सरकारी सदस्य से कौंसिल में पूछे गए थे। गुप्त जी ने

१—भारतमित्र, १७ सितम्बर सन् १९०० ई०, 'कुल्हिया में गुड़'।

२—इसका तात्पर्य यह है कि जल्से में उर्दू वाले एक पण्डित को पकड़ ले गए थे और उससे नागरी-विरोधी व्याख्यान दिलवाये थे। 'अवध पंच' ने एक ही शेर द्वारा उर्दू वालों की कमजोरी और जलसे का निचोड़ मजे के साथ रख दिया—'हमारा गला तो बैठा हुआ था और हमें अजां देनी थी और वह भी किसी मामूली जगह नहीं खास काबे में देनी थी। इसीलिए किसी ब्राह्मण का शङ्ख बगल में दबा लाये थे। एक ब्राह्मण द्वारा हिन्दी का विरोध कराना ठीक इसी प्रकार था। वह उर्दू वालों के दिवालियेपन का सूचक था।

१—भारतमित्र, १९०० ई०, नागरी का फैसला।

नवाब साहब के कार्य की आलोचना करते हुए वायसराय की ओर से सरकारी सदस्य द्वारा दिए गए उत्तर को प्रकाशित किया था जिससे उर्दू तथा हिन्दी दोनों पक्ष वाले भली प्रकार समझलें। कौंसिल के सरकारी सदस्य का उत्तर पश्चिमोत्तर प्रदेश के गवर्नर की आज्ञा का समर्थन करता हुआ था।

उत्तर प्रदेश की अँग्रेज सरकार की भाषा-नीति और गुप्त जी—

उर्दू-हिन्दी के इस बढ़ते हुए विवाद को मिटाने के लिए युक्त-प्रदेश की सरकार ने एक योजना बनाई थी। "वह चाहती थी कि हिन्दी से संस्कृत के कड़े शब्द निकाल दिये जाँय और उर्दू में से अरबी और फारसी के भारी शब्द।"[1] एस० एच० बटलर महोदय युक्त-प्रदेश की सरकार के जुडीशल सेक्रेटरी थे। आपकी इसी आशय की एक चिट्ठी युक्त-प्रदेश के गजट में छपी थी। प्राइमरी-शिक्षा की पुस्तकें भी आप इसी भाषा में लिखाना चाहते थे। इस चिट्ठी में लिखा था—"पढ़े लिखे मुसलमान और हिन्दू जो भाषा बोलते हैं वह सबके समझने लायक है। वही भाषा प्राइमरी स्कूल की शिक्षा के लिए जारी होनी चाहिए।"[2]

गुप्त जी ने इस बात की टिप्पणी करते हुए लिखा था—"पढ़े लिखे हिन्दू कचहरियों में जो भाषा बोलते हैं और लिखते हैं घरों में स्त्रियाँ और बच्चे वैसी भाषा नहीं बोलते। कचहरियों में वे फ़ारसी और अरबी के शब्दों से भरी उर्दू बोलते हैं और घर में स्त्रियों और बालकों से ऐसी हिन्दी जिसमें संस्कृत के बहुत से असली या बिगड़े शब्द होते हैं।"[3] गुप्त जी चाहते थे कि भाषा के ये दो रूप मिट कर एक हो जाँय, पर युक्त-प्रदेश की सरकार की इस आयोजना से इस प्रश्न का हल होना सम्भाव्य न था। इसलिए उन्होंने कचहरी तथा घर दोनों स्थानों पर बोली जाने वाली भाषा के दो विभिन्न रूपों को स्पष्ट कर दिया था और जिस प्रकार की भाषा वे चाहते थे, उसको बताते हुए इसी लेख में आगे लिखा था—"पढ़े लिखे लोगों की भाषा शहरों में जरूर समझी जाती है पर देहात में ठीक-ठीक नहीं समझी जाती। इससे युक्त-प्रदेश की सरकार ऐसी भाषा लेगी जो सबके काम की हो सके?"[4]

१—भारतमित्र, हिन्दी उर्दू का मेल, सन् १९०३ ई०।
२— वही वही ।
३— वही वही ।
४— वही वही ।

निश्चित है कि गुप्त जी एक ऐसी भाषा के पक्ष में थे जो सर्वसाधारण द्वारा समझी जाती हो। विशेषकर देहात में रहने वाली अधिक जन संख्या उसे भली प्रकार समझती हो। अस्तु, आपने लिखा था—"युक्त-प्रदेश की सरकार चाहती है कि दोनों भाषायें इतनी पास-पास हो जाँये कि चाहे उसे फ़ारसी अक्षरों में लिखलें चाहे नागरी में"[१]। पर गुप्त जी मानते थे कि इन दो प्रकार के अक्षरों ने ही भाषा के दो टुकड़े किये हैं। जब तक इन दो प्रकार के अक्षरों को नहीं मिटाया जायेगा तब तक भाषा का संयुक्त और उचित रूप सम्मुख नहीं आ सकेगा। इसी विचार को स्पष्ट करते हुये आपने लिखा था—"फारसी अक्षरों के आर्य समाजी अखबारों में अक्षर ही फारसी होते हैं भाषा वह लक्कड़ तोड़ हिन्दी होती है कि उसे मुसलमान तो क्या बहुत से हिन्दू या आर्य समाजी भी नहीं समझ सकते। इसी प्रकार सरकारी हुक्म जो नागरी अक्षरों में लिखे जाते हैं उनकी भाषा समझना तो अलग रहा उनको शुद्ध पढ़ना भी कठिन हो जाता है, गवालियर का 'गवालियर गजट' उसका नमूना है।"[२] तात्पर्य यह है कि गुप्त जी के मतानुसार सारे प्रान्त के लिए उपयोगी तथा उचित भाषा का प्रश्न तब तक हल नहीं हो सकता, जब तक भाषा के दो रूप—हिन्दी और उर्दू तथा दो लिपियाँ—नागरी और फारसी विद्यमान हैं। भाषा के प्रश्न का निराकार करने के लिए गुप्त जी बहुसंख्यकों की सुविधा और उपयोगिता को देखते थे। उनका समाधान ऐसी भाषा तथा लिपि को प्रोत्साहित करना था, जो जनता में प्रिय और प्रयुक्त होती थी।

गुप्त जी संस्कृत गर्भित क्लिष्ट भाषा के पक्ष में न थे पर वे युक्त-प्रदेश की सरकार द्वारा अभिलषित 'हिन्दुस्तानी', जिसे ग्रियर्सन महोदय फोर्ट विलियम कालिज में प्रोत्साहित कर चुके थे, के पक्ष में भी न थे। इसीलिए आपने लिखा था—"अँग्रेज लोग जिस भाषा को हिन्दुस्थानी कहते हैं हमारी समझ में युक्त-प्रदेश की सरकार वही भाषा जारी करना चाहती है। वह न हिन्दी है और न उर्दू और हिन्दी भी है, उर्दू भी है। पर यह भली भाँति ज्ञान लेना चाहिए कि वह बेमुहाविरा भाषा है। उसे हम साहिबाना या पादरियाना हिन्दी कह सकते हैं।"[३]

भाषा-विषयक आपका विचार स्पष्ट है कि आप हिन्दुस्तानी को साहिबाना,

---

१—भारतमित्र, हिन्दी उर्दू का मेल, सन् १९०३ ई०।
२— वही वही ।
३— वही वही ।

पादरियाना तथा बेमुहावरा कहकर अनादर पूर्वक देखते थे और उसका प्रचार देश के लिए अहितकर मानते थे। अपने मत को स्पष्ट रूप से प्रकट करते हुए आपने लिखा था—"हिन्दी वालों को इस बात की चेष्टा करनी होगी कि उर्दू वाले फ़ारसी, अरबी को छोड़कर थोड़ा हिन्दी की ओर झुकें। और हिन्दी वाले कुछ उर्दू की ओर बढ़ें। ऐसा करने से दोनों भाषायें कुछ-कुछ मिलती जांयगी।"[1] इस कार्य के लिये वे आवश्यक समझते थे कि अक्षर एक किये जाँय और वे अक्षर देव नागरी हों। इसी उद्देश्य को लेकर आपने 'हिन्दुस्तान में एक रस्मुलखत' नामक लेख लिखा था।[2] जिसमें आपने सारदाचरण मित्र की एक लिपि विस्तार-आयोजना का समर्थन किया था।

युक्त प्रदेश की सरकारी भाषा-नीति की आलोचना करके गुप्त जी ने इस भाषा का जो सही-सही रूप सामने रखा था, यथार्थ में वही अधिकांश व्यक्तियों की भाषा का रूप था। दूसरे, भाषा सम्बन्धी प्रश्न को हल करने वाली समिति के निर्माण में भी आपने महत्त्वपूर्ण परामर्श दिया था। आपके मत से उक्त समिति के सदस्य का हिन्दी और उर्दू का पूर्ण ज्ञाता होना अनिवार्य था। आपकी धारणा थी कि हिन्दू सदस्य उर्दू के साथ अच्छी हिन्दी जानने वाले तो हों ही मुसलमान सदस्य भी हिन्दी तथा उर्दू के ज्ञाता हों। ऐसी दशा में ही भाषा के साथ न्याय हो सकेगा। क्योंकि भाषा की सही-सही परीक्षा वे ही कर सकते हैं जो दोनों (उर्दू तथा हिन्दी) के समान ज्ञाता हों।"[3]

उर्दू अखबारों में हिन्दी की चर्चा होती देख कर भी गुप्त जी को हार्दिक उल्लास होता था, उसे वे हिन्दी के हित में मानते थे। कुछ विद्वान उर्दू-लेखक यह मानने लग गए थे कि उर्दू का संस्कृत के साथ सम्पर्क होना उसके लिये हितकर होगा। इस सम्पर्क से उर्दू में जो अभाव बने हैं वे मिट जाँयगे। इसी आशय का एक लेख शमसुल उलमा मुहम्मद इमाम ने अलीगढ़ के एक पत्र 'उर्दू-ए-मुअल्ला' में लिखा था। प्रस्तुत लेख का सारतत्व इस प्रकार था, 'यह उचित होता यदि उर्दू-कविता संस्कृत का ढंग सीखती। ऐसा करने से उर्दू-कविता में अनेक गुणों का समावेश हो जाता, प्रथम तो नाटक लिखने की परम्परा का श्री गणेश होता और दूसरे रामायण तथा महाभारत

१—भारत-मित्र, हिन्दी उर्दू का मेल, सन् १९०३ ई०।
२—'जमाना', अप्रैल और मई, सन् १९०७ ई०।
३—भारत मित्र, 'हिन्दी उर्दू का मेल', सन् १९०३ ई०।

जैसे वीरभाव पूर्ण महाकाव्यों की सृष्टि होती जिसका उर्दू-फारसी में पूर्ण अभाव है।'[१] इसी प्रकार सैयद अली विलग्रामी ने एकबार सन् १८९८ ई० में आगरा के मुफीदाम प्रेस से प्रकाशित 'तमुद्दते अरब' में उर्दू वालों को प्राकृतों और संस्कृत ज्ञान की अपेक्षा बताते हुए लिखा था—"उर्दू का लुग़तनवीस जब तक वह संस्कृत और मुख़्तलिफ-प्राकृतों से वाकिफ न हो और उन ज़वानों के अदल पर अबूर न रखता हो लुग़त के बहुत बड़े ज़ुज़ यानी इस्तेकाक अलफ़ाज़ को सही नहीं लिख सकता"[२] इस उद्धरण से यह बात पूर्णतः स्पष्ट हो जाती है कि उर्दू के अली विलग्रामी सदृश विद्वान उर्दू-भाषा के शब्दों को कुछ और सही लिखने के लिए केवल संस्कृत ही नहीं, प्रत्युत विविध प्राकृतों के ज्ञान की अनिवार्यता समझते हैं। इस बात से उर्दू वालों की आखें खुल जानी चाहिए थीं, किन्तु बाह्य प्रोत्साहन और साम्प्रदायिक अतिरंजन दोनों ने उनको समस्या का सही रूप नहीं समझने दिया था।

गुप्त जी ने सैयद इमदार इमाम साहब तथा सैयद अली विलग्रामी के विचारों को उर्दू-शिक्षित विद्वानों तक पहुँचाने के लिए 'संस्कृत में नाटक' नामक एक लेख लिखा था।[३] प्रस्तुत लेख में गुप्त जी ने उर्दू वालों को हिंदी का अध्ययन करने का परामर्श दिया था, क्योंकि हिन्दी प्रथम तो संस्कृत की अपेक्षा शीघ्र और सरलता के साथ पढ़ी जा सकती है; दूसरे, वह संस्कृत काव्य के लगभग सभी गुणों से परिपूर्ण है। यहाँ तक कि उसमें वीर रस की अच्छी कविता भी वर्तमान है और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पं० प्रतापनारायण मिश्र तथा लाला श्री निवास दास जैसे नाटककार भी उसमें उत्पन्न हुए हैं। अतः वह उर्दू साहित्य को परिपूर्ण करने में पूर्ण समर्थ है।

उर्दू के समर्थकों के लिए गुप्त जी का यह अवसरोपयोगी एवं योग्यतम परामर्श था, किंतु सैयद इमाम साहब तथा बिलग्रामी साहब के परामर्शों की भाँति गुप्त जी की बात भी प्रभावहीन रही। वे विरोध के मार्ग पर बढ़ते ही गए। इसी मध्य गोपालकृष्ण गोखले देश-भ्रमण के अवसर पर जब लखनऊ पहुँचे तो नवाब मोहसिनुलमुल्क बहादुर भी वहाँ आए। एक जलसे में नवाब साहब ने वर्तमान राज्य और गोखले की प्रशंसा की और हिन्दू-मुस्लिम एकता पर प्रकाश भी डाला था। उसी अवसर पर दोनों जातियों के विरोध के

१—भारत-मित्र, हिन्दी उर्दू की चर्चा, सन् १९०३ ई०।

२—मुल्क की जबान और फाजिल मुसलमान, पृ० २३।

३—भारत-मित्र, सन् १९०७ ई०।

कारणों पर प्रकाश डालते हुए नवाब साहब ने कहा था—"इस सूबये मुत्तहिद में जिसके सदर मुकाम में इस वक्त हम जमा हैं और इत्तहाद के मसले पर गुफ्तगू करते हैं उर्दू नागरी का अहम मसला पेश है और मुद्दहयाने इत्तहाद साल हासाल के कोशिश कर रहे हैं कि उर्दू के बजाय नागरी कायम हो। हालाँकि यह ज़ुबान न अरबी की है न अजम की, न मुसलमान इसे अरब से लाये न ईरान से। यह तो एक मुस्तरिका ज़ुबान है जो हिन्दुस्तान में पैदा हुई है। हिन्दू और मुसलमान दोनों इसके पैदा करने वाले हैं। कई सौ वर्ष से दोनों में उसका रिवाज़ है। हिन्द् भी इस सूबे के वही ज़ुबान बोलते हैं जो मुसलमान बोलते हैं। हिन्दू भी उसी खत में और उन्हीं हरफों में तहरीर करने के आदी हैं जिस तरह मुसलमान। उसके कायम रहने में हिन्दुओं का कोई हर्ज नहीं है और उसके न कायम रहने में मुसलमानों का सख़्त नुक़सान है मगर मुसलसल कोशिश उसके मादूम करने के लिये हो रही है और जब तक मादूम न हो जायगी ग़ालिबन हमारे दोस्तों की कोशिशों में कमी न होगी।"[1] इन शब्दों से उर्दू-पक्षपातियों का उर्दू का अनौचित्यपूर्ण समर्थन और हिन्दी के प्रति पूर्वग्रह प्रकट होता है।

नवाब साहब की उपयुक्त दलीलों का समुचित उत्तर देते हुए गुप्त जी ने कहा था—"कि हिन्दू हिन्दी की उन्नति करने की चेष्टा करते हैं उर्दू को गिराने की नहीं।"[2] आगे आपने पूछा था—"नवाब साहब से प्रार्थना है कि क्या युक्त प्रदेश भर में वही ज़ुबान बोली जाती है जो आप बोलते हैं।"[3] स्पष्ट है जन-साधारण और नबाब साहब की भाषा में आकाश पाताल का अन्तर था और गुप्त जी की अभिलाषा थी कि नवाब साहब जन-साधारण की भाषा अपनाएँ, किंतु उर्दू-समर्थकों ने भाषा के इस विवादग्रस्त प्रश्न को हल करने का प्रयास कभी न किया था।

हिन्दी के समर्थन में गुप्त जी की कविता—

उर्दू-प्रेमी वर्ग ने हिन्दी भाषा की प्रगति में अवरोध करने की दृष्टि से विविध प्रकारेण अनेक विरोध उपस्थित किए थे। वे इतना भी सहन न कर सके थे कि फ़ारसी लिपि के साथ-साथ देवनागरी लिपि में भी प्रार्थना-पत्र दिये जा सकते हैं। उनकी आँखों में हिन्दी का अल्प उत्कर्ष भी काँटे की तरह

१—भारत-मित्र, हिन्दी और उर्दू, सन् १९०७ ई०।
२— वही वही ।
३— वही वही ।

चुभने लगा था। अतः उसके विघटन और ह्रास के उद्देश्य से विरोधी वर्ग ने १७ मई सन् १६०० ई० को 'लखनऊ' से प्रकाशित होने वाले 'अवध पंच' में एक उर्दू की अपील प्रकाशित कराई थी। इस अपील में उर्दू को एक बरबाद, गृहहीन, विपत्ति ग्रस्त और निराश्रय नायिका के रूप में अंकित किया गया है, जो अपने गौरांग प्रभु बड़े लाट साहब से हिन्दी—जिसे उर्दू रूपी पत्नी की सौत बताया गया है—के अपनाये जाने पर प्रणय-मान प्रकट करती हुई अपनी भावी विपत्ति की आशंका प्रकट करती है। उर्दू की यह अपील कविता में लिखी गई थी, अतः स्व० गुप्त जी ने भी उसी छन्द और लय के साथ प्रत्युत्तर में कविता ही लिख कर उर्दू वालों को मुँह तोड़ उत्तर दिया था। गुप्त जी का उत्तर अपील के प्रत्येक शब्द और पंक्ति पर व्यंग्यात्मक है। व्यंग्य का इतना सुन्दर रूप बहुत कम दृष्टिगोचर होता है। उर्दू की अपील की प्रारम्भिक पंक्तियाँ हैं—

खुदाया पड़ी कैसी उफताद है, बड़े लाट साहब से फरियाद है।
मुझे अब किसी का सहारा नहीं, यह बेवक्त मरना गवारा नहीं।
मेरा हाल बहरे खुदा देखिये, जरा मेरा नश्वोनुमां देखिये।

× × ×

मेरे इश्क का लोग भरते थे दम, नहीं झूठ कहती खुदा की कसम।
यह आफत लड़कपन में आने को थी, जवानी अभी सिर उठाने को थी।
निकाले थे कुछ-कुछ अभी हाथ पाँव, चमक फैलती जाती थी गांव-गांव।"[१]

उपर्युक्त पंक्तियों के आधार पर कहा जा सकता है कि उर्दू उस समय एक ऐसी फाहशा औरत थी, जो स्वयं दूतिका नायिका की भाँति अपने रूप और यौवन का प्रदर्शन करके अपने प्रेमियों को आमन्त्रित करती है। पर उर्दू उससे भी आगे निकल गई। यह तो अभी पूर्णयुवती भी न हुई थी कि प्रेम के स्वप्न देखने लगी और वह भो अनेक लोगों के साथ। फिर ऐसी निर्लज्ज स्त्री से भला भारत का प्रधान शासक, राजा का प्रतिनिधि किस प्रकार प्रेम करता और उसकी चिन्ता में सिर खपाता।

उक्त पंक्तियों के प्रत्युत्तर में लिखीं गुप्त जी की पंक्तियाँ भी अवलोकनीय हैं। प्रेम की आशंका में व्याकुल उर्दू-नायिका को आश्वासन का संबल देते हुए गुप्त जी ने लिखा था—

१—गुप्त निबंधावली, प्रथम भाग, पृ० ७००-७०१।

"न बीबी बहुत जी में घबराइये, सम्हलिये जरा होश में आइये।
कहो क्या पड़ी तुम पे उफताद है, सुनाओ मुझे कैसी फरियाद है।
किसी ने तुम्हारा बिगाड़ा है क्या ? सुनूँ हाल उसका मैं भी जरा।
न उठती में यों मौत का नाम लो, कहाँ सौत, मत सौत का नाम लो।
बहुत तुम पे हैं मरने वाले यहाँ, तुम्हारी है मरने की बारी कहाँ ?
बहुत बहकी बहकी न बातें करो, न साये से तुम आप अपने डरो।
ज़रा मुँह से पानी के छीटे लगाव, यह सब रातभर की ख़ुमारी मिटाव।

× × × ×

तुम्हारा ही सब आज भरते हैं दम, यह सच है, तुम्हारे ही सिर की कसम।"[१]

गुप्त जी ने आलोच्य कविता द्वारा उर्दू समर्थकों के इस भ्रम-निवारणार्थ प्रयास किया था कि हिन्दी उर्दू के लिए 'पैगामे मौत' और उसकी सपत्नी है। 'न साये से तुम आप अपने डरो' कहने का तात्पर्य इतना ही है कि हिन्दी उर्दू दोनों एक ही भाषा है ; वर्तमान भेद कृत्रिम और स्वयं उर्दू वालों द्वारा उत्पन्न किया हुआ है जिसका परिहार शीघ्र हो सकता है। इसी उद्देश्य को सम्मुख रखकर गुप्त जी ने लेख तथा कविताएँ लिखीं थीं। हिन्दी का प्रचार और अदालतों में उसका प्रवेश उर्दू वालों को ऐसा लगा था जैसे उर्दू की सम्पूर्ण साजसज्जा की सामग्री तथा वस्त्राभूषणों का हिन्दी द्वारा अपहरण कर लिया गया हो और उसे निर्वस्त्र करके लज्जित करने को छोड़ दिया हो। उर्दू के पुजारियों ने सम्भवतः सोचा था जब उर्दू रूपी नायिका के पास पहनने के लिए कानों में न 'झूमर' रहा, न 'छपका', न 'बाले' रहे और न उसके 'काले-काले गेसू' तो उसका सौन्दर्य ही क्या रहेगा ? आभूषणों के अतिरिक्त वस्त्रों को भी हिन्दी ने छीन लिया। ऐसा विचार करके ही उर्दू-प्रेमियों ने 'उर्दू की अपील' में लिखा था—

'न अतलस का पजामा कलियों भरा, दुपट्टा गुलाबी मेरा क्या हुआ ?"[२]

'अतलस का कलियोंदार पाजामा' और 'गुलाबी दुपट्टा' ही नहीं छिन गया बल्कि, 'आँखों में लगाने का सुरमा', 'दाँतों की मिस्सी' और 'हाथों एवं पैरों की महँदी' भी न रही। इतने से भी उर्दू वालों को संतोष नहीं हुआ। वे कहते ही गये कि न तो अब उर्दू के गले का 'बेले द्वारा बना एक आभूषण रहा, न हार ; न अब गले का जुगनू ही चमकता है, न 'झाझों' की झनकार

१—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, पृ० ७००–७०१।
२— वही , पृ० ७०३।

होती और न कड़ों का शोर सुन पड़ता है। इन आभूषणों और वस्त्रों के अपहरण से रूप के बाजार में बैठने वाली उर्दू रूपी नायिका की न वे 'बाँकी अदायें' रहीं और न तिरछी होकर चलने वाली चाल। यहाँ तक कि चेहरे का रंग भी फीका पड़ गया। बात भी सोचने और समझने की है। सौन्दर्य का विक्रय करने वाली नायिका का मूल्य तो प्रायः आभूषणों की चमक-दमक, मिस्सी पाउडर तथा शृङ्गारिक चकाचौंध से होता है। उसमें वास्तविकता या प्राकृतिक सौन्दर्य तो होता नहीं, जिससे प्रेमी जन आकर्षित हों; जब शृङ्गार के प्रसाधन ही अवशिष्ट न रहे तो जीवन व्यर्थ है। यह सोचकर अपील में कहा गया था—

"खुदाया न क्यों मौत आगई, कहाँ से मेरे सर पै सौत आगई।"[१]

गुप्त जी ने हिन्दी उर्दू का पारस्परिक सम्बन्ध बताते हुए लिखा था कि 'हिन्दी उर्दू की सौत नहीं', हम साया है', 'गँवारू पोशाक' नहीं 'अदब की पोशाक है'। नागरी को केवल 'घाँघरी' समझना बुद्धि का दुरुपयोग करना है और है समस्या का अनौचित्यपूर्ण समाधान। गुप्त जी ने व्यंग्य के साथ कहा था—उर्दू-नायिका को जो चीजें बढ़िया लगें उन्हें पहने। वह बाजार में अवैधानिक सन्तान की भाँति उत्पन्न हुई थी अतः हम उसे बाजारू सज धज छोड़कर शाही-लिवास पहनने, मटकना-चटकना और तीर चलाना छोड़कर राजकीय गौरव और शिष्टाचार सिखलाने का प्रयास करते हैं। बाज़ार से शाही दरबार में आने पर राजकीय मर्यादोचित कार्य करना ही श्रेयस्कर और गौरवास्पद होगा। गुप्त जी के शब्द ये थे—

"वही पहनो जो कुछ हो तुम को पसन्द, कसो और भी चुस्त महरम के बन्द।
करो और कलियों का पाजामा चुस्त, वह धानी दुपट्टा वह नकसक दुरुस्त।
वह दाँतों में मिस्सी घड़ी पर घड़ी, रहे आँख आईने से ही लड़ी।
कड़े को कड़े से बजाती फिरो, वह बाँकी अदायें दिखाती फिरो।
मगर इतना जी में रखो अपने ध्यान, यह बाजारी पोशाक है मेरी जान।
जना है तुम्हें मा ने बाजार में, पली शाह आलम के दरबार में।
× × × ×
किया है तलब तुमको सरकार ने, तुम आई हो अंगरेजी दरबार में।
सो अब छोड़िये शौक बाजार का, अदब कीजिये कुछ तो दरबार का।"[२]

१—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, उर्दू की अपील, पृ० ७०२–७०३।
२— वही, पृ० ७०३।

इसके आगे गुप्त जी राजकीय वेषभूषा धारण करने, राजोचित व्यवहार और सौजन्य एवं शील के साथ रहने का परामर्श देते हैं—

"यहाँ आई हो आंख नीची करो, मटकने चटकने पे अब मत मरो।
यहां पर न भाभों को भनकाइये, दुपट्टे को हरगिज न खिसकाइये।
न कलियों की अब याँ दिखाओ बहार, कभी याँ पे चलिये न सीना उभार।
वह सब काम कोठे पे अपने करो, यहाँ तो अदब ही को सिर पर धरो।"[१]

उर्दू रूपी नायिका को दिए गए परामर्श व्यंग्यात्मक हैं; पर परम सुन्दर।

प्रो० मुहम्मद हुसेन आज़ाद ने 'आवेहयात' की भूमिका में उर्दू को ब्रजभाषा की सन्तान स्वीकार किया है। उन्हीं से मिलता जुलता मत मौलाना अबुल हलीम 'शरर' का है। उर्दू के जन्म के विषय में आपने लिखा है— "उर्दू के मां-बाप, इसमें जरा भी शक नहीं, भाषा (ब्रजभाषा) और फारसी हैं, जो उस वक्त हिन्दुओं और मुसलमानों की भाषायें थीं। भाषा (ब्रजभाषा) वह असली ज़मीन है जिसमें वह पौधा उगा और जिसकी आबहवा में उसकी परवरिश हुई।"[२] आजाद के आधार पर ही गुप्त जी ने यहाँ ब्रजभाषा को उर्दू की मां स्वीकार किया। गुप्त जी मानते थे कि वर्तमान हिन्दी भाषा की जन्मभूमि दिल्ली है, वहीं ब्रजभाषा से वह उत्पन्न हुई। प्रारम्भ में इसका नाम रेख्ता पड़ा। तदनन्तर हिन्दी कहलाई और बाद में उसका नाम उर्दू हो गया।[३] यथार्थ में यह मत अवैज्ञानिक और भ्रान्तिमूलक है। हिन्दी का जन्म न दिल्ली में हुआ और न शाहजहाँ के दरबार में; हिन्दी भाषा का रूप बोलचाल के रूप में बहुत पहले से विद्यमान था। आचार्य शुक्ल उसका सम्बन्ध भोज और हम्मीर के काल तथा खुसरो की रचनाओं के साथ जोड़ चुके हैं।[४] अकबर और जहाँगीर के काल में ही खड़ी बोली भिन्न-भिन्न प्रदेशों में शिष्ट-समाज के व्यवहार की भाषा बन गई थी, अतः गुप्त जी का उसे 'हया और इज्जत की नाक' तथा 'अदब और हुर्मत की चादर' कहना अधिक उपयुक्त

१—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, पृ० ७०४।

२—अष्टम हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इन्दौर। कार्य विवरण—दूसरा भाग, पृ० १२६।

३—बालमुकुन्द गुप्त, हिन्दी-भाषा-भूमिका, पृ० क।

४—रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ४०७-८

प्रतीत होता है और उर्दू वालों को भाषा में शिष्टता लाने के लिए हिन्दी के अनुकरण का परामर्श देना और भी अधिक समीचीन है।

'अवधपंच' में प्रकाशित 'उर्दू की अपील' के उत्तर में लिखी गई 'उर्दू को उत्तर' नामक यह कविता अद्योपांत व्यंग्यात्मक और चुटीली थी, जिसकी प्रतिक्रिया संगठित विरोध के रूप में हुई। उर्दू के पक्षपाती प्रस्तुत कविता में अन्तर्निहित भाव और विचारों को हृदयंगम न कर सके; उसे उन्होंने विरोध रूप में ही ग्रहण किया। यद्यपि उक्त कविता में व्यंग्य के साथ गुप्त जी ने हिन्दी उर्दू के पारस्परिक सम्बन्धों और स्थिति का स्पष्टीकरण भली प्रकार कर दिया है।

न्यायालयों एवं सरकारी कार्यालयों में हिन्दी-प्रवेश की आज्ञा के प्रसार तथा हिन्दी-विरोध की उत्पत्ति से लेकर अपने अन्तिम दिनों तक बाबू बाल-मुकुन्द ने हिन्दी के उत्कर्ष और स्वरूप-निर्माण के उद्देश्य से समय-समय पर लेख लिखकर हिन्दी विरोधी-वर्ग की भ्रान्ति निवारणार्थ जो अथक श्रम किया था, उसकी रूप-रेखा यहाँ प्रस्तुत की जा चुकी है। हिन्दी-समर्थन में गुप्त जी द्वारा लिखे लेखों में व्यंग्य का प्राबल्य और ठोस तर्कों का आधिक्य पाया जाता है; उन्होंने विरोधार्थ विरोध-प्रदर्शन की भावना को घृणा की दृष्टि से देखा है, अतः ऐसी मनोवृत्ति से अनुप्रेरित व्यक्तियों के प्रति उनका व्यंग्य बड़ा तीव्र और मर्मान्तिक चोट करने वाला होता है। इस विवाद में गुप्त जी की एक विशेषता यह रही कि उन्होंने अंग्रेज शासक और उनके समर्थक ज़मींदार तथा नवाब वर्ग की भाषा-नीति को भली भाँति समझा और उनके जाल में हिन्दू तथा मुसलमानों को फँसने से बचाने के लिए समयोपयोगी परामर्श दिए। इस विवाद में उनका दृष्टिकोण विशुद्ध भाषा विषयक था। उन्होंने विरोधी वर्ग की भाँति भाषा के प्रश्न पर धार्मिक कट्टरता को प्रोत्साहित न होने देने के लिए प्रयास किया था। दूसरे अंग्रेजों की जिस भेद-नीति का लक्ष्य होकर भारत के नवाब और रईस अरबी-फ़ारसी से अलंकृत उर्दू का समर्थन कर रहे थे और अपने समर्थकों से करा रहे थे, उसे हृदयंगम करके गुप्त जी ने भारतेन्दु द्वारा प्रवर्तित हिन्दी को आगे बढ़ाया। उन्होंने निर्भीकता और साहस के साथ हिन्दी के उस प्रचलित रूप को प्रश्रय दिया जिसका विरोध यदाकदा स्वयं संस्कृत के पक्षपाती कर उठते थे। अतः हिन्दी-उर्दू-विवाद को शान्त करने के लिए गुप्त जी ने जो भूमिका तैयार की थी, उसे हिन्दू-मुस्लिम एकता, देव-नागरी लिपि तथा सर्वसाधारण के योग्य भाषा-प्रसार की द्योतक कहा जाना अधिक समीचीन होगा। अपनी भाषा-नीति को प्रकाश में लाने के लिए गुप्त जी

ने न तो अनुचित रूप से हिन्दी का समर्थन किया और न उर्दू का विरोध; प्रत्युत उर्दू को उन्नत, काव्योपयोगी और देशव्यापी बनाने के लिए उचित परामर्श भी दिए। आपके मतानुसार नए शब्द, पिंगल, परिभाषाएँ, काव्य-विषय तथा साहित्य-उपकरणों के लिए उर्दू को अरबी-फ़ारसी का मुखापेक्षी न होकर संस्कृत की ओर उन्मुख होना चाहिए। गुप्त जी की इस धारणा का प्रभाव परवर्ती उर्दू लेखक हज़रत ख्वाजा हसन एवं मुंशी सिब्त हुसैन, मौलवी मुहम्मद अज़ीज मिर्ज़ा, मौलवी वहीउद्दीन सलीम, ख्वाजा अलताफ़ हुसैन हाली तथा हजरत नियाज फतहपुरी पर स्पष्ट दीख पड़ता है; जिन्होंने फारसी लिपि के अभाव, उर्दू कविता में भारतीय एवं देशी-तत्वों की कमी, उर्दू भाषा में सामान्य जनोपयोगी शब्दावली की शून्यता, संस्कृत साहित्य के गुणों को अपनाने के प्रति उपेक्षा तथा ब्रजभाषा एवं हिन्दी कविता की विशेषताओं के प्रति उदासीनता को स्वीकार किया है; उर्दू वालों के इन विशेषताओं से वंचित रह जाने पर खेद प्रकट किया है।

इसके अतिरिक्त 'लिपि विस्तार परिषद' के एक अंग्रेज उपप्रधान तथा मुस्लिम उपप्रधान की विचारधारा भी गुप्त जी से प्रभावित प्रतीत होती है। अंग्रेज उपप्रधान ने जो कुछ कहा था उसके विषय में लाला मुन्शीराम ने चतुर्थ साहित्य सम्मेलन के सभापति के स्थान से बोलते हुए कहा था—"देवनागराक्षरों का सारे भूमण्डल में प्रचार होना चाहिये क्योंकि इसके सदृश सर्वाङ्ग पूर्ण दूसरी कोई लिपि नहीं।"[१] इसी प्रकार जस्टिश शरफुद्दीन जज हाई कोर्ट, कलकत्ता ने भी कहा था—"भारतवर्ष में मुसलमानों को कुरान शरीफ भी देवनागराक्षरों में ही छपवानी चाहिए।"[२] मुन्शी सिब्त हुसैन साहब ने भी 'उर्दू लिपि के दोष और नागरी के गुण' लेख द्वारा गुप्त जी के मत की पुष्टि की है।[३] इससे स्पष्ट है कि गुप्त जी का पक्ष कितना प्रबल और सत्य था। अस्तु, यह निर्विवाद रूपेण सत्य है कि हिन्दी-उर्दू के प्रश्न पर स्वर्गीय गुप्त जी ने जिस धारणा को अपनाया था, वह परवर्ती साहित्यकारों के लिए पथ-प्रदर्शक बन गई थी। फलतः हिन्दी के विकास और रूप-निर्माण के इतिहास में गुप्त जी का उच्च स्थान ठहरता है।

१—चतुर्थ हिन्दी साहित्य सम्मेलन, भागलपुर। कार्य-विवरण प्रथम भाग, पृ० १४।

२— वही वहीं।

३—सम्मेलन पत्रिका, भाग ४, अङ्क १२, पृ० ३४०।

हिन्दी-उर्दू के विकास और उसके भविष्य के सम्बन्ध में गुप्त जी की धारणा—

गुप्त जी के मतानुसार प्रारम्भ में हिन्दी और उर्दू दोनों एक ही भाषा थीं और दोनों के लिए एक ही शब्द 'हिन्दी' का प्रयोग बहुत काल तक होता रहा था। गुप्त जी की इस धारणा का समर्थन पीछे तक होता रहा। स्वयं मुसलमान लेखकों ने इसे स्वीकार किया है। मुहम्मद अब्दुल कादिर ने वाकर आगाह के उर्दू दीवान जिसका नाम उन्होंने 'दीवाने-हिन्दी' रखा है, के विषय में जो विचार व्यक्त किए हैं, उनको पं० पद्मसिंह शर्मा ने इस प्रकार उद्धृत किया है—"दीवान के सरबरक़ (मुख्य पृष्ठ) पर और खुद अशआर में भी कहीं-कहीं 'हिन्दी' ही का लफ्ज इस्तैमाल किया गया है, ताहम यह मालूम रहै कि इससे मुराद उन शाइरों की 'उर्दू' होती थी, क्योंकि उर्दू को 'हिन्दी' से कोई जुदा चीज नहीं समझते थे।"[१] इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि हिन्दी एक प्राचीन भाषा थी जो हिन्दू और मुसलमानों द्वारा समान रूपेण व्यवहृत होती थी। देश की बहुसंख्यक जनता इस भाषा का प्रयोग करती थी और उर्दू नाम की कोई अन्य भाषा तब तक उत्पन्न न हो पायी थी। पर कालान्तर में भाषा का यह ऐक्य विनष्ट होता गया और उर्दू हिन्दी से भिन्न रूप एवं आकृति पाकर पृथक् भाषा के रूप में प्रतिष्ठित होती गई। हिन्दी-उर्दू का यह भेद राजा शिवप्रसाद एवं राजा लक्ष्मणसिंह के समय में अधिक स्पष्ट हो गया था। उस समय सामान्य बोलचाल की भाषा से अरबी-फ़ारसी के शब्दों को बहिष्कृत करके उनके स्थान पर संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्द हिन्दी में रखने और इसी प्रकार उर्दू से प्रचलित बोलचाल के शब्दों को पृथक् करके उनके स्थान पर अरबी-फारसी के कष्टसाध्य शब्दों के व्यवहार करने की प्रवृत्ति चल उठी थी। राजा शिवप्रसाद दोनों भाषाओं को एक मानकर उनके भेद के विलीनीकरण के लिये प्रयत्नशील थे पर उन्हें कुछ कारणों से सफलता न मिल सकी। पहला कारण तो यह था कि मुसलमान उर्दू लेखक उर्दू भाषा पर अपना एकाधिपत्य समझते थे और हिन्दुओं की उर्दू भाषा को टकसाली नहीं मानते थे, यद्यपि उर्दू को उन्नत करने का श्रेय हिन्दू लेखकों को भी अधिकाँश में प्राप्त है। दूसरे धार्मिक संकीर्णता से प्रभावित वे उर्दू भाषा को अरबी-फ़ारसी के शब्द-विन्यास, पिंगल, तथा शैली आदि से विभूषित करते जाते थे। तीसरे, उर्दू वालों की संकीर्णता के विरुद्ध हिन्दुओं की प्रतिक्रिया

१—पं० पद्मसिंह शर्मा, हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी, पृष्ठ २०।

जिसके फल स्वरूप भाषा में संस्कृत तत्समता की प्रधानता हुई और राजा लक्ष्मणसिंह ने हिन्दी और उर्दू दोनों न्यारी-न्यारी बोलियाँ बताईं। इस समय तक दोनों भाषाओं में पूर्ण भेद हो गया था जो आज तक वर्तमान है। तात्पर्य यह है कि प्रारम्भ में दोनों भाषायें एक थीं और काल-क्रम में विभेद की स्थापना होती गई। इस प्रकार गुप्त जी का मत इस विषय में सत्य एवं अधिकारपूर्ण है।

हिन्दी के जन्म और विकास के विषय में गुप्त जी का मत है जिस समय भारत पर यवनों के आक्रमण हुए, उस समय यहाँ के जन-समाज की भाषा वह थी जिसे ब्रज-भाषा की जननी या आधार कहा जा सकता है। उसकी नीव दसवीं शताब्दी में पड़ी होगी, ऐसी उनकी धारणा है।[१] आक्रमणकारी, पीछे से स्थायी निवासी, विदेशों से अरबी तुर्की से पूर्ण फारसी तथा पश्तो के विशाल शब्द-सागर को लेकर यहाँ स्थापित हुए; भारतवासियों से शनैः शनैः उनका सम्पर्क बढ़ा, परस्पर आदान-प्रदान हुआ, विजेता जाति की सभ्यता एवं संस्कृति का प्रभाव यहाँ के निवासियों पर पड़ा और दोनों की भाषाओं के शब्द एक दूसरी में मिलने लगे। गुप्त जी की इसी धारणा का समर्थन श्री विन्देश्वरी प्रसाद सिंह के 'हिन्दी भाषा'[२] नामक लेख से होता है। गुप्त जी की मान्यता है कि ब्रजभाषा में अरबी-फ़ारसी के शब्दों के मिलने से तीसरी भाषा का जन्म हुआ जो आगे चलकर हिन्दी बन गई।[३] गुप्त जी का कथन है कि—"यदि संस्कृत उस समय देश-भाषा या राज दरबार की भाषा होती तो मुसलमानी भाषा उसी में मिलती। पर वह केवल धर्म सम्बन्धी भाषा थी, इससे मलेच्छ भाषा का एक शब्द भी उसमें न घुस सका—इसी से संस्कृत वैसी की वैसी पवित्र बनी हुई है।"[४]

उक्त उद्धरण से प्रकट है कि भारत की देश भाषा के साथ, जिसे गुप्त जी ब्रजभाषा मानते हैं, विदेशियों की भाषा के सम्मिश्रण से नई हिन्दी का जन्म हुआ था—वर्तमान हिन्दी की उत्पत्ति के विषय में यह धारणा आज असत्य

१—बालमुकुन्द गुप्त, हिन्दी भाषा, पृष्ठ १।

२—प्रथम हिन्दी साहित्य सम्मेलन काशी। कार्य-विवरण, दूसरा भाग, पृष्ठ ७०८।

३—बालमुकुन्द गुप्त, हिन्दी भाषा, पृष्ठ २ के आधार पर।

४— वही पृष्ठ २।

एवं अवैज्ञानिक मानी जाती है। हिन्दी का जन्म हिन्दू-मुसलमानों अथवा अरबी-फ़ारसी या ब्रजभाषा के पारस्परिक सम्पर्क के कारण न हुआ था, प्रत्युत हिन्दी का रूप प्राचीन काल से विद्यमान था। इन दो जातीयों और बोलियों के सम्पर्क से हिन्दी में नवीन शब्दों का समावेश हुआ, सम्भवतः उसी को कुछ लोगों ने नई भाषा के जन्म का काल और कारण समझ लिया था। उसी धारणा का प्रभाव गुप्त जी पर दिखाई पड़ता है। इसी भाषा का विकास-क्रम गुप्त जी ने प्रस्तुत किया है।

इस नई भाषा के जन्म और विकास-क्रम की गति का अधिकारपूर्ण इतिहास अप्राप्य है। अतः यह बताना कि जन्म के समय तथा विकास की विविध कोटियों में उसका क्या रूप था आज दुःसाध्य है। तत्कालीन ऐतिहासिक इतिवृत्त की अप्राप्ति का कारण गुप्त जी भारतीय समाज की अस्त-व्यस्तता, राजनीतिक उथल-पुथल, भारतीयों के प्राण एवं धन की सुरक्षा का अभाव एवं विदेशियों द्वारा भारतीयों का धार्मिक प्रपीडन अतः उनमें हीनता एवं निराशा का आ जाना, मात्र बताते हैं। हीनता एवं हतोत्साह से आक्रान्त भारतीय अपने दुर्दिनों का इतिहास लिखने के लिए अनुप्रेरित न हो सके। इतिहास लिखा गया पर विदेशियों द्वारा विदेशी भाषा में। यदि भारतीयों द्वारा देश-भाषा में इतिहास लिखा गया होता तो यह भली प्रकार बताया जा सकता था कि किस काल में किस सीमा तक विदेशी भाषा के शब्दों के संयोग से देश-भाषा का नया रूप बनता गया। नई भाषा हिन्दी के प्रारम्भिक विकास-क्रम की विविध दशाओं का उल्लेख करने में अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए गुप्त जी ने लिखा था—"किन्तु दुःख की बात यह है कि उस काल की बनी पुस्तकें या लेख ऐसे नहीं मिलते, जिनसे तब की भाषा का रंग-ढंग मालूम हो सके और इस बात का पता लग सके कि किस आक्रमणकारी के समय में इस देश की भाषा में क्या परिवर्तन हुआ तथा किस सीमा तक मुसलमानी भाषा हिन्दुस्तानी भाषा में मिलती गई। सुबुक्तगीन या महमूद के समय की कुछ लिखावटें अब तक नहीं मिलीं। बहुत खोज करने पर भी हिन्दी में चन्द कवि के 'पृथ्वीराज रासो' से पुरानी पोथी कोई नहीं मिली है।"[1]

इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि गुप्त जी ने हिन्दी भाषा का विकास दिखलाने के लिए चन्द की कविता से प्रारम्भ किया है। गुप्त जी द्वारा उक्त विचार

१—बालमुकुन्द गुप्त, हिन्दी भाषा, पृ० ३।

अभिव्यक्त करने के उपरान्त चन्द से प्राचीन रावलदेव भाटी (जैसलमेर के राजाओं का मूल पुरुष सं० ९०९ में हुआ था) के बनाये कुछ दोहे मिले थे, जिनका रूप बड़ा विचित्र है। अतः गुप्त जी ने चन्द की कविता से कुछ उदाहरण चुन कर बताया है कि उस समय अरबी-फ़ारसी के तत्सम शब्द किस प्रकार देश भाषा में मिलते जाते थे और भाषा का कैसा रूप बनता जा रहा था। चन्द की भाषा को गुप्त जी तीन प्रकार की बताते हैं—प्रथम वह, जिसमें संस्कृत ढंग की भाषा का प्रयोग किया गया है जो पढ़ने में संस्कृत जैसी प्रतीत होती है किन्तु अशुद्ध है और उसमें हिन्दी मिली हुई है। दूसरी वह जो प्राकृत के अधिक निकट है जिसमें धम्म, कम्म आदि शब्दों का रूप है। तीसरा रूप सरल भाषा का है, वह ब्रजभाषा के अधिक निकट है। वही स्वच्छ और सरल होकर ब्रजभाषा बनी होगी। चन्द की भाषा के तीसरे रूप में विदेशी भाषा के शब्दों के आकलन से हिन्दी का जन्म हुआ, ऐसी गुप्त जी की मान्यता है।[1]

चन्द के पश्चात् आने वाले समय में गुप्त जी लिखते हैं—"कवि चन्द के पीछे सौ साल तक बड़ी भारी तबाही और अशान्ति का समय बीता। इससे फिर वैसे कवि और लेखक उत्पन्न न हुए।"[2] इस उद्धरण से स्पष्ट है कि चन्द के पश्चात् एक शताब्दी तक हिन्दी भाषा का रूप, उसकी प्रगति का इतिहास अन्धकारमय और अज्ञात रहा।

तत्पश्चात् अमीर खुसरो का जन्म हुआ। गुप्त जी खुसरो की कविता में हिन्दी का विकास खोजते हैं। उन्होंने लिखा है—"उसने (खुसरो ने) हिन्दी में कुछ नई कारीगरी करके दिखाई।......नई बातें उत्पन्न करने और नये-नये बेलबूटे बनाने की उसे जन्म ही से शक्ति मिली थी। इससे हिन्दी में भी उसने बहुत कुछ नयापन दिखाया। फ़ारसी और हिन्दी को मिला कर उसने कई एक ऐसी कविताएँ लिखीं, जिनकी आज तक चर्चा होती है।"[3] उक्त धारणा से विदित होता है कि चन्द के पश्चात् गुप्त जी खुसरो को हिन्दी का कवि स्वीकार करते हैं और उनकी धारणा है कि खुसरो के हाथ में हिन्दी का अधिक परिमार्जन हुआ। खुसरो की हिन्दी सेवाओं के प्रमाण स्वरूप गुप्तजी ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी भाषा' में उसकी ग़ज़लों से कुछ उदाहरण

१—बालमुकुन्द गुप्त, हिन्दी भाषा, पृ० ७-८ के आधार पर।
२— वही पृ० ९।
३— वही पृ० वही।

भी प्रस्तुत किये हैं। खुसरो को गुप्त जी भाषा का महान् सृजक मानते थे। उसने स्त्रियों के गीत, बसन्त की बहार, सावन की मल्हार, मुकरियाँ, ढकोसले, सुखना, और पहेलियाँ आदि अधिक मात्रा में लिखी हैं। विशेषता यह है कि इन सब की भाषा उस समय की देशभाषा थी, खुसरो ने इसी बोलचाल की हिन्दी को फारसी के साथ लिखा था। फारसी की गज़लों में बोलचाल की इस भाषा की पंक्तियाँ रख कर खुसरो ने अवश्य एक महत्त्वपूर्ण कार्य किया, जिससे हिन्दी लिखित रूप में सम्मानित हुई थी। खुसरो की रचनाओं पर जनमत के विषय में उल्लेख करते हुए गुप्त जी ने लिखा है—"आज कल इन बातों की चाहे कोई बहुत इज्जत न करे, पर उस समय विद्या के विनोद में दाखिल थीं। इनसे फ़ारसी हिन्दी का बड़ा भारी मेल हुआ इसमें कुछ संदेह नहीं, यहाँ तक कि बनते-बनते एक नई भाषा बन गई।"[१] इस अवतरण से दो बातें प्रकट होतीं हैं, प्रथम तो यह कि व्यंग्य और विनोद की दृष्टि से गुप्त जी के मत में खुसरों की रचनाओं का मूल्य है। दूसरे हिन्दी के विकास और उन्नयन में खुसरो का बहुमूल्य सहयोग रहा है। शुक्ल जी तथा उनके अन्य परवर्ती इतिहासकार भी गुप्त जी के इस मत से सहमत हैं। शुक्ल जी मानते हैं "खुसरो ने विक्रम की चौदहवीं शताब्दी में ब्रजभाषा के साथ सालिस खड़ी बोली में कुछ पद्य और पहेलियाँ बनाई थीं।"[२] गुप्त जी की मान्यता है कि खुसरो ने हिन्दी में फ़ारसी छन्द का श्री गणेश किया था। वे खुसरो द्वारा लिखी गजल को ही प्रथम रचना मानते हैं जिसमें हिन्दी सम्मिलित हुई थी।

खुशरो द्वारा प्रवर्तित हिन्दी के विकास के विषय में गुप्त जी की मान्यता है कि १५ वीं सदी के अन्त में सिकन्दर लोदी के राजत्व काल में हिन्दू लोग अरबी-फारसी शिक्षित हो गए थे, इस कारण उनकी निजी बोली ब्रजभाषा का फ़ारसी के साथ और भी अधिक सामीप्य बढ़ गया था। उसी समय कबीरदास का आविर्भाव हुआ। उनकी कविता में भी भाषा-सम्मिश्रण की प्रवृत्ति स्पष्ट है। आपके मत से रमैनी, पद आदि की अपेक्षाकृत उनके दोहों की भाषा अधिक परिष्कृत और शुद्ध है। सारांश यह है कि गुप्त जी के विचार से कबीर ने खुसरो की भाषा का अधिकांश में प्रवर्तन किया था, वे भाषा के विकास में कबीर का भी एक उच्च स्थान स्वीकार करते हैं।

१—बालमुकुन्द गुप्त, हिन्दी भाषा, पृष्ठ १७।

२—पं० रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ४०७–८।

गुप्त जी के मतानुसार हिन्दी के विकास में कबीरदास के पश्चात् गुरु नानक का भी अपना स्थान है। उनकी भाषा के विषय में गुप्त जी लिखते हैं—"उनकी कविता से चार सौ वर्ष से कुछ पहले की पंजाबी भाषा का खूब पता लगता है। अर्थात् उस समय वह हिन्दी से बहुत मिलती जुलती थी।"[१] उक्त धारणा से विदित होता है कि प्राचीन काल में पंजाबी और हिन्दी में कोई विशेष अन्तर न था और अन्तर बाद में आकर उर्दू के प्रभाव से अधिक हो गया। गुरु नानक की भाषा के विषय में दूसरे स्थान पर गुप्त जी ने लिखा है—"पर आश्चर्य है कि बहुत से पद गुरु नानक के नाम से ऐसे हैं, जिनकी भाषा बहुत साफ हिन्दी है। या तो उन पदों में से कुछ पंजाबी शब्द निकल कर उनकी जगह हिन्दी के मिल गये अथवा वह वैसे ही साफ बने।"[२] अतः इस आधार पर कहा जा सकता है कि गुरु नानक ने भी हिन्दी के विकास एवं सम्वर्द्धन में योग दिया है।

नानक के उपरान्त हिन्दी भाषा को उन्नति एवं विकास की सीढ़ी तक पहुँचाने वालों में गुप्त जी जायसी को मानते हैं। उनके मत से जायसी सोलहवीं शती का प्रमुख हिन्दी कवि है। उनके ग्रंथ 'पद्मावत' को वे तत्कालीन हिन्दी का सर्वोत्तम निदर्शन मानते हैं। उनका कथन है—"ब्रज में या दिल्ली की तरफ पद्मावत की भाषा नहीं समझी जा सकती। पर अवध में और बैसवाड़े में कितने ही अच्छे हिन्दुओं के घरों में अभी यह बोली बोली जाती है।"[३] जायसी की भाषा के विषय में गुप्त जी का विचार यह है कि वह शुद्ध बोलचाल की भाषा है। उसमें अरबी-फ़ारसी के शब्दों का भी एक-दम बहिष्कार है। केवल 'सिवा', 'मुहताज', 'आदित', 'अदल', 'सुलतान', और 'शाह' आदि कई शब्द, जो शेरशाह की प्रशंसा में प्रयुक्त हुए हैं, आये हैं। इसके अतिरिक्त 'सिदक', 'सद्दीक', 'दीन' आदि शब्द जो मुहम्मद के चार यारों और ग्रन्थकार के पीर की प्रशंसा में आये हैं, व्यवहृत हुए हैं। गुप्त जी की मान्यतानुसार जिस प्रकार जायसी ने अपनी भाषा को अरबी-फारसी के प्रभाव से मुक्त रखा है, उसी प्रकार संस्कृत शब्दावली से भी उसे प्रभावित नहीं होने दिया। सारांश यह है कि गुप्त जी अवधी को विशुद्ध हिन्दी मानकर

१—बालमुकुन्द गुप्त, हिन्दी भाषा, पृष्ठ २२।
२— वही वही ।
३—बालमुकुन्द गुप्त, हिन्दी भाषा, पृ० २३।

जायसी की भाषा को शुद्ध हिन्दी मानते हैं। और हिन्दी के विकास में जायसी का एक निश्चित योग निर्धारित करते हैं।

जायसी के पश्चात् हिन्दी भाषा के क्षेत्र में ऐसा युग आया कि उर्दू अपना पृथक् रूप ग्रहण करने लगी थी। यह दूसरे शाह आलम (१७९९–१८०६) का युग था। मुसलमान लेखकों ने हिन्दी भाषा में अरबी-फ़ारसी शब्दावली, व्याकरण, पिंगल और शैली का समावेश करके उसे उर्दू का रूप दे दिया था। गुप्त जी का कथन है—"यदि हिन्दू लोग इस भाषा को देवनागरी अक्षरों में लिखते और अपने दोहा-चौपाई-सवैया आदि छन्दों में कविता रचते, तो इस समय नई हिन्दी की कविता भी बहुत मिलती। पर हिन्दी के कवि अपनी ब्रजभाषा ही में कविता करते रहे।"[1] इन पंक्तियों से स्पष्ट हो जाता है कि जिस समय मुसलमान कवि हिन्दी को अरबी-फ़ारसी के रंग से आवेष्टित कर रहे थे, उस समय हिन्दी कवि नवीन भाषा का पूर्ण परित्याग करके प्राचीन ब्रजभाषा के श्रृङ्गार में ही व्यस्त थे। इस प्रकार चंद, खुसरो, कबीर, नानक और जायसी द्वारा प्रवर्तित हिन्दी भाषा विकास पथ पर न चलकर अवरुद्ध हो गई और उसकी प्रगति अनन्त काल के लिये विघटित हो गई थी।

यद्यपि पद्य के क्षेत्र में हिन्दी का विकास अवरुद्ध हो चुका था और उसका स्थान प्राचीन ब्रज भाषा ने ही ले लिया था पर बोलचाल और व्यावहारिक रूप में उसका अस्तित्व वर्तमान था। गुप्त जी की मान्यता है कि गद्य की भाषा का रूप लल्लूलाल जी ने सम्मुख रखा था। उन्होंने लिखा है—"पर लल्लू जी के परिश्रम की ओर किसी ने ध्यान नहीं दिया। उनकी भाषा उनकी पोथी ही में रह गई। और आगे पोथियाँ लिखकर किसी ने उनकी चलाई हुई भाषा की उन्नति नहीं की। लल्लू जी ने उर्दू वालों के साथ-साथ ही प्रेमसागर लिखकर हिन्दी में गद्य लिखने की रीति चलाई थी। दुःख की बात है कि उर्दू की उन्नति तो होती रही, पर हिन्दी की कुछ न हुई। यदि लल्लू जी के प्रेमसागर की भाँति दस पाँच और पोथियाँ हिन्दी में लिखी जातीं तो 'बनारस अखबार' को हिन्दी लिखने का एक अच्छा मार्ग मिलता, पर लल्लू जी के बाद कोई साठ साल तक किसी ने उस ओर ध्यान ही नहीं दिया। अन्त को स्वर्गीय बाबू हरिश्चन्द्र जी ने मरी हुई हिन्दी को फिर से जिलाया।"[2] इस अवतरण से विदित होता है कि पद्य की भाषा के उपरान्त

१—गुप्त निबंधावली, प्रथम भाग, 'ब्रज भाषा और उर्दू', पृ० १४८।
२— वही हिन्दी अखबार, पृ० ३१३।

हिन्दी-गद्य की जिस भाषा का बीजारोपण लल्लूलाल जी ने किया था उसको लगभग साठ वर्ष तक प्रस्फुटित एवं पल्लवित होने का उचित वातावरण न मिल सका था और उसमें पुनः प्राण-प्रतिष्ठा भारतेन्दु जी ने की थी। तात्पर्य यह है कि गुप्त जी आधुनिक हिन्दी-गद्य की भाषा के जन्मदाता और प्रवर्तक भारतेन्दु जी को मानते हैं और उनकी यह धारणा पूर्णतः सत्य भी है। संक्षेप में हिन्दी-पद्य और गद्य की भाषा के जन्म और विकास के विषय में गुप्त जी की यह धारणा है।

उर्दू के जन्म और विकास के सम्बन्ध में गुप्त जी का मत—

गुप्त जी ने उर्दू भाषा के जन्म और विकास के विषय में भी अपना अभिमत प्रकट किया है। उनके मतानुसार प्रारम्भ में उर्दू हिन्दी से भिन्न भाषा न थी और दीर्घकाल तक उनमें अभेदरूपता स्थायी रही। कालान्तर में उर्दू ने हिन्दी से कुछ भिन्न रूप ग्रहण करना प्रारम्भ कर दिया था। उर्दू की उन्नति के विषय में गुप्त जी का मत है—"दूसरे शाह आलम के समय में उर्दू की अधिक उन्नति होनी प्रारम्भ हुई। उस समय के प्रसिद्ध सौदा की कविता से हम कुछ नमूने दिखाते हैं। यह सौदा कवि अन्त में लखनऊ पहुँचा। वहाँ इसकी और इसके सहयोगियों की सहायता से उर्दू की चर्चा फैली।"[१] गुप्त जी का विश्वास है कि उर्दू का रूप सौदा की कविता से बनने लगा था। अपने मत की प्रामाणिकता के लिए उन्होंने सौदा की कविता से उद्धरण प्रस्तुत किया है, जिसमें फ़ारसी अरबी के शब्दों के साथ उर्दू का रूप स्पष्ट झलकता है।[२] यद्यपि सौदा की कविता में उर्दू के चिह्न स्पष्ट हो गये थे फिर भी उन्हें उर्दू का कवि स्वीकार नहीं किया गया क्योंकि गुप्त जी के मतानुसार 'उर्दू का प्रथम कवि वली दक्षिणी था। इसी से उसकी कविता में हमन, कीता, आदि शब्द होते थे।'[३] ऐसा गुप्त जी का मत है। वली गुजराती की कविता में अरबी-फारसी के शब्दों का आकलन अधिकता के साथ होता था, जिसके कारण हिन्दी से भिन्न उर्दू नाम की भाषा बनती जा रही थी। गुप्त जी की धारणा है कि उस समय ब्रजभाषा के छन्दों को अपनाकर भी उर्दू में कविता हुई, स्वयं सौदा ने ब्रजभाषा के रोला और

१—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, ब्रजभाषा और उर्दू, पृ० १४२।

२— वही पृ० १४२।

३— वही पृ० १४४।

दोहा छन्द में मरसिया लिखा है। ब्रजभाषा से उर्दू के विकास और रूप निर्माण के गति-क्रम का उल्लेख करते हुए गुप्त जी ने अपने लेख के सारांश में लिखा था—"दूसरे शाह आलम के समय में उर्दू की कुछ अधिक उन्नति हो गई थी। बहुत से उर्दू के अच्छे-अच्छे कवि उस समय मौजूद थे। इस समय ब्रजभाषा की क्रियाओं से उर्दू की क्रियाओं का ढङ्ग तो अलग हो ही गया था, साथ ही हिन्दी-संस्कृत के शब्द घटाकर मुसलमान लोग उसमें अरबी-फारसी बहुत भरने लगे थे। इसकी जरूरत इसलिये पड़ी कि मुसलमान अपनी इस नई भाषा को फारसी के ढङ्ग पर घसीट ले गये। फारसी अक्षरों ही में उसे लिखने लगे और फारसी अक्षरों में कविता करने लगे।"[१]

प्रस्तुत अवतरण से यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि गुप्त जी के विश्वास के अनुसार शाह आलम द्वितीय के राजत्व काल (१७६१-१८०६ ई०) में उर्दू भाषा हिन्दी से पृथक् रूप ग्रहण कर चुकी थी और उसने अरबी-फ़ारसी का पंथ ग्रहण कर लिया था। सौदा का रचनाकाल सन् १७१३—८१ ई० तक माना जाता है। जीवन के प्रारम्भिक दिनों में सौदा दिल्ली में रहते थे पर उसके पतन के पश्चात् पहले फैजाबाद और फिर लखनऊ चले गए थे। वहीं नवाब शुजाउद्दौला और आसफुद्दौला के शासन काल में सौदा ने उर्दू भाषा का उन्नयन किया था। गुप्त जी के उक्त मत का प्रतिपादन डा० रामबाबू सक्सैना की अधोलिखित पंक्तियों से होता है। आप सौदा के विषय में लिखते हैं—"फ़ारसी से बहुत से शब्द, मुहावरे, रूपक और उपमाएँ, कल्पनाएँ और संकेत उर्दू भाषा में प्रविष्ट किए गए और इस कुशलता से ग्रहण किए कि उसके अङ्ग बनकर रह गए और उर्दू भाषा का विस्तार और लचीलापन इतना बढ़ा और वह इस योग्य हो गई कि प्रत्येक साहित्यिक-कार्य उससे लिया जा सकता है।"[२] सौदा ने भाषा का उन्नयन किया और उसे साहित्योपयोगी बनाया। किन्तु, "शाह हातिम के साथ ख्वाजा मीर दर्द व मीर ख़याँ यकीन ने अपनी रचनाओं से हिन्दी के शब्द निकाल डाले।"[३] तात्पर्य यह है कि इस युग में आकर उर्दू हिन्दी से पूर्णतः पृथक् होती जा रही थी।

उर्दू के जन्म के विषय में गुप्त जी की उपर्युक्त मान्यता प्राचीन आधार और प्रमाणों पर आधारित है। नवीन अनुसन्धान के आधार पर यह धारणा

१—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, ब्रजभाषा और उर्दू, पृ० १४७-१४८।
२—डा० रामबाबू सक्सैना, उर्दू-भाषा का इतिहास, भाग १, पृ० १२७।
३— वही वही पृ० १११।

भ्रान्तिपूर्ण प्रमाणित हो चुकी है। बाबू ब्रजरत्नदास उर्दू का प्रथम कवि गोलकुण्डा के सुलतान मुहम्मद कुली कुतुबशाह, जो अकबर के समकालीन थे और वली गुजराती से लगभग एक शती पूर्व हुए थे—को मानते हैं।[१] गुप्त जी ने उर्दू के जन्म के विषय में यह धारणा अपने पूर्ववर्ती लेखकों के आधार पर ही बनाई थी, वह स्वयं तो अमीर खुसरो की रचना में भी उर्दू पन खोजते हैं जिसका रचना काल अल्लाउद्दीन खिलजी का राजत्व काल है और जिसकी मृत्यु सन् १३२५ में हुई थी। इस विषय में गुप्त जी ने लिखा है—"खुसरू की 'जेहाले मिसकी मकुन तगाफुल' गजल में ब्रजभाषा कुछ उर्दू की तरफ ढुलक रही थी। इसमें कैसे देखूँ और काट्टूँ शब्द नई तराश के हैं। इससे भी कुछ आगे बढ़ने का नमूना पहेलियों में मिलता है। अमीर खुसरो के हाथ से उर्दू की नींव पड़ी।"[२] गुप्त जी के इन शब्दों पर ध्यान दिया जाय तो उर्दू या हिन्दी का जन्म काल सन् १३२५ ई० से पूर्व ठहरता है। पर यह हिन्दी या उर्दू आधुनिक उर्दू से पूर्णतः भिन्न थी। आधुनिक उर्दू का प्रथम कवि वली गुजराती हो सकता है। खुसरो अवश्य फारसी के साथ उस भाषा का रूप सामने ला रहा था जिसमें हिन्दी या उर्दू का भेद न था। वह बोल-चाल की सामान्य भाषा थी। उर्दू के जन्म के विषय में गुप्त जी का यही विचार है।

उर्दू-गद्य के विकास के विषय में गुप्त जी ने लिखा है—"अंग्रेजी सरकार ने अपना अमल भारत में जमाकर भारत की भाषा का ईरानी लिवास पसन्द किया। उसी लिवास से भारत की भाषा अंग्रेजी अदालतों में पहुँची। पंजाब और पश्चिमोत्तर प्रदेश की अदालती भाषा होने से पहले ही उर्दू पर अंग्रेजों की दृष्टि पड़ चुकी थी।...उस समय उर्दू में गद्य पुस्तकें लिखने का ढंग जारी हो गया था। उर्दू गद्य की सबसे पहली पुस्तक सन् १७९८ ई० में बनी। मीर अमन की प्रसिद्ध 'बाग़ोबहार' नाम की पोथी सन् १८०२ ई० में बनी।"[३] प्रस्तुत अवतरण से स्पष्ट है कि गुप्त जी उर्दू-गद्य के विकास और उन्नयन में अँग्रेजों का हाथ स्वीकार करते थे। अदालती भाषा स्वीकार हो

१—नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग चार, सं० १९८०, उर्दू का प्रथम कवि, पृ० २३१।

२—भारतमित्र, 'ब्रजभाषा से उर्दू', २० जुलाई सन् १९०१ ई०।

३—गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, सम्वाद पत्रों का इतिहास, पृष्ठ २२५।

जाने के उपरान्त उसका महत्व अधिक बढ़ गया और उसकी प्रगति होने लगी थी। आप यह मानते हैं कि उर्दू लेखकों में फ़ारसी और अरबी शिक्षित विद्वानों का प्राधान्य था, अतः उन्होंने केवल अरबी और फ़ारसी शब्दों का व्यवहार अधिकता के साथ न किया, प्रत्युत उर्दू को अरबी फ़ारसी के व्याकरण और पिंगल के नियमानुसार भी चलाया था जिससे वह अहर्निशि हिन्दी से भिन्न होती गई। इस पृथक्करण के मूल में गुप्त जी मुसलमान लेखकों की साम्प्रदायिकता को भी उत्तरदायी मानते हैं। गुप्त जी के उक्त मत का समर्थन पं० पद्मसिंह शर्मा[१] तथा सैयद वहीउद्दीन सलीम ने किया है।[२]

हिन्दी उर्दू के विकास के विषय में संक्षेप में कहा जा सकता है कि प्रारम्भ में दोनों भाषाएँ एक थीं; दोनों में किसी भी प्रकार का अनैक्य न था। कालान्तर में अरबी-फ़ारसी के ज्ञाताओं का ध्यान हिन्दी को अरबी-फ़ारसी की तत्समता से परिपूर्ण करने की ओर आकृष्ट हुआ, उसकी प्रतिक्रिया हिन्दी वालों के मस्तिष्क में भिन्न रूप से हुई। उन्होंने बहिष्कृत हिन्दी को संस्कृत से विभूषित करना प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार दोनों भाषा शनैः शनैः विरोध और भिन्नता की पराकाष्ठा पर पहुंचती गईं। सौभाग्य से उर्दू को शासन की सहानुभूति प्राप्त हो गयी। अस्तु, उसका भाग्य नक्षत्र ज्योतिर्मान हो उठा और हिन्दी जनता की सहानुभूति का मरहम पा गई। उर्दू को राज्याधिकारियों ने और हिन्दी को जनता के हृदय शासकों ने उन्नत किया। भारतेन्दु जी के हाथों पड़कर हिन्दी का चरम विकास हुआ। उर्दू तो मुस्लिम शासकों के राजकाल में अपने स्वर्णिम दिन देख ही चुकी थी। सारांश में यह हिन्दी उर्दू के विकास का इतिवृत्त है।

हिन्दी-उर्दू के भविष्य के सम्बन्ध में गुप्त की धारणा—

गुप्त जी भारत के लिए एक देशव्यापी भाषा की महान् अनिवार्यता समझते थे और इस स्थान पर समासीन होने के योग्य वे हिन्दी को मानते थे। उनकी धारणा थी कि हिन्दी से अधिक प्रचलित भाषा देश में अन्य नहीं है। आपने लिखा है—"हिन्दुस्तान के किसी विभाग में चले जाइये, वहाँ गाँव वालों की भाषा समझना कठिन होगा। पर बड़े-बड़े नगरों में रहने वालों से बातें करने में विशेष कठिनाई न होगी। कलकत्ते में जहाँ

१—पद्मसिंह शर्मा—हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी, पृ० ४३।
२—मुल्क की जबान और फाजिल मुसलमान, पृ० ६।

खड़े होकर हिन्दी से काम निकालना चाहो निकल जायगा। चीनियों से हिंदी में बात की जा सकती है, अरबों और यहूदियों से बात की जा सकती है यहाँ तक कि जब एक अरब का एक चीनी से काम पड़ता है तो वह हिन्दी में बातें करते हैं।"[1] यहाँ स्पष्ट हो जाता है कि हमारे देश में हिन्दी केवल देश-वासियों द्वारा ही नहीं बोली जाती प्रत्युत विदेशी लोग भी उसे बोल लेते हैं। इससे हिन्दी की व्यापकता अवश्य बढ़ जाती है। इसीलिये गुप्त जी हिन्दी भाषा का भविष्य अधिक उज्ज्वल एवं गौरवान्वित समझते थे। उनका दृढ़ विश्वास था कि हिन्दी पूर्णरूपेण राष्ट्रभाषा के स्थान पर विभूषित होने के सर्वथा योग्य है।

गुप्त जी ने हिन्दी-प्रसार एवं प्रचार से उदासीन हिन्दी शिक्षित लोगों द्वारा देवनागरी लिपि को प्रोत्साहित न करने पर उपालम्भ के स्वर में कहा है—"बंगालियों या दूसरे प्रान्त वालों को हम क्या कह सकते हैं, जब स्वयं हिन्दी वाले ही देवनागरी से कोसों दूर भागते हैं। जितने लोग भारतवर्ष में हिन्दी बोलते हैं, यदि उनमें से चौथाई भी नागरी लिख पढ़ सकते तो हिन्दी भाषा सबसे आगे दिखाई देती।"[2] इन पंक्तियों से हिन्दी भाषा की शक्तिमत्ता और उसके व्यापक रूप ग्रहण करने में गुप्त जी के आत्मविश्वास तथा विचार-दृढ़ता का आभास मिलता है। गुप्त जी हिन्दी को भारत की एकता के लिये आवश्यक, कल्याणप्रद एवं उपादेय समझते थे। वे हिन्दी को सर्व-देशीय उपयोग की भाषा बनाने के लिये सदैव प्रयत्नशील रहे। इसका तात्पर्य यह नहीं कि हिन्दी की उन्नति के साथ उन्होंने उर्दू भाषा के ह्रास की कामना की थी। उन्होंने उर्दू का कभी विरोध नहीं किया, प्रत्युत वे उर्दू भाषा को हिन्दी की उन्नति, उसके रूप निर्माण और उसमें सार्वभौमिकता लाने के लिये आवश्यक समझते थे। आपने 'ज़माना' सम्पादक श्री दया-नारायण निगम को एक पत्र में उर्दू के विषय में जो कुछ लिखा था, उसका अभिप्राय था कि लगभग एक शताब्दी तक हिन्दी वाले उर्दू से बहुत कुछ सीख सकेंगे। अतः हिन्दी ज्ञाताओं को उर्दू का ज्ञान रखना भी आवश्यक है।"

उपसंहार—

गुप्त जी के साहित्य के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जायेगा कि ये हिन्दी-

---

१—गुप्त निबंधावली, प्रथम भाग, भारत की भाषा, पृ० १५६।
२— वही , , भारत की भाषा, पृ० १५७।
३—ज़माना, अक्टूबर-नवम्बर १९०७ ई०, पृ० २९८।

उर्दू-संघर्ष को हिन्दी के लिए ही नहीं, प्रत्युत उर्दू भाषा और साहित्य के उत्कर्ष में अवरोधक मानते थे। यथार्थ में भारत के लिए योग्य राष्ट्रभाषा के निर्माण और प्रसार में इस संघर्ष से अनेक बाधाएँ आरहीं थीं। अतः हिंदी तथा उर्दू दोनों की प्रगति एवं विकास को दृष्टिगत करके आपने दोनों भाषाओं की एकता पर बल दिया और समय-समय पर यथोचित परामर्श देकर हिन्दी-उर्दू के मध्य एकता स्थापित करने के लिए अथक प्रयास किया था। दोनों भाषाओं के समन्वित रूप से ही गुप्त जी देश के उपयुक्त एक भाषा उत्पन्न होने की कल्पना करते थे। उन्होंने हिन्दी भाषा और देवनागरी अक्षरों का समर्थन और उन्हें सारे भारत के लिये स्वीकृत किए जाने का आन्दोलन करने वाले बंगला पत्र 'प्रवासी' का समर्थन इसीलिए किया था कि वह उनकी अनिवार्यता स्वीकार करता था। बंकिम बाबू के समय 'बंग दर्शन' के 'भारते एकता' नामक लेख से उद्धरण देकर गुप्त जी ने प्रमाणित किया था कि उस समय भी 'बंगदर्शन' ने सारे देश के लिये एक लिपि की आवश्यकता समझी थी। और वह लिपि देवनागरी थी। गुप्त जी का मत था कि नागरी लिपि के साथ हिन्दी का उत्कर्ष अवश्यम्भावी है। वे भाषा को देश के लिये उपयोगी बनाने के पक्ष में थे। हिन्दी की व्यापकता और शक्ति पर उन्हें पूर्ण विश्वास था। उन्होंने लिखा था—"अँग्रेज इस समय अँग्रेजी को संसार व्यापी भाषा बना रहे हैं और सचमुच वह सारी पृथिवी की भाषा बनती जाती है। वह बने, उसकी बरावरी करने का हमारा मक़दूर नहीं है, पर तो भी यदि हिन्दी को भारतवासी सारे भारत की भाषा बना सकें तो अँग्रेजी के बाद दूसरा दर्जा पृथिवी पर इसी भाषा का होगा।"[1]

इन पंक्तियों से स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी के भविष्य के विषय में गुप्त जी की धारणा थी कि वह भारत की सर्वमान्य भाषा बनने के योग्य है और उसके रूप का निर्माण उर्दू के सहयोग एवं सम्पर्क के द्वारा होना अनिवार्य है। उनकी मान्यता थी कि हिन्दी उर्दू भाषा की अन्यान्य विशेषताओं को आत्मसात करके ही देश के लिये उपयोगी भाषा बन सकेगी; उर्दू से पृथक् रहकर हिन्दी की सर्वप्रियता एवं सार्वभौम शक्तिमत्ता पर उन्हें अविश्वास था। वे उसे ऐसी भाषा बना देना चाहते थे जो देश के बहुसंख्यकों का प्रतिनिधित्व करने में सफल हो। उर्दू के विषय में उनका विचार था कि वह नागरी लिपि में लिखी जाय, इससे दोनों भाषाओं के अधिक निकट आने की

१—गुप्त निबंधावली, प्रथम भाग, भारत की भाषा, पृ० १५९।

सम्भावना थी। उस अवस्था में पारस्परिक विरोध का परिहार तो सम्भाव्य था ही, राष्ट्रभाषा के रूप का विकास भी अनिवार्य सा प्रतीत होता था। हिन्दी से पृथक् रहकर उर्दू के लिये उन्हें देश में उज्ज्वल भविष्य नहीं दीख पड़ता था। उनकी यह मान्यता सकारण थी। गुप्त जी ने भाषा सम्बन्धी अपने आदर्श को कार्यान्वित करने के लिए भगीरथ प्रयास किया था। उन्होंने हिंदी भाषा का वह श्रेष्ठ रूप देश के सम्मुख उपस्थित किया था जो आज भी आदर्श बन सकता है।

हिन्दी के उन्नयन तथा हिन्दी-उर्दू-विवाद के समाधान में गुप्त जी ने एक महत्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत की थी। अदालतों में हिन्दी-प्रवेश की सरकारी आज्ञा के उपरान्त तीव्रता एवं संगठित शक्ति के साथ उर्दू-प्रेमी वर्ग ने हिन्दी का विरोध किया था; गुप्त जी ने उनकी चुनौती स्वीकार की थी। आपने दोनों पक्षों को शान्ति एवं बुद्धिमत्ता के साथ कार्य करने का परामर्श दिया था और फ़ारसी लिपि के अभावों का अङ्कन करते हुए हिन्दी भाषा तथा देवनागरी की वैज्ञानिकता प्रतिपादित की थी। आपने कितने ही लेख तथा कविताएँ लिखकर फ़ारसी लिपि समर्थकों की भ्रान्तियों का निवारण किया था और हिन्दी के राष्ट्रभाषा के उपयुक्त रूप का समर्थन किया था। यही नहीं, हिन्दी उर्दू के जन्म और विकास का इतिहास प्रस्तुत करके आपने एक इतिहासकार का कार्य भी किया था। हिन्दी भाषा के प्रसार तथा उन्नयन और देवनागरी लिपि के समर्थन में गुप्त जी का कार्य प्रशंसनीय रहा है। इस दृष्टि से वे हिन्दी के महान् शुभचिन्तक और प्राण प्रतिष्ठापक ठहरते हैं।

उपसंहार

हिन्दी-गद्य के निर्माता बाबू बालमुकुन्द गुप्त—

गुप्त जी उर्दू में हास्य और व्यंग्यात्मक लेख लिखते हुए हिन्दी की ओर प्रवृत्त हुए थे। यही कारण था कि उनकी उर्दू-शैली की रोचकता, सजीवता, मस्ती और प्रभावोत्पादकता हिन्दी-गद्य में भी समाविष्ट हुई। फलस्वरूप वे हिन्दी में परम रोचक तथा उत्कृष्ट शैली-विधायक के रूप में प्रतिष्ठित हुए। हिन्दी की जातीय-शैली के उन्नयन और गद्य की सजीव परम्परा के प्रवर्त्तन के आधार पर ही आप हिन्दी-गद्य-निर्माता के पद पर आसीन होते हैं।

गुप्त जी ने हिन्दी-पत्रकारिता का कलात्मक प्रारम्भ किया था और हिन्दी तथा उर्दू पत्रकारिता के भाषा एवं कलागत अभावों का अङ्कन करते हुए हिन्दी-गद्य के प्रचार एवं प्रसार की प्रमुख भूमिका अदा की थी। हिन्दी-पत्रकारिता का प्रारम्भ गुप्त जी से पूर्व अठारहवीं शताब्दी के तृतीय चरण से ही हो गया था। उस समय तक न तो हिन्दी-सम्पादकों को पत्रकार-कला का ज्ञान था और न भाषा की सुष्ठ एवं परिमार्जित शैली विकसित हो पाई थी। भारतेन्दु-काल में अदम्य-उत्साह और अथक शक्ति के साथ इस दिशा में अनेक उल्लेखनीय प्रयास हुए थे, फलतः हिन्दी-पत्रकारिता विकसित हुई और हिन्दी नई चाल में ढली थी। गुप्त जी की सबल लेखनी ने भारतेन्दु द्वारा प्रवर्तित भाषा और साहित्य की परम्परा में शक्तिभर योग दिया था, जिसके कारण वे अपने युग के श्रेष्ठ पत्रकार ठहरते हैं। आपने भाषा-परिमार्जन, शैली-विधान और पत्रकार कला के उन्नयन को दृष्टि में रख कर हिन्दी-पत्रकारिता का विवेचनात्मक इतिहास प्रस्तुत किया था, जिसका अभाव बाबू राधाकृष्ण दास की कृति 'हिन्दी भाषा के पत्रों का सामयिक इतिहास' में रह गया था। इस कार्य की सम्पन्नता के फलस्वरूप यथार्थ में हिन्दी गद्य का निर्माण हुआ। हिन्दी-भाषा के समाचार-पत्रों का इतिहास लिखने वाले परवर्ती लेखकों के लिए गुप्त जी की यह रचना आदर्श बन गई। विविध पत्र-पत्रिकाओं के विषय में उल्लिखित गुप्त जी की टिप्पणी आज योग्य वैज्ञानिक चिकित्सक की सम्मति स्वीकार की जाती है। निस्संदेह वे सम्पादन कला-

विशेषज्ञ थे और थे गद्य के कुशल शिल्पी। गुप्त जी ने हिन्दी-पत्रकारिता का ही कलात्मक विकास नहीं किया, प्रत्युत सरल और व्यावहारिक शैली का निदर्शन प्रस्तुत करके गोविन्दनारायण मिश्र जैसे लेखकों की अलंकृत शैली की शोभा को फीका कर दिया। फलतः परवर्ती युग में गुप्त जी द्वारा प्रवर्तित गद्य-शैली आदर्श बन गई और अन्य शैलियाँ अधिकांश में सीमित रह गईं। सफलता की इस श्रेणी तक पहुँचाने और सफलतापूर्वक गद्य-निर्माता के रूप में गुप्त जी को प्रतिष्ठित करने के कार्य में जिन बातों ने योग दिया था, उनमें गुप्त जी की गद्य-शैली की विविधता प्रधान है। उदाहरणार्थ, आत्माराम के नाम से लिखे गए उनके कुछ आलोचनात्मक निबन्ध उनकी एक विशिष्ट शैली के प्रतीक हैं और शिवशम्भु शर्मा के नाम से लिखे गए व्यंग्यात्मक निबन्ध दूसरी शैली के। इन दोनों में यदि कोई तत्व समान रूपेण विद्यमान है, तो वह है उनकी भाषा का चुटीलापन और व्यंग्य का सुन्दर प्रवाह। गुप्त जी की तीसरी शैली के अन्तर्गत उनके वास्तविक नाम से लिखे गए गम्भीर लेख आते हैं, जिनमें उचित मात्रा में गाम्भीर्य और संयम पाया जाता है।

आत्माराम के नाम से लिखे गये इनके निबन्ध विवेचनात्मक निबन्धों की कोटि में आते हैं। इन निबन्धों में द्विवेदी जी की शैली की आलोचना में लिखी गुण-दोष-विवेचन वाली प्रवृत्ति, व्याकरण विषयक सिद्धान्त-प्रतिपादन तथा आलोचनात्मक तत्व की प्रणाली लक्षित होती है। शिवशम्भु शर्मा के नाम से प्रणीत लेख यद्यपि व्यंग्य के सुन्दर निदर्शन हैं, किन्तु ये निबन्ध व्यक्तित्व-प्रधान निबन्धों की श्रेणी में ठहरते हैं। पाठक का ध्यान निबन्ध में प्रतिपादित विषय वस्तु की ओर इतना अधिक आकर्षित नहीं होता, जितना निबन्धकार की शैली और उसके विचारों से प्रभावित होता है। निबन्ध पढ़ते समय भारतीयता और राष्ट्र-प्रेम का नशा पाठकों पर छाया रहता है। उर्दू-फ़ारसी, अँग्रेजी तथा हिन्दी-भाषा के लेखकों एवं ऐतिहासिक व्यक्तियों पर लिखे गए गुप्त जी के लेख उनकी गम्भीर शैली के उदाहरण हैं। इस प्रकार हिन्दी गद्य में विविध शैलियों का समावेश करके गुप्त जी ने हिन्दी गद्य का कलात्मक विकास और हिन्दी की जातीय शैली का निर्माण किया था। इनके इस कार्य से गद्य-लेखकों को निश्चित मार्ग मिला और हिन्दी-गद्य सबल एवं शक्तिशाली बनता गया। आत्माराम के नाम से लिखे आलोचनात्मक लेखों का प्रभाव यह हुआ कि द्विवेदी जी जैसे युग-विधायक साहित्यकार के अभावों का अङ्कन करने का साहस उत्पन्न हुआ; फलतः भाषा-सुधार, शैली-निर्माण

और गद्य का परिष्कार हुआ। इसके अतिरिक्त विभक्ति-विचार, कालिदास की निरंकुशता तथा 'देव बनाम बिहारी' आदि वाद-विवादों के लिए भी अनस्थिरता विषयक विवाद ने उचित वातावरण की सृष्टि की थी। यही नहीं, फिराक गोरखपुरी के हिन्दी-भाषा-विषयक भ्रान्तिपूर्ण विचारों पर लिखे डा० रामविलास शर्मा के लेखों से भाषा सम्बन्धी जो मान्यताएँ प्रकाश में आती हैं, उन पर गुप्त जी का प्रभाव स्पष्ट है। इन विवादों के फलस्वरूप हिन्दी-गद्य का ईप्सित परिमार्जन हुआ है। शिवशम्भु शर्मा के राजनीतिक निबन्धों का प्रभाव राजनीतिक उग्रतावादी विचारधारा के प्रसार के साथ-साथ भाषा-परिष्कार के रूप में भी पड़ा। इन लेखों का गद्य इतना स्वाभाविक एवं व्यावहारिक था कि गुप्त जी की व्यंग्य शैली अनुकरणीय बन गई। इससे हिन्दी-गद्य का मार्ग प्रशस्त हुआ और भाषा में प्रौढ़ता आई। गुप्त जी की शैली तथा शासन विरोधी विचार धारा और स्वदेश भक्ति का अनुसरण हंस, चाँद, प्रताप, आज तथा विशाल-भारत आदि पत्रों ने किया। इस प्रकार गुप्त जी हिन्दी-गद्य-शैली के विधाता और गद्य-निर्माता के रूप में प्रतिष्ठित होते हैं।

आचार्य पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी से गुप्त जी का तुलनात्मक अध्ययन—

हिन्दी-गद्य-निर्माण का श्रेय पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी को भी प्राप्य है। शैली निर्धारण और गद्य के रूप-निर्माण को लेकर गुप्त जी तथा द्विवेदी जी का तुलनात्मक अध्ययन करने के उपरान्त यह अधिक स्पष्ट हो जाता है कि गुप्त जी एवं द्विवेदी जी के भाषा-परिमार्जन तथा गद्य-निर्माण का स्वरूप क्या है और दोनों ने भाषा के किस रूप का निर्माण करके भाषा-शैली को जन्म दिया। गुप्त जी की भाषा बोल-चाल की सार्वजनिक प्रयोग की भाषा थी, अस्तु उसमें अधिक प्रवाह का समावेश हुआ। दूसरी ओर द्विवेदी जी की भाषा अप्रचलित एवं क्लिष्ट शब्दों के व्यवहार के कारण रवानगी खो बैठी थी। गुप्त जी ने उर्दू तथा फारसी शब्दों के प्रवाह प्राप्त रूपों को प्रचुरता के साथ व्यवहृत किया, इससे उनकी भाषा उर्दू तथा हिन्दी शिक्षित दोनों वर्गों को समान रूप से आकर्षित कर सकी और उनको मान्य हुई। द्विवेदी जी हिन्दी में उर्दू के पुट से प्रवाह उत्पन्न करने में असमर्थ रहे। गुप्त जी की भाषा न तो संस्कृत-शब्द-बाहुल्य की ओर झुकी थी और न उर्दू-ए-मुअल्ला की ओर। उनका मार्ग भारतेन्दु द्वारा निर्णीत मध्यम मार्ग था जिसमें प्रवाहपूर्ण स्वाभाविक भाषा की जिन्दादिली, चलतापन और सजीवता विद्यमान थी; दूसरी ओर द्विवेदी जी की भाषा में जिन्दादिली और सजीवता

का अभाव और लचरपन के दर्शन होते हैं। द्विवेदी जी की शिथिल शैली को लेकर गुप्त जी ने स्वयं उनकी आलोचना की थी। गुप्त जी भाषा में 'आवेंगे', 'जावेंगे' और एक वचन तथा बहुवचन दोनों में 'यह' एवं 'वह' का प्रयोग करते थे और अन्तिम समय तक करते रहे। गुप्त जी ने भाषा-सुधार का महत्त्वपूर्ण कार्य किया था, किन्तु उनका भाषा-सुधार एक आन्दोलन का रूप धारण न कर सका था यद्यपि उसका प्रभाव भाषा-सुधार तथा शैली-नियमन के क्षेत्र में पर्याप्त रूप से पड़ा था। दूसरी ओर द्विवेदी जी भाषा-सुधार का आन्दोलन लेकर उपस्थित हुए। उन्होंने अपनी भाषा का सुधार किया और दूसरों की भाषा को भी परिष्कृत किया था। अस्तु, वह भाषा-सुधारक के रूप में प्रतिष्ठित हुए, किन्तु उनकी भाषा परवर्ती लेखकों के लिए आदर्श न बन सकी। उनका भाषा-सुधार का आन्दोलन, आन्दोलन मात्र रह गया; उसका विस्तार और प्रभाव साहित्यिक घटना मात्र ही रहा। दूसरे द्विवेदी जी द्वारा किए गए भाषा-परिमार्जन में भारतेन्दु-युगीन भाषा की सजीवता का अधिकांश में ह्रास हो गया था। गुप्त जी ने जिस भाषा का अनुगमन और उन्नयन किया, वह भारतेन्दु कालीन भाषा की सजीवता और शक्तिमत्ता की संपोषिका तथा उन्नायक थी। वह अधिकांश में परवर्ती लेखकों द्वारा ग्रहण की गई। उनकी भाषा से आज भी बहुत कुछ सीखा जा सकता है। उनकी भाषा का रूप वर्तमान परिस्थितियों के अनुकूल राष्ट्रभाषा के स्वरूप निर्धारण के लिए अधिक समीचीन है।

परवर्ती गद्य-लेखकों पर गुप्त जी की भाषा-शैली का प्रभाव—प्रेमचन्द और पं० पद्मसिंह शर्मा द्वारा उनकी परंपरा का निर्वाह और विकास—

गुप्त जी की भाषा का सबसे अधिक महत्त्व उसकी व्यापकता में है। वह उन के साहित्य तक ही सीमित न रहकर आज तक लेखकों का आकर्षण बनी हुई है। इस आकर्षण का प्रमुख कारण यह है कि उन्होंने सजीव और स्वाभाविक भाषा में गद्य-परम्परा का प्रवर्त्तन किया, हिन्दी की स्वतन्त्र एवं मौलिक शैली का उन्नयन किया और संस्कृत शब्द-बाहुल्य के साथ भाषा लिखने वाले लेखकों को चुनौती देकर बता दिया कि सुन्दरतम और श्रेष्ठ गद्य व्यावहारिक और चलती हुई भाषा में ही लिखा जा सकता है। इस प्रकार व्यावहारिक और चलती भाषा को साहित्यिक रूप देकर गुप्त जी ने हिन्दी-गद्य-परम्परा का प्रवर्त्तन किया था। इस दृष्टि से वे गद्य-निर्माता के रूप में

भली प्रकार प्रतिष्ठित होते हैं। इनकी इस भाषा-शैली का प्रभाव श्री प्रेमचन्द तथा पं० पद्मसिंह शर्मा पर विशेष रूपेण दृष्टव्य है।

प्रेमचन्द भी गुप्त जी की भाँति हिन्दी-उर्दू को एक भाषा मानते थे और दोनों भाषाओं के विभेद का परिहार करके उसके साहित्यिक रूप के निर्माण का उत्तरदायित्व भी उन्होंने अपने ऊपर ले लिया था, जिसका निर्वाह वह आजीवन करते रहे। राष्ट्र-भाषा सम्मेलन वाले भाषण में उन्होंने अपनी भाषा नीति को स्पष्ट कर दिया था। उनके विचार में न तो हिन्दी में संस्कृत-शब्दों की भरमार से सम्पूर्ण देश के लिए एक उपयोगी भाषा का प्रश्न हल होता था और न उर्दू-फारसी-शब्दावली के प्राचुर्य से उस उद्देश्य की पूर्ति होती थी। फारसी को वे देशी उच्चारण के अनुकूल बनाने के पक्षपाती थे। उसमें से शीन-काफ की कठिनाई को मिटाकर जन साधारण के लिए बोधगम्य बनाना चाहते थे। अन्ततः उनका उद्देश्य भाषा को जनसाधारण की बोलचाल की व्यावहारिक भाषा बनाना था। उर्दू मुसलमानों की भाषा है और हिन्दी हिन्दुओं की, इस विचारधारा के प्रेमचन्द जी गुप्त जी की भाँति ही विरोधी थे। प्रेमचन्द की भाषा-विषयक इस नीति को लक्ष्य करके ही डा० रामविलास शर्मा ने लिखा है—"प्रेमचन्द की यह धारणा बालमुकुन्द गुप्त जैसे जनवादी लेखकों के विचारों के अनुकूल थी। उन्होंने धर्म के नाम पर भाषा और कौम का बँटवारा करने वाले साम्राज्यवादी और सामन्ती भाषा-वैज्ञानिकों के मत का खण्डन किया और हिन्दुस्तानी जाति की भाषा और संस्कृति के विकास में बहुत मदद की।"[१] प्रेमचन्द जी की भाषा विषयक नीति के अध्ययन से विदित होता है कि उन्होंने भाषा का वही रूप स्वीकार किया था, जिसका रूप-निर्माण और प्रसार गुप्त जी कर चुके थे; यही नहीं, जिस प्रकार गुप्त जी ने भाषा के प्रश्न को लेकर कई लेख लिखे थे और भाषा की समस्या का समाधान करने के लिए अनेक प्रयास किए थे, उसी प्रकार प्रेमचन्द जी ने भी भाषा के प्रश्न का समाधान प्रस्तुत किया था। आपने संस्कृत तथा उर्दू-फारसी समर्थक दोनों वर्गों की भाषा-विषयक भ्रान्तियों के परिहारार्थ भगीरथ प्रयत्न किए थे। इस प्रकार प्रेमचन्द जी ने भाषा-निर्माण के उस आन्दोलन को पूर्णता तक पहुँचाने में सफलता प्राप्त की थी, जिसका आरम्भ भारतेन्दु जी

१—प्रेमचन्द और उनका युग, प्रगतिशील साहित्य और भाषा की समस्या, पृ० १८६।

द्वारा हुआ था और गुप्त जी ने जिसे परिमार्जित और परिष्कृत करके प्रवर्तित किया था।

प्रेमचन्द जी भाषा-नीति अथवा भाषा के रूप का अनुसरण करने मात्र से गुप्त जी की परम्परा की शृङ्खला नहीं ठहरते, प्रत्युत वे उनकी उस विचार-धारा का निर्वाह करने वाले कलाकार थे जिसका प्रवर्त्तन गुप्त जी ने गद्य-साहित्य में किया था। वह परम्परा थी गद्य में राजनीतिक उग्रतावादी विचारधारा की अभिव्यंजना। भारतेन्दु-युग राष्ट्रीय जागरण तथा सांस्कृतिक नव-चेतना का काल था; जिसमें समाज-सुधार, स्त्री स्वातन्त्र्य, उत्कट देश-भक्ति और राष्ट्र-प्रेम से पृथक्-पृथक् उत्स प्रवाहित हुए थे। गुप्त जी ने अपनी लेखनी से इन आन्दोलनों को बल दिया था। उन्हें अपनी शक्ति और बुद्धि से सप्राण बनाया तथा साम्राज्यवादी शासन की कूटनीति को अनावृत करके उसका शोषणकारी रूप भारतीय जनता के सम्मुख उपस्थित किया था। उन्होंने शिवशम्भु शर्मा के चिट्ठों में एक ओर अंग्रेज बस्तियों के वैभव और दूसरी ओर श्रमिक बस्तियों के दारिद्रय एवं अभावग्रस्त जीवन का अङ्कन करके वर्ग-संघर्ष की पूर्व पीठिका प्रशस्त की थी, जिसका सम्यक् विकास प्रेमचन्द जी ने किया है। गुप्त जी में विदेशी शासन के प्रति जो विरोध था, वह प्रेमचन्द जी में विदेशी साम्राज्यशाही, देशी सामन्तवाद तथा देशी-विदेशी पूँजीवाद के प्रति सर्वहारा वर्ग के क्रान्तिकारी आन्दोलनों के रूप में परिणत हुआ। ये दोनों रूप एक ही आन्दोलन के दो किनारे थे; एक पर गुप्त जी और दूसरे पर प्रेमचन्द जी आसीन थे। 'शिवशम्भु के चिट्ठे' और 'गोदान' दोनों ही एक शृंखला की दो कड़ियाँ हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि हिन्दी-गद्य में जिस परम्परा का प्रवर्त्तन गुप्त जी ने किया था प्रेमचन्द जी को उसे पूर्णता तक पहुँचा देने का श्रेय प्राप्त है।

प्रेमचन्द जी की भाँति पं० पद्मसिंह शर्मा ने भी गुप्त जी की भाषा नीति और विवादात्मक शैली का अनुसरण अधिकाँश में किया था। शर्मा जी भी गुप्त जी की भाँति हिन्दी में आने से पूर्व उर्दू के प्रसिद्ध लेखक और फ़ारसी के ज्ञाता थे। अतः उनकी भाषा में भी गुप्त जी की भाँति उर्दू का चुलबुलापन, फड़क, मस्ती और सजीवता वर्तमान है जिनसे भाषा में प्रवाह, प्रभावोत्पादकता और स्वाभाविकता का समावेश होता है। गुप्त जी की भाँति आपका ध्यान भी शब्दों के व्यवहृत रूपों की ओर आकृष्ट हुआ था और आप निःसंकोच भाव से उर्दू-फारसी तथा संस्कृत के शब्दों का व्यवहार अपनी भाषा में कर दिया करते थे। मुहावरे, चुटकुले तथा लतीफे भी उनकी शैली

में गुप्त जी की तरह पाए जाते हैं। गुप्त जी की तुलनात्मक आलोचना प्रवृत्ति को तो शर्मा जी ने पूर्ण विकसित किया है। गुप्त जी ने विवादात्मक शैली की नींव स्थापित की और शर्मा जी ने उस पर दृढ़ भवन का निर्माण किया। शर्मा जी ने 'बिहारी-सतसई' नामक अपनी पुस्तक में संस्कृत की रचनाओं तथा रीति काल के अन्य कवियों के साथ बिहारी के काव्य की तुलना करके तुलनात्मक आलोचना का अधिक प्रसार किया। शैली में वैयक्तिकता के समावेश वाले गुण में भी शर्मा जी गुप्त जी के समान थे। शिवशम्भु शर्मा के चिट्ठे भाषा व्याकरण, और समाचार-पत्रों पर लिखे गुप्त जी के निबन्धों की चार पंक्तियाँ अलग उठाकर रख दीजिए, वे जिस प्रकार लेखक के व्यक्तित्व का द्योतन करती हैं उसी प्रकार शर्मा जी की आलोचनात्मक लेखों की कतिपय पंक्तियाँ निकाल कर बाहर रख दीं जाएँ, तो वे उनकी लेखनी की तड़क-भड़क, कारीगरी और वैयक्तिकता का द्योतन करेंगी। विरोधी लेखकों पर व्यंग्यात्मक प्रहार करने में गुप्त जी को जितनी पटुता प्राप्त थी, उतनी कुशलता शर्मा जी को भी इस शैली में प्राप्त थी। व्यंग्यात्मक प्रहारों के लिए जिस भाँति गुप्त जी के चिट्ठे और खत, भाषा-व्याकरण विषयक आत्माराम के लेख, टिप्पणी तथा हिन्दी-समर्थनार्थ लिखे लेख प्रसिद्ध हैं, उसी प्रकार शर्मा जी का 'सतसई-संहार' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यद्यपि आज गुप्त जी तथा शर्मा जी की यह शैली मान्य नहीं कही जा सकती, किन्तु एक समय इसका साहित्य में यथेष्ट प्रभाव और प्रभुत्व था, यह स्वीकार करने में कोई हिचक नहीं होती। सारांश यह है कि भाषा के रूप, शैली में वैयक्तिकता के समावेश, तुलनात्मक आलोचना प्रवृत्ति और व्यंग्यात्मक चुटीली भाषा लिखने की जिस कला को गुप्त जी ने अपनाया था शर्मा जी ने उसका यथोचित निर्वाह और विकास किया था। विद्या-वारिधि श्री ज्वालाप्रसाद पर शर्मा जी ने इतनी तीव्रता के साथ व्यंग्यबाण चलाए थे कि द्विवेदी जी पर किए गुप्त जी के वाक्य-बाणों की कटुता अपेक्षाकृत कुछ कम हो जाती है। अन्ततोगत्वा, गुप्त जी की मर्मभेदी व्यंग्यात्मक भाषा लिखने की शैली को शर्मा जी ने पूर्णता तक पहुँचा दिया था।

आधुनिक हिन्दी-गद्य की शैली और उसमें परिवर्तन की आवश्यकता—

हिन्दी-गद्य का आज चतुर्मुखी विकास होता जा रहा है और गद्य में अनेक प्रौढ़ रचनाएँ अहर्निशि प्रकाशित होती जा रहीं हैं फिर भी गद्य-शैली के क्षेत्र में एकता नहीं पाई जाती। शैली-गत इस अनेक रूपता का कारण कतिपय लेखकों द्वारा 'प्रसाद' और शुक्ल जी की संस्कृत गर्भित शैली का

अनुसरण और अन्यों का भारतेन्दु, प्रेमचन्द और पं० पद्मसिंह शर्मा की स्वाभाविक शैली का अनुगमन करना है। कुछ लेखक तो भाषा में संस्कृत-शब्दावली की प्रचुरता के पक्ष में हैं और हिन्दी में नवीन भाव तथा विषय की अभिव्यंजना के लिये केवल संस्कृत से शब्द ग्रहण करने का समर्थन करते हैं। जहाँ तक भाव और विषयानुरूप नवीन शब्द-ग्रहण का प्रश्न है, हिन्दी का द्वार केवल संस्कृत के लिए ही नहीं, विदेशी भाषाओं के लिये भी उन्मुक्त रहना चाहिए। किन्तु आवश्यक यह है कि विदेशी-शब्दों को अपने स्वभाव और रूप के अनुकूल बनाकर ग्रहण करे। हिन्दी के कुछ लेखकों में भाषा के प्रचलित शब्दों के स्थान पर नवीन कष्ट साध्य अथवा तत्सम शब्द व्यवहृत करने की प्रवृत्ति पाई जाती है और कहीं-कहीं अंग्रेजी शब्दों तथा मुहावरों के ऐसे अनुवाद करके प्रयुक्त किए जाने का प्रचार है, जो पूर्णतः दुर्बोध और अव्यावहारिक होते हैं। इसके अतिरिक्त प्रवाह प्राप्त शब्दों के पूर्व उपसर्ग लगाकर लिखने की प्रवृत्ति भी अधिकाँश लेखकों में पाई जाती है। आज औदार्य्य, सौकर्य्य, संयुक्त आदि शब्द बहुत से लेखकों की भाषा में प्रयुक्त होते हैं। इन शब्दों के प्रयोग से भाषा की सजीवता, स्वाभाविकता और प्रेषणीयता अपेक्षाकृत कुछ कम हो जाती है। 'हिन्दी ने आज राष्ट्रभाषा और राज्यभाषा का स्थान ग्रहण कर लिया है, अतः उसे व्यापक, सार्वभौमिक और बहुजनोपयोगी बनाने की अनिवार्यता स्वयं सिद्ध है। ऐसी अवस्था में हिन्दी की सुबोध, सर्वमान्य और जातीय शैली के विकास की आवश्यकता है। हिन्दी को एक ओर तो अरबी-फारसी के प्रवाहहीन, कष्टसाध्य और हिन्दी की प्रकृति के प्रतिरूप शब्दों के प्रयोग से अच्युत रहना है और दूसरी ओर संस्कृत की अतिशय तत्सम शब्दावली से मुक्ति पानी है। उसे न तो पं० गोविन्द नारायण मिश्र की संस्कृत गर्भित शैली का प्रत्यावर्तन करना है और न प्रसाद तथा शुक्ल जी की संस्कृत-गर्भित शैली से अधिक मात्रा में प्रभावित होना है, न तो उसे महादेवी वर्मा की क्लिष्ट शैली का अनुकरण करना है और न पन्त जी की काव्यतत्व प्रधान शैली को प्रश्रय देना है। उसे एक ऐसी भाषा शैली तथा रूप की उद्भावना करनी है जो देश के सभी प्रान्तों में समान रूपेण सम्मान का पात्र बन सके और उसका हिन्दीपन भी विनष्ट न हो। अतः आज हिन्दी-गद्य की शैली में परिवर्तन की आवश्यकता है, हिन्दी को सार्वजनिक प्रयोग तथा सार्वभौम शक्ति से परिपूर्ण व्यापक भाषा बनाने की अपेक्षा है तथा उसे राष्ट्रभाषा बनाए रखने के लिए उसके सर्वमान्य रूप के उन्नयन एवं उत्कर्ष की अनिवार्यता है।

देश की वर्तमान परिस्थितियों के अनुरूप हिन्दी के रूप तथा शैली-विधान में गुप्त जी की भाषा के अनुगमन से अधिक सहायता मिल सकती है। उनकी भाषा आज की परिस्थितियों के लिए आदर्श कही जा सकती है। गुप्त जी की भाषा का रूप साहित्योपयोगी ही नहीं, व्यवहारोपयोगी भी है। उन्होंने भाषा का व्यवस्थित रूप ही हमारे सम्मुख उपस्थित नहीं किया बल्कि बोलचाल के समीप भाषा का साहित्यिक रूप भी हिन्दी को प्रदान किया है।

गद्य शैलीकार के रूप में गुप्त जी का ऐतिहासिक महत्व—

गुप्त जी ने हिन्दी-क्षेत्र में जिस समय प्रवेश किया था, उस समय भाषा तथा शैली-क्षेत्र में वैविध्य और अनेक रूपता के दर्शन होते थे। लेखकों की वैयक्तिक रुचि और स्वभाव वैषम्य के कारण हिन्दी की वह जातीय शैली जिसका प्रवर्तन भारतेन्दु जी ने किया था कुछ सीमा तक प्रच्छन्न होती जा रही थी। पं० गोविन्द नारायण मिश्र की लेखनी से प्रतीक और लाक्षणिकता का योग लेकर चलने वाली अनुप्रास युक्त शैली प्रसूत हुई थी। बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' लम्बे वाक्यों वाली अलङ्कार-प्रधान तथा कथन-प्रणाली को प्रश्रय दे रहे थे, जिसमें रंगीन भाषा की चमक-दमक का आधिक्य, पुरानी परम्परा के निर्वाह का प्रयास और पद-विन्यास में अनुप्रास रखने की प्रवृत्ति स्पष्ट लक्षित होती थी। पं० बालकृष्ण भट्ट हास्य और व्यंग्य की शिष्ट शैली को लेकर आए थे पर भावद्योतन की सुगमता के लक्ष्य से आपने अंग्रेजी-शब्दों का भी प्रयोग स्वतन्त्रता के साथ किया था, किन्तु खड़ी बोली के सही रूप का निर्वाह भट्ट जी की शैली द्वारा न हो सका। उस पर पूर्वीपन का अधिकाँश में प्रभाव था। पं० प्रताप नारायण मिश्र का ध्यान भाषा की सरलता तथा बोधगम्यता की ओर अधिक था, इसलिए वह संस्कृत के तत्सम शब्दों को ग्रामीण बोलचाल के अनुरूप लिखते थे। भाषा में प्रवाह और स्वाभाविकता लाने के उद्देश्य से मुहावरे, चुटकुले और कहावतों का प्रयोग भी मिश्र जी ने किया था, किन्तु इनकी शैली ग्रामीणता तथा पूर्वीपन के प्रभाव से अछूती न रह सकी। इनके व्यंग्य में ग्रामीणता और भाषा में परिमार्जन का अभाव वर्तमान था, भावावेश में वे व्याकरण के नियम और विराम चिन्ह नियोजन की अवहेलना भी कर दिया करते थे। लाला श्री निवासदास दिल्ली की प्रान्तीयता, पछाहींपन तथा उर्दू की तत्समता से पूर्ण गद्य लिख रहे थे। अम्बिका प्रसाद व्यास की शैली अव्यवस्थित शब्दावली से पूर्ण, विराम चिन्हों का अनौचित्य, भाषा विषयक भ्रांति तथा पण्डिताऊपन के भार से बोझिल थी। बाबू देवकी नन्दन खत्री सरलता की खोज में गद्य-शैली को 'हिन्दुस्तानी' और हलकी बनाने से रोक

न सके। अस्तु, उसमें साहित्यिकता का अभाव उत्पन्न हो गया था। वह साहित्यिक स्तर की न होकर उछल-कूद मचाने वाली साधारण भाषा का स्थान ही पा सकी। किशोरीलाल गोस्वामी शैली का कोई निश्चित रूप उपस्थित न कर सके थे, उनकी भाषा संस्कृत गर्भित होने के कारण किसी-किसी स्थान पर अव्यावहारिक बन गई थी, तो कहीं अरबी-फारसी शब्दावली के प्रयोग से लक्कड़तोड़ उर्दू, जिसे उर्दू-ए-मुअल्ला कहा जा सकता है। उर्दू जबान और शेर-सुखन की बेढङ्गी नकल के कारण उनकी भाषा का साहित्यिक गौरव नष्ट हो गया था। अयोध्यासिंह उपाध्याय की शैली में गद्यात्मक सौष्ठव का ह्रास और पद्यात्मक विभूति का समावेश था। वह 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' और 'अधखिला फूल' लेकर गद्य-क्षेत्र में प्रविष्ट हुए थे। माधवप्रसाद मिश्र की शैली संस्कृत तत्समता से युक्त संस्कृत-शब्द-बहुला शैली थी। भाषा प्रौढ़, परिमार्जित और ओजस्विनी होते हुए भी आदर्श गद्य का रूप मिश्र जी द्वारा निर्मित न हो सका। गद्य निर्माता पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी भी पिष्टपेषण और पुनरुक्ति दोष से अपनी शैली न बचा सके। उन्होंने यथा स्थान अनस्थिरता, कालसह, स्यात, अनस्थैर्य आदि रूढ़ शब्दों का प्रयोग करके भाषा की स्वाभाविकता का परिहार कर दिया है।

हिन्दी-गद्य के रूप-निर्माण और शैली विधान के क्षेत्र में गुप्त जी ने प्रशंसनीय कार्य किया है। आपने वैयक्तिकता और रुचि-विभेद के भार से दबी शैली को मुक्त करके उसके व्यवहारोपयोगी रूप को विकसित किया। उन्होंने अपनी भाषा में संस्कृत के व्यावहारिक शब्दों के साथ उर्दू के शब्दों का समावेश किया और उसमें बोधगम्यता तथा स्वाभाविकता लाने के लिए प्रचलित मुहावरों तथा लतीफ़ों का प्रयोग करके प्रवाहपूर्ण बनाया। उन्होंने एक ओर तो अपनी भाषा को राजा शिवप्रसाद के उर्दूपन से बचाया और दूसरी ओर प्रतापनारायण मिश्र की ग्रामीणता से मुक्त रखा; न तो उन्होंने द्विवेदी जी की भाँति अपनी भाषा का आन्तरिक सम्बन्ध संस्कृत से बनाए रखा और न ठा० जगमोहनसिंह की काव्यमयी संस्कृत-प्रधान भाषा से प्रभावित होने दिया। उन्होंने अपनी भाषा का सम्बन्ध संस्कृत शब्द-बहुला भाषा के साथ न रखकर उर्दू के चलते शब्द और मुहावरों के साथ रखा। यही कारण है कि उनकी भाषा में बोधगम्यता, व्यावहारिकता, रोचकता, स्वाभाविकता, प्रवाह, सजीवता और साहित्यिकता आदि सभी गुणों का सुन्दर सामंजस्य पाया जाता है। इस प्रकार गुप्त जी ने हिन्दी-गद्य के व्यावहारिक और साहित्यिक रूप की प्रतिष्ठा की और गद्य की वास्तविक शैली का विकास किया। अस्तु, गद्य-निर्माता और शैली-विधायक के रूप में गुप्त जी का उच्च स्थान ठहरता है।

परिशिष्ट १

अनुवादक गुप्त जी

बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने अनुवाद का कार्य भी किया है और इस कार्य में उनके आदर्श एवं प्रेरक भारतेन्दु जी ही रहे हैं। उनके अनुवादों से गुप्त जी को यथेष्ट प्रेरणा एवं शक्ति मिली थी। भारतेन्दु जी ने रत्नावली नाटिका का अनुवाद करना प्रारम्भ किया था, किन्तु कुछ कारणों से वे उसे पूर्ण न कर सके थे। यह कार्य गुप्त जी द्वारा ही सम्पन्न हुआ। इसके पीछे दो विचार कार्य कर रहे थे। प्रथम तो भारतेन्दु जी द्वारा परित्यक्त अपूर्ण कार्य को पूर्ण करने की गुप्त जी की प्रबल इच्छा थी और दूसरा कारण गुप्त जी का अनुवाद के कार्य को गद्य-साहित्य के उन्नयन की दृष्टि से महत्वपूर्ण समझना था।

भारतेन्दु जी ने वैशाख शुक्ला १ सं० १९२५ वि० को रत्नावली नाटिका का अनुवाद करना प्रारम्भ किया था, किन्तु वे उसे अपूर्ण छोड़ कर अन्य कार्यों में व्यस्त हो गए थे। इसके बाद उन्होंने कई रचनाएँ कीं और 'नाटक' नामक ग्रन्थ भी लिखा पर आलोच्य रचना को पूर्ण करने का अवकाश उन्हें न मिल सका। कुछ समय उपरान्त किसी सरकारी कालिज के पण्डित ने उक्त नाटिका का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित कराया, जो सरकारी व्यय से प्रकाशित हुआ था। भारतेन्दु जी को यह अनुवाद निम्न स्तर का प्रतीत हुआ था। उनकी एक पंक्ति से इस अनुवाद के विषय में उनके विचार स्पष्ट हो जाएँगे। आपने लिखा था—"......इसकी ठीक वही दशा है जो पारसी नाटकों की है।"[१] यही नहीं, उक्त अनुवाद की दो-चार त्रुटियों का उल्लेख भी आपने किया है।[२] रत्नावली के विषय में अभिव्यक्त भारतेन्दु जी के विचारों से सिद्ध होता है कि विवेच्य अनुवाद में श्री हर्ष के भावों पर कुठाराघात किया गया है और अनुवादक पूर्व-कवि के हृदय के साथ एकाकार करने में असफल रहा है। भारतेन्दु जी के उक्त विचार गुप्त जी के सम्मुख वर्तमान थे। अतः रत्नावली के उत्तम अनुवाद की आवश्यकता विद्यमान थी। इसके अतिरिक्त हिन्दी-गद्य-साहित्य के उत्कर्ष और भाषा-विकास की दृष्टि से भी अनुवाद

१—ब्रजरत्न दास, भारतेन्दु ग्रन्थावली, प्रथम भाग, पृ० ७५३।
२— वही पृ० ७५४।

का उनकी दृष्टि में उच्च स्थान था। यही कारण था कि उन्होंने विद्वानों को खोज-खोज कर अनुवाद कराने का प्रयास किया था। जब कोई उचित व्यक्ति इस कार्य के लिए उन्हें न मिलता था, तब वे स्वयं उस दुःसाध्य कार्य को करते थे। रत्नावली के अनुवाद के लिए उन्होंने पं० प्रतापनारायण मिश्र से अनुरोध किया था[1] और जब मिश्र जी यह कार्य न कर सके, तब स्वयं उन्होंने यह उत्तरदायित्व सँभाला। इस अनुवाद के कार्य से आपकी विनम्रता प्रकट होती है। आपने स्वयं लिखा है—"इस नाटिका का अनुवाद करना मेरा काम नहीं था क्योंकि मैं संस्कृत अच्छी नहीं जानता।"[2] गुप्त जी अच्छी संस्कृत न जानने की बात कहते हैं पर अनुवाद उत्तम कोटि का करते हैं। इस बात से अनुवादक का निरभिमान तथा विनम्र भाव प्रकट होता है और सबसे ऊपर स्पष्ट होती है भारतेन्दु के प्रति उनकी असीम भक्ति।

रत्नावली नाटिका के अनुवाद से यह बात सिद्ध हो जाती है कि गुप्त जी अनुवाद करते समय पाठ की शुद्धता पर बड़ा ध्यान देते थे। उच्च कोटि के अनुवाद के लिए यह आवश्यक है कि अनुवादक के सम्मुख रचना के दो पाठ अवश्य हों, जिससे शुद्ध पाठ को प्रश्रय दिया जा सके। रत्नावली का अनुवाद करते समय गुप्त जी के सम्मुख दो संस्कृत, दो बंगला और दो हिन्दी की पुस्तकें रहीं थीं।[3] अनुवाद द्वारा साहित्य-हित-सम्पन्नता को लक्ष्य करके वे उसका संशोधन तथा परिमार्जन भी करते थे। रत्नावली का अनुवाद प्रथम तो आपने सं० १९५५ वि० में किया था और फिर उसका संशोधन चार वर्ष उपरांत सं० १९५९ में किया था। इस कार्य से ज्ञात होता है कि साहित्य संवर्द्धन की दृष्टि से वे अनुवाद को कितना महत्व दिया करते थे।

भारतेन्दु द्वारा किए गए अनुवाद को देखने से प्रकट हो जाता है कि आप प्रायः पद्य के स्थान पर पद्य और गद्य के स्थान पर गद्य लिखने की शैली अपनाते थे। गुप्त जी ने भी इसी शैली को ग्रहण किया है। गुप्त जी द्वारा पद्य में ब्रजभाषा का प्रयोग करना यह द्योतन करता है कि अनुवाद के समय भी उन पर भारतेन्दु का पूर्ण प्रभाव था। भारतेन्दु जी ने रत्नावली नाटिका की भूमिका में लिखा है—"इस नाटिका में मूल संस्कृत में जहाँ छंद थे वहाँ

१—बालमुकुन्द गुप्त, रत्नावली नाटिका संशोधित संस्करण, भूमिका पृ०, ख।

२— वही वही वही पृ० ग।

३— वही वही वही पृ० ग।

मैंने भी छन्द किए हैं।"[1] गुप्त जी ने भी यही क्रम रखा है। यही नहीं, भारतेन्दु के प्रति अत्यधिक भक्ति-भाव प्रदर्शन के लिए ही आपने अपने अनुवाद में उनके एक कवित्त और एक सवैया को स्थान दिया है।

रत्नावली के प्रथम संस्करण में गुप्त जी की शैली कुछ अंश तक मूल रचना के शब्दों का यथार्थ अर्थ उपस्थित करने की रही है और इस कार्य में वे भारतेन्दु जी के अनुयायी ही रहे हैं। मूल शब्द हैं—"आर्यपुत्र ! निश्चिन्त इदानीमसि त्वं—तत्कस्मान्न नृत्यसि।" भारदेन्दु ने इसका अनुवाद—"प्राण-नाथ ! आप इस वेला निश्चिन्त हो, आप क्यों न नाचोगे"[2]—किया है और गुप्त जी ने—"हाँ ! आप इस समय निश्चित हैं, आप क्यों न नाचेंगे"—किया है। इस अनुवाद में यथाशक्ति मूल रचना का शब्दार्थ उपस्थित करने और भारतेन्दु जी की शैली के साथ एकता बनाए रखने का प्रयास स्पष्ट है। किन्तु संशोधन करते समय गुप्त जी कुछ आगे बढ़ गए हैं। उक्त वाक्य का संशोधन करते हुए आपने लिखा है—"हाँ ! आप तो निश्चिन्त हैं, आप क्यों न खेल दिखावेंगे।"[3] दूसरे संस्करण में गुप्त जी ने 'नृत्यसि' का शब्दार्थ 'नाचना' का न प्रयोग कर 'खेल दिखावेंगे' प्रयोग किया। इससे मूल नाटककार का भाव स्पष्ट हो गया है क्योंकि उसने थोड़ी देर पूर्व ही नटी को वेषधारण करने की आज्ञा दी थी और एकत्रित राजाओं की रत्नावली का खेल देखने की इच्छा उसे बताई थी। संशोधन के समय गुप्त जी का ध्यान भाव-प्रकाशन की सरलता एवं भाषा की सरसता की ओर अधिक रहा है। कर्कश एवं कर्णकटु शब्दावली का व्यवहार आपने तनिक भी नहीं होने दिया।

इसी प्रकार प्रथम अङ्क की प्रस्तावना में योगान्धरायण के कथन—एवमेतत्। कः संदेहः ? (द्वीयादन्यस्मादिति पुनः पठित्वा) अन्यथा क्क सिद्धा देश-प्रत्ययप्रार्थितायाः सिंहलेश्वरदुहितुः' का अनुवाद भारतेन्दु जी ने—'यह सत्य है इसमें कुछ सन्देह नहीं ! (जो बिधना अनुकूल इत्यादि फिर से पढ़ता है) जो ऐसा न होता तो ये अनहोनी बातें कैसे होतीं कि हमने सिद्ध की बात का विश्वास करके सिंहलदीप के राजा की कन्या अपने स्वामी के लिये माँगी'—किया है। गुप्त की के अनुवाद से तुलना करने पर प्रतीत होता है कि आपने इस अंश का अनुवाद भी ठीक इसी प्रकार किया है; केवल अन्तर

१—ब्रजरत्नदास, भारतेन्दु ग्रन्थावली, प्रथम भाग, भूमिका।
२—ब्रजरत्नदास, भारतेन्दु ग्रन्थावली, प्रथम भाग, भूमिका पृ० ४७।
३—बालमुकुन्द गुप्त, रत्नावली नाटिका, संशोधित संस्करण, पृ० २।

इतना है कि 'हमने सिद्ध की बात का विश्वास करके' के स्थान पर 'सिद्ध की बातों का विश्वास करके मैंने' अनुवाद किया है और 'अपने स्वामी' के स्थान पर 'अपने महाराज' का प्रयोग किया है। शेष अनुवाद में कोई अन्तर नहीं है, उपर्युक्त अन्तर भी नगण्य है। इस तुलनात्मक अध्ययन से यही बात सिद्ध होती है कि जिस समय गुप्त जी अनुवाद कर रहे थे, उस समय भारतेन्दु की भाषा और शैली का प्रभाव उनकी लेखनी पर वर्तमान था। किंतु इसी अनुवाद के आगे के वाक्य से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि गुप्त जी ने भारतेन्दु का अन्धानुकरण नहीं किया, यथा स्थान उन्होंने अनुवाद को भाषा-सारल्य और भाव-प्रकाशन की सुगमता की दृष्टि से उत्तम बनाया है। "समुद्रे यानभङ्गमगोत्थितायाः फलकासादनं क्व च कौशाम्वीयेन वणिजा सिंहलेभ्य प्रत्यागच्छता तदवस्थायाः संभावनं रत्नमाला चिह्नायाः प्रत्यभिज्ञानादिहानयनं च"—का अनुवाद भारतेन्दु जी ने "जब उसने भेजी तो जहाज टूट जाने से वह डूबने लगी और एक तख्ते पर, जो उसको मिल गया था, बहती फिरी और संयोग से उसी समय कौशाम्बी के एक महाजन ने, जो सिंहल दीप से फिरा आता था, उसे बहते देखा और उसके गले की रत्नमाला से इसने जाना कि बड़े घर की बेटी है, इससे वह उसको वहाँ लाया"—किया है। भारतेन्दु जी ने सम्पूर्ण बात एक ही मिश्रित वाक्य में कह दी है; भाषा यद्यपि सरल भाव-प्रकाशन में समर्थ और बोधगम्य है पर वाक्य की लम्बाई पाठक के मस्तिष्क पर अनावश्यक भार डालती है। गुप्त जी ने इस बात को पाँच छोटे-छोटे वाक्यों में बड़ी सुबोधता एवं सरलता के साथ कह दिया है। गुप्त जी का अनुवाद इस प्रकार है—"जब उसने भेजी तो जहाज डूब गया। वह डूबने लगी, फिर एक तख्ते के सहारे बह चली। संयोग से उसी समय कौशाम्बी के एक महाजन ने जो सिंहल दीप से फिरा आ रहा था, उसे बहते देखा। उसके गले की रत्नमाला से महाजन ने जाना, कि यह किसी बड़े घर की लड़की है। वह उसे यहाँ लाया।"[1]

उक्त अनुवाद में अपेक्षाकृत अधिक स्पष्टता, सरसता और सुबोधता वर्तमान है। इस अंश का संशोधन करते समय अधिक प्रांजलता और प्रवाह का समावेश गुप्त जी कर सके हैं। संशोधन इस प्रकार है—"जब उसने यह कन्या देदी और जहाज में बिठाकर भेजी तो समुद्र में जहाज टूट कर डूबने लगी। फिर तख्ते के सहारे बह चली। संयोगवश कोशाम्बी का एक वणिक

१—बालमुकुन्द गुप्त, रत्नावली नाटिका, प्रथम संस्करण, पृ० ३–४।

सिंहल से आता था। उसने उसे देखा और उसके गले की रत्नमाला से उसे बड़े घर की लड़की समझा। वह उसे वहाँ ले आया।"[१] संशोधित अंश में पूर्व अनुवाद के प्रथम दो वाक्यों को संयोजित करके वाक्य योजना को सुसंघटित किया गया है, जिससे अर्थबोध में स्पष्टता आगई है। इसी प्रकार अन्य वाक्यों में प्रवाह और प्रौढ़ता लाने का स्पष्ट प्रयास संशोधन में दीख पड़ता है। भारतेन्दु और गुप्त जी दोनों के अनुवादों की तुलना करने पर प्रतीत होता है कि गुप्त जी के कार्य पर भारतेन्दु की शैली का प्रभाव अधिकांश में पड़ा है, पर गुप्त जी की शैली के मौलिकता एवं स्पष्टता आदि स्वाभाविक गुण हैं। बोधगम्यता, सरसता, मूलभाव का संरक्षण और प्रवाह उनकी शैली के विशिष्ट गुण हैं।

गुप्त जी को गद्य और पद्य दोनों के अनुवाद करने में पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। आपने सागरिक के कथन—"हृदय प्रसीद प्रसीद। किमनेनायासमात्र फलेन दुर्लभ-जन प्रार्थनानुबन्धेन। अन्यञ्च येनैव दृष्टेन त ईदृशः संतापो ननु वर्धते तमेव पुनरपि प्रेक्षितुमभिलषसीत्यहो ते मूढ़ता।" का अनुवाद "मन। धीरज धर, जिसका पाना सहज नहीं है, उसके पाने के लिये इतना आग्रह क्यों करता है? इसका फल सिवा कष्ट के और क्या है। जिसको एक बार देखने से तुझे इतना सन्ताप हुआ, उसी को फिर देखना चाहता है—बाहरे गंबार?"[२] यहाँ 'प्रसीद प्रसीद' का अनुवाद आपने 'मानजा, मानजा।' या 'चुप रह, चुप रह।' न करके 'धीरज धर' किया है जो अधिक उपयुक्त तथा सांकेतिक है। इसी प्रकार सम्पूर्ण कथन के अनुवाद में भावाभिव्यक्ति की सरलता, माधुर्य और मूल भाव के संरक्षण की प्रवृत्ति दीख पड़ती है; भावाभिव्यंजन के लिए शब्दाडम्बर की योजना कहीं भी नहीं दीख पड़ती। विशेषता यह है कि अनुवाद में नाटकीय गुणों का समावेश तथा कथोपकथन के प्रवाह में कोई अन्तर नहीं आने पाया है, प्रत्युत सरसता आगई है।

गद्य की भाँति पद्य के अनुवाद में भी गुप्त जी को यथेष्ट सफलता मिली है। रत्नावली नाटिका के तृतीय अंक के तीसरे श्लोक में राजा कामदेव को सम्बोधन करके जो कहता है उसका आशय यह है—'आपके पाँच बाण हैं उनसे असंख्य वियोगी जनों पर आपको प्रहार करना होता है, यह जगत विख्यात है। किंतु यह कैसी उल्टी बात है कि उन पाँचों का शिकार मैं अकेला

१—बालमुकुन्द गुप्त, रत्नावली वाटिका, संशोधित संस्करण, पृ० ४–५।
२— वही वही , पृ० २०।

होकर पंचत्व को प्राप्त होने जारहा हूँ।" इस भाव को प्रकट करने वाला गुप्त जी का छन्द इस प्रकार है—

"मनमथ के कर पाँच हैं कहत यहै संसार,
हमसे कामी होत हैं लच्छ हजार हजार।
यह कैसी उल्टी भई रति पति पूछौं तोहि,
बान अनेक धंसाय तू आज हनत है मोहि ॥"[1]

इस छंद में मूल भावों को ब्रज भाषा के माधुर्य के साथ संजोया गया है। कहीं भी भाव-विपर्य्यय नहीं होने पाया। शब्द-चयन सबल, भाव द्योतक और सरस हैं। प्रथम अंक में नांदी के तीन श्लोकों का अनुवाद तो इतना सुन्दर हुआ है कि अनुवाद-सा प्रतीत नहीं होता, उसमें मौलिक रचना के सभी गुण वर्तमान हैं। पार्वती की अवस्था का अंकन करने वाला छंद इस प्रकार है—

प्रथम समागम चाव भरी पिय सम्मुख धाई।
पै पाछें कछु सोच, फिरी, अति मनहि लजाई।
पुनि सूधी भई, सीख बन्धु-बन्धुवन की मानी।
सम्मुख पियहि निहारि भई अति भयरस-सानी ॥
तन पुलकावलि छाई-तियहि, धाय ईस अङहि भरैं।
ऐसी प्रिय-प्यारी गिरिसुता, नित तुम्हार मंगल करैं ॥[2]

इस छंद में सरलता, माधुर्य और साहित्यिकता आदि सभी काव्य-तत्व वर्तमान हैं, जिनके कारण यह रचना काव्य का सुन्दर निदर्शन ठहरती है। गुप्त जी गद्य-लेखक प्रथम और कवि बाद में थे। उनकी रचनाओं में गद्य स्वयं कला बनकर प्रकटित हुआ है पर उनकी कविताएँ कला की दृष्टि से अधिक उन्नत नहीं कही जा सकतीं। किन्तु रत्नावली नाटिका में संस्कृत श्लोकों का पद्यानुवाद कला की दृष्टि से भी उच्च कोटि का ठहरता है। अस्तु, अनुवाद द्वारा गुप्त जी का कवि रूप अधिक उन्नत होकर सम्मुख आता है। उनके अनुवाद की उत्तमता को लक्ष्य करके ही पं० महावीरप्रसाद जी ने लिखा था—"रत्नावली का जो अनुवाद आपने किया है वह हमने देखा है—देखा ही नहीं अच्छी तरह मनन किया है "शीतांशुर्मुखमुत्पले तव छशौ पद्मानुकारौं करौ"—इसका जब-जब हमको स्मरण आता है तब-तब साथ ही साथ आपका अनुवाद भी स्मरण आता है—हमको आप चाटुकार न समझें यदि हम यह कहें कि जैसा कि श्रीधर जी अंगरेजी का अनुवाद करके पढ़ने वालों के मन

१—बालमुकुन्द गुप्त, रत्नावली नाटिका संशोधित संस्करण, पृ० ४७।
२— वही , वही , पृ० १।

को मोहित कर लेते हैं वैसा ही आप संस्कृत का अनुवाद करके मोहित कर लेते हैं।"[१]

इन पंक्तियों से गुप्त जी को अच्छे अनुवादक होने का प्रमाण-पत्र मिल जाता है।

रत्नावली नाटिका का अनुवाद करने से पांच वर्ष पूर्व गुप्त जी बंगला की 'मडेल भगिनी' का अनुवाद भी सं० १९५० वि० में कर चुके थे। वे अनुवाद के कार्य को महत्त्व देते थे इसीलिए निम्न स्तर के अनुवाद होने पर क्षुब्ध हो उठते थे। अमृतलाल चक्रवर्ती द्वारा 'मडेल भगिनी' का सुन्दर अनुवाद न होने पर आपने उन्हें टोका था और स्वयं उच्च कोटि का अनुवाद किया था। इस अनुवाद की भाषा स्वाभाविक और सरलता लिए हुए है। एक उदाहरण देखिए—"गाड़ी छूटने में दस मिनट बाकी हैं। लोग बड़ी जल्दी फाटक पार हो रहे हैं। किसानों के दोनों हाथों में दो भारी-भारी गठलियाँ लटकती हैं, किसी की बगल में चटाई है, सिर पर टोकरा, किसी के कन्धे पर पीटपेण्टु, हाथ में बैग। परन्तु सबकी चाल चंचल है, मुँह खुला हुआ, कान खड़े और आँखें फटी-फटी, मानों किसी भूत को देख रहे हैं। अब किसी ने पकड़ा, अब मारा, अब रोका—ऐसा भय उनके चित्त में समाया हुआ है। उधर एक कानिष्टबल ने दो दंगा करने वालों कुलियों को हटो हटो कह दिया, इधर लोग बेचारे सहमकर वहीं खड़े हो गये; मानो अब के अवश्य ही पकड़े गये। फाटक से निकल कर पहले वे पश्चिम को दौड़े—उधर गाड़ी में स्थान न पाकर पूर्व्व को लौटे। पूर्व्व हो, चाहे पश्चिम, चाहे बीच, इन शेष लोगों ने गाड़ी में स्थान पाया या नहीं देखता कौन है।"[२]

उक्त उद्धरण की भाषा स्वाभाविकता तथा मौलिकता लिए हुए है। स्पष्टता तथा वर्णनात्मक शैली का गुण प्रत्यक्ष दीख पड़ता है। भाषा में साहित्यिकता उत्पन्न करने का प्रयास लक्षित नहीं होता। गुप्त जी का ध्यान सर्वत्र स्वाभाविकता बनाये रखने पर रहा है।

गुप्त जी ने संस्कृत और बंगला से हिन्दी में दो अनुवाद प्रस्तुत किये थे और दोनों ही उनकी श्रेष्ठ रचनाएँ हैं, जिनके कारण वे प्रशंसा के भाजन बने थे। उनका ध्यान निरंतर संशोधन एवं उत्कर्ष की ओर रहा था। यह प्रमाणित करता है कि उनकी दृष्टि में अनुवाद ग्रन्थों का भी अधिक महत्व था।

१—श्री नवलकिशोर गुप्त १४७ हरिसन रोड कलकत्ता के यहाँ रक्षित पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी का १३ दिसम्बर सन् १८९९ ई० का पत्र।

२—बालमुकुन्द गुप्त, मडेल भगिनी, पृ० २२८।

परिशिष्ट २

गुप्त जी की रचनाओं के अब तक दो संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं—प्रथम संग्रह सन् १९१२ ई० में और दूसरा सन् १९५० ई० में प्रकाशित हुआ था। इन दोनों संग्रहों में गुप्त जी की कितनी ही प्रमुख एवं प्रतिनिधि रचनाएँ सम्मिलित हैं। इन संग्रहों के अतिरिक्त उनके जीवन-काल ही में 'शिवशम्भु के चिट्ठे' और 'स्फुट-कविता' नामक दो संग्रह भी प्रकाशित हुए थे। आपके स्वर्गवास के उपरान्त 'चिट्ठे और खत' नाम का एक लघु संग्रह भी प्रकाशित हुआ था। इन पाँच संग्रहों में गुप्त जी की कितनी ही गद्यात्मक एवं पद्यात्मक रचनाएँ सम्मिलित हैं। किन्तु अभी गुप्त जी के लगभग पाँच दर्जन महत्त्वपूर्ण लेख ऐसे वर्तमान हैं, जो पुस्तकाकार प्रकाशित नहीं हो पाए हैं। उनका विवरण नीचे प्रस्तुत किया गया है। ये सभी निबन्ध भारतमित्र में प्रकाशित हुए थे, जिनकी प्रकाशन तिथियाँ कोष्ठक में दे दी गई हैं।

उर्दू-हिन्दी-विवाद विषयक लेख—

अदालत में नागरी (भारतमित्र, २१ मई सन् १९००)—प्रस्तुत लेख में संयुक्त-प्रदेश की सरकार द्वारा अदालतों में नागरी-प्रवेश की आज्ञा दिये जाने पर उर्दू-समर्थकों द्वारा उठाई गई आपत्ति का उल्लेख है और साथ ही हिन्दी भाषा विषयक उनकी भ्रान्तियों का विवरण।

उल्टे अक्षर (१८ जून सन् १९०० ई०)—उर्दू-समर्थकों ने फ़ारसी अक्षरों की श्रेष्ठता घोषित करके नागरी अक्षरों को अनुपयुक्त और अनुपयोगी बताया था। उनकी इस उल्टी दलील का उत्तर गुप्त जी ने इस लेख द्वारा दिया है।

उल्टी-दलील (१८ जून १९०० ई०)—हिन्दी-विरोधार्थ उर्दू-समर्थकों की उल्टी दलीलों के उत्तर गुप्त जी ने प्रस्तुत लेख में दिये हैं।

नागरी की अर्जी (२५ जून सन् १९०० ई०)—उर्दू-समर्थकों ने उर्दू की अर्जी को नागरी लिपि में अशुद्ध लिखकर घोषित किया था कि जब उर्दू नागरी लिपि में लिखी जायेगी तो वह इस रूप में अशुद्ध होगी। गुप्त जी ने इस लेख द्वारा उनकी भ्रान्त धारणाओं का खण्डन किया है।

पंजाबी-उर्दू (२५ जून सन् १९०० ई०)—लाहौर का 'पैसा अखबार' हिन्दी-विरोध में अधिक सक्रिय था। गुप्त जी ने इस लेख द्वारा उक्त पत्र के सम्पादक तथा पंजाब वालों की उर्दू के विषय में अपने विचार प्रकट किये हैं।

गरारेदार-पंडित (२ जुलाई सन् १९०० ई०)—कुछ काश्मीरी ब्राह्मणों ने भी उर्दू-प्रेमियों के साथ हिन्दी-प्रचार का विरोध किया था। इस लेख में विरोधी वर्ग द्वारा प्रस्तुत तर्कों के सबल उत्तर हैं।

मौलवी का ऊंट (१६ जुलाई सन् १९००)—मुसलमान मौलवियों ने हिन्दी-प्रचार के विरोधार्थ जो अनुचित बातें कहीं थीं उन्हीं के उत्तर इस लेख में हैं।

मुसलमानी-नाराजी (२१ जुलाई, सन् १९००)—हिन्दी-प्रचार का विरोध उन दिनों इस्लाम की सेवा करने के समान माना जाने लगा था। गुप्त जी ने प्रस्तुत लेख द्वारा विरोधी वर्ग की खीझ का अङ्कन किया है।

नागरी और उर्दू (२३ जुलाई, १९०० ई०)—इस लेख में नागरी लिपि की वैज्ञानिक श्रेष्ठता और फ़ारसी लिपि की अनुपयुक्तता तथा अयोग्यता पर प्रकाश डाला गया है।

कुल्हिया में गुड़ (१७ सितम्बर, सन् १९०० ई०)—नवाब मुहसिनुमुल्क की अध्यक्षता में लखनऊ में हिन्दी-विरोधी एक सभा हुई थी, जिसमें पत्र प्रतिनिधियों के प्रवेश का भी निषेध था। गुप्त जी ने उर्दू वालों की इस संकीर्ण दृष्टि को 'कुल्हिया में गुड़' की संज्ञा देकर उनके कार्यों की आलोचना की थी।

डाढ़ी पर ताव (१२ नवम्बर, सन् १९०० ई०)—हिन्दी-विरोधी वर्ग द्वारा विरोध के लिए नए-नए साधन अपनाने पर गुप्त जी ने यह लेख लिखा था। इस लेख में विरोधी वर्ग के कार्यों पर प्रकाश डाला गया है।

नागरी का फैसला (सन् १९०० ई०)—अलीगढ़ कालिज वालों ने नागरी-विरोधी एक जलसा लखनऊ में किया था, जिसको कुछ पत्रों ने 'खारिजी वाकयात' कहा था। इस लेख में गुप्त जी ने पत्रों के मतों पर टिप्पणियाँ कीं हैं। इसके अतिरिक्त वायसराय की ओर से सरकारी सदस्य रिवाज साहब के नागरी विषयक फैसले का उल्लेख किया है।

हिन्दी-चर्चा (सन् १९०४ ई०)—अलीगढ़ के पत्र 'उर्दू-ए-मुअल्ला' में मौलवी मुहम्मद इनाम का एक लेख निकला था, जिसमें उर्दू वालों को संस्कृत-कविता का ढंग सीखने का परामर्श दिया गया था। गुप्त जी ने यहाँ

उसी लेख का उद्धरण देते हुए लाहौर के 'पैसा-अखबार' को इनाम साहब के मतानुसार चलने का परामर्श दिया था।

बंगवासी और धर्म भवन विषयक लेख—

धर्म भवन (१६ जनवरी, सन् १८६६)—इस लेख में गुप्त जी ने बंगवासी वालों की उस योजना का भण्डा भोड़ किया था, जो उन्होंने जनता के चन्दे द्वारा धर्मभवन के नाम पर बंगवासी का कार्यालय बनाने के लिए आयोजित की थी। बंगवासी ने कलकत्ता में एक धर्म भवन बनाने के नाम पर चन्दा एकत्रित किया था।

धन्य हिन्दुत्व (६ फरवरी, सन् १८६६)—हिन्दुत्व और सनातन धर्म परिपालन के नाम पर बंगवासी ने जिस स्वार्थपरता और क्षुद्र नीति का परिचय दिया था, गुप्त जी ने इस लेख में उसकी आलोचना की है।

पाँच कोड़ी भी नहीं (१३ फरवरी, सन् १८६६)—बंगवासी के प्रधान सम्पादक बाबू पाँच कौड़ी बान्धोपाध्याय ने धर्मभवन के चन्दा करने में बड़ी तत्परता के साथ काम किया था, पर उन्हें बंगवासी छोड़कर 'वसुमती' में जाना पड़ा, धर्मभवन के लिए उन्होंने जो स्वार्थ, द्वेष तथा अनीति पूर्ण कार्य किए थे, वे सब व्यर्थ रहे। उनके हाथ कुछ न लगा। इसी को लक्ष्य कर गुप्त जी ने यह लेख लिखा था।

बासी कढ़ी में उबाल (१७ अप्रैल, सन् १८६६)—इस लेख में गुप्त जी ने बंगवासी की योजना का विरोध करने का कारण बताया है। उनका विचार था कि बंगवासी हिन्दुओं से चन्दा ले और उनके प्रतिनिधि का अपमान भी करे। दोनों बातें साथ-साथ नहीं चल सकतीं।

धर्म भवनान्द पिण्डलोप (१५ मई, सन् १८६६)—बंगवासी ने गया के पण्डों से भी धर्मभवन के लिए चन्दा लेने की योजना तैयार की थी, पर पण्डों ने चन्दा न दिया। इस पर बंगवासी कुपित हुआ था। गुप्त जी ने उसके क्रोध पर व्यंग्य किए थे। उन्हीं का विवरण इस लेख में दिया गया है।

तुम्हारा अधःपतन (५ जून, सन् १८६६)—बंगवासी ने धर्मभवन के लिए चन्दा देने वालों की प्रशंसा और न देने वालों का अपवाद किया था। अतः अपवाद किए गए वर्ग में से किसी ने अखबार वालों को कुत्ता कहा था। गुप्त जी ने बंगवासी के अनुचित कार्यों की आलोचना करते हुए उक्त आरोप का प्रत्युत्तर दिया था।

बेहयाई तेरा आसरा (३ जुलाई, सन् १८९९)—काशी की किसी वेश्या ने रोशनी करने में हजारों रुपए व्यय कर दिए थे, बंगवासी ने इस कार्य को अनुचित तथा अपव्यय पूर्ण बताते हुए धर्मभवन के लिए दान करके धर्म-अर्जन करने का परामर्श दिया था। गुप्त जी ने इस लेख द्वारा बंगवासी की नीति की आलोचना की थीं।

विज्ञ सहयोगी (२७ नवम्बर, सन् १८९९)—बंगवासी ने लिखा था कि पं० दीनदयालु तथा आत्माराम सागर सन्यासी जो हिन्दू धर्म का प्रचार करते हैं अब उनमें विरोध बढ़ गया है। गुप्त जी ने इस लेख में बंगवासी की इस समाचार प्राप्ति की क्षमता पर व्यंग्य करते हुए उसके असत्य प्रचार पर चोटें की हैं।

खिताब की तलाश (२८ मई, सन् १९००)—बंगवासी के प्रधान सम्पादक ने धर्मभवन तथा शिक्षा संस्था के निर्माण के उपलक्ष में अपने गौरव की वृद्धि देखकर अपने लिए एक उच्च पदवी की कल्पना की थी। गुप्त जी ने उनके उद्देश्य पर इस लेख में व्यंग्य किए हैं।

अमृतलाल जी (४ जून, सन् १९००)—अमृतलाल चक्रवर्ती के बंगवासी से पृथक् होने की सूचना २८ मई १९०० को उक्त पत्र में प्रकाशित हुई थी। चक्रवर्ती जी ने धर्मभवन के विषय पर पं० दीन दयालु तथा गुप्त जी दोनों से बिगाड़ ली थी और धर्मभवन के लिए चन्दा भी करना पड़ा था। उनकी विवशता को लक्ष्य करके गुप्त जी ने यह लेख लिखा था।

सामाजिक तथा धार्मिक विषयों को लेकर लिखे गए निबन्ध—

पीरे नाबालिग (३ अप्रेल, सन् १८९९)—हिन्दू-मुस्लिम अनैक्य को उत्तरोत्तर विकसित होते देख कर गुप्त जी ने उसे देश की स्वाधीनता आंदोलन के लिए अहितकर समझा था। अतः हिन्दू-मुस्लिम एकता का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए यह निबन्ध लिखा था।

बाबू की विवेचना (३ जुलाई, सन् १८९९)—बाबू राजेन्द्र कुमार मजूमदार काबुल से लौटते हुए अमृतसर में कुछ घंटों के लिए ठहरे थे, वहाँ उन्होंने कुछ पंजाबी महिलाओं को नग्न स्नान करते देख लिया। इस बात को लेकर आपने कलकत्ते के 'अनुसंधान' नामक पत्र में पंजाबी संस्कृति की बड़ी कटु आलोचना की। गुप्त जी ने इस लेख में बताया है कि एक भूल के लिए सारी संस्कृति को दोषी ठहराना न्यायानुकूल नहीं है, इसी प्रकार की अनेक

भूलें बंगाली पुरुष और स्त्रियाँ करती हैं। अतः बंगाल की सभ्यता तथा संस्कृति को कोई दोषपूर्ण कहे तो यह भी उचित नहीं है।

उन्नति की सीढ़ी (२२ जनवरी, १९०० ई०)—कलकत्ता हाईकोर्ट के प्रसिद्ध बैरिस्टर डबल्यू० सी० बनर्जी ने अपना धर्म परित्याग करके ईसाई धर्म ग्रहण कर लिया था। भौतिक दृष्टि से आपने उन्नति भी अधिक की थी, सम्मान और धन दोनों प्राप्त कर लिए थे। आपकी बेटी का विवाह इङ्गलैंड ही में एक अँग्रेज से हो गया था। गुप्त जी ने इस लेख में सांसारिक उन्नति को निकृष्ट बताते हुए इस कार्य को अनुचित बताया था। आपने धार्मिक और आध्यात्मिक उन्नति को श्रेष्ठ बताया था।

विधवा कन्या (२८ मई, सन् १९००)—इस लेख में विधवा-विवाह की रिवाज पर आघात किए गए हैं। गुप्त जी वृद्ध तथा बच्चेदार युवती विधवाओं के पुर्नविवाह के पक्ष में न थे। इस लेख में इन्हीं विचारों को व्यक्त किया गया है।

हमारा धर्म (२५ जून, सन् १९००)—इस लेख में गुप्त जी ने अपने धार्मिक विचारों की अभिव्यक्ति की है। प्राचीन सनातन धर्म का समर्थन इसी लेख में किया गया है।

पिंजरापोल की व्यवस्था (१० मई, सन् १९०३)— कलकत्ते के पिंजरापोल की व्यवस्था के विषय में जनता को अनेक शिकायतें थीं, गुप्त जी ने अपने प्रतिनिधि द्वारा उसकी जाँच कराई थी और सम्पूर्ण जानकारी जनता को दी थी। उसी का उल्लेख इस निबन्ध में किया गया है।

आनन्द में निरानन्द (सन् १९०३ ई०)—भारत मित्र के होलिका अंक में रंगीन कागज़ पर लाल स्याही से यह लेख छपा था। हिन्दू जाति की पतितावस्था को देखकर उन्हें आनन्द के अवसर पर भी विषाद होता है। उसी का उल्लेख इस लेख में है। हिन्दू जाति के प्राचीन गौरव और अर्वाचीन पतन पर इस लेख में विचार प्रकट किए हैं।

हिन्दू कौन (२६ मार्च, सन् १९००)—इस लेख में बड़ी युक्तियों तथा तर्कों के साथ बताया गया है कि सच्चा हिन्दू कौन है और कौन हो सकता है?

विधवा की बरात (६ जुलाई, सन् १९००)—इस लेख में भी विधवा विवाह विषयक विचार व्यक्त किए गए हैं।

लीला की लालसा (तिथि अप्राप्य)—इस लेख में एक ऐसी भारतीय लड़की की मनोकामनाओं का उल्लेख है जो पाश्चात्य सभ्यता की उपासिका, स्त्री-स्वातन्त्र्य की समर्थिका, भारतीयता को संकीर्ण समझने वाली और

स्वच्छन्द जीवन को प्रिय समझती है। इस लेख से गुप्त जी की विचार धारा का ज्ञान होता है।

साहित्यिक तथा व्यंग्यात्मक लेख--

सुनरी सरस्वती (सन् १९००)—सरस्वती ने प्रारम्भ में काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा निर्धारित नियमों के अनुसार लिखने का निश्चय किया था। यह आश्वासन प्रकाशित करते समय भाषा विषयक कुछ भूलें की थीं उन्हीं का उल्लेख इस लेख में किया गया है और सरस्वती की आलोचना भी की गई है।

सरस्वती-स्वयम्वर (सन् १९०१ ई०)—सरस्वती, हिन्दी बंगवासी, वैश्योपकारक, हिन्दोस्थान, आर्यावर्त, हिन्दी प्रदीप, भारत भ्राता और सज्जन कीर्ति सुधाकर आदि पत्रों को लक्ष्य करके सुन्दर व्यंग्य चित्र उपस्थित किया गया है। इस लेख में गुप्त जी के व्यंग्य-चित्र का कौशल है।

खड़ी बोली (१ जून, सन् १९०१)—इस निबन्ध में खड़ी-बोली बनाम ब्रजभाषा वाले आन्दोलन पर गुप्त जी के विचार व्यक्त किए गए हैं। खड़ी-बोली के जन्म और विकास पर भी प्रकाश डाला गया है।

चाहते हो सो होता नहीं (७ सितम्बर, सन् १९०१)—इस लेख में खड़ी बोली को ब्रजभाषा का स्थानापन्न बनाने वालों की आलोचना की गई।

हिन्दी में इतिहास (१७ अप्रेल, सन् १९०१)—इस लेख में भारतीयों के लिए उपन्यास की अपेक्षा भारतीय दृष्टिकोण से लिखे गए एक इतिहास की अपेक्षाकृत अधिक अनिवार्यता बताई गई है। 'इतिहास तिमिर नाशक' को स्तुत्य प्रयास बताते हुए श्रेष्ठ इतिहास निर्माण के कार्य पर बल दिया गया है।

सामयिक-साहित्य (सन् १९०२ ई०)—सरस्वती पर लिखे इस लेख में मिश्र बन्धुओं की भाषा विषयक त्रुटियों का उल्लेख किया गया है।

समालोचक पर सरस्वती (सन् १९०२)—जयपुर से 'समालोचक' पत्र के निकलने पर 'भारत जीवन' तथा 'सरस्वती' ने नवीन प्रयास के लिए हर्ष प्रकट करने के स्थान पर आलोचना की गोली दाग़ दी थी। गुप्त जी ने इसे सम्पादकीय शिष्टाचार के विपरीत समझा था। इस लेख में इन्हीं बातों का उल्लेख है।

सरस्वती की नाराजी (सन् १९०२)—अपने जीवन के दो वर्ष समाप्त करके तीसरे वर्ष में जब सरस्वती ने प्रवेश किया था, उस समय पत्रिका में

प्रकाशित होने वाले लेखों के लिए नियम बनाए थे। इनमें तीसरा नियम वर्तमान काल से सम्बन्धित धार्मिक तथा राजनीतिक लेख न प्रकाशित करने का था जिसकी बार-बार अवहेलना किए जाने पर तथा भाषा विषयक भूलों को लेकर गुप्त जी ने आलोचना की थी। यह लेख उसी आलोचना को प्रस्तुत करता है।

आपका उत्साह (सन् १९०६ ई०)—बाबू रामकृष्ण वर्मा ने गुप्त जी से अनुरोध किया था कि आप 'राजस्थान' का समर्थन करें। गुप्त जी को 'राजस्थान' का समर्थन अनुचित प्रतीत होता था। इसी विषय की बातें इस लेख में वर्णित हैं।

बसन्त की बहार (सन् १९०६ ई०)—यह लेख बसन्त का मनोहारी वर्णन प्रस्तुत करता है, प्रकृति के वर्णन में तथ्य-निरूपण वाली पद्धति ग्रहण की गई है।

कुछ मनोरंजक टिप्पणियाँ (सन् १९०७)—ये टिप्पणियाँ गुप्त जी की निर्भीकता, राष्ट्रीयता, व्यंग्य और सम्पादकीय वैशिष्ट्य की द्योतक हैं। लार्ड कर्जन के कार्यों पर व्यंग्य किए गए हैं।

फूलों का मौसम (सन् १९०७ ई०)—यह लेख बसंत की छटा प्रस्तुत करता है।

हा केशव ! (फरवरी १५०२ ई०)—यह लेख 'उचित वक्ता' के सम्पादक पं० दुर्गाप्रसाद के भतीजे पं० केशव मिश्र के निधन पर लिखा गया था। गुप्त जी की शोक पूर्ण और भावुकता प्रधान भाषा का निदर्शन है।

राजनीति एवं सामयिक महत्त्व के निबन्ध—

लार्ड एलगिन का प्रस्थान (जनवरी, सन् १८९९)—इस लेख में लार्ड एलगिन के कठोर शासन पर व्यंग्य किए गए हैं। लार्ड एलगिन को हे प्रभुभक्त हे सेवक भक्त, हे न्याय सागर, हे दया सिंधु, हे युद्ध रसिक, हे शांति सम्पादक, हे पर्य्यटन प्रिय और हे अभिनन्दन पत्र पाने वाले आदि सम्बोधन से पुकारा है, जो उसके शासन-कालीन भारत-विरोधी कार्यों पर अच्छा व्यंग्य करते हैं।

प्रलय उपस्थित है (९ जुलाई, सन् १९००)—अकाल और अनावृष्टि के कारण प्राण परित्याग करते हुए दरिद्र भारतीयों का उल्लेख इस लेख में किया गया है। लेखक की मान्यता है कि भारतीयों से ईश्वर कुपित है और शासन विपरीत, दोनों प्रकोपों के मध्य भारतीय प्राण विसर्जित कर रहे हैं।

यह क्या (सन् १९००)—लार्ड कर्ज़न अपने शासन की अवधि समाप्त करके इङ्गलैंड जा रहे थे, इस लेख में उनके कार्यों का पर्यवेक्षण और उनकी नीति की आलोचना की गई है।

लार्ड कर्ज़न और लिटन आते हैं (सन् १९०४ ई०) इस लेख में कठोरता-वादी लार्ड लिटन और कर्ज़न के भारत विरोधी कार्यों को लक्ष्य करके तीव्र व्यंग्य किए गए हैं।

कर्ज़न आते हैं (सन् १९०५ ई०)—दूसरी बार गवर्नर-जनरल के पद पर लार्ड कर्ज़न के आने के समय यह लेख लिखा गया था। लार्ड कर्ज़न के जाने पर भारतीय प्रसन्न हुए थे और पुनः आने पर दुखी। उनकी इस भावना की अभिव्यक्ति इस लेख में की गई है। उन्हें तिब्बत का दौरा करने का परामर्श दिया गया है, जो उनके कार्य पर कठोर व्यंग्य करता है।

बहादुर शाह की गौर (सन् १९०६ ई०)—अन्तिम मुग़ल सम्राट बहादुर शाह द्वितीय का शरीरान्त रंगून में हुआ था। भारत की सारी जनता ने वायसराय से प्रार्थना की थी कि उनकी अस्थियों को दिल्ली लाकर दफ़नाने की आज्ञा दी जाए, किन्तु गोरी सरकार ने अस्वीकार कर दिया। इसी बात को लेकर यह लेख लिखा गया था।

सोनार-बांगला (सन् १९०६ ई०)—इस लेख में गुप्त जी ने इङ्गलिश मैन (कलकत्ता) की बंगाल के स्वतन्त्रता-आन्दोलन-विरोधी नीति की कटु आलोचना की है। प्रयाग के पायनियर ने भी 'सोनार-बंगला' संगठन पर 'इङ्गलिश मैन' का साथ दिया था। गुप्त जी ने इन पत्रों की भर्त्सना की है।

राजभक्ति (सन् १९०७ ई०)—सरकार की मान्यता थी कि भारत की जनता सम्राट के प्रति राजभक्त न थी। गुप्त जी ने इस लेख में दिखाया है कि भूखी जनता राजभक्ति किस प्रकार सीख सकती है? इस लेख में अंग्रेजी राज्य के शोषणकारी पक्ष को स्पष्ट किया गया है।

बड़ी खैर हुई (सत् १९०७ ई०)—लाला लाजपतराय के प्रभाव से पंजाब में स्वतन्त्रता आन्दोलन बल पकड़ रहा था, लार्ड मिण्टो को ऐसा प्रतीत हुआ कि लाला जी की फौजें गदर की अर्ध शताब्दी मनायेंगी। अतः उसने भारत मंत्री मार्ली साहब से उनके निर्वासन की आज्ञा ले ली और ९ मई को उन्हें निर्वासित कर दिया। इस लेख में इसी घटना का उल्लेख है।

मार्ली की स्पीच (सन् १९०७ ई०)—इस लेख में भारत मन्त्री मार्ली साहब के व्याख्यानों का प्रतिवाद किया गया है। उन्होंने लाला लाजपतराय

ग्रौर सरदार ग्रजीतसिंह का निर्वासन वैध घोषित किया था। गुप्त जी ने इस लेख में भारतीय भावनाग्रों की ग्रभिव्यक्ति की है।

भारतवर्ष ग्रौर ग्रशान्ति (ग्रप्रकाशित किन्तु १४७ हरिसन रोड कलकत्ता में श्री नवल किशोर गुप्त के पास सुरक्षित)—इस लेख में उन कारणों का उल्लेख किया गया है जिनके कारण दमन को ग्रपनाए जाने पर भी शान्ति नही होती। भारत की दरिद्रता, ग्रकाल, प्लेग, ग्रतिवृष्टि, ग्रनावृष्टि, भूमि कर की शोषण कारी नीति ग्रादि बातों को ग्रशान्ति का कारण बताते हुए ग्रंग्रेजी राज्य की ग्रालोचना की गई है।

कलकत्ते में लखनऊ (सन् १६०६ ई०)—यह लेख ग्रवध के नवाब के साथ किए गए ग्रन्याय की रूप-रेखा प्रस्तुत करता है ग्रौर नबावी वैभव पर चोटें करता है। वाजिदग्रली शाह ने कलकत्ते के मटिया बुर्ज में ग्राकर भी लखनऊ का सा वैभव खड़ा कर दिया था। वहाँ की शान-शौकत, वैभव-विलास का उल्लेख गुप्त जी ने किया है। इसमें व्यंग्य तीव्र है।

शासन सुधार (सन् १६०७ ई०)—मिन्टो-मार्ली सुधार के खोखले-पन की ग्रभिव्यक्ति इस लेख में हुई है। गुप्त जी को यह सुधार व्यर्थ, उथला ग्रौर नगण्य, प्रतीत हुग्रा था।

गीदड़ भबकी (सन् १६०७ ई०)—भारतीय नेशनल कांग्रेस देश में लोक-प्रियता प्राप्त करती जा रही थी। इङ्गलैंड के पत्र 'टाइम्स' को यह बुरा लगा था। दादा भाई नौरोजी ने सभापति के स्थान से बड़ा जोशीला भाषण दिया था, जो साम्राज्यवादी पत्र 'टाइम्स ग्रॉव इंगलैंड' ग्रौर 'इंगलिश मैन' (कलकत्ता), टाइम्स ग्रॉव इण्डिया (बम्बई) ग्रादि को बुरा लगा था। गुप्त जी ने कांग्रेस का समर्थन करते हुए उक्त पत्रों द्वारा बरसाई गई क्रोधानल की लपटों को गीदड़ भबकी कहा था। यह लेख लेखक की राष्ट्रभक्ति का परिचायक है।

इतना भय क्यों (सन् १६०७ ई०) राष्ट्रीय स्वाधीनता की उग्र लहरों से पंजाब ग्राच्छादित होता जा रहा था, लाला लाजपतराय तथा सरदार ग्रजीतसिंह जनता में विद्रोह ग्रौर विप्लव का प्रसार कर रहे थे। उस समय तत्कालीन वायसराय लार्ड मिण्टो को ऐसा प्रतीत हुग्रा था कि १० मई सन् १६०७ ई० को ग़दर की पुनरावृत्ति होगी। इसी कल्पना को लक्ष्य कर यह लेख लिखा गया है।

दो दल (सन् १६०७ ई०)—भारतीय नेशनल काँग्रेस—गर्मदल ग्रौर नर्मदल नामक दो दलों में विभक्त हो गई थी। गुप्त जी ने इस लेख में दोनों

दलों के सिद्धान्तों का विवेचन करते हुए राजनीतिक आन्दोलन का इतिहास उपस्थित कर दिया है। उनकी सहानुभूति गर्मदल के साथ थी।

फूलों की वर्षा—(सन् १९०७ ई०) पंजाब के पत्र 'पंजाबी' के सम्पादक जसवंतराय और सम्पादक अथावले को राजविद्रोह में कैद कर लिया गया था। उनकी जेल से मुक्ति पर जनता ने जिस हर्ष-उल्लास, श्रद्धा-भक्ति तथा सम्मान के साथ उन पर पुष्प वर्षा की थी उसी का उल्लेख प्रस्तुत लेख में किया गया है।

बेगार की बेगार (सन् १९०७ ई०)—वायसराय के पद से मुक्ति पाकर लार्ड कर्ज़न इंगलैंड में बेकार बैठे थे। आपने कई वक्तव्य भारत की तत्कालीन अव्यवस्था और अशान्ति पर दिए थे। इनमें लार्ड मिण्टो को उसके लिए दोषी ठहराया गया था। इसके अतिरिक्त आपने परामर्श दिया था कि इंगलैंड की सरकार को एक इम्पीरियल कौंसिल बनानी चाहिए, जहाँ भारत से मुक्ति पाये व्यक्ति अपने अनुभव से सरकार को लाभान्वित कर सकें। गुप्त जी ने इस बात को इस प्रकार लिया था कि इस कार्य के सम्पन्न होने से लार्ड कर्ज़न को कुछ कार्य मिल जायेगा और उनकी बेकारी दूर हो जायेगी। यह व्यंग्य प्रधान लेख है।

सहायक ग्रन्थ सूची

१. अम्बिका प्रसाद वाजपेयी, समाचार पत्रों का इतिहास, प्रथम, सं० २०१० वि०, ज्ञान मण्डल लिमिटेड, बनारस।

२. अम्बिका चरण मजूमदार, इण्डियन नेशनल इवोलूशन, द्वितीय, सन् १९१७ ई०, जी० ए० नेटसन एण्ड को मदरास—१।

३. अयोध्यासिंह उपाध्याय, हिन्दी भाषा और उसके साहित्य का विकास प्रथम, सन् १९२४ ई०, पटना यूनिवर्सिटी, पटना।

४. ईश्वरी प्रसाद एण्ड एस० के सूबेदार, ए हिस्ट्री ऑव माडर्न इण्डिया १७४०–१९५०, प्रथम, सन् १९५१ ई०, दि इण्डियन प्रेस, लिमिटेड, इलाहाबाद।

५. उदयभानु सिंह, महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग, प्रथम, सं० २००८ वि०, लखनऊ विश्व विद्यालय।

६. कमलापति त्रिपाठी शास्त्री और पुरुषोत्तमदास टण्डन पत्रकार, पत्र और पत्रकार, प्रथम, सन् १९४४ ई०, ज्ञान मण्डल लिमिटेड, बनारस।

७. करुणापति त्रिपाठी, शैली, प्रथम, सं० १९९८ वि०, साहित्य-ग्रंथमाला कार्यालय, जालपा देवी, बनारस।

८. कालिदास कपूर, साहित्य-समीक्षा, प्रथम, सन् १९२९ ई०, इण्डियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग।

९. केसरी नारायण शुक्ल, आधुनिक काव्य-धारा, तृतीय, सं० २००७ वि०, सरस्वती मन्दिर, जतनबर रोड, बनारस।

१०. केसरी नारायण शुक्ल, भारतेन्दु के निबन्ध, प्रथम, सं० २००८ वि०, सरस्वती मन्दिर, जतनबर, बनारस।

११. गंगाबख्श सिंह, द्विवेदी-युगीन निबन्धमाला, प्रथम, लखनऊ विश्व विद्यालय।

१२. गुरुमुख निहाल सिंह, लैंड मार्क्स इन इण्डियन कान्स्टीट्यूशनल एण्ड नेशनल डवलपमेंट, भाग १, १६००-१९१९, द्वितीय, सन् १९५० ई०, आत्माराम एण्ड संस, काशमीरी गेट, दिल्ली।

१३. गुलाबराय एम० ए०, हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास, नवम, सन् १९४८ ई०, साहित्य रत्न भण्डार आगरा ।

१४. गोपीनाथ अमन, उर्दू और उसका साहित्य, प्रथम, सरस्वती सहकार दिल्ली ६ की ओर से राजकमल प्रकाशन दिल्ली ।

१५. गोविन्द नारायण मिश्र, गोविन्द निबन्धावली, प्रथम, सं० १९८० वि०, दामोदर दास खन्ना, १७ बाराणसी घोष स्ट्रीट, कलकत्ता ।

१६. चन्द्रबली पाण्डेय, (१) उर्दू का रहस्य, प्रथम, सं० १९९७ वि०, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ।
(२) राष्ट्र भाषा पर विचार, प्रथम, सं० २००२ वि०, सरस्वती मन्दिर, जतनबर, काशी ।

१७. चतुर्सेन शास्त्री, हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास, द्वितीय, सन् १९४९ ई०, गौतम बुक डिपो नई सड़क, दिल्ली ।

१८. जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, हिन्दी गद्य की शैली का विकास, पंचम, सं० २००६ वि०, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ।

१९. जयचन्द विद्यालंकार, इतिहास प्रवेश, चौथा, सन् १९५२ ई०, हिन्दी भवन जालंधर और इलाहाबाद ।

२०. झाबरमल शर्मा एवं बनारसीदास चतुर्वेदी, (१) गुप्त निबन्धावली, प्रथम, सं० २००७ वि०, गुप्त स्मारक ग्रंथ प्रकाशन समिति, १४७ हरिसन रोड, कलकत्ता । (२) गुप्त स्मारक ग्रंथ, प्रथम, सं० २००७ वि०, गुप्त स्मारक ग्रंथ प्रकाशन समिति, १४७ हरिसन रोड, कलकत्ता ।

२१. धनंजय भट्ट 'सरल', भट्ट निबन्धावली दूसरा भाग, प्रथम, सं० १९९९ वि०, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग ।

२२. नासिरुद्दीन पुरी शाह आलम, मुल्क की ज़बान और फ़ाजिल मुसलमान प्रथम, सं० १९९७ वि०, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ।

२३. पद्मसिंह शर्मा, हिन्दी उर्दू हिन्दुस्तानी, द्वितीय, सन् १९४२ ई०, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, यू० पी० इलाहाबाद ।

२४. प्रतापनारायण मिश्र, निबन्ध नवनीत भाग १, प्रथम, सन् १९१९ ई०, अभ्युदय प्रेस, प्रयाग ।

२५. प्रेम नारायण टंडन, (१) द्विवेदी-मीमांसा, प्रथम, सन् १९३९ ई०, इण्डियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग ।
(२) हमारे गद्य निर्माता, चतुर्थ, सन् १९४९ ई०, गया प्रसाद एण्ड संस, आगरा ।

२६. प्रेम नारायण दीक्षित, हास्य के सिद्धान्त तथा हिन्दी साहित्य, प्रथम, सन् १९४७ ई०, अवध पब्लिशिंग हाउस, लखनऊ।

२७. ब्रह्मदत्त शर्मा, हिन्दी साहित्य में निबन्ध, तृतीय, सन् १९४९ ई०, गयाप्रसाद एण्ड संस, आगरा।

२८. ब्रजरत्न दास, भारतेन्दु ग्रंथावली पहला भाग, दूसरा भाग व तीसरा भाग, प्रथम, सं० २००७ वि० व सं० २०१० वि०, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।

२९. बाबूराम सक्सेना, दक्खिनी हिन्दी, प्रथम, सन् १९५२ ई०, हिन्दुस्तानी एकेडेमी उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद।

३०. बालमुकुन्द गुप्त, (१) खेल तमाशा, सन् १९१७ ई०, इण्डियन प्रेस इलाहाबाद।

(२) शिवशम्भु के चिट्ठे, तृतीय, सं० २००१ वि०, अयोध्यासिंह विशाल भारत बुक डिपो, १८५।१, हरिसन रोड, कलकत्ता।

(३) सर्पाघात-चिकित्सा, प्रथम, सं० १९५६ वि०, पं० कृष्णानन्द शर्मा, ९७ चोर बागान भारत-मित्र प्रेस, कलकत्ता।

(४) स्फुट-कविता, प्रथम, सन् १९०५ ई०, पं० कृष्णानन्द शर्मा, ९७ मुक्ताराम बाबू स्ट्रीट, भारतमित्र प्रेस, कलकत्ता।

(५) हिन्दी भाषा, प्रथम, सं० १९६४ वि०, पं० कृष्णानन्द शर्मा. ९७ मुक्ताराम बाबू स्ट्रीट. भारतमित्र प्रेस, कलकत्ता।

(६) चिट्ठे और खत. द्वितीय. सं० १९८१ वि०, श्रीयुत बाबू यशोदानन्द अखौरी (जनरल मैनेजर भारतमित्र) ३. डैकर्स लैन कलकत्ता।

(७) रत्नावली नाटिका. प्रथम. सं० १९५५ वि०. ३४।१ कलूटोला स्ट्रीट. बंगवासी स्टीम-पेसिन प्रेस. अरुणोदय द्वारा प्रकाशित।

(८) रत्नावली नाटिका, द्वितीय, सं० १९५९ वि०, चोर बागान भारतमित्र प्रेस से पं० कृष्णानन्द शर्मा द्वारा प्रकाशित।

३१. भगवत्सरूप मिश्र, हिन्दी आलोचना : उद्भव और विकास, प्रथम, सन् १९५४ ई०, साहित्य सदन देहरादून ।

३२. मनसाराम, निरंकुशता-दिग्दर्शन, तृतीय, सं० १९५५ वि०, श्री दुलारेलाल भार्गव, गंगा पुस्तक माला कार्यालय, लखनऊ ।

३३. महावीर प्रसाद द्विवेदी, (१) वाग्विलास, प्रथम, सं १९८७ वि०, हिन्दी पुस्तक भण्डार लहरिया सराय ।
(२) सुकवि-संकीर्तन, द्वितीय, सं० १९९६ वि०, गंगा ग्रंथाकार ३० अमीनाबाद पार्क, लखनऊ ।
(३) हिन्दी भाषा की उत्पत्ति, नवीन संस्करण, सन् १९१९ ई०, दि इंडियन प्रेस, लिमिटेड, इलाहाबाद ।

३४. मिश्र बन्धु, (१) मिश्र बन्धु विनोद चौथा भाग, सं० १९९१, गंगा पुस्तकमाला कार्यालय २९-३० अमीनाबाद, लखनऊ ।
(२) हिन्दी साहित्य का इतिहास, प्रथम, सं० १९९३ वि०, श्री दुलारेलाल भार्गव अध्यक्ष गंगा पुस्तकमाला कार्यालय लखनऊ ।

३५. यदुनन्दन मिश्र, हिन्दी साहित्य का सरल इतिहास, प्रथम, सं० १९९१ वि० हिन्दी पुस्तक एजेन्सी २०३, हरिसन रोड, कलकत्ता ।

३६. रमाकान्त त्रिपाठी, प्रताप-पियूष, प्रथम सन् १९३३ ई०, सिटी बुक हाउस, कानपुर ।

३७. रामविलास शर्मा (१) भारतेन्दु-युग, द्वितीय, सन् १९५१ ई० विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा ।
(२) प्रेमचन्द और उनका युग, प्रथम, सन् १९५२ ई०, मेहरचन्द मुन्शीराम १० बी, फैज बाजार, दिल्ली ।
(३) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, प्रथम, सं० २०१२ वि०, विनोद पुस्तक मंदिर हास्पीटल रोड, आगरा ।
(४) भारतेन्दु-हरिश्चन्द्र, प्रथम, सन् १९५३ ई०, विद्याधाम १३७६ बल्ली मारान, दिल्ली ।
(५) लोक जीवन और साहित्य, प्रथम, सन् १९५५, ई०, विनोद पुस्तक मंदिर हास्पीटल रोड, आगरा ।

रामविलास शर्मा (६) संस्कृति और साहित्य, द्वितीय, सन् १९५३ ई०, किताब महल, इलाहाबाद ।

३८. रामबाबू सक्सैना (१) उर्दू साहित्य का इतिहास भाग १, प्रथम, सन् १९५० ई० ।

(२) उर्दू साहित्य का इतिहास भाग २, प्रथम, सन् १९५१ ई०, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद ।

३९. रामरतन भटनागर, राइज एण्ड ग्रोथ ऑव हिन्दी जर्नलिज्म १८२६-१९४५, प्रथम, सन् १९४७ ई०, किताब महल इलाहाबाद ।

४०. रामचन्द्र तिवारी, हिन्दी का गद्य साहित्य, प्रथम, सन् १९५५ ई०, पुरुषोत्तम मोदी विश्व विद्यालय प्रकाशन नखास चौक, गोरखपुर ।

४१. रामचन्द्र शुक्ल, (१) हिन्दी साहित्य का इतिहास, नवाँ, सं० २००९ वि०, काशी नागरी प्रचारिणी सभा काशी ।

(२) चिन्तामणि, प्रथम, सन् १९४६ ई०, इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग ।

४२. राधाकृष्णदास, हिन्दी साहित्य के सामयिक पत्रों का इतिहास, प्रथम, सं० १८९४ वि०, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ।

४३. आर० एस० मजूमदार, एच० सी० राय चौधरी तथा कालीकिंकरदत्त, एन एडवांस्ड हिस्ट्री ऑव इंडिया भाग ३, प्रथम सन् १९४९ ई०, मैकमिलन एण्ड को लिमिटेड, सेंट मारटिन्स स्ट्रीट, लन्दन ।

४४. लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, (१) आधुनिक हिन्दी साहित्य (१८५०-१९००), संशोधित एवं परिवर्द्धित, सन् १९४८ ई०, हिन्दी परिषद, इलाहाबाद यूनिवर्सिटी ।

(२) भारतेन्दु की विचारधारा, प्रथम सन् १९४८ ई०, शक्ति कार्यालय, दारागंज प्रयाग ।

४५, श्यामसुन्दरदास, हिन्दी कोविद रत्नमाला प्रथम भाग, प्रथम, सन् १९०९ ई०, इंडियन प्रेस, इलाहाबाद ।

(२) हिन्दी भाषा और साहित्य, संशोधित संस्करण । सं० १९९४ वि०, इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग ।

४६. शिवदानसिंह चौहान तथा विजय चौहान, हिन्दी गद्य साहित्य, प्रथम, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।

४७. श्री कृष्णलाल, आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास, प्रथम, सं० १९९३ वि०, हिन्दी परिषद् इलाहाबाद यूनिवर्सिटी।

४८. श्री निवासदास, परीक्षा-गुरु, प्रथम, सन् १८८४ ई०, सदादर्श प्रेस, दिल्ली।

४९. श्री नेत्र पाण्डे, भारत का बृहत् इतिहास तृतीय भाग, प्रथम सन् १९५४ ई०, स्टडेन्ट्स फ्रेण्ड्स प्रयाग, काशी।

५०. श्रीराम शर्मा, भारतीय इतिहास की रूप रेखा १५२६ से वर्तमान काल तक, चतुर्थ, गौतम बुक डिपो, प्रेम पुरी, मेरठ।

५१. सुनीत कुमार चट्टोपाध्याय, भारत की भाषाएँ और भाषा सम्बन्धी समस्याएँ, प्रथम, सन् १९५१ ई० हिन्दी भवन जालन्धर और इलाहाबाद।

५२. सुरेन्द्रकुमार बनर्जी, ए नेशन इन मेकिंग, द्वितीय, सन् १९२५ ई०, हैम्फरी मिल फोर्ड ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन।

५३. हजारी प्रसाद द्विवेदी, (१) हिन्दी साहित्य की भूमिका, द्वितीय सन् १९४४ ई०, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकार कार्यालय, बम्बई।

(२) नाथ सम्प्रदाय, प्रथम, सन् १९५० ई०, हिन्दुस्तानी एकेडेमी उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद।

(३) हिन्दी-साहित्य, प्रथम, सन् १९५२, अत्तर चन्द कपूर एण्ड सन्स देहली, अम्बाला, कानपुर।

पत्रिकाओं की सूची

पत्र-पत्रिकाओं के नाम **प्राप्ति स्थान**

१. अवन्तिका—नवलकिशोर गुप्त, १४७ हरिसन रोड कलकत्ता का व्यक्तिगत पुस्तकालय ।

२. आर्यावर्त— ,, ,,

३. आजकल— ,, ,,

४. कर्मवीर— ,, ,,

५. जमाना—काशी नागरी प्रचारिणी सभा तथा हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस का पुस्तकालय ।

६. ज्ञानोदय—नवलकिशोर गुप्त, १४७ हरिसन रोड कलकत्ता का व्यक्तिगत पुस्तकालय।

७. नवभारत टाइम्स— ,, ,,

८. नया समाज— ,, ,,

९. नागरी प्रचारिणी पत्रिका—काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ।

१०. नेशनल-हैरेल्ड—नवलकिशोर गुप्त, १४७ हरिसन रोड कलकत्ता का व्यक्तिगत पुस्तकालय ।

११. प्रहरी— ,, ,,

१२. ब्राह्मण—भारती भवन पुस्तकालय, प्रयाग ।

१३. भारतमित्र—नवलकिशोर गुप्त, १४७ हरिसन रोड कलकत्ता का व्यक्तिगत पुस्तकालय ।

१४. भारत— ,, ,,

१५. भारतोद्धारक—भारती भवन पुस्तकालय, प्रयाग ।

१६. भारतेन्दु— ,, ,, ,,

१७. युगान्तर—नवलकिशोर गुप्त, १४७ हरिसन रोड कलकत्ता का व्यक्तिगत पुस्तकालय ।

१८. योगी— ,, ,,

१९. राष्ट्रवाणी— ,, ,,

२०. लोकमत दैनिक—नवलकिशोर गुप्त, १४७ हरिसन रोड, कलकत्ता का व्यक्तिगत पुस्तकालय ।

२१. लोकमान्य— ,, ,,

२२. वर्तमान— ,, ,,

२३. विशाल भारत—बड़ा बाजार पुस्तकालय, कलकत्ता ।

२४. विश्वमित्र— ,, ,, ।

२५. वैश्योपकारक—काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ।

२६. श्री बेंकटेश्वर समाचार—नवलकिशोर गुप्त, १४७ हरिसन रोड कलकत्ता का व्यक्तिगत पुस्तकालय ।

२७. समालोचक—नागरी प्रचारिणी सभा काशी ।

२८. सरस्वती— ,, ,, ।

२९. सरस्वती सम्वाद—आगरा ।

३०. सम्मेलन पत्रिका—हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग का पुस्तकालय ।

३१. सम्मेलन कार्य विवरण— ,, ,, ।

३२. सन्मार्ग—नवलकिशोर गुप्त, १४७ हरिसन, रोड कलकत्ता का व्यक्तिगत पुस्तकालय ।

३३. साप्ताहिक युगान्तर— ,, ,, ,, ।

३४. सुमित्रा— ,, ,, ,, ।

३५. सुधानिधि— ,, ,, ,, ।

३६. स्वतन्त्र-भारत— ,, ,, ,, ।

३७. हिन्दी प्रदीप—भारती भवन पुस्तकालय, प्रयाग ।

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८	१०	आपने	अपने
११	२५	मित्र	मिश्र
१४	१९	अपार	अपर
१७	२९	विद्या	विधा
१८	१०	धर्म-मनन	धर्म भवन
१९	२०	विरूद्ध	विरुद्ध
२०	९	ग्रंथ	शीर्षक
३२	७	उच्च	उक्त
३७	६	संयम	संबल
४१	२	गुड़ियाना	गुड़ियानी
४२	पाद टिप्पणी	पृ० ७	पृ० ४१
४७	२	दोनों	दिनों
४७	१६	उपला-पलटी	उलटा-पलटी
५०	पाद टिप्पणी (२)	स्थात	स्थान
५१	४	प्रप्त	प्राप्त
५२	१	वृहस्पतिवार	बृहस्पतिवार
५६	पाद टिप्पणी	पृ० ५६-५७	पृ० ४८
५७	९	दीवान जोक	दीवाने जोक
६०	२	अब	अद्य
६०	२१	मित्र	मिश्र
६३	२६	ईडा	ईडन
६७	२५	छापी	छायो
७०	३	अगान्तुक	आगन्तुक
७२	१६	मैत्रीपर्ण	मैत्रीपूर्ण
७६	१२	पृथक	पृथक्

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७६	२९	यह	ये
७९	२७	हिन्दूस्थान	हिन्दोस्थान
८६	२५	अंत	अंश
८६	२८	निस्फुत	निस्फुल
९१	१७	भवन	यवन
९१	२	शदी	शती
९२	२	परिणित	परिणत
९४	१६	क्षात्र	छात्र
९६	पाद टिप्पणी २	समाहत	समाहृत
९६	४	कलफ	कलम
१०१	२९	भिज्ञ	विज्ञ
१०६	१४	में	के
१०६	१४	विवरण के बाद 'प्रस्तुत'	पढ़िये
१०६	१८	कितना	कितने
११२	३	प्रो० आजाद कुशल गद्य लेखक, पर पद्य की ओर के स्थान पर और पढ़िये तथा इसी प्रकार के बाद विराम न पढ़िये।	
११४	पाद टिप्पणी	पृ० १०३	पृ० ९५–९६
११४	२०	साहित्य प्रकाश	साहित्याकाश
१२२	६	कभी	भी
१२९	१५ और १६	मित्र	मिश्र
१४३	३	अंशों	अंकों
१५३	१	का	की
१५९	९	प्रभाव	अभाव
१६४	७	प्रदर्शन	प्रवर्तन
१९१	पाद टिप्पणी (१५)	तृतिय	तृतीय
२१९	,, पंक्ति ६	आगरे	आरे
२२५	२१	अन्त	अंश
२३२	७	उनके	इसके
२५३	११	विद्या	विधा
२६५	२६	ऊपर	अपर

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२७०	१३	साहित्यकों	साहित्यिकों
२७५	१२	सफलतम	सबलतम
२७८	४	मथुरा	मदुरा
२८६	७	शैली	शेखी
२९०	३	विकाश	विकास
३११	२	वितरत	वितरित
३१६	७	एक	एकों
३२०	११	सम्प्रदायिकतावादी	साम्प्रदायिकतावादी
३४८	१७	मुँह मुहासे	बूढ़े मुँह मुँहासे
३५२	१४	पृष्ठ	पुष्ट
३६६	८	सए	सूए
३६७	१४	परफ नसवर्	पर नफसवर्
६८७	२५	देह	देहु
३६८	३	जा हैं	जा रहे हैं
४०६	३	बोजाचन्द	बोनाचन्द
४१२	१४	प्रहसनी	प्रहसनीय
४१३	६	मातापों	माताओं
४२०	४	नीचे	लीजे
४२३	२५	दिवासलाई	दियासलाई
४४४	१	संस्कृति	संस्कृत
४४७	२	हिन्दी ने	हिन्दी समर्थकों ने
४७०	१७	निराकार	निराकरण
४७२	३	तमुद्दते	तमुद्दने
४८४	१६	सालिस	खालिस
४८५	२१	खुशरो	खुसरो
४८४	२१	आदित	आदिल
४९०	२६	नहाँ	नहीं
४६६	६	से	के
५०१	१४	संयुक्त	संपृक्त
५०६	२३	प्रत्वयप्रर्थितायाः	प्रत्ययप्रार्थितायाः
५०७	१०	यानमङ्गयगोत्थितायाः	यानभङ्गयगोत्थितायाः

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५१२	३०	इनाम	इमाम
५१३	१	इनाम	इमाम
५२५	१६	सामजिक	सामयिक